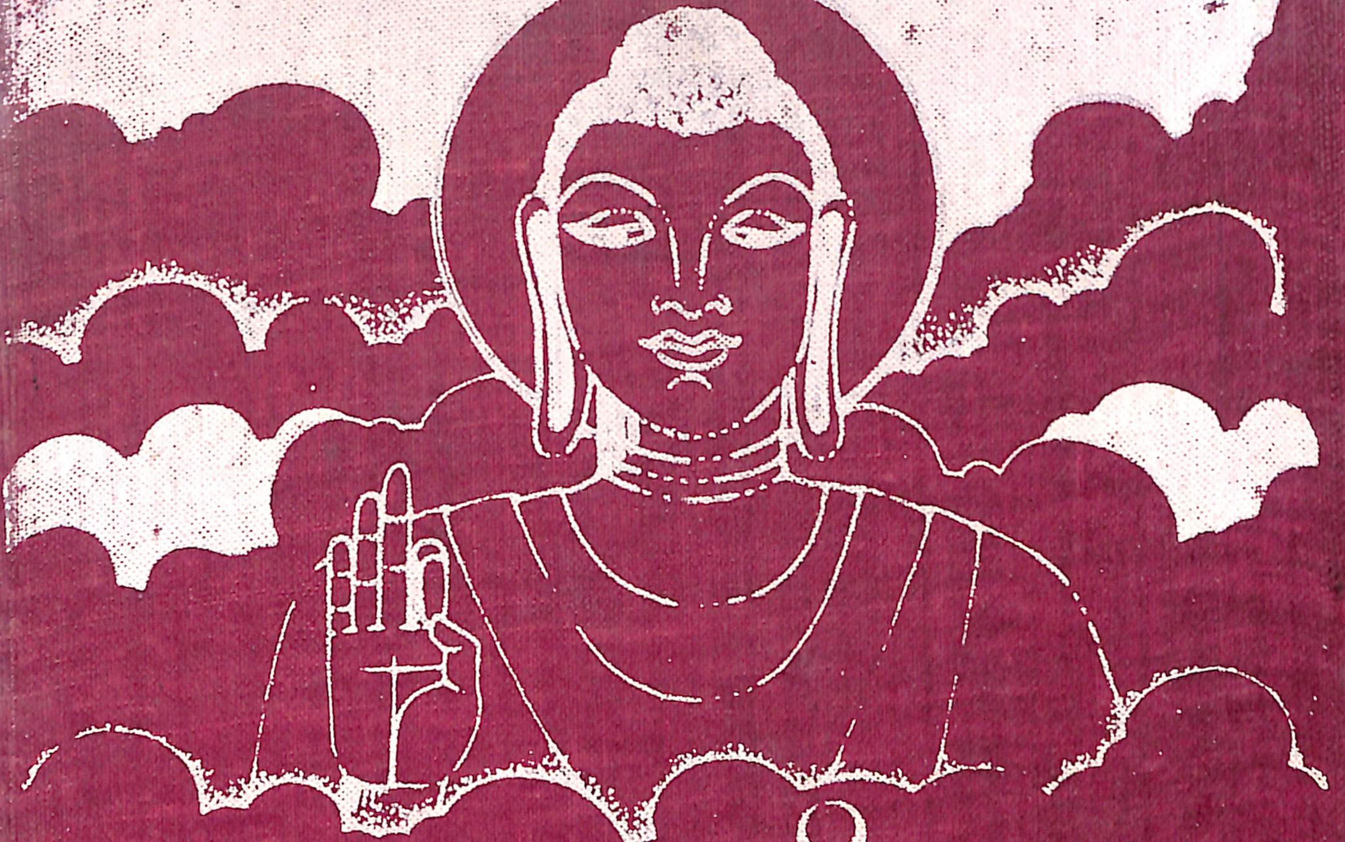


महावंस

पुरोवाक्
प्रो. रामकुमार त्रिपाठी
सम्पादक : डॉ. परमानन्द सिंह

अनुवादक
स्वामी द्वारिकादास शास्त्री



बौद्ध आकर ग्रंथमाला, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला पुष्प-७

स्थविर महानाम-प्रणीत

म हा वं स

(मूल एवं हिन्दी रूपान्तर)

पुरोवाक्
प्रो. रामकुमार त्रिपाठी
कुलपति
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी

अनुवादक
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

सम्पादक
डॉ. परमानन्द सिंह

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी
१९९६

© *प्रकाशक :*
डॉ. परमानन्द सिंह
सदस्य-सचिव,
बौद्ध आकर ग्रन्थमाला
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी-२

वितरक :
रत्ना पब्लिकेशन्स,
बी. २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी-१०

मूल्य : रु. ३५०.००

वर्ष : १९९६ ई.

प्रथम संस्करण : १००० प्रति

मुद्रक :
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी. २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी-१०

Bauddha Ākara Granthmalā-7

MAHĀ VAṀSA

Of

Shri Mahānāma Sthavira

Along with

Hindi Translation

Foreword by

Prof. Rām Kumār Tripathī

Vice Chancellor,

M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi

Translated by

Swāmī Dwārikā Dās Śāstrī

Edited by

Dr. Paramānand Singh

BAUDDHA ĀKARA GRANTHAMĀLĀ

M.G. Kashī Vidyāpīth, Varanasi

1996

© *Publisher :*
Dr. Paramānand Singh
Member Secretary,
Bauddha Ākara Granthamālā,
M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi-2

Sole Distributor :
Ratna Publications
B. 21/42 A, Kamachha,
Varanasi-10

Price : Rs. 350.00

First Edition : 1996

Copies : 1000

Printed by
Ratna Printing Works
B. 21/42 A, Kamachha,
Varanasi-10

पुरोवाक्

पालिभाषा में लिखित इस **महावंस** ग्रन्थ का, लङ्काद्वीपीय इतिहास के अतिरिक्त भारतीय इतिहास की दृष्टि से भी, अत्यधिक महत्त्व है। इसमें हमें बुद्धपूर्व के चार सौ वर्ष, बुद्धकालीन एक सौ वर्ष तथा बुद्ध-परकालीन प्रायः चार सौ वर्ष का इतिहास बहुत विस्तार से मिलता है। इसके आधार पर हम तत्कालीन सामाजिक क्रियाकलापों की बहुविध सामग्री एवं जानकारी पा लेते हैं। उस समय के धार्मिक आचार-विचार, राजनीतिक परिवर्तन, कृषि व्यापार एवं उद्योग की अभ्युन्नति, सामाजिक शिक्षा में प्रगति, नारी का धार्मिक (आध्यात्मिक) एवं सामाजिक विकास या तत्कालीन भारतीय समाज के रहन-सहन के विषय में हम जो कुछ भी गवेषणा करना चाहें, वह सूक्ष्मेक्षिकया अनुशीलन करने पर, इसमें अवश्य मिलेगा।

साथ ही, इसमें भगवान् बुद्ध, उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म, उनके द्वारा प्रतिष्ठापित सङ्घ, बौद्ध सङ्गीतियाँ, बौद्ध धर्म को राज्याश्रय देनेवाले नृपतिगण, विशेषतः सम्राट् अशोक, उसके पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री सङ्घमित्रा का बौद्ध धर्म के प्रति समर्पित जीवन एवं ऐसे ही अन्य प्रमुख भिक्षुओं का जीवन-परिचय, तत्कालीन सङ्घनिकायों के मतभेद, बौद्धों की आचार्य-परम्परा, बौद्ध विद्वानों एवं बौद्ध धर्म-प्रचारक स्थविरों की धार्मिक प्रवृत्तियाँ—ये सभी विषय विस्तृत रूप से वर्णित हैं।

इसके साथ ही, इसमें लङ्काद्वीप के तत्कालीन राजाओं का (राजा विजय से राजा महासेन तक) क्रमपूर्वक विस्तृत इतिहास-विवरण, लङ्काद्वीप में समय-समय पर हुए युद्धों का वर्णन एवं बौद्ध भिक्षुओं के आवासहेतु वहाँ के विभिन्न राजाओं द्वारा निर्मापित अनेक महाविहार, चैत्य स्तूप, आराम आदि का क्रमिक वर्णन भी यथाप्रसङ्ग वर्णित हैं। ऐसा विस्तृत वर्णन करने से ही इस ग्रन्थ की विशेषता मानी गयी है।

इसी तरह, इस ग्रन्थ में वर्णित है लङ्काद्वीपीय राजाओं का द्वीप के विकास में चतुरस्र सहयोग, जैसे—किसानों एवं जनता के हितार्थ, जिसे बौद्धों की भाषा में 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' कहते हैं, बापी (कूआ-बावड़ी)-निर्माण, नहरों का निर्माण, नदियों पर पुलों एवं घाटों का निर्माण, लङ्का के समुद्र तट पर बन्दरगाहों का निर्माण, नगरों का अभिनव संस्करण, अकाल के समय खाद्यसामग्री का उचित वितरण, धार्मिक आचार-विचार की सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा हेतु समय-समय

पर धार्मिक एवं सामाजिक मेलों (समज्या) का आयोजन, उन मेलों में स्वयं राजाओं द्वारा प्रमुखता से हर्ष एवं उत्साह पूर्वक सम्मिलित होना; सबसे बढ़कर बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा रखते हुए इसके लिये जनता को भी सामयिक राजाज्ञाओं एवं अन्य शान्तिमय उपायों से समझा-बुझाकर बौद्ध धर्म के पालन हेतु प्रोत्साहित करना, इसी के साथ-साथ भिक्षुओं को प्रतिदिन महादान (भोजन), चीवरदान, आतुरों (रोगियों) को भैषज-दान, ग्रामों तथा नगरों के चौरस्तों पर प्याऊ (जल पीने की व्यवस्था) लगवाना–आदि सभी शासकीय प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा (क्रमिक विवरण) विस्तार के साथ उपलब्ध है ।

इस विद्यापीठ के अन्तर्गत बौद्ध आकर ग्रन्थमाला की प्रशासनसमिति ने ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन, संशोधन, मुद्रण एवं प्रकाशन अपने हाथ में लेकर बहुत ही स्तुत्य एवं लोकोपयोगी कार्य किया है, एतदर्थ यह समिति भारतीय इतिहासविदों द्वारा प्रशंसा ही प्राप्त करेगी–ऐसा हमारा विश्वास है ।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये बौद्ध साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् एवं इस ग्रन्थ के अनुवादक **स्वामी द्वारिकादासशास्त्री** तथा प्राचीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ एवं इसके सम्पादक **डॉ. परमानन्दसिंह** निश्चित रूप से हम लोगों की बधाई के पात्र हैं ।

भारतवर्ष में ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का देवनागरी लिपि में मूल पालि-पाठ का हिन्दी रूपान्तरण सहित प्रकाशन पहली बार हो रहा है । अब हमें अपने देश में, अपनी लिपि और अपनी ही भाषा में ऐसा विशिष्ट ग्रन्थ भी पढ़ने को मिल सकेगा–यह हमारे लिये अत्यन्त हर्ष का विषय है ।

रामकुमार त्रिपाठी

(प्रो. रामकुमार त्रिपाठी)
कुलपति एवं अध्यक्ष
बौद्ध आकर ग्रन्थमाला

६ सितम्बर, १९९६
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी-२

* नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स *

सम्पादकीय वक्तव्य

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ द्वारा सञ्चालित "बौद्ध आकर ग्रन्थमाला" के सप्तम पुष्प के रूप में **महावंस** ग्रन्थ का (मूल पालिपाठ एवं उसके हिन्दी अनुवाद सहित) यह अनुपम संस्करण प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हे हमें अपार हर्ष हो रहा है ।

विषय एवं वर्णनक्रम की दृष्टि से 'महावंस' दीपवंस के समान लङ्काद्वीप का एक सुव्यवस्थित इतिहास-ग्रन्थ है । सम्भवतः यह दीपवंस के आधार पर ही लिखा गया है या फिर इसके उपजीव्य स्रोत वही होंगे जो दीपवंस के रहे होंगे ।

महावंस की विशेषता :

(१) महावंसकार ने अपने महावंस स्थित इतिहास लेखन में 'दीपवंस' एवं 'सीहली अट्ठकथाओं' के अतिरिक्त 'सीहळट्ठकथामहावंस' नामक अट्ठकथा का विशेष आश्रय लिया है–ऐसा हमें महावंश टीका (१२ वीं. शताब्दी में लिखित) द्वारा बताया गया है ।

(२) 'महावंस' की विषयवस्तु 'दीपवंस' के समान होते हुए भी उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है ।

(३) 'महावंस' की भाषा 'दीपवंस' की तरह अव्यवस्थित, नीरस एवं व्याकरण तथा काव्य के नियमों से विरुद्ध नहीं है । अतः यह (महावंस) ग्रन्थ सच्चे अर्थों में एक ऐतिहासिक काव्य है ।

(४) अपितु, महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों से सर्वथा समान होने के कारण इसे 'ऐतिहासिक महाकाव्य' ही कहा जाना चाहिये; क्योंकि इसकी भाषा एवं निरूपण शैली में वही उदात्तता है जिसे हम महाकाव्य शैली में लिखे हुए महाकाव्यों में अनिवार्य मानते हैं ।

(५) 'महावंस' में राजा देवनम्पिय तिस्स एवं राजा दुट्ठगामणी का विस्तृत वर्णन उसी महाकाव्योचित प्रभावपूर्ण शैली से ओतप्रोत हैं जो महाकाव्यों के किसी धीरोदात्त नायक के वर्णन में पायी जाती है ।

महावंस का मौलिक रूप :

'महावंस' अपने मौलक रूप में सैंतीसवें (३७) परिच्छेद की पचासवीं (५०) गाथा पर समाप्त हो जाता है और उस गाथा के बाद ही **महावंसो निट्ठितो**–ऐसा लिखा हुआ मिलता है । किन्तु बाद में, आगे चलकर, इस ग्रन्थ में अन्य लेखकों

द्वारा परिवर्धन-संवर्धन भी होता रहा है । इसके इस (अन्य लेखकों द्वारा परिवर्धित रूप) को **चूकवंस** कहते हैं ।

महावंस का रचनाकाल :

चूळवंस के अड़तीसवें (३८) परिच्छेद में एक गाथा मिलती है–

"दत्वा सहस्रं दीपेतुं दीपवंसं समादिसि ।"

सम्बद्ध विद्वान् इसका यह अर्थ मानते हैं–"राजा धातुसेन ने किसी पण्डित को एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ (पारिश्रमिक के रूप में) देकर 'दीपवंस' पर एक 'दीपिका' लिखने का आदेश दिया ।" इस धातुसेन राजा का शासनकाल ईसा की पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम एवं छठी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना जाता है । तथा उक्त गाथा में कथित 'दीपिका' को ही कुछ विद्वानों ने यह 'महावंस' मान लिया है । अन्य विद्वान् इस मत का अपने प्रबल तर्कों से खण्डन भी करते हैं । यदि वस्तुतः 'दीपिका' शब्द का तात्पर्य 'महावंस' ही गृहीत हो तो इस 'महावंस' ग्रन्थ का रचना-काल पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम भाग एवं छठी शताब्दी का आदिम भाग मानना होगा ।

महावंस की रचना का उद्देश्य :

'महावंस-टीका' के अनुसार 'महावंस' की रचना का उद्देश्य था बौद्ध धर्म से सम्बद्ध महान् पुरुषों (राजाओं, स्थविरों एवं आचार्यों) के वंश का तथा उनके कार्यकलापों का क्रमबद्ध इतिहास-वर्णन । इसके अतिरिक्त महावंस लेखक का मूलभूत (प्रधान) उद्देश्य यह था कि उन उक्त महापुरुषों का उदय-व्यय दिखाते हुए उनके दृष्टान्त से साधारण जनता में बौद्ध धर्म के प्रतिश्रद्धा उत्पन्न कर संसार के प्रति उनके हृदय में वैराग्य की भावना जाग्रत् करना ।

महावंस की रचना :

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि उन दोनों ग्रन्थों का ही वर्णनीय विषय एक ही है । और वह है–पाँचवीं शताब्दी ईस्वी से (जहाँ से बौद्ध काल प्रारम्भ होता है) चौथी शताब्दी ईस्वी तक लङ्का के बौद्ध महापुरुषों (राजाओं, स्थविरों एवं आचार्यों) के क्रमबद्ध इतिहास का वर्णन । 'महावंस' कविहृदय इतिहास लेखक स्वयं मानता है कि उस ने पुराने लङ्काद्वीपीय इतिहास ग्रन्थों के 'अतिविस्तार' या 'अतिसंक्षेप' 'पुनरुक्ति' दोषों का निराकरण करते हुए, तथा भाषा एवं वर्णन शैली में उदात्तता लाते हुए इन्हीं पूर्वोक्त ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की है ।

यहाँ, महावंस के टीकाकार भी ग्रन्थलेखक का अनुमोदन करते हुए स्वीकार करते हैं कि लेखक ने उपर्युक्त दोषों का निराकरण करते हुए सरलता से समझ

में आने योग्य भाषा एवं शैली के सहारे श्रद्धालुजनों में बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा-भाव एवं संसार के प्रति वैराग्यभाव उत्पादक इस ग्रन्थ की रचना की है ।

महावंस के लेखक का नाम एवं आवास :

'महावंस-टीका' के अनुसार 'महावंस' के रचयिता का नाम **महानाम स्थविर** है । उसी टीका के प्रमाण से हमें यह भी ज्ञात है कि ये महानाम स्थविर राजा देवनम्पिय तिस्स के दीघसन्दन नामक सेनापति द्वारा यथासमय निर्मापित विहार परिवेण में रहते थे । इससे अधिक इस महावंस रचयिता के विषय में तथा उनके काल के विषय में इतिहास हमें अन्य कुछ भी नहीं बताता ।

दीपवंस एवं महावंस के विषय वर्णन का सामञ्जस्य :

दोनों ही ग्रन्थों में सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध का तीन बार लङ्का में जाकर वहाँ यक्षदमन एवं नागदमन वर्णित है । पुनः इतिहास वर्णन प्रारम्भ करते हुए महासम्मत राजा (मानव सृष्टि का प्रथम राजा) की वंशावलि का वर्णन हुआ है । तृतीय, चतुर्थ एवं पाँचवें परिच्छेद में तीन बौद्धसङ्गीतियाँ क्रमशः वर्णित हैं । षष्ठ परिच्छेद में लाड़नरेश सिंहबाहु के पुत्र विजय का लङ्काआगमन, एवं सप्तम में उसका राज्याभिषेक क्रमशः वर्णित है । अष्टम, नवम, दशम परिच्छेदों में राजा विजय के वंशगत राजाओं का वर्णन है ।

एकादश परिच्छेद से राजा देवानम्पिय तिष्य का वर्णन प्रारम्भ होता है । यही वह काल है जब बौद्ध धर्म व्यवस्थित रूप से लङ्का में पहुँचा । इस परिच्छेद से हमें भारत एवं लङ्का के विषय में बहुत ही प्रामाणिक सूचनाएँ मिलती हैं । इसी से ज्ञात होता है कि देवानम्पिय तिस्स ने सम्राट् अशोक को बहुत से अमूल्य उपहार भेजे । बदले में, सम्राट् अशोक ने देवानम्पिय तिस्स को लङ्का का राजा स्वीकार किया । लङ्का से पाटलिपुत्र तक का स्थल एवं जल मार्गों का भी इसमें स्पष्ट वर्णन है । द्वादश परिच्छेद में विविध (नाना) देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु विशिष्ट बौद्ध स्थविरों के प्रेषण का वर्णन है । इस परिच्छेद से भी हमें बहुत-सी प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री मिलती है । इसी क्रम में, तेरहवें, चौदहवें परिच्छेदों में महिन्द स्थविर एवं सङ्घमित्रा का लङ्का आगमन विस्तार से वर्णित है । इसी परिच्छेद में महिन्द स्थविर राजा देवानम्पिय तिस्स को मिस्सक पर्वत पर पहुँच कर गम्भीर वाणी में परन्तु विनीत स्वर से अपना परिचय यों देते हैं :–

समणा मयं, महाराज ! धम्मराजस्स सावका ।
तवेव अनुकम्पाय, जम्बुदीपा इधागता ॥[1]

---

1. म. वं. १४/८ ।

पन्द्रहवें परिच्छेद से बीसवें तक क्रमशः राजा तिस्स द्वारा महाविहारनिर्माण, महिन्दस्थविर द्वारा चैत्यपर्वतविहारप्रतिग्रहण, सङ्घमित्रा द्वारा पाटलिपुत्र से लङ्का में महाबोधि का आनयन एवं अन्त में महिन्द स्थविर का परिनिर्वाण वर्णित है ।

इक्कीसवें परिच्छेद में देवानम्पिय तिस्स के बाद एवं राजा दुट्ठगामणी से पूर्व पाँच राजाओं का वर्णन है । बाईसवें परिच्छेद से बत्तीसवें परिच्छेद तक राजा दुट्ठगामणी के कार्यकलापों का विस्तृत वर्णन है । जिस में, प्रसङ्गानुसार, इस राजा द्वारा सैन्यबल का सङ्गह कर द्रविड़ों का लङ्का से निष्कासन, लङ्का में लङ्कावासी राजाओं का एकच्छत्र राज्य-स्थापना, तदनन्तर बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु लौह प्रासाद, महाप्रासाद, आदि अनेक स्तूपों एवं महाविहारों का निर्माण वर्णित हैं । यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ 'दीपवंस' में दुट्ठगामणी राजा का वर्णन केवल तेरह गाथाओं में पूर्ण कर दिया गया है वहाँ 'महावंस' उन्हीं तेरह गाथाओं के विस्तार से समग्र ग्यारह (११) परिच्छेदों में उक्त राजा का वर्णन महाकाव्य लेखन पद्धति से मनोज्ञ एवं प्राञ्जल शैली में वर्णित किया है ।

इस दुष्टग्रामणी राजा का विशिष्ट कार्य था–युद्धों में प्राप्त विजयों के बाद, अनुराधपुर में नौ मंजिल वाले लौह प्रासाद, मरिच-वट्टिविहार एवं महास्तूप का निर्माण । 'महावंस' के अनुसार यह राजा लङ्का का राष्ट्रिय नेता था ।

राजा दुट्ठगामणी के बाद, तैंतीस, चौंतीस, पैंतीस एवं छत्तीसवें परिच्छेदों में क्रमशः लङ्का के दश राजा, एकादश राजा एवं द्वादश राजाओं का वर्णन है । (दीपवंस में इन राजाओं का वर्णन अतीव संक्षिप्त रूप से किया गया है।)

सैंतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा तक राजा महासेन के शासनकाल का वर्णन है । यही मूल 'महावंस' के वर्णित विषयों की सीमा है ।

दोनों ग्रन्थ एक ही स्थान (बुद्ध द्वारा यक्षदमन) से इतिहास का लेखन प्रारम्भ कर राजा महासेन के शासनकाल तक लाकर लङ्का का इतिहास समाप्त कर देते हैं ।

क्या महावंस दीपवंस की अट्ठकथा है ?

यद्यपि 'दीपवंस' ग्रन्थ की रचना, 'महावंस' से कम से कम एक सौ पचास वर्ष पूर्व होने के कारण, वह (दीपवंस) अपने इतिहास स्रोतों (सिंहली अट्ठकथाओं) के अपेक्षाकृत अधिक समीप है, तथापि 'महावंस' ने उसी इतिहास को विस्तार, परिष्कार एवं काव्यात्मक स्वरूप प्रदान कर उसकी भाषा एवं वर्णन-शैली को अधिक परिष्कृत, प्राञ्जल एवं व्यवस्थित बना दिया है । उभय ग्रन्थों में वर्णित विषयों के विवरणों में अद्भुत समानता होते हुए भी कहीं-कहीं वंशावलियों के वर्णन में कुछ भिन्नता, सामान्य अन्तर भी पायी जाती है । वहाँ

हमने दीपवंस को ही प्रमाण माना है । क्योंकि वह प्राचीन है । तथा उसी के आधार पर आगे (परिशिष्टों में) वंशावलियाँ अङ्कित की गयी हैं । अस्तु यों 'महावंस' को भले ही 'दीपवंस' की अट्ठकथा (अर्थ-कथा=व्याख्या) स्वीकार किया जाय या न किया जाय, महावंस की शैली की अपनी एक मौलिक विशेषता है, जो अध्येता को पद-पद पर प्रभावित करती है ।

महावंस के रोमन संस्करण :

आज से प्रायः एक सौ वर्ष पूर्व श्री विल्हेल्म गायगर ने महावंस का (रोमन लिपि में) सम्पादन किया था । उन्हीं रोमन अक्षरों में सुसम्पादित महावंस के आधार पर हमने अपना यह संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ परिष्कृत कराया है । इसी तरह सन् १८३७ में श्रीयुत् टर्नर महोदय ने भी महावंस का एक अंग्रेजी अनुवाद किया था । श्रीमान् गायगर महोदय ने भी महावंस का एक अंग्रेजी अनुवाद किया था । श्रीमती बोड ने इस जर्मन अनुवाद के सहारे से अंग्रेजी अनुवाद किया था । विरोधी गायगर महोदय ने पुनः परिष्कृत किया था । इस तरह १९०८ में महावंस का अंग्रेजी अनुवाद छपा ।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन का हिन्दी अनुवाद :

श्रद्धेय भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने भी इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया था, जो १९४२ ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से मुद्रित प्रकाशित हुआ था ।

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला का प्रयास :

'महावंस' ग्रन्थ की इसी मौलिक विशेषता पर मुग्ध होकर, **बौद्ध आकर ग्रन्थ माला** की **प्रशासन समिति** (महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी) ने देवनागरी लिपि में इस ग्रन्थ के मुद्रण प्रकाशन का उत्तरदायित्व स्वीकार किया है । इस ग्रन्थ का मूल (पालि) पाठ तो अद्यावधि स्वतन्त्ररूप से देवनागरी लिपि में उपलब्ध ही नहीं था । अतः उचित यही समझा गया कि ग्रन्थ का मूल (पालि) पाठ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया जाय ।

धन्यवाद ज्ञापन : बौद्ध आकर ग्रन्थों का अनुवाद राष्ट्रभाषा हिन्दी में महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के माध्यम से सम्पन्न हो, इसके लिए सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश सरकार ने विद्यापीठ में बौद्ध आकर ग्रन्थमाला निधि की स्थापना करके अपनी सहृदयता का जो परिचय दिया है, उसके लिए हम सरकार के प्रति अपनी कृतज्ञता निवेदित करते हैं ।

इस असम्भव कार्य को सम्भव बनाने का अथक प्रयास साहित्य जगत् के मर्मज्ञ प्रो. राम कुमार त्रिपाठी कुलपति महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ ने किया, वे इस निधि के अध्यक्ष भी हैं । उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपने कर्तव्य

की सार्थकता समझता हूँ । इस प्रसंग में तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान के निदेशक प्रो. एस. रिम्पोछे के प्रति भी आभारी हूँ । इसके साथ ही प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, पूर्व विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं डॉ. बाँके लाल मिश्र, संस्कृत विभाग, म. गाँ. काशी विद्यापीठ के प्रति आभार व्यक्त करना भी मैं अपना दायित्व समझता हूँ । इन महानुभावों ने समय-समय पर अपने सुझाव देकर इस कार्य को पूर्ण कराने में योगदान किया है ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में महाबोधि सोसाइटी के महासचिव भिक्षु डा. डोडम गोड रेवत का प्रोत्साहन एवं विद्वत्तापूर्ण सुझाव हमारे लिए मार्ग दर्शन का कार्य किया । उनके प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं ।

इस ग्रन्थ के संशोधक एवं हिन्दी अनुवादक हैं श्री स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, जो वर्तमान में बौद्ध विद्या के जाने-माने भारतीय विद्वान् हैं । ये अभी तक बौद्ध दर्शन एवं पालि साहित्य के शताधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन, संशोधन, व्याख्यान तथा अनुवाद सम्पन्न कर चुके हैं । श्रद्धेय स्वामी जी, इस ग्रन्थ का भी ऐसा हृदयग्राही अनुवाद कर, पालिजगत् द्वारा प्रशंसा के पात्र बन गये हैं । हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि आगे भी श्रीस्वामी जी अपनी लेखनी से पालि भाषा का अभिवर्धन-संवर्धन करते रहेंगे ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को सजाने-संवारने एवं टंकित करने का कार्य मेरे सहयोगी श्रीश कुमार सिन्हा ने किया है, उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए मैं हर्षित हो रहा हूँ । इस कार्य की पूर्णता के लिये म. गाँधी काशी विद्यापीठ परिवार का मैं विशेष ऋणी हूँ । जिसकी सत्प्रेरणा से मैं लाभान्वित हुआ हूँ ।

अन्त में, मैं उन समस्त बौद्ध विद्वानों एवं लेखकों के प्रति नतमस्तक हूँ जिनके प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग से यह कार्य पूर्ण किया गया ।

मैं अपने मित्र श्री विपुल शंकर पण्ड्या के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके अथक प्रयास से यह कार्य पूर्ण हो सका । पुस्तक को सुन्दर, स्पष्ट एवं शुद्ध छापने में उनके रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स के कर्मचारियों का सहयोग सराहनीय रहा, उनके सहयोग से ही यह ग्रन्थ पाठकों के सम्मुख पहुँच पाया है ।

डॉ. परमानन्द सिंह
उपाचार्य इतिहास विभाग
एवं सदस्य-सचिव
बौद्ध आकर ग्रन्थमाला

म. गाँ. काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

महावंस के विषय में

सुखो बुद्धानमुप्पादो, सुखा सद्धम्मदेसना ।
सुखा सङ्घस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो ॥

पालि-वाङ्मय में, त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथाओं के बाद इतिहास-वर्णन की दृष्टि से **दीपवंस** एव **महावंस** ग्रन्थों का अपना एक विशिष्ट स्थान माना जाता है । इन दोनों ही ग्रन्थों में भगवान् बुद्ध के काल से ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक लङ्काद्वीप के बौद्ध राजाओं का तथा प्रसङ्गवश तत्कालीन भारतीय राजाओं का, तत्कालीन बौद्ध स्थविरों एवं महाविहारों का, तथा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का प्रामाणिक विवरण सुरक्षित है । इस समय के इतिहास का सम्यक् अनुशीलन करने वाले किसी भी अनुसन्धाता के लिये इन दोनों ही ग्रन्थों का अध्ययन अत्यावश्यक है ।

इन दोनों ग्रन्थों में कौन किस का उपजीव्य है? इस पर विचार करने पर लगता है कि परवर्ती रचना होने के कारण महावंस ने ही दीपवंस का आश्रय लिया है । वैसे ये दोनों ही किसी पुरानी (पोराण) सीहल अट्ठकथा के आधार पर लिखे गये हैं–ऐसी महावंसटीकाकार की मान्यता है ।

अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब तत्कालीन इतिहास-ज्ञानके लिये दीपवंस एवं पोराणअट्ठकथा उपलब्ध थी ही तो **महावंस रचना की क्या आवश्यकता पड़ गयी?** इस प्रश्न का उत्तर महावंसकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपनी बात कह कर दे दिया है[1] ।

वे कहते हैं–"इन पुराण इतिहासरचनाओं में कहीं तो बातों का बहुत अधिक विस्तार था, कहीं बहुत संक्षेप । कहीं एक ही बात बार बार (पुनरुक्ति) दुहरा दी गयी । इससे अध्येता को ग्रन्थ पढ़ने-सुनने में ही अरुचि होने लगती है, उसमें प्रतिपादित धर्म के प्रति श्रद्धा एवं संवेग के उत्पाद की बात तो बहुत दूर है ! इसके

---

1. "पोराणेहि कतो पेसो अतिवित्थारितो क्वचि ।
अतीव क्वचि सङ्खित्तो अनेकपुनरुत्तको ॥
वज्जितं तेहि दोसेहि सुखग्गहणधारणं ।
पसादसंवेगकरं सुतितो च उपागतं ॥
पसादजनके ठाने तथा संवेगकारके ।
जनयन्ता पसादं च संवेगं च सुणाथ तं ॥"

विपरीत इस महावंस में प्रत्येक विषय प्रामाणिक रूप से यथोचित, यथास्थान, यथाप्रसङ्ग वर्णित है, न उसमें कहीं पुनरुक्ति है, न अतिशयोक्ति और न संक्षेप । इसमें अध्येता की ग्रन्थ के अध्ययन में रुचि एवं सातत्य बना रहता है तथा इसके अध्ययन से उसका इसमें प्रतिपादित धार्मिक इतिहास के प्रति श्रद्धा एवं संवेग भी बढ़ने लगता है ।"

हमारी दृष्टिमें, **महावंस-अध्ययन के तीन प्रत्यक्ष लाभ** हैं–

१. ग्रन्थ में श्रीलङ्का एवं भारत के इतिहास की मूल उपादानसामग्री अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध है, अतः इस दृष्टि से इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है ।

२. पालिभाषा का एक विशिष्ट महाकाव्य होने से भी यह ग्रन्थ पठनीय है ।

३. अथ च, इसका अध्ययन इसलिये भी आवश्यक है कि इसमें महान् वंश अर्थात् बौद्ध धर्म के उन महान् (पूज्य, माननीय एवं श्रद्धेय) व्यक्तियों (पूज्य भिक्षुओं, सफल शासकों, राजाओं एवं तत्कालीन रणवीर योद्धाओं) का प्रामाणिक वर्णन मिलता है जिन्होंने इतने दीर्घकाल तक इस बौद्ध धर्म को, इन बौद्ध सिद्धान्तों को समाज में सुप्रतिष्ठित रखने के लिये अपना समग्र जीवन समर्पित कर दिया था ।

यहाँ इन दोनों ग्रन्थों का मुख्य भेद प्रतिपादित करते हुए आदरणीय भदन्त आनन्द कौसल्यायन अपने 'परिचय' में लिखते हैं–

"इन दोनों इतिहास-ग्रन्थों में जो मुख्य भेद है वह यह है कि जहाँ दीपवंस, काव्य की दृष्टि से एक दम ध्यान न देने लायक लगता है, एकदम भर्ती की चीज प्रतीत होता है, कहीं कही पद्य के बीच में गद्य भी विद्यमान है; वहाँ महावंस एक श्रेष्ठ 'महाकाव्य' है ।"

बात महावंस के 'महाकाव्यत्व' पर आ पहुँची, तो आइये पहले इस **'महाकाव्य' शब्द के लक्षण** पर विचार कर लिया जाय कि यह इस महावंस ग्रन्थ पर चरितार्थ होता है या नहीं ?

संस्कृत साहित्य के अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **साहित्यदर्पण** के षष्ठ परिच्छेद में विश्वनाथ कविराज ने 'महाकाव्य' का लक्षण विस्तार से दिया है[1] । वह विस्तार यह है–

---

1. "सर्गबन्धो महाकाव्यम्, तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१५॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ ३१६ ॥
शृङ्गार-वीर-शान्तानामेकोऽङ्गी रस उच्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः, सर्वे नाटकसन्धयः ॥ ३१७ ॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम् ।

कोई भी महाकाव्य–

१. सर्गों (अवान्तर परिच्छेदों) से विभक्त होना चाहिये ।

२. उसका नायक धीरोदात्त गुणों से युक्त होना चाहिये ।

३. बहुत से नायक हों तो वे एक ही कुल में उत्पन्न राजा होने चाहियें ।

४. ऐसे काव्य में शृङ्गार रस, वीर रस या शान्त रस में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिये, तथा अवशिष्ट रसों का भी वर्णन यत्र तत्र यथाप्रसङ्ग रहना चाहिये ।

५. इसमें सभी मुख, प्रतिमुख आदि नाटक सन्धियों का भी प्रयोग होना चाहिये ।

६. इसका कथानक महाभारत रामायण आदि इतिहास-ग्रन्थों या लोकसाहित्य में प्रसिद्ध होना चाहिये । या लोकप्रसिद्ध कोई सज्जन उस कथानक का प्रधान होना चाहिये ।

७. इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–इन चारों का या किसी एक का फल-प्राप्ति के रूप में वर्णन होना चाहिये ।

८. इस काव्य-रचना के प्रारम्भ में अपने इष्ट देवता को प्रणाम या पाठकों के प्रति शुभाशीर्वचन तथा कथानक के नायक का स्पष्ट (नामग्रहणपूर्वक) उल्लेख होना चाहिये ।

९. ऐसे काव्य में यथाप्रसङ्ग दुष्टों के दुर्गुणों की निन्दा एवं सज्जनों के गुणों की प्रशंसा भी होनी चाहिये ।

१०. काव्य के प्रत्येक सर्ग की किसी एक ही छन्द में रचना होनी चाहिये । (प्रसादगुणयुक्त एवं पुराणप्रसिद्ध) कथानकों का वर्णन अनुष्टुप् (गाथा) छन्द में ही

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥ ३१८ ॥
आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा, वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ ३१९ ॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥ ३२० ॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥ ३२१ ॥
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगया शैलर्तुवनसागराः ॥ ३२२ ॥
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥ ३२३ ॥
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ ३२४ ॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।"
(सा. द. ष. प.)

होना चाहिये ।) परन्तु सर्ग के अन्तिम श्लोक की रचना किसी पृथक् छन्द में होनी चाहिये ।

११. महाकाव्य में न अधिक छोटे और अधिक लम्बे कम से कम आठ (८) या इससे अधिक सर्ग होने चाहिये ।

१२. किसी किसी महाकाव्य में एक ही सर्ग अनेक छन्दों में भी निबद्ध देखा जाता है ।

१२. सर्ग के अन्त में आगे वाले सर्ग के कथावर्णन की सूचना दी जानी चाहिये ।

१३. ऐसे महाकाव्य में, सन्ध्याकाल, सूर्योदय, चन्द्रोदय, प्रदोष (रात्रि का प्रथम प्रहर) तथा अन्धकार वर्णन, दिन या रात्रि की शोभा, प्रातः काल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सम्भोग, विप्रलम्भ (प्रणय-कलह) ऋषि-मुनियों के आश्रम, स्वर्ग, नगरशोभा, यज्ञवर्णन, युद्धयात्रा, विवाह-प्रसङ्ग, मन्त्र, पुत्रोत्पत्ति आदि प्रसङ्गों का साङ्गोपाङ्ग (जलक्रीडा, मधुपान आदि) वर्णन होना चाहिये ।

१४. इस महाकाव्य का नाम उसके नायक, काव्य के रचयिता (कवि) या अन्य उपनायक के नाम पर रखना चाहिये ।

१५. इसी तरह काव्य के सर्गों का शीर्षक सर्ग में वर्णित कथा के आधार पर होना चाहिये । (सा० द०, ष० प०, ३१५-३२४)

विद्वान् लोग दोनों ग्रन्थों के अध्ययन के बाद समझ सकते हैं जानते हैं कि ये उपर्युक्त पन्द्रह (१५) लक्षण 'महावंस' में ही घटित होते हैं, दीपवंस में नहीं; अतः विद्वानों द्वारा महावंस को ही महाकाव्य मानना युक्तियुक्त है ।

छन्दोरचना–ऊपर विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य के लक्षणों में एक लक्षण यह भी बताया है कि किसी भी महाकाव्य के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में, पूर्व प्रयुक्त छन्दों से भिन्न छन्द में श्लोक-रचना करते हुए परिच्छेद समाप्त करना चाहिये । इस कार्य में इस महाकाव्य के कवि (महानाम) पूर्ण सफल रहे हैं–ऐसा इसके अध्ययन से ज्ञात होता है ।

कवि ने **संस्कृत** एवं **पालि भाषा** में प्रयुक्त होने वाले सभी विशिष्ट छन्दों का मनोयोगपूर्वक चयन कर, प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में, स्वच्छन्दतया प्रयोग किया है । जैसे–**वंशस्थ, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, त्रोटक, दोधक, वसन्ततिलका, रथोद्धता, प्रहर्षिणी, मालिनी, शालिनी, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित,** एवं **स्रग्धरा** आदि ।

इन सभी छन्दों का इस काव्य में यथा-स्थान उचित प्रयोग करते हुए कवि ने न केवल अपना स्थान महाकवियों की श्रेणी में सुरक्षित कर लिया है, अपितु इस ग्रन्थ की गौरववृद्धि में भी चार चाँद लगा दिये हैं !

महावंस का रचयिता कौन?—इस प्रश्न के उत्तर में महावंसटीकाकार की मान्यता है कि इस महाकाव्य की रचना **महानाम स्थविर** ने की थी । इन महानाम ने श्रीलङ्का की प्राचीन भाषा में लिखित किसी पुरानी महावंसट्ठकथा से कथामात्र ग्रहण कर त्रिपिटक के आधार पर उसका सङ्गमन कर पालिभाषा में इस 'महावंस' की रचना की है । ये महानाम स्थविर राजा देवानम्पिय तिष्य के प्रधान **सेनापति दीघसन्द** द्वारा निर्मापित दीघसन्दसेनापतिपरिवेण में रहते थे ।[1] इस परिवेण के विषय में स्वयं महावंसकार ने प्रशंसा भरे शब्दों में दो गाथाएँ लिखी हैं ।[2] इन गाथाओं में आये 'पमुखं', 'पमुखाकरं'—इन दो शब्दों से महानाम की तत्कालीन सङ्घ में महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है । क्योंकि व्यवहार में हम देखते हैं कि किसी का वासस्थान भी उसकी उत्तम मध्यम या हीन सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही होता है । तो उस 'प्रमुख' विहार में अन्य प्रमुखों (सङ्घशासन में उच्च सम्मानास्पद स्थविरों) के साथ रहने वाले महानाम स्थविर भी शील, सदाचार, एवं वैदुष्य में अन्य प्रमुखों जैसी ही सम्मानास्पद स्थिति रखते होंगे ।

विभागशः रचना के कारण ग्रन्थ की पूर्णता में सन्देह—वर्तमान महावंस ग्रन्थ सैंतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा तक ही उपलब्ध है । दूसरी बात यह है कि ग्रन्थ के छत्तीस परिच्छेदों के अन्त में एक समान सी पुष्पिका दी गयी है—"सुजन-पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे……परिच्छेदो निट्ठितो"; परन्तु सैतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा पर विना किसी पुष्पिका के "महावंसो निट्ठितो" घोषित कर दिया जाता है । इस से यह सन्देह होता है कि कहीं 'महावंस' आधा-अधूरा तो नहीं रह गया ?

इसका उत्तर भदन्त आनन्द कौसल्यायन यह देते हैं—"*सैंतीसवाँ परिच्छेद पचास गाथाओं पर पहुँच कर यकायक समाप्त हो जाता है । जिस रचयिता ने महावंस को आगे जारी रखा उसने इसी परिच्छेद में १९८ गाथाएँ और जोड़कर इस परिच्छेद को 'सात राजा' शीर्षक दिया । यह आगे का हिस्सा* ***'चूळवंस'*** *कहलाता है । परवर्ती सभी इतिहास-लेखकों ने भी अपने हिस्से के इतिहास को*

---

1. "या एत्तावता महावंसत्थानुसारकुसलेन दीघसन्दसेनापतिना कारापितस्स... महानामो ति गुरूहि गहितनामधेय्येन थेरेन पुब्बसीहलभासिकाय सीहलट्ठकथाय भासन्तरमेव विवज्जिय, अत्थसारमेव गहेत्वा तन्तिनयानुरूपेन कतस्स पद्यपदोरुवंसस्स अत्थवण्णना मया..." (महावंसटीका, पृ. ६४३, ना. सं.)

2. "सेनापति तस्स रञ्ञो थेरस्स दीघसन्दनो ।
कारेसि चूळपासादं महाथम्भेहि अट्ठहि ॥
दीघसन्दनसेनापतिपरिवेणं ति तं तहिं ।
वुच्चते परिवेणं तं पमुखं पमुखाकरं ॥"
(-म. वं. १५-२१२,२१३)

किसी विशेष परिच्छेद पर समाप्त न कर अगले परिच्छेद की भी कुछ गाथाएँ इसी अभिप्राय से लिखी प्रतीत होती है कि जातीय इतिहास की यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे । ....पञ्ञानन्द स्थविर ने पूर्व परम्परानुसार प्रकाशित किया है "।

महावंस की विषयवस्तु– इस ग्रन्थ का विहङ्गम दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो यह ग्रन्थ पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व (बुद्ध काल) से ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक का प्रायः आठ सौ पचास वर्ष तक के बौद्ध धर्म का इतिहास है । इस में प्रामाणिक रूप से संगृहीत इतिहास को इतिहासविदों एवं पुरातत्त्वविदों ने उत्खनन आदि अन्य प्रमाणस्रोतों से भी प्रमाणित कर दिया है । इसमें–

१. तथागत का तीन बार लङ्कागमन वर्णित है ।
२. तीनों बौद्ध सङ्गीतियों का विस्तृत वर्णन मिलता है ।
३. विजय का लङ्का में साम्राज्यस्थापन भी विस्तार से वर्णित है ।
४. अशोक आदि भारतीय सम्राटों का क्रियाकलाप यथाप्रसङ्ग वर्णित है ।
५. देवानाम्प्रिय तिष्य के शासनकाल में अशोकपुत्र स्थविर महेन्द्र द्वारा किये गये धर्म-प्रचार का विस्तृत वर्णन है ।
६. मगध से विश्व के भिन्न देशों में जाकर बौद्ध भिक्षुओं द्वारा किये गये सद्धर्म-प्रचार का क्रमपूर्वक वर्णन है ।
७. बोधिवृक्ष की शाखासहित महेन्द्र स्थविर की भगिनी सङ्घमित्रा का लङ्का में जा कर धर्मोपदेश विस्तरशः वर्णित है ।
८. साथ ही, सिंहल के महापराक्रमी राजा दुट्ठगामणी से महासेन तक अनेक राजाओं का, उनके क्रियाकलापों सहित, विस्तृत वर्णन है ।

इस तरह, यह महावंस ग्रन्थ कहने को तो लङ्का का इतिहास-ग्रन्थ कहलाता है, परन्तु यह वस्तुतः समग्र भारतीय इतिहास की मूलभूत उपादानसामग्री से भी ओत प्रोत है ।

महावंस में वर्णित सामग्री की ऐतिहासिक प्रामाणिकता :

१. रीज डेविस आदि बौद्ध धर्म के इतिहासविद् निःसङ्कोच कहते हैं कि सिंहल के इतिहासग्रंथों में वर्णित कालक्रम योरोप में लिखे गये समकालीन इतिहास के कालक्रम से कथमपि हीन नहीं है ।
२. हम जानते हैं कि राजा बिम्बिसार से सम्राट् अशोक तक जिन राजाओं के नाम महावंस में आये है उन्हीं राजाओं के मुख्य मुख्य नाम संस्कृत भाषा के पुराणग्रन्थों में भी मिलते हैं । इन दोनों ऐतिहासिक परम्पराओं के इन राजाओं का राज्यकाल भी प्रायः एक ही समय का वर्णित है ।

३. चन्द्रगुप्त के ब्राह्मण महामात्य चाणक्य का (संक्षिप्त) वर्णन भी महावंस में उपलब्ध है।

४. सम्राट् अशोक की प्रेरणा से मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर द्वारा धर्मयात्रा में प्रेषित बौद्ध भिक्षुओं के नाम भारतीय पुरातत्त्व के साँची स्तूप के अनुसन्धान में प्रमाणित हो चुके हैं। और यह भी मान्यता खण्डित हो चुकी है कि सम्राट् अशोक के धर्मगुरु का नाम अश्वगुप्त था। वस्तुतः ये धर्मगुरु थे मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर, जिन्होंने तृतीय धर्मसङ्गीति का सञ्चालन किया था और इससे भी पूर्व जिन्होंने कथावत्थुप्रकरण ग्रन्थ की रचना की थी। ग्रन्थ को आगे चलकर सङ्घ द्वारा ससम्मान त्रिपिटक में सम्मिलित कर लिया गया।

५. इतना ही नहीं, यह ग्रन्थ त्रिपिटक में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री को भी प्रमाणित करता है।

६. इसमें वर्णित लङ्का में बोधिवृक्ष के जाने की कथा भी साँची स्तूप के नीचे वाले तथा बीच के द्वारों पर अङ्कित है।

इस तरह हम देखते हैं कि महावंस में वर्णित सूचनाएँ अन्य ग्रन्थों तथा पुरातत्त्व के अनुसन्धानों से भी अत्यधिक समर्थन प्राप्त कर चुकी हैं।

महावंश में अतिशयोक्ति दोष : प्रायः सभी कविजन अपनी विलक्षण प्रतिभा का आश्रय लेकर स्वरचित ग्रन्थ में कुछ काल्पनिक घटनाओं का भी इस तरह वर्णन कर देते हैं कि वे वास्तविक प्रतीत होने लगती है। इसमें उनका धर्म, जाति आदि के प्रति पूर्वाग्रह सम्मिलित रहता है।

१. महावंसकार ने भी अपनी इस रचना में पहले ही परिच्छेद में भगवान् बुद्ध का लङ्का द्वीप में तीन वार आगमन दिखाया है। पहला यक्ष-दमनहेतु, दूसरा नाग-दमनहेतु और तीसरा कल्याणी नदी पर नागों पर कृपा करने हेतु। जब कि सम्पूर्ण त्रिपिटक में इन तीनों यात्राओं का कहीं संकेत भी नहीं है।

इन्ही इतिहास-ग्रन्थों के आधार पर श्रीलङ्कावासी जनता लङ्का के समन्तकूट पर्वत पर अङ्कित चरण-चिह्नों को भगवान् बुद्ध का मानती है।

३. इसी तरह विजयकुमार का उसी दिन लङ्काद्वीप में पहुँचना जिस दिन भगवान् बुद्ध का कुसिनारा में महापरिनिर्वाण हुआ। यदि इस घटना में कुछ भी सत्य होता तो इस विषय का त्रिपिटक में कहीं तो कुछ सङ्केत मिलता!

४. इसी तरह सम्राट् अशोक के राज्यारोहण के बाद उसके प्रासाद में देवताओं द्वारा प्रतिदिन खादय, पेय, लेह्य, चोष्य सामग्री पहुँचाना भी कपोल-कल्पना ही समझाना चाहिये।

अतएव श्री 'भदन्त' महोदय अपने 'परिचय' में अङ्कित करते हैं–

"इसलिये महावंस में जो कुछ लिखा है वह सारा का सारा तो किसी हालत में मानने योग्य चीज नहीं, छलनी से छान कर ही ग्रहण करने की चीज है । .... हमारी दृष्टि में महावंस का जो विशेष दोष है वह यह है कि उसमें राजाओं का वर्णन तो है ही, महात्माओं का भी है; लेकिन उस जनता का, जो राजाओं को राजा तथा महात्माओं को महात्मा बनाती है, जो सच्चे इतिहास की सच्ची निर्माता है, उस जनता के साधारण जीवन का कोई वर्णन ही नहीं है, है तो बहुत ही कम है या न होने के बराबर है । वह युग ऐसा ही था ।"

राम-रावणकथा : इस कथा का शुद्ध ऐतिहासिक समर्थन करने वाली कोई सामग्री तो यहाँ नहीं मिलती; क्योंकि यह कथा बुद्धकाल पूर्व की मानी जाती है; जब कि महावंस की कथा का स्पष्टतः बुद्धकाल से प्रारम्भ है । फिर भी कवि अपनी प्रतिभा का उपयोग करते हुए भारतवासी मनुष्यों द्वारा लङ्का में राज्य-स्थापना से पूर्व राम के स्थान पर बुद्ध की तथा राक्षसों के स्थान पर यक्षों की कल्पना करके यक्ष-दमनप्रसङ्ग सर्वप्रथम वर्णित किया है । इस में राम-रावण युद्ध की अहिंसात्मक गन्ध ली जा सकती है । हम इन कथाओं में इतनी ही समानता पाते हैं कि प्रथम में राक्षसों का दमन करने के बाद तथा द्वितीय में नागों का दमन करने के बाद ही लङ्का में मानव-राज्य स्थापित हो पाता है ।

इतने पर भी, यदि कोई विद्वान् महावंस में राम और उसके वंशजों का नाम ही खोजना चाहता है तो उसे भी निराश नहीं होना पड़ेगा; क्योंकि महावंस के महासम्मत-राजवंश के वर्णन-प्रसङ्ग (द्वितीय परिच्छेद) में तथा दीपवंस (के तृतीय परिच्छेद) में राम का ही नहीं, दशरथ, भरत तथा उनके पूर्व वंशज ओक्काक (इक्ष्वाकु) का भी नाम आता है । अब ये सब रामायणकथा वाले ही राजा हैं, या इनसे भिन्न?–इस विवाद में हम नहीं पड़ेंगे । नाम की बात चल रही थी तो हमने नाम का सङ्केत दे दिया ! अब आगे निश्चय करना ऐतिह्यविदों का उत्तरदायित्व है ।

बुद्ध-महापरिनिर्वाणतिथि : महावंस में वर्णित सभी घटनाओं का काल-निर्धारण बुद्धमहापरिनिर्वाण दिवस से ही किया गया है । तो इस बुद्ध महापरिनिर्वाण का निश्चित काल क्या मानना चाहिये ? यहाँ भदन्त आनन्द लिखते हैं–

"भारत के पड़ौसी बौद्ध देशों में, जैसे–श्रीलङ्का, श्याम (थाइलैण्ड) एवं बर्मा (मियामांर) में प्रचलित परम्परा भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण ईसा पूर्व ५४४ वर्ष मानती है ।

महावंस कहता है अशोक का राज्याभिषेक भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण से २१८ वर्ष बाद हुआ था। जब कि यह राज्याभिषेक अशोक के चार वर्ष शासन करने के बाद ही जनता की स्वीकृति से सम्भव हो पाया था। इससे सिद्ध होता है कि अशोक का राज्यारम्भ बुद्ध-महापरिनिर्वाण के २१४ वर्ष हुआ। बिन्दुसार (चन्द्रगुप्त के पिता) ने २८ वर्ष शासन किया और चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष। दोनों के राज्यकाल का सङ्कलन कर उपर्युक्त २१४ में से ५२ सङ्ख्या घटाने के बाद चन्द्रगुप्त का राज्यारम्भ बुद्ध महापरिनिर्वाण से १६२ वर्ष बाद निश्चित होता है।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में अल्पमात्रा में जो निश्चित तिथियाँ दिखायी देती हैं, उनमें एक है चन्द्रगुप्त के राज्यारम्भ की तिथि। इसी तरह, सिकन्दर के आक्रमण की तिथि भी निश्चित कर दी गयी है। उसी के आधार पर, चन्द्रगुप्त का राज्यारम्भ ३२१ ई. पू. माना जाता है। यों सिद्ध होता है कि ३२१ (ई. पू.)+१६२ वर्ष = ४८३ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ। भगवान् बुद्ध का जीवनकाल ८० वर्ष रहा। इसलिये प्रसिद्ध बौद्धेतिहासविद् रीज डेविस के मतानुसार भगवान् की जन्मतिथि ४८३+८०=५६३ ई. पू., एवं महापरिनिर्वाण तिथि ४८३ ई. पू. सिद्ध होती है।

बौद्ध देशों की पूर्वोक्त परम्परा की मान्य तिथि एवं इस तिथि में ६० वर्ष का अन्तर है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में एवं ११वीं शताब्दी के आरम्भ तक श्रीलङ्का में ४८३ ई. पू. से गणना किये जाने वाले बुद्धाब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ। जिसकी गणना ५४४ ई. पू. से की जाती है तथा वही बुद्धाब्द इस समय प्रयुक्त होता है।

आगे हम 'महावंस'में वर्णित राजाओं तथा भिक्षुओं की कालगणना में ४८३ ई. पू. प्रारम्भ बुद्धाब्द का ही प्रयोग करेंगे"[1]।

ग्रन्थ में वर्णित विषय : अब हम इस महावंस ग्रन्थ में वर्णित बौद्धसङ्गीति आदि कुछ विशिष्ट विषयों पर विस्तार से विचार करेंगे। सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध की जीवनलीला का संक्षेप में वर्णन करेंगे जिनके द्वारा उपदिष्ट धर्म में जनता का श्रद्धा एवं उत्साह संवर्धन हेतु इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है।

●

1. द्र. महावंस के हिन्दी अनुवाद का 'परिचय', पृ. १६।

बुद्धचरित

(बौद्ध वाङ्मय के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर)

५६३ (पाँच सौ तिरसठ) ईसा पूर्व वर्ष में (भगवान्) बुद्ध का अवतार हुआ। उनके पिता शुद्धोदन कोसल साम्राज्य के अधीन सूर्यवंशी राजा थे, जो शाक्य गणतन्त्र के प्रमुख शासक थे। उनकी माता महामाया देवी कपिलवस्तु से अपने मातृगृह (देवदह नगर) जा रही थी कि मार्ग में ही, लुम्बिनी वन में सुपुष्पित दो शालवृक्षों के बीच, बुद्ध का जन्म हो गया।

प्रायः २५0 वर्ष बाद अशोक ने बुद्ध के जन्म-स्थान पर जो स्मारक (शिलालेख) बनवाया वह आज भी इस घटना का साक्षी है।

असित नामक एक वृद्ध संन्यासी राजा शुद्धोदन के महल में आये। उन्होंने नवजात शिशु को देखा। उसके शुभ शरीर में सौभाग्यसूचक लक्षण (चिह्न) देखकर उन्होंने अतीव प्रसन्नता प्रकट की। और कहा कि विश्व में उसका उद्धारक प्रकट हो गया है फिर उन की आँखों से आँसू गिरने लगे। कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि वे, अतिवृद्ध होने के कारण, इस बालक की उपलब्धियाँ (सफलताएँ) देखने हेतु जीवित न रह पायँगे!

बालक का नाम गौतम रखा गया, जब कि घर में परिवार के लोग उसे स्नेह से, **'सिद्धार्थ'** कह कर बुलाते थे। शाक्यजन इस बालक का जन्मोत्सव मना ही रहे थे कि बालक की माता महामाया देवी का देहावसान हो गया। अतः अब बालक के पाल-पोषण का उत्तरदायित्व महामाया देवी की छोटी बहन महाप्रजापती गौतमी ने स्वीकार किया।

बचपन से ही बालक गौतम एकान्तप्रिय, गम्भीर एवं मननशील स्वभाव के थे। अतः पिता राजा शुद्धोदन ने उनके विलासमय आवास हेतु तीनों ऋतुओं के योग्य सुख-सुविधासम्पन्न एवं ऐश्वर्यशाली तीन प्रासाद (महल) बनवा दिये कि यह एकान्तप्रिय बालक आगे चलकर घर छोड़कर प्रव्रजित न हो जाय। अच्छा हो कि यह बालक इन्हीं महलों में ऐश्वर्य-सुखभोग में लिप्त रहे। समय आने पर उसका विवाह भी करा दिया। नाना प्रकार के नृत्य-वाद्य-सङ्गीत की भी व्यवस्था कर दी। परन्तु भवितव्यता को कौन टाल सकता था!

कोमलहृदय राजपुत्र ने, कभी उद्यान-शोभा देखने के लिये जाते हुए, मार्ग में क्रमशः किसी दिन किसी जराजीर्ण वृद्ध पुरुष को, किसी दिन किसी रोगी को

और किसी दिन एक मृत व्यक्ति को देखा। उन्हें देखकर, उनके विषय में सारथि द्वारा बतायी गयी वास्तविकता जानकर युवक गौतम को संसार के प्रति अनासक्ति एवं ग्लानि हो गयी। इसी क्रम में उसने कभी मार्ग में जाते हुए किसी विरक्त संन्यासी को देखा। उससे संवाद करने के बाद, उसे बहुत प्रसन्नता हुई। यहीं से राजकुमार के मन में दुःख का वास्तविक कारण जानने की इच्छा प्रबल हुई।

समय आने पर, गौतम को अपनी पत्नी से एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। उसे जब यह हर्षद समाचार सुनाया गया तो उसके मुख से अनायास निकल पड़ा कि एक राहुल (विघ्न-बाधा) और उत्पन्न हो गया। राजा ने सोचा, क्यों न इसका नाम 'राहुल' ही रख दिया जाय। सम्भवतः अपने पुत्र का मुख देखते हुए यह, इसके व्यामोह में पड़कर, राज्यसुख से मुख न मोड़े।

परन्तु एक मध्य रात्रि में जब तरुण एवं रूपवती नर्तकियाँ उसका मन बहलाने का प्रयत्न कर रही थीं तो राजकुमार सिद्धार्थ का हृदय अत्यधिक उद्विग्न हो उठा। इस स्थिति में, वे अपनी पत्नी एवं शिशु को सोता हुआ छोड़कर, किसी दूसरे को उनके जाने का ज्ञान न हो ऐसे चुपचाप, सारथि को लेकर, घोड़े पर आरूढ़ हो, जङ्गल की तरफ चल दिये। वहाँ उन्होंने अपने राजसी परिधान छोड़ दिये, घोड़ा सारथि को दे दिया और खड्ग से अपने लम्बे घुँघराले बाल काट डाले एवं विरक्त बन कर एकाकी ही आगे वन में प्रविष्ट हो गये।

सर्वप्रथम वे, उस समय के प्रसिद्ध ज्ञानी **आळार कालाम** के आश्रम में पहुँचे। उन्हें गुरु बना कर उनसे चित्तवृत्तिनिरोध के विषय में बहुत कुछ जाना, समझा। तदनन्तर वे दूसरे विद्वान् **उद्दक रामपुत्त** के आश्रम में गये। उनसे भी उन्होंने बहुत कुछ ज्ञानार्जन किया; परन्तु इतने से भी उन की ज्ञान-पिपासा शान्त न हुई। अन्त में, वे बोधगया के समीप सुरम्य प्रदेश में पहुँचे, जहाँ चतुर्दिक् घने जङ्गल थे, सुनहली रेती के बीच झरने बह रहे थे। वहाँ उन्होंने इस जनसाधारण विश्वास के साथ कि 'देह-यातना से मन अधिक शान्त एवं उदात्त हो जाता है', अनेक विधियों से घोर दुष्कर तपश्चर्या की। परन्तु अन्त में उनकी समझ में आ गया कि इन दुष्कर चर्याओं के माध्यम से भी कोई अलौकिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पायगा!

छह (६) वर्ष निरन्तर दुष्कर चर्या करने के बाद, जब वे ३६ (छत्तीस) वर्ष की आयु के थे, एक दिन उनके मन में यह भाव जाग्रत् हुआ कि वे सम्बोधि (पूर्ण ज्ञान) प्राप्त कर के रहेंगे! उसी दिन मध्याह्न में सुजाता नाम की किसी कुलकन्या ने उनको देवता समझ कर मधुर खीर (पायस) खिलायी। सायङ्काल एक घसियारे ने उनको सूखी घास की पूलियाँ बिछाने के लिये दीं। इन्हें बोधि-प्राप्ति हेतु शुभ लक्षण मान कर, वे एक पीपल (अश्वत्थ) वृक्ष के नीचे सुदृढ़

पद्मासन लगाकर बैठ गये और यह निश्चय किया–"भले ही मेरे शरीर का चर्म, मेरी स्नायुएँ, मेरी अस्थियाँ गल जायँ, मेरे शरीर का सम्पूर्ण रक्त सूख जाय; परन्तु मैं इस आसन से तब तक नहीं उठूँगा, इसी आसन पर दृढ़ता से बैठा रहूँगा जब तक कि मुझे सम्बोधि (पूर्ण ज्ञान) प्राप्त न हो जाय[1] ।"

यह प्रतिज्ञा करने पर, मार ने उन को भयग्रस्त करने के लिये, घोर झञ्झावात चलाये, प्रभञ्जन (प्रलयकालीन वायु) छोड़े; परन्तु मार के ये प्रबल अस्त्र बोधिसत्त्व तक पहुँच ही न सके; अपितु वे मध्य मार्ग में ही पुष्प रूप में परिणत हो गये । मार ने बोधिसत्त्व को प्रतिज्ञा से च्युत करने के लिये स्वर्ग में जन्म का भी प्रलोभन दिया, परन्तु इस प्रलोभन का भी उनके चित्त पर कोई प्रभाव न पड़ा । अन्त में, मार अपनी पराजय मान कर भाग गया । उसकी सेना भी परास्त हो कर पीछे हट गयी ।

उसी रात्रि में बोधिसत्त्व गौतम को उस अनुपम अद्वितीय कारणचक्र (हेतु-समुत्पाद=प्रतीत्यसमुत्पाद) का बोध हुआ जिस पर पहले के किसी तत्त्वचिन्तक ने विचार ही नहीं किया था । इसे जानने के साथ ही वे बोधिसत्त्व से 'बुद्ध' बन गये । विनयपिटक के **महावग्ग** में लिखा है–"अब उस जिज्ञासु के लिये सब बातें स्पष्ट हो गयीं । मार की सेनाओं को भगा कर वह सूर्य के समान लोक में प्रदीप्त हो गया ।"

इस तरह, 'बुद्ध' होने के बाद भी, उन्होंने उसी अश्वत्थ (बोधि) वृक्ष के नीचे साधना-सुख की अनुभूति करते हुए चार (४) सप्ताह और बिताये । एतदनन्तर, वे धर्मयात्राहेतु वहाँ से चले । मार्ग में मारकन्याओं ने उनको घेर लिया और अपने सौन्दर्य के प्रलोभन द्वारा प्रबल प्रयास किया, परन्तु भगवान् दृढचित्त थे तो दृढचित्त ही रहे । उनका कहना था–"इन कन्याओं का यह कुत्सित प्रयास ऐसे पुरुषों पर तो प्रभाव डाल सकता है जिनका चित्त चञ्चल हो, परन्तु 'बुद्ध' पर इनका कोई प्रभाव नहीं हो सकता" ।

आगे चलकर भगवान् को मार्ग में दो व्यापारी मिले, जिन में एक का नाम था तपस्सु और दूसरे का नाम था भल्लिक । उन्होंने भगवान् को यव एवं मधु सम्पृक्त खाद्य (लड्डू) भोजनहेतु दिया । ये दोनों भगवान् के प्रथम शिष्य बने ।

यद्यपि भगवान् प्रारम्भ में तो अपनी धर्मदेशना के प्रति कुछ शङ्कित हुए कि लोक में इतना गम्भीर एवं दुर्दर्श ज्ञान कोई समझ पायगा कि नहीं; क्योंकि यहाँ तो सभी लोभ एवं द्वेष के आगार दिखायी पड़ रहे हैं ? परन्तु बाद में ब्रह्मा द्वारा अभियाचना करने पर, उन का चित्त भी लोक के प्रति द्रवित हो उठा और उनके

---

1 महानिद्देस प. ४७६ ।

ध्यान में आया कि इस लोभ-द्वेषमय जगत् में भी कुछ जिज्ञासु तो ऐसे मिलेंगे ही जो निर्मलचित्त होंगे ! उन्हें मेरे इस धर्मोपदेश द्वारा मार्गदर्शन की नितान्त आवश्यकता है !

इसी विचार से अनुप्राणित होकर भगवान् **वाराणसी** के ऋषिपतन मिगदाव में पहुँचे । वहाँ सर्वप्रथम अपने पाँच शिष्यों के सम्मुख ऐसा धर्मचक्र-प्रवर्तन किया जो आगे चलकर 'मध्यम मार्गोपदेश' नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ । इस तरह प्रारम्भ में इन पाँच भिक्षुओं से भिक्षुसङ्घ की स्थापना हुई । भगवान् भी इस वर्ष के समग्र वर्षावास (वर्षा ऋतु के तीन मास) पर्यन्त ऋषिपतन (वाराणसी) में ही ठहर कर जिज्ञासुजनों को धर्मदेशना करते रहे । इस अन्तराल में भगवान् ने यश आदि साठ (६०) अन्य जिज्ञासुओं को भी 'धर्म' में दीक्षित किया ।

वर्षावास के बाद, भगवान् पुनः चारिका करते हुए बोधगया के पास उरुवेल काश्यप जटिल के आश्रम में पहुँचे, जो कि अग्निपूजक ब्राह्मण था । यहाँ इन जटिलों को लोकोत्तर चमत्कार दिखाया । भगवान् की अनुमति के विना वे ब्राह्मण अपनी यज्ञशाला की अग्नि प्रज्वलित न कर सके । किसी तरह (भगवान् के सङ्केत से) अग्नि प्रज्वलित हुई तो उन जटिलों को जलौघ (बाढ़) ने आ घेरा । भगवान् की कृपा से ही वे सब याज्ञिक उससे भी अपना त्राण कर पाये ।

महावंस के साक्ष्य के आधार पर, भगवान् ने इसी समय लङ्काद्वीप में पधार कर वहाँ यक्षों का दमन करते हुए उस द्वीप को मनुष्यों के लिये आवासयोग्य बनाया । लङ्का द्वीप से प्रत्यावर्तित होकर पुनः भगवान् उन जटिलों के आश्रम में पहुँचे । वहाँ एक हजार जटिलों सहित उन उरुवेल काश्यप आदि तीनों भाइयों को स्वधर्म में दीक्षित कर प्रव्रज्या दी ।

इस एकसहस्रसङ्ख्यक भिक्षुसङ्घ को साथ लेकर भगवान् चारिका करते हुए मगध राज्य की राजधानी **राजगृह** पहुँचे । वहाँ के राजा बिम्बिसार ने उनका हार्दिक स्वागत किया । राजा **बिम्बिसार** ने भगवान् को सङ्घ के लिये अपना राजगृह नगर स्थित वेणुवन दान कर दिया । यह राजा भगवान् के गृहस्थाश्रम के समय का परम मित्र था । यह भगवान् से आयु में पाँच (५) वर्ष छोटा था–ऐसा महावंसकार का कथन है ।

सञ्जय परिव्राजक भी अपनी शिष्यमण्डली के साथ मगध में ही रहते थे । इसकी शिष्यमण्डली में **सारिपुत्त** एवं **मौद्गल्यायन** भी थे । एक दिन सारिपुत्त को भिक्षाकर्म हेतु जाते हुए बुद्धशिष्य **अस्सजि** मिल गये । सारिपुत्त ने उससे उसके शास्ता एवं धर्म के विषय में पूछा तो अस्सजि ने बहुत संक्षेप में बताया कि उसे

इस धर्म की दीक्षा लिये हुए अल्प समय ही हुआ है, अतः वह अधिक विस्तार से तो नहीं बता पायगा, परन्तु उसके शास्ता ने उसको जो धर्मोपदेश किया है उसका सार यह है–

"ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह ।
तेसं च यो निरोधो एवंवादी महासमणो ॥"

[उन वस्तुओं के विषय में जिनकी उत्पत्ति का कोई कारण हैं, और वह जो कारण है उसके विषय में महाश्रमण (बुद्ध) ने ज्ञान दिया है । तथा उनका दमन (निरोध) भी किस प्रकार किया जाय ?–यह भी उस महान् विरक्त ने बता दिया है ।]

सारिपुत्र जो स्वयं बहुश्रुत थे, इस धर्म-संक्षेप को सुनकर ही इस धर्म का महत्त्व समझ गये । और इससे प्रभावित हो कर सारिपुत्त एवं मोग्गल्लान (मौद्गल्यायन)–दोनों ही भगवान् बुद्ध के शिष्य बन गये । इन दोनों के सङ्घ में सम्मिलित होने से सङ्घ का भी गौरव बढा; क्योंकि ये दोनों ही अपने समय के बहुत अच्छे धर्म-व्याख्याता थे[1] । त्रिपिटक-पाठ से ज्ञात होता है सारिपुत्त-मौद्गल्यायन ने भी बुद्ध-धर्म का व्याख्यान, भगवान् की तरह ही, धीरता एवं गम्भीरता से किया है । अस्तु ।

बोधि-प्राप्ति के कुछ वर्ष बाद भगवान् बुद्ध, चारिका करते हुए, पुनः कपिलवस्तु पहुँचे । वहाँ राजा शुद्धोदन ने भगवान् का स्वागत किया । परन्तु भगवान् उस समय तक एक सच्चे श्रमण बन चुके थे । दूसरे दिन भगवान् ने नगर में चारिका की तथा भिक्षाकर्म किया । उनके ये दिव्य कर्म देख कर उनकी पत्नी उनके प्रति विशेष श्रद्धालु बन गयी । वह भी उन के चरणों में अर्पित हो गयी । तथा उसने अपने पुत्र (राहुल) से भी कहा–"राहुल ! तूँ अपने पिता से दायभाग माँग ले" । ऐसा कहे जाने पर भगवान् ने उस (राहुल) को भी शिष्य बनाते हुए सङ्घ की शरण में ले लिया ।

परिवार का नापित (नाई) **उपालि** भी इसी अवसर पर प्रव्रजित हुआ । जो आगे चलकर भिक्षु-विनय का महान् व्याख्याकार सिद्ध हुआ ।

श्रावस्ती के एक श्रेष्ठी (धनिक व्यापारी) **अनाथपिण्डक** ने जेतवन की पूरी भूमि पर सुवर्णमुद्राएँ बिछाकर (उस भूमि को सुवर्णमुद्राओं से ढक कर) खरीद लिया और वहाँ श्रमणोचित सभी सुख-सुविधाओं से सम्पन्न **जेतवनाराम** नाम से विहार बनवाया, तथा उसे बुद्धप्रमुख भिक्षुसङ्घ को दान कर दिया ।

---

1. इन दोनों भिक्षुओं के अस्थ्यवशेष साँची (मध्यप्रदेश) के स्तूप में आज भी सुरक्षित हैं ।

इसी विहार में रहते हुए भगवान् दूसरी बार लङ्काद्वीप पधारे, जहाँ उन्होंने नागराजाओं को अनुशासित किया–ऐसी महावंस के लेखक की मान्यता है ।

इसी तरह, कोसल का राजा **प्रसेनजित्**, **विशाखा** नामक एक धनसम्पन्न स्त्री एवं इसी तरह उस राज्य के कितने ही वैभवशाली नागरिक भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेश के प्रभाव से उनके शिष्य बन गये ।

भगवान् एक बार पुनः जब राजगृह गये तो वहाँ वे रुग्ण हो गये । तब वहाँ के प्रसिद्ध चिकित्सक राजवैद्य **जीवक** कौमारभृत्य ने भगवान् की चिकित्सा की । भगवान् के प्रति श्रद्धातिरेक से जीवक वैद्य भी, अन्त में, भगवान् के शिष्य बन गये ।

कुछ समय बाद शाक्यों और कोलिय जाति के बीच नदी-जल के विवाद को लेकर भयङ्कर कलह हो गया । भगवान् ने मध्यस्थ बनकर वह कलह शान्त कराया । यदि भगवान् ऐसा न करते तो इसका परिणाम बहुत ही दुःखद होता । इस घटना के कुछ काल बाद ही राजा शुद्धोदन का देहावसान हो गया ।

कालक्रम से, भगवान् की स्तन्यपायिनी माता **महाप्रजापति गौतमी** ने भी भगवान् से सङ्घ में प्रव्रज्या-दीक्षा की याचना की, परन्तु भगवान् ने स्पष्ट निषेध कर दिया । दूसरी बार महाप्रजापति गौतमी के कहने से भगवान् के प्रधान उपट्ठाक **आयुष्मान् आनन्द** ने भी स्त्रियों को सङ्घ में प्रव्रजित करने की अनुमति माँगी, उसे भी भगवान् ने अस्वीकार कर दिया । तदनन्तर, तीसरी बार जब महाप्रजापति गौतमी और आनन्द–दोनों ने मिलकर सङ्घ में स्त्रियों के भी प्रव्रजित होने की अनुमति माँगी तो भगवान् ने स्वीकार कर लिया । यों, महाप्रजापति गौतमी सङ्घ में प्रथम भिक्षुणी बनी । इस प्रकार भारत में पहली बार किसी स्त्री के लिये घर छोड़कर आध्यात्मिक मुक्ति (निर्वाण) प्राप्त करने का मार्ग खुल गया ।

इस तरह, समय बीतता गया, भगवान् बुद्ध और उनके शिष्य, चारिका करते हुए, समग्र देश में उत्साह के साथ भ्रमण कर धर्मोपदेश करते रहे । इस उपदेश में उन्होंने पुराने अन्धविश्वासों, जीवहिंसा एवं परस्पर विद्वेष के विरुद्ध प्रबल प्रचार किया । साथ ही वे शान्ति, करुणा मैत्री एवं अहिंसा का सन्देश घर-घर पहुँचाने का भी प्रयास करते रहे ।

भगवान् का यह चमत्कार-प्रभाव देख कर उनके विरुद्ध अनेक ब्राह्मणों ने एवं अन्य सम्प्रदाय वालों (तीर्थिकों) ने कतिपय षड्यन्त्र रचे । इसी प्रसङ्ग में चिञ्चा नाम की वेश्या को, भगवान् को प्रलोभन देने के यत्न में, कठोर दण्ड, मिला[1] ।

---

1. द्र.–धम्मपदट्ठकथा १३/९.

इसी तरह एक दूसरी सुन्दरी ने भी भगवान् पर आरोप लगाया कि वह भगवान् से सांसारिक प्रेम करती है । वास्तविकता ज्ञात होने पर वह भी दण्डित हुई ।

जब भगवान् बुद्ध की आयु बहत्तर (७२) वर्ष की हो गयी तो सङ्घ पर सङ्कट के दिन आने लगे । **अजातशत्रु** ने अपने पिता राजा बिम्बिसार की हत्या कर दी । मगध का यह नया राजा (अजातशत्रु) सङ्घ के ही एक उद्दण्ड भिक्षु **देवदत्त** का शिष्य था । दोनों ने परामर्श कर भगवान् बुद्ध के प्राण लेने के अनेक प्रयत्न किये; परन्तु इन कुटिल प्रयत्नों का परिणाम विपरीत ही रहा । (१) भिक्षु देवदत्त ने एक बहुत बड़ी शिला भगवान् को लक्ष्यकर नीचे लुढका दी; परन्तु उससे भगवान् को कोई विशेष आघात नहीं लगा । (२) फिर उन्होंने किसी अवसर पर भगवान् की ओर पागल हाथी छोड़ दिया । उस हाथी को भी अन्त में भगवान् के चरणों में नतमस्तक होना पड़ा । (३) फिर देवदत्त ने, इन सब प्रयत्नों में असफल होने पर सङ्घ में भेद (फूट) डालने का प्रबल प्रयास किया । (४) नया सङ्घ भी बनाया । परन्तु, अन्त में यह कुटिल भिक्षु देवदत्त, अपने दुष्कृत्यों के कारण, मुख से रक्त का वमन करता हुआ, मृत्यु का वरण कर सदा के लिये षड्यन्त्र करने से विफल हो गया !

भगवान् के महापरिनिर्वाण से दो वर्ष पूर्व (भगवान् की ७८ वर्ष की आयु में) भिक्षुसङ्घ के सम्मुख जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया । घटना यह हुई कि कोसलनरेश राजा प्रसेनजित् का एक पुत्र शाक्य रानी से था ! जिसका नाम था **विडूडभ** । अपनी माता (शाक्य) के घर, नीच कुल में उत्पन्न होने के कारण, शाक्यों ने उसका अपमान कर दिया । उससे उसी समय क्रोधवश प्रतिज्ञा की कि वह शाक्यों से इस अपमान का प्रतिशोध लेगा । अतः उसने, अपने पिता की मृत्यु के बाद, राजा बनने पर, समग्र शाक्य जाति से प्रतिशोध लेना आरम्भ कर दिया । जो भी कोई शाक्य जहाँ कहीं मिलता या दिखायी देता उसके वह तलवार से दो टुकड़े करा देता । इस तरह पूर्ण शाक्य जाति ही विनष्ट होने की स्थिति में आ गयी[1] । जब वृद्ध भगवान् के सम्मुख यह वृत्तान्त गया होगा तब उनके हृदय को कितना कष्ट पहुँचा होगा ! इतने पर भी वे शान्त भाव से चारिका करते रहे और शान्ति, बन्धुत्व, प्रेम एवं पवित्रता का ही सन्देश देते रहे ।

शाक्यों के इस सामूहिक हत्या-क्रम के एक सप्ताह बाद ही सारिपुत्त एवं मौद्गल्यायन का भी अपने अपने कर्मफलविपाक से परिनिर्वाण हो गया । इस घटना से तो भिक्षुसङ्घ सर्वथा ही शून्यवत् हो गया ।

---

1. द्र.–धम्मपदट्ठकथा– ४/३.

इसी बीच **अम्बपाली** गणिका ने भी अपना आम्रवन भगवान् बुद्ध को समर्पित कर दिया । परन्तु भगवान् बुद्ध को इससे क्या आश्वासन मिला होगा !

यों, अस्सी (८०) वर्ष की जीवनायु में पहुँचते-पहुँचते भगवान् को निश्चय हो गया कि अब उनके शरीर का अन्त निकट आ गया है । ऐसी स्थिति का आभास उन्होंने आनन्द को पहले ही बता दिया । और कह दिया कि उनके बाद उनके वचन (बुद्धवचन=त्रिपिटक) ही उनके मार्ग-दर्शक होंगे ।

उस समय भगवान् पावा में थे । वहाँ के निवासी चुन्द नामक कम्मारपुत्त ने भगवान् को अपने घर पर भोजन के लिये निमन्त्रित किया । वहाँ उसने भगवान् को चावल, रोटी के साथ 'सूकरमद्दव' भी भोजन हेतु दिया । 'सूकरमद्दव' शब्द के अर्थ पर विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वान् इसे 'सूअर का नरम मांस' बताते हैं तो कुछ विद्वान् 'एक प्रकार की खाद्य वनस्पति' । जो भी हो, बुद्ध को वह खाद्यवस्तु पची नहीं, और उन्हें 'रक्तातिसार' रोग हो गया ।

उसी रोग से ग्रस्त होकर वे **कुशीनगर** पहुँचे । वहाँ दो शाल वृक्षों के बीच में उन्होंने आनन्द से सङ्घाटी बिछाने के लिये कहा । वहाँ वे सिंहशय्या से लेट गये । उन्होंने हजारों भिक्षुओं को अन्तिम उपदेश दिया, जिस के शब्द ये हैं–"अब, भिक्षुओ ! मुझे तुम लोगों से और कुछ नहीं कहना है । मेरा अन्तिम उपदेश यही है कि जो कुछ भी यह निर्मित दिखायी दे रहा है उसका एक न एक दिन क्षय होगा ही । निर्वाण-प्राप्ति के लिये तुम स्वयं उत्साह से यत्न करो ।" इस के बाद वे समाधिमग्न हो गये । समाधि से उठते ही उनका महापरिनिर्वाण हो गया ।

उन का अन्तिम संस्कार भी वहाँ की जनता से बहुत राजसी सम्मान के साथ सम्पन्न किया । यद्यपि भगवान् की अस्थियों के अवशेष के विभाजन (बटवारा) को लेकर वहाँ के राजन्यवर्ग में कुछ कलह की स्थिति आयी, परन्तु वहाँ उपस्थित **द्रोण** नामक बुद्धिमान् ब्राह्मण ने उस अवशेष के आठ भाग कर सब को समान रूप से देकर वह कलह शान्त किया ।

यह एक संयोग की ही बात है कि भगवान् दो शालवृक्षों के बीच ही अवतरित हुए (जन्मे) थे और दो शालवृक्षों के बीच ही उनका महापरिनिर्वाण भी हुआ !

और यह घटना भी संयोग ही कही जायगी कि **वैशाखमास की पूर्णिमा** के दिन उनका अवतार (जन्म) हुआ, वैशाख मास की पूर्णिमा के दिन ही उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई, तथा वैशाख मास की पूर्णिमा के दिन ही उनका महापरिनिर्वाण हुआ । अतः बौद्धों में यह एक ही दिन तीन प्रकार से पवित्र माना जाता है !

●

बौद्ध सङ्गीति

प्रथम धर्मसङ्गीति (पञ्चशतिका) :

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद भिक्षु-सङ्घ की प्रथम परिषद् (जिसे प्रथम 'सङ्गीति', 'सङ्गायन' या 'सङ्ग्रह' भी कहते हैं) राजगृह में बुलायी गयी । उसमें धर्म और विनय निश्चित (बुद्धवचन के रूप में अनुमोदित) हुए । महास्थविर महाकाश्यप इस प्रथम परिषद् के सभापति हुए, उपालि स्थविर एवं आनन्द स्थविर ने इस में प्रमुख रूप से भाग लिया ।

चुल्लवग्ग (विनय पिटक) के ११वें खन्धक में जो परम्परा बतायी गयी है वही परम्परा **दीपवंस** एवं **महावंस** में भी मिलती है । उसके अनुसार, कुशीनगर (कुसिनारा) में भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के क्षणों में महास्थविर महाकाश्यप वहाँ उपस्थित नहीं थे । वे पावा से राजगृह आ रहे थे कि मार्ग में एक आजीवक-पथानुयायी (नग्न) साधु ने उन को भगवान् के महापरिनिर्वाण का समाचार सुनाया । सुनते ही कुछ भिक्षु शोक (विलाप) करने लगे । सुभद्र नामक एक स्थविर ने भिक्षुओं को शोक करने से रोका, और कहा–"भिक्षुओ ! न रोओ, न विलाप करो; क्यों कि अब तो हम उस महाश्रमण से मुक्त हो गये हैं जो हमें–'यह करो, यह न करो'– कहते हुए अपने अनुशासन में बाँधे रखता था । अब हम स्वतन्त्र हैं कि जो चाहें करेंगे और जिस तरह चाहें रहेंगे ।"

सुभद्र का यह कथन सुन कर महास्थविर महाकाश्यप धर्म की रक्षा के विषय में चिन्तित हो उठे । उन्होंने निश्चय किया कि उनपर भगवान् का सौंपा हुआ जो उत्तरदायित्व (सङ्घ का धर्मपूर्वक सञ्चालन) आ पड़ा है, उसकी पूर्ति के लिये तत्काल समग्र बौद्धसङ्घ की सभा बुलायी जाय । तिब्बती दुल्व और युवान च्वांग के वर्णनों से भी यही ज्ञात होता है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद धर्म विलुप्त हो जायगा–ऐसी आशङ्का सुभद्र जैसे भिक्षुओं को ही नहीं, अपि तु समग्र सङ्घ के मन में समष्टि रूप में छा रही थी ।

कुछ विचार के बाद सङ्घ ने निश्चय किया सङ्घ की ऐसी प्रथम सभा का स्थल राजगृह में रखा जाय । यह कहा जाता है कि १. यह सभा (सङ्घ की बैठक) सप्तपर्णी गुहा के पास हुई । २. तिब्बती दुल्व के अनुसार न्यग्रोध गुफा के पास हुई । ३. लोकोत्तरवादियों के अनुसार वैभार पर्वत के उत्तर में तथा ४. अश्वघोष के अनुसार गृध्रकूट पर्वत की इन्द्रसाल गुहा में यह सभा हुई । पालि-ग्रन्थों से यह भी ज्ञात होता है कि सप्तपर्णी गुफा के बाहर राजा अजातशत्रु ने सभा के लिये

एक विशाल मण्डप भी बनवा दिया था । परन्तु विडम्बना यह है कि अभी तक इस गुफा का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाया है । तो भी यह तो निश्चित है कि यह सभा राजगृह में ही हुई थी; क्योंकि उस समय राजगृह में सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध थीं । चुल्लवग्ग में यद्यपि अजातशत्रु का नामोल्लेख नहीं है, परन्तु तिब्बती दुल्व, महावंस एवं समन्तपासादिका के अनुसार उस सभा के सभी बाह्य प्रबन्ध राजा अजातशत्रु ने ही करवाये थे ।

वर्षाऋतु के दूसरे मास में सङ्घ की यह प्रथम सभा एकत्र हुई । चार सौ निन्यानवे (४९९) भिक्षु इस सभा में आये थे । इस अवसर के लिये बुद्ध-परिनिर्वाण के स्थान पर (कुसिनारा में) जितने भिक्षु उपस्थित थे उन सब की सहमति से यह स्थान एवं सङ्ख्या निश्चित की गयी थी । पहले स्थविर आनन्द को इस सभा के लिये सङ्घ नहीं चुन रहा था, परन्तु बाद में, सब भिक्षुओं के आग्रह पर, उन्हें भी सम्मिलित किया गया । तब परिषद् की संख्या ५०० हो गयी । परिषद् में सम्मिलित होने से पूर्व स्थविर आनन्द को सङ्घ के उन आरोपों का उत्तर देना पड़ा था, जो उन पर लगाये गये थे ।

स्थविर आनन्द पर ये सात आरोप थे :

(१) वे बुद्ध के महापरिनिर्वाण से इतने अभिभूत हो गये थे कि वे छोटे-छोटे नियम-उप-नियमों का ध्यान नहीं रख पाये ।

(२) बुद्ध का चीवर सींते समय उन्होंने उस चीवर को पैर के अंगूठे से दबाकर रखा ।

(३) उन्होंने भगवान् के शरीर को अभिवादन करने की अनुमति पहले नारियों को दी ।

(४) उन्होंने भगवान् से अपने शरीर को कल्पपर्यन्त स्थिर रखने की प्रार्थना नहीं की ।

(५) महाप्रजापति गौतमी के प्रभाव में आकर उन्होंने स्त्रियों को सङ्घ में प्रवेश की अनुमति दिलायी ।

(६) भगवान् बुद्ध के तीन वार माँगने पर भी उन्होंने पीने के लिये जल नहीं दिया ।

(७) उन्होंने दुश्चरित्र स्त्रियों एवं पुरुषों को भी भगवान् के गुप्ताङ्गों का दर्शन करने दिया ।

इन सभी आरोपों का आनन्द स्थविर ने सन्तोषजनक उत्तर दिया । अतः सङ्घ ने उनको आरोपमुक्त कर दिया ।

इसी प्रथम सभा में छन्न भिक्षु को (भगवान् की आज्ञा से) ब्रह्मदण्ड दिया गया । यह छन्न भिक्षु पहले का वही छन्न (छन्दक) सारथि था जिसने भगवान् का, राज-प्रासाद से महाभिनिष्क्रमण करते समय, विश्वसनीयता के साथ सहयोग किया था । परन्तु वही छन्न आज भिक्षु बनने के बाद इतना उद्दण्ड हो गया था कि वह किसी भी छोटे-बड़े भिक्षु को अपवचन बोलने में कोई सङ्कोच नहीं करता था । जब उसे सङ्घ द्वारा ब्रह्मदण्ड सुनाया गया और उसमें भगवान् की अनुमति भी बतायी गयी तो वह पश्चात्तापदग्ध हो गया । इस पश्चात्ताप से उसके सभी मल क्षीण हो गये और वह अर्हत् हो गया । अर्हत् होने पर तो उसे दण्ड-मुक्त हो ही जाना था । अस्तु ।

इस प्रथम सङ्गीति के चार परिणाम निकले–

(१) स्थविर उपालि के नेतृत्व में विनय का निश्चय ।

(२) स्थविर आनन्द के नेतृत्व में धम्म (सुत्त) का निश्चय ।

(३) आनन्द पर आक्षेप तथा उन का उत्तर ।

(४) छन्न भिक्षु को ब्रह्मदण्ड एवं उस के द्वारा पश्चात्ताप ।

यह सङ्गीति 'पञ्चशतिका' सङ्गीति भी कहलायी; क्योंकि इसमें पाँच सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे । और यह सङ्गीति 'स्थविरीय सङ्गीति' भी कहलायी; क्योंकि इस में सम्मिलित होने वाले सभी भिक्षु स्थविर थे, या स्थविरवाद को मानते थे[1] ।

●

द्वितीय धर्मसङ्गीति (सप्तशतिका) :

भगवान् के महापरिनिर्वाण के एक सौ (१००) वर्ष बीतने के बाद, यह द्वितीय भिक्षुसङ्घ-परिषद् की बैठक धर्म और विनय पर निर्णय हेतु वैशाली में हुई । **चुल्लवग्ग** एवं **दीपवंस** तथा **महावंस** के अनुसार वज्जी (वृजिप्रदेश) के भिक्षु ऐसी दस बातें (दस वत्थूनि) करते थे, जिन्हें स्थविर **काकण्डकपुत्र यश** धर्मसम्मत नहीं मानते थे । अपितु वे सभी बातें उनकी दृष्टि में अनैतिक एवं अधर्मयुक्त ही थीं । इन वज्जी भिक्षुओं ने, यश द्वारा विरोध किये जाने पर, उन का 'प्रतिसारणीय कर्म' किया । यश को अपना पक्ष-समर्थन करना पड़ा । जन-साधारण के सम्मुख उन्होंने अपना पक्ष अद्भुत 'वक्तृत्वकौशल' के साथ रखा । इसके विरोधस्वरूप वज्जिपुत्र भिक्षुओं ने उनको 'उत्क्षेपणीय दण्डकर्म' दिया जिसका अर्थ था–स्थविर यश का सङ्घ से निष्कासन ।

---

1. द्र.–महावंस, तृतीय परिच्छेद ।

उपर्युक्त दस बातें चुल्लवग्ग, दीपवंस तथा महावंस में इस प्रकार उद्धृत की गयी हैं–

(१) **सिङ्गिलोण कप्प** (भिक्षा के समय एक खाली सींग में नमक भर कर ले जाना) [यह अड़तीसवें (३८) पाचित्तिय नियम के विरुद्ध था, जिसमें किसी भी प्रकार का खाद्यसंग्रह निषिद्ध माना गया है ।]

(२) **दियङ्गुल कप्प**–(जब मध्याह्न में सूर्य की छाया दो अङ्गुल विस्तृत होने लगे, तब भोजन करना) [यह सैंतीसवें (३७) पाचित्तिय नियम के विरुद्ध था, जिसमें मध्याह्न के बाद भोजन करना 'अविहित' बताया गया है ।]

(३) **गामन्तर कप्प**–(एक ही दिन में, एक स्थान पर भोजन कर, फिर दूसरे ग्राम में जाकर पुनः भोजन कर लेना) [यह पैंतीसवें (३५) पाचित्तिय नियम के विरुद्ध था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध है ।]

(४) **आवास कप्प**–(एक ही सीमा में अनेक स्थानों पर उपोसथविधि सम्पन्न करना ।) [यह विनयपिटक के महावग्ग में घोषित नियमों के विरुद्ध था ।]

(५) **अनुमति कप्प**–(किसी कार्य को सम्पन्न करने के बाद सङ्घ से उसकी अनुमति प्राप्त करना ।) [यह भी भिक्षु शासन के विरुद्ध था ।]

(६) **आचिण्ण कप्प**–(रूढियों-परम्पराओं को ही शास्त्र=बुद्धवचन मानना ।) [यह भी भिक्षु शासन के विरुद्ध था; क्योंकि बौद्धों में कोई भी परम्परा तभी विहित मानी जाती है जब वह बुद्धानुमोदित भी हो ।]

(७) **अमथित कप्प**–(भोजन के बाद दही के रूप में आधे परिवर्तन वाले दूध को पीना ।) [यह भी पैंतीसवें (३५) पाचित्तिय नियम के विरुद्ध था, जिसमें अतिभोजन निषिद्ध माना गया है ।]

(८) **जलोगिकप्प**–(ताड़ी=सुरा, ताड़ से निकला रस, पीना ।) [यह इक्कावनवें (५१) पाचित्तिय नियम के विरुद्ध था, जिसके अनुसार मादक पेय निषिद्ध है ।]

(९) **अदसक निसीदन**–(जिस के किनारे निकले हुए न हों ऐसे कम्बल या रजाई का बैठने के लिये आसन के रूप में प्रयोग करना) [यह भी नवासीवें (८९) पाचित्तिय नियम के विरुद्ध था, जिसके अनुसार विना किनारे की चादर उपयोग में लाना निषिद्ध घोषित है ।]

(१०) **जातरूपरजतग्गहण**–(सोने-चांदी का परिग्रह करना ।) [यह परिग्रह भी निस्सग्गिय-पाचित्तिय, नियम अट्ठारह (१८) के अनुसार निषिद्ध घोषित था ।]

अतः स्थविर काकण्डपुत्र यश ने इन सभी बातों को धर्मविरुद्ध बताया । परन्तु उन्हें सङ्घ से बहिष्कृत ही कर दिया गया । तब वे वहाँ से कोसाम्बी गये और वहाँ उन्होंने पश्चिम प्रदेश, अवन्ति तथा दक्षिण प्रदेश के भिक्षुओं को एकत्र किया, जिससे कि वे मिल-बैठकर इस विवाद को निर्णीत करें और इस अधर्म-प्रसार को रोकें तभी विनय (धर्मानुशासन) की रक्षा हो सकेगी ।

वहाँ से वे सभी भिक्षु एकत्र होकर अहोगङ्ग पर्वत पर **सम्भूत साणवासी** स्थविर के पास पहुँचे, उन्हें अभिवादन कर उनसे इस विवादास्पद विषय पर विचार करने हेतु निवेदन किया । सब बातें सुन कर, स्थविर सम्भूत स्थविर ने भी स्वीकृति दे दी । यहाँ पश्चिम से साठ (६०), तथा अवन्ती एवं दक्षिण से अट्ठासी (८८) अन्य भिक्षु भी एकत्र हो गये । अन्त में इन सभी भिक्षुओं का यह विचार बना कि सौरेय्य निवासी अर्हत् **रेवत सहजाति** से भी इस विषय पर विमर्श कर लिया जाय । उनकी सम्मति भी महत्त्वपूर्ण होगी । वे सब वहाँ पहुँचे ।

उधर वज्जी भिक्षु भी शान्त नहीं बैठे थे । वे भी अर्हत् रेवत सहजाति के पास पहुँचे । उन्होंने अर्हत् को बड़े बड़े उपहार भी देने चाहे, जो उन्होंने अस्वीकृत कर दिये । रेवत के शिष्य **उत्तर** को वज्जियों ने अपने अनुकूल बना लिया, परन्तु वह भी उन वज्जियों की कोई सहायता या समर्थन नहीं कर पाया । अन्त में दोनों पक्षों के सात सौ (७००) भिक्षुओं की एक सभा, इस विवाद पर कोई निर्णय करने हेतु, हुई । परन्तु यह सभा भी कोई सर्वसम्मत निर्णय करने में असमर्थ ही रही ।

अन्त में इस सभा में, अर्हत् रेवत सहजाति के प्रस्ताव के अनुसार, दोनों पक्षों में से चार चार प्रमुख भिक्षुओं का चयन कर उनकी एक समिति (उद्वाहिका) बनायी गयी, जिसका निर्णय मानना सबने स्वीकार किया ।

तरुण भिक्षु **अजित** इस समिति के स्थाननियन्त्रक (स्थान-व्यवस्थापक) बनाये गये । महास्थविर **सब्बकामी** इस समिति के सभापति चुने गये; क्यों कि वे उन उपस्थित भिक्षुओं में सबसे वृद्ध (१२० वर्ष) थे । समिति ने एक एक विषय पर विचार किया । महास्थविर सब्बकामी ने प्रत्येक विवाद-विषय प्रस्तुत किया, तथा अर्हत् रेवत सहजाति ने सभी विवादों का धर्मसम्मत उत्तर दिया । परन्तु इस समिति का निर्णय भी वज्जी भिक्षुओं को स्वीकार्य नहीं हुआ । अन्त में उन सात सौ भिक्षुओं की पूर्ण सभा हुई जिसमें धर्म और विनय का सङ्गायन हुआ एवं उपर्युक्त दसों बातें अधर्मसम्मत (अविहित, भिक्षुओं के लिये अकरणीय) घोषित की गयीं ।

उपर्युक्त कथासार **चुल्लवग्ग, दीपवंस** एवं **महावंस** में समान रूप से उद्धृत है, केवल दीपवंस एवं महावंस में उल्लिखित सभा में सम्मिलित हुए भिक्षुओं की सङ्ख्या में अतिशयोक्ति द्योतित होती है ।

दीपवंस एवं **समन्तपासादिका** (विनयपिटक की बुद्धघोषकृत अट्ठकथा) के अनुसार, यह सङ्गीति राजा अजातशत्रु के वंशज राजा **कालाशोक** के समय हुई ।

दीपवंस के अनुसार, वैशाली के दस हजार (१०००0) भिक्षुओं की एक पृथक् महासङ्गीति हुई ।

महावंस के अनुसार, सात सौ (७००) स्थविर भिक्षुओं ने धर्म एवं विनय का सङ्कलन किया ।

समन्तपासादिका (आचार्य बुद्धघोष) के अनुसार, विवाद पर अन्तिम निर्णय के बाद सात सौ (७००) भिक्षुओं ने धर्म एवं विनय का सङ्गायन किया । इस तरह त्रिपिटक का एक नया संस्करण प्रस्तुत किया, जिससे पिटक निकाय, अङ्ग एवं धर्मस्कन्ध के रूप में पृथक् किये गये' ।

यों हम कह सकते हैं कि गौण विवरण के विषय में भले ही मतभेद हो, परन्तु इस द्वितीय सङ्गीति का इस रूप में होना–सभी प्राचीन ग्रन्थकारों को मान्य है[1] : ।

इस परिषद् का अन्तिम एवं दुःखद निष्कर्ष यह रहा कि सङ्घ में मतभेद स्पष्ट हो गया और महासाङ्घिक भिक्षु स्थविरवादियों से पृथक् हो गये ।

तृतीय धर्मसङ्गीति :

यह तीसरी धर्मसङ्गीति **सम्राट् अशोक** के समय, उन्हीं के संरक्षण में, हुई । उस समय बौद्ध धर्म में अनेक सम्प्रदाय बन चुके थे । उन में एकरूपता लाना अत्यावश्यक था । परन्तु प्रमाणों के आधार पर इतना तो कहना ही पड़ेगा कि यह सङ्गीति एकान्ततः केवल स्थविरवादियों की ही थी । इसमें अन्य बौद्ध सम्प्रदाय, राजभय या अन्य किसी कारण से, सम्मिलित नहीं हुए ।

सम्राट् अशोक को **मोग्गिलपुत्त तिस्स स्थविर ने** बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था । (न्यग्रोध श्रामणेर ने तो उसके हृदय में बौद्ध धर्म के प्रति केवल श्रद्धा जगायी थी ।) स्थविर तिष्य को धर्म के अनुयायियों में अधर्म का प्रवेश देख कर बहुत कष्ट हो रहा था । अतः उन के परामर्श से सम्राट् ने इतर धर्मानुयायियों की समीक्षा कर उन्हें धर्म से निष्कासित कर दिया । इतना ही नहीं, शास्त्रीय दृष्टि से उन के मतवादों को निरस्त करने के लिये स्थविर ने **कथावत्थुप्रकरण** नामक एक विशेष ग्रन्थ की भी रचना की ।

मोग्गलिपुत्त तिष्य मेधावी ब्राह्मण थे । सोलह वर्ष की आयु के होते-होते वे तीनों वेदों के ज्ञाता हो चुके थे । उन्होंने सिग्गव स्थविर से बौद्ध धर्म की दीक्षा (प्रव्रज्या) ली । और साधना करते-करते अर्हत्पद तक पहुँच गये । उन्हीं के

---

1. द्र.–महावंस, चतुर्थ परिच्छेद ।

उपदेश के प्रभाव से सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री सङ्घमित्रा को सङ्घ में धर्म की दीक्षा दिलायी। वे दोनों (पुत्र एवं पुत्री) यथासमय लङ्का द्वीप गये और दोनों ने ही वहाँ जीवनपर्यन्त रह कर बौद्ध धर्म के चतुरस्र प्रचार-प्रसार में पूर्ण सहयोग दिया।

सम्राट् अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद, विहारों में सुख-समृद्धि का अतिरेक हो गया। अतः सङ्घ से पूर्वनिष्कासित या फिर अन्य मतानुयायी तीर्थिक भी सङ्घ में स्तेयसंवासक के रूप में बहुत अधिक सङ्ख्या में प्रविष्ट हो गये। वे सब अपनी ही बातें अपनी पद्धति से कहते भी थे, करते भी थे। और उन्हें ही बौद्ध मत कह कर चलाना चाहते थे। स्थविर मोग्गलिपुत्र तिष्य को यह सब देख कर घोर क्लेश होने लगा। और वे इस पाप से अपने को अलिप्त रखने के लिये साधनाहेतु अहोगङ्ग पर्वत पर जाकर रहने लगे। वे वहाँ सात वर्ष रहे।

उनकी अनुपस्थिति में सङ्घ का अनुशासन सर्वथा नष्ट हो गया। इस सात वर्ष के अन्तराल में सङ्घ में इतने मिथ्यादृष्टि एवं धर्मद्रोही भिक्षु प्रविष्ट हो गये कि सात वर्ष के इस दीर्घ अन्तराल में पाटलिपुत्र के अशोकाराम में न कोई पाक्षिक उपोसथ कर्म हुआ, और न कोई प्रवारणाविधि ही सम्पन्न हुई। अन्त में विवश हो कर सम्राट् अशोक ने राजकीय आदेश दिंया कि उपोसथविधि सम्पन्न की जाय। इस आज्ञा को कार्यरूप में परिणत करने के लिये एक अमात्य को नियुक्त किया। उस मूढमति अमात्य ने सम्राट् के आदेश का वास्तविक भाव न समझते हुए, अशोकाराम में जा कर भिक्षुओं को डराना-धमकाना प्रारम्भ किया और अन्त में मिथ्यादृष्टियों की उपस्थिति में उपोसथ न करना चाहने वाले कुछ वास्तविक भिक्षुओं के सिर काट डाले। सम्राट् को यह दुःखद समाचार मिला तो वे तत्काल अशोकाराम आये। वहाँ आकर उन्होंने वृद्ध भिक्षुओं से पूछा कि इन हत्याओं का उत्तरदायी (फलभोक्ता) कौन है ? सम्राट् के इस प्रश्न के उत्तर में किसी भिक्षु ने कुछ कहा तो किसी ने कुछ। सम्राट् इनके किसी भी उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुए। उधर भिक्षुओं में भी दो मत (पक्ष) हो गये। एक पक्ष इन हत्याओं का वास्तविक उत्तरदायी सम्राट् को ही मानता था तो एक नहीं। अन्त में, स्थविर भिक्षुओं ने निर्णय दिया कि इस प्रश्न का शास्त्रानुकूल एवं धर्मसम्मत उत्तर केवल मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर ही दे सकते हैं।

तब सम्राट् ने, स्थविर को लाने के लिये अधिकारिवर्ग एवं भिक्षुसमूह को अहोगङ्ग पर्वत पर भेजा। बहुत मान-मनौवल के बाद, ये स्थविर नाव द्वारा पाटलिपुत्र आये। स्वयं सम्राट् ने उनका स्वागत किया। उन्हें सुविधापूर्वक 'आराम' में ठहराया गया। उन्होंने वहाँ एक चमत्कार (पृथ्वी का एकांश कम्पन) दिखाया। इससे सम्राट् बहुत प्रभावित हुआ। तब सम्राट् ने स्थविर से अपना

प्रश्न पूछा । स्थविर ने उत्तर दिया–"कुत्सित सङ्कल्प के विना किया हुआ कोई भी कर्म अधर्म नहीं होता ।" यह सुन कर सम्राट् का सन्देह निवृत्त हो गया । एक सप्ताह तक स्थविर ने सम्राट् को सद्धर्म का उपदेश किया ।

तदनन्तर, सम्राट् ने सभी भिक्षुओं को एक स्थान पर एकत्र किया । इनमें प्रत्येक भिक्षु को अपना अपना मत प्रतिपादित करने का अवसर दिया । इनमें से जिस भिक्षु ने स्थविरवाद (विभज्यवाद) का समर्थन किया उसे ही वास्तविक भिक्षु माना गया । अवशिष्ट साठ हजार (६०,०००) भिक्षुवेषधारी स्तेयसंवासकों को सङ्घ से निष्कासित कर दिया गया । शुद्ध मतवाले भिक्षुओं ने उपोसथ कर्म किया । इससे सङ्घ से समग्र पापवासना एवं अकुशल धर्मों की निवृत्ति हुई ।

तत्पश्चात्, स्थविर तिष्य ने त्रिपिटक-पारङ्गत एक हजार (१,०००) भिक्षुओं का चयन किया तथा उन के सभापतित्व में सम्पन्न हुई सभा में बौद्ध धर्म के सिद्धान्त निश्चित किये गये । नौ मास तक यह कार्य चला । इसी सभा में समग्र त्रिपिटक के सङ्कलन का कार्य भी पूर्ण हुआ । साथ ही मोग्गलिपुत्र द्वारा रचित 'कथावत्थुप्पकरण' ग्रन्थ भी त्रिपिटक के एक ग्रन्थ के रूप में मान्य किया गया ।

सम्राट् के विशेष आग्रह पर बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु देश-देशान्तर में भिक्षुओं के प्रचारकमण्डल भेजने का भी निर्णय किया गया ।

इस तृतीय धर्मसङ्गीति के निष्कर्ष रूप में ये उपलब्धियाँ हुईं–

(१) अन्य मतावलम्बियों के निष्कासन से सङ्घ की परिशुद्धि हो गयी ।

(२) त्रिपिटक का पुनः सङ्कलन एवं उसमें शास्त्रार्थपद्धति पर कथावत्थु ग्रन्थ का समावेश हुआ ।

(३) अन्य देशों में भी बौद्ध धर्म-प्रचार का निर्णय हुआ ।

(४) महेन्द्र और सङ्घमित्रा ने अपना जीवन समर्पित कर लङ्काद्वीप को बौद्ध धर्ममय बनाने का सङ्कल्प किया ।

(५) सम्राट् अशोक को इसी सङ्गीति से समग्र देश में बौद्ध सिद्धान्तों को शिलाओं पर लेखन की प्रेरणा मिली[1] ।

---

1. द्र. महावंस, पञ्चम परिच्छेद ।

सम्राट् अशोक

यों तो भगवान् बुद्ध के जीवनकाल में भी बहुत से राजा हुए थे जिन्होंने बौद्ध धर्म को मान्यता दी एवं राज्याश्रय प्रदान किया, जैसे–राजगृह का राजा बिम्बिसार, अवन्ति का राजा प्रद्योत, साकेत का राजा प्रसेनजित् कौसल । परन्तु भारत के दीर्घकालीन इतिहास को सूक्ष्मेक्षिकया देखें तो बौद्ध धर्म को दृढ़तापूर्वक सार्वदेशिक मान्यता एवं राज्याश्रय देने वाले भारतीय शासकों में सर्वप्रथम सम्राट् अशोक का नाम आता है । इनका कार्यकाल इतिहासज्ञ भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के २०० वर्ष बाद मानते हैं ।

वस्तुतः देखा जाय तो, समग्र भारतीय इतिहास में, बौद्ध धर्म को सबसे अधिक राज्याश्रय पाटलिपुत्र के सम्राट् अशोक ने ही दिया था ।

सम्राट् अशोक अपनी युवावस्था में, अत्यधिक क्रोधी स्वभाव के कारण, 'चण्ड अशोक' कहलाते थे । इनके पिता (बिन्दुसार) ने उनको युवास्था में ही विदिशा नगरी का राज्यपाल नियुक्त कर दिया था । वहाँ रहते हुए इन्हांने वहाँ के एक धनी व्यापारी की पुत्री से विवाह कर लिया । उसी व्यापारी की पुत्री से इन को महेन्द्र नामक पुत्र एवं सङ्घमित्रा नामक पुत्री उत्पन्न हुई ।

जब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके पिता बिन्दुसार अत्यधिक रोगग्रस्त हैं, तब वे तत्काल पाटलिपुत्र पहुँचे और उन्होंने अपने (एक भाई को छोड़कर अन्य) सभी (९९) भाइयों का वध कर डाला । इस कुकृत्य के कारण, पाटलिपुत्र की जनता, प्रारम्भ में इनसे चार वर्ष तक बहुत अप्रसन्न रही । शनैः शनैः जनता का क्रोध शान्त होने के चार वर्ष बाद ही इनका राज्याभिषेक हो पाया ।

सम्राट् अशोक के शिलालेख (१३) से पता चलता है कि इन्होंने कलिङ्ग प्रदेश पर आक्रमण किया था जिसमें हजारों सैनिकों की निर्मम हत्या की गयी । इस घटना का इन के हृदय पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा । इस कारण इन्हें अपरिमित ग्लानि हुई । अतः इन्होंने प्राणपण से निश्चय किया कि अब कोई अन्य सैनिक अभियान नहीं करेंगे; अपितु, इसके स्थान पर वे धर्मविजय की तरफ मन लगायेंगे ।

इसी निश्चय के परिणामस्वरूप, उन्होंने अपने समस्त साम्राज्य में शिलालेख उत्कीर्ण कराये; जिनमें भगवान् बुद्ध के वचनों (पालिसुत्तों) का प्रमाण देकर जनता को सदाचार एवं धर्म का दृढ़ता से पालन करने का आदेश दिया गया । सम्राट् अशोक चाहते थे कि भगवान् बुद्ध के वचन, जो कि 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' थे, जनसाधारण तक पहुँचें ।

सम्राट् अशोक, अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष में, लुम्बिनी वन गये थे । इस यात्रा की स्मृति में उन्होंने वहाँ की जनता को सभी करों से मुक्त कर दिया गया था ।

सम्राट् अशोक को बौद्ध सङ्घ में एकता अत्यधिक प्रिय थी । वे चाहते थे कि जो भी बौद्ध धर्म की एकता तोड़ना चाहे उसे जातिबहिष्कृत कर दिया जाय । यह बात सारनाथ में प्राप्त शिलालेख से स्पष्ट प्रमाणित होती है ।

इतने पर भी (बौद्ध धर्म के प्रति अतीव श्रद्धान्वित होते हुए भी), वे अन्य धर्मों के प्रति अत्यधिक सहिष्णु थे । अतएव बौद्धों के अतिरिक्त श्रमण, ब्राह्मण, आजीवक, जैन आदि अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी उनका व्यवहार सम्मानजनक था । इतिहास (महावंस, दीपवंस) हमें बताता है कि आजीवकों के लिये उन्होंने गुफाएँ दान कीं । किसी भी प्राणी की हिंसा उन्होंने निषिद्ध मानी । उनका मन्तव्य था कि जीने के लिये जीविकाहेतु जीव पर आधृत होना उचित नहीं । इसी करुणाहृदयता के कारण उन्होंने कुछ बौद्ध पर्व-दिनों में पशुओं को बधिया (अण्डकोशविहीन) करना या उनके पैरों में नाल ठोकना तक निषिद्ध कर दिया था ।

सम्राट् अशोक ने धर्मप्रचार के लिये अनेक धर्मप्रचारक नियुक्त किये, तथा वे स्वयं भी समय समय पर धार्मिक यात्राएँ करते रहे । उन्होंने स्थान स्थान पर, इसी उद्देश्य से, धार्मिक शिलालेख उत्कीर्ण कराये । फल-छाया वाले वृक्ष लगवाये, कूए और तालाब खुदवाये; चिकित्सालय, धर्मशालाएँ एवं बौद्ध विहार[1] बनवाये । न केवल स्वदेश (भारत) में ही, अपितु यवन, कम्बोज, पाण्ड्य, चोळ, आन्ध्र, पुलिन्द, श्रीलङ्का आदि देशों में भी समय-समय पर उन्होंने धर्मप्रचारक भेजे ।

साथ ही इन्होंने मोग्गलिपुत्र तिष्य की अध्यक्षता में धर्मसङ्गीति कराकर त्रिपिटक (बौद्ध साहित्य) को स्थिरता एवं प्रामाणिकता प्रदान की ।

अपने पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री सङ्घमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार हेतु सङ्घ को समर्पित कर देना तो समाज में इस सम्राट् का लोकोत्तर ऐतिहासिक कार्य माना ही जाता है ।

इस तरह बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में सम्राट् अशोक का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है[2] ।

महेन्द्र एवं सङ्घमित्रा

इस तरह बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में सम्राट् अशोक का जो अपूर्व योगदान रहा, उनके पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री सङ्घमित्रा का भी उससे कम नहीं था । महेन्द्र ने

---

1. महावंस में सम्राट् अशोक द्वारा निर्मापित बौद्धविहारों की सङ्ख्या ८४,००० (चौरासी हजार) दी गयी है ।
2. विस्तार के लिये द्र. महावंस, पञ्चम परिच्छेद ।

अपने गुरु मोग्गलिपुत्त तिष्य स्थविर से प्रव्रज्या-दीक्षा लेकर समग्र त्रिपिटक को श्रद्धापूर्वक अक्षरशः पढ कर एवं हृदयङ्गम कर, उसका शास्त्रानुमोदित पद्धति से जम्बुद्वीप (भारत), विशेषतः श्रीलङ्काद्वीपवासी सङ्घ तथा जनता में इस प्रकार प्रचार-प्रसार किया कि जिसके कारण, इतने दीर्घकाल के बाद, आज भी बौद्धधर्म इन द्वीपों में यथावत् पल्लवित पुष्पित एवं विकसित दिखायी देता है । इसका समग्र श्रेय सम्राट् अशोक एवं मोग्गलिपुत्त तिष्य स्थविर के साथ साथ स्थविर महेन्द्र एवं सङ्घमित्रा थेरी को भी बहुत अंश में जाता है[1] ।

सङ्घभेद

'बहुत्व विवाद का कारण होता है'– यह एक पुरानी मान्यता है । बौद्धधर्म का अत्यधिक प्रचार-प्रसार होने के कारण, सम्राट् अशोक के समय तक आते-आते सङ्घ में इतना उग्र मतभेद हो गया था कि अन्त में वह अट्ठारह (१८) भागों में विभक्त हो गया[2] ।

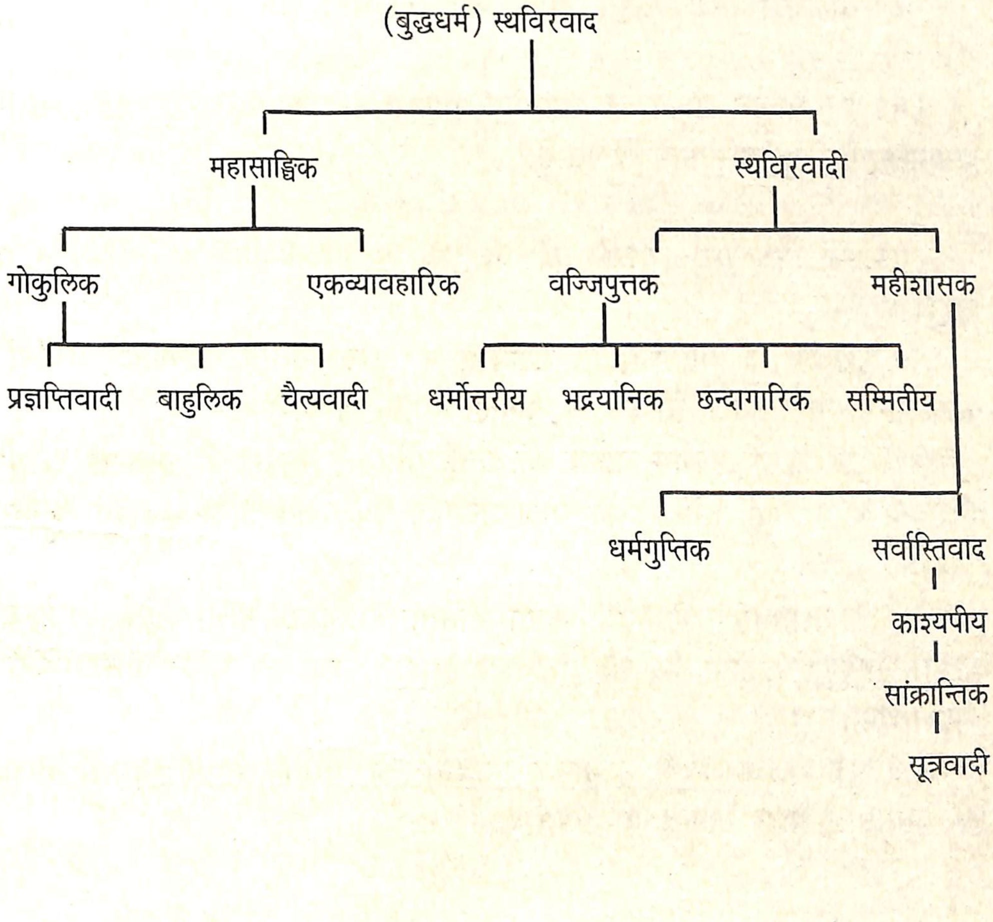
यद्यपि अब तक सभी इतिहासकारों ने दशवस्तुविषयक मतभेद को ही 'सैद्धान्तिक मतभेद' की संज्ञा दी है, परन्तु सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षा करने के बाद ऐसा लगता है कि ये तथाकथित दशवस्तुविषयक मतभेद आदि सैद्धान्तिक कम थे, भौगोलिक (स्थानीय या प्रादेशिक), तथा भाषाविषयक ही अधिक थे । इनकी प्रबलता इसी से देखी जा सकती है कि ये आज तक निर्णीत नहीं हो सके । क्योंकि जब सभी बौद्ध १. भगवान् बुद्ध को ही अपना शास्ता मानते हैं, २. निर्वाण को ही अपना चरम लक्ष्य मानते है, ३. उन की दृष्टि में आर्य सत्यचतुष्टय एवं आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग ही उक्त निर्वाण-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है तथा ४. सभी के मत में प्रतीत्यसमुत्पाद ही ज्ञान के साक्षात्कार का सुलभतम उपाय है तो सैद्धान्तिक मतभेद कहाँ और कैसा !

हमारी मान्यता तो यह है कि प्रारम्भ से ही बौद्धों का ब्राह्मण-धर्म के सिद्धान्तों से प्रत्यक्ष टकराव था । जनता में बौद्धों के सिद्धान्तों का प्रचार होते-होते वह समय आ ही गया जब ब्राह्मणों को उत्तर देने के लिये बौद्धों को भी संस्कृत भाषा की, जो कि तत्कालीन आभिजात्यकुलीन जनता की व्यवहारभाषा थी, गम्भीर आवश्यकता आ पड़ी । साधारण जन-भाषा में ब्राह्मणों की तार्किक युक्तियों का उत्तर देने में बौद्ध अपने को दुर्बल पा रहे थे । जबकि भगवान् बुद्ध का धर्मोपदेश की भाषा के विषय में स्पष्ट आदेश था कि "अनुजानामि, भिक्खवे, सकाय निरुत्तिया परियापुणितुं ति" (भिक्षुओ! मैं तुम्हें धर्मोपदेश के प्रवचन हेतु

1. द्र. म. वं. पञ्चम परिच्छेद ।
2. द्र. म. वं. चतुत्थ परिच्छेद ।

अपनी जनभाषा के व्यवहार हेतु अनुज्ञा देता हूँ) । यहाँ एक तरफ स्थविरवादी थे जो भगवान् के आदेश से एक पद (कदम) भी पीछे नहीं हटना चाहते थे, उधर महासाङ्घिकों को संस्कृत भाषा का उपयोग करना समय का आह्वान (पुकार) लगता था । यह एक ऐसा मतभेद था कि जो आज तक सुलझ नहीं पाया । अन्यथा दशवस्तुओं वाला विवाद तो भिक्षु रेवत स्थविर के युक्तियुक्त निर्णय देने के बाद सुलझ ही गया लगता था । हम देखते हैं, उस सङ्गीति के बाद इन दश वस्तुओं की इतिहास में आगे कोई चर्चा नहीं मिलती, न इन को मानने के लिये ही कोई विवेकी भिक्षु आग्रही दिखायी देता है ।

इसी तरह आगे चल कर श्रावकयान (हीनयान) एवं महायान में अन्य मतभेद भी उभरे, परन्तु दशवस्तुविषयक इतना महत्त्वपूर्ण नही रहा । अस्तु । उस समय के सङ्घभेद का रेखाचित्र दीपवंस, महावंस के अनुसार यह है–



महावंस के अनुसार गौतम बुद्ध की वंशपरम्परा

(१) हमारे महामुनि गौतम बुद्ध वर्तमान कल्प में **महासम्मत** राजा के वंशज थे । इसी राजा महासम्मत की वंशपरम्परा में प्रसिद्ध **ओक्काक** (इक्ष्वाकु) राजा हुए । इसी परम्परा में आगे चलकर राजा **सिंहस्वर** हुए, जिनके पुत्र-पौत्रों में अन्तिम राजा **जयसेन** कपिलवस्तु नगरी के अतिप्रसिद्ध शाक्य राजा हुए ।

(२) जयसेन के पुत्र का नाम था महाराज **सिंहहनु** तथा उनकी कन्या का नाम था **यशोधरा** ।

(३) उधर देवदहनगर में देवदहशाक्य नामक राजा हुआ । उसके पुत्र का नाम **अञ्जन** एवं कन्या का नाम था **कात्यायनी** ।

(४) यशोधरा राजा अञ्जन शाक्य की रानी बनी और कात्यायनी सिंहहनु की ।

(५) इस अञ्जन शाक्य को **माया** एवं **प्रजापती** नाम की दो कन्याएँ हुई । तथा **दण्डपाणि** एवं **सुप्रबुद्ध** नामक दो पुत्र हुए ।

(६) इसी तरह राजा सिंहहनु को पाँच पुत्र एवं दो कन्याएँ हुईं, जिनके नाम क्रमश ये हैं–

१. **शुद्धोदन**, २. **धौतोदन**, ३. **शक्रोदन**, ४. **शुक्लोदन** एवं **अमितोदन** । दोनों कन्याओं के नाम क्रमशः ये थे– १. **अमिता** एवं २. **प्रमिता** ।

(७) उस राजा अञ्जन शाक्य की दोनों पुत्रियाँ– **माया** और **प्रजापती** राजा शुद्धोदन की रानियाँ बनीं । इन्हीं राजा शुद्धोदन एवं प्रजापती के पुत्र हुए **कुमार सिद्धार्थ** ।

(८) राजा सिंहहनु की ज्येष्ठ कन्या अमिता की विवाह राजा अञ्जन शाक्य के पुत्र सुप्रबुद्ध से हुआ । इसके एक पुत्र **देवदत्त** तथा एक पुत्री **भद्रकात्यायनी** (भद्दकच्चाना) हुए ।

(९) इसी भद्रकात्यायनी से कुमार सिद्धार्थ का विवाह सम्पन्न हुआ । और इन्हें यथासमय **राहुल** नामक पुत्र उत्पन्न हुआ[1] ।

---

1. महावंस के द्वितीय परिच्छेद में वर्णित इतिहास के आधार पर ।

महावंस में वर्णित बौद्ध आचार्यपरम्परा

नाम	ईस्वी पूर्व (उपस्थिति-काल)	बुद्धाब्द
१. स्थविर उपालि	५२७–४५३	प्रथम
२. स्थविर दासक	४६७–४०३	३० से
३. स्थविर सोणक	४२३–३५९	९४ से
४. स्थविर सिग्गव	३८३–३०७	१२४ से
५. स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स	३१९–२३९	१७६ से
६. स्थविर महिन्द	२५९–२९९	

महावंस के अनुसार भारतीय राजाओं का शासनकाल

[बुद्ध-काल से सम्राट् अशोक-काल तक]

	राजा	शासनकाल	महावंस में निर्देश	स्थान
१.	बिम्बिसार	५२ वर्ष	२/२९,३०	राजगृह (मगध)
२.	अजातशत्रु	३२ वर्ष	२/३१-३२	राजगृह (मगध)
३.	उदयभद्र	१६ वर्ष	४/१	राजगृह (मगध)
४.	अनुरुद्ध	८ वर्ष	४/२,३	राजगृह (मगध)
५.	मुण्ड		४/२,३	राजगृह (मगध)
६.	नागदासक	२४ वर्ष	४/४	राजगृह (मगध)
७.	सुसुनाग	१८ वर्ष	४/६	राजगृह (मगध)
८.	कालाशोक	२८ वर्ष	४/७	राजगृह (मगध)
९.	कालाशोक के दस पुत्र	२२ वर्ष	५/१४	राजगृह (मगध)
१०.	नौ नन्द	२२ वर्ष	५/१५	पाटलिपुत्र
११.	चन्द्रगुप्त	२४ वर्ष	५/१६-१८	पाटलिपुत्र
१२.	बिन्दुसार	२८ वर्ष	५/१८	पाटलिपुत्र
१३.	अशोक	३७ वर्ष	२०/१६	पाटलिपुत्र

महावंस ग्रन्थ के अनुसार श्रीलङ्का के राजाओं का शासनकाल

	राजा	राज्यकाल	बुद्धाब्द	महावंस में निर्देश
१.	विजय	३८ वर्ष	१-३८	७ –७४
	अराजक काल	१ वर्ष	–	८-५
२.	पाण्डु वासुदेव	३० वर्ष	३९-६९	९-२५
३.	अभय	२० वर्ष	६९-८९	१०-५२
	अराजक काल	१७ वर्ष	–	१०-१०५
४.	पाण्डुकाभय	७० वर्ष	१०६-१७६	१०-१०६
५.	मुटसिव	६० वर्ष	१७६-२३६	११-४
६.	देवानम्पिय तिस्स	४० वर्ष	२३६-२७६	२०-८
७.	उत्तिय	१० वर्ष	२७६-२८६	२०-५७
८.	महासिव	१० वर्ष	२८६-२९६	२१-१
९.	सूरतिस्स	१० वर्ष	२९६-३०६	२१-३
१०.	सेन	२२ वर्ष	३०६-३२८	२१-११
११.	गुत्तिक			
१२.	असेल	१० वर्ष	३२८-३३८	२१-१२
१३.	एळार	४४ वर्ष	३३८-३८२	२१-१४
१४.	दुट्ठगामणी	२४ वर्ष	३८२-४०६	३२-३५,५७
१५.	सद्धातिस्स	१८ वर्ष	४०६-४२४	३३-४
१६.	थूलथनक	१ मास १० दिन	४२४	३३-३९
१७.	लज्जतिस्स	९ वर्ष	४२४-४३३	३३-२८
१८.	खल्लाटनाग	६ वर्ष	४३३-४३९	३३-२९
१९.	वट्टगामणी (अभय)	५ मास	४३९	३३-३७
२०-२४	पाँच दमिळ राजा	१४ वर्ष	४३९-४५४	३३-५६,६१
पुनः	वट्टगामणी (अभय)	१५ वर्ष	४५४-४६६	३३-१०२
२५.	महाचूळि तिस्स	१४ वर्ष	४६६-४८०	३४-१
२६.	चोरनाग	१२ वर्ष	४८०-४९२	३४-१३
२७.	तिस्स	३ वर्ष	४९२-४९५	३४-१५
२८.	सिव	१ वर्ष २ मास	४९६	३४-१८,२७
२९.	बटुक	१ वर्ष २ मास	४९७	३४ १८-२७
३०.	तिस्स	१ वर्ष १ मास	४९८	३४-१८-२७
३१.	निलिय	छह मास	४९९	३४-१८-२७

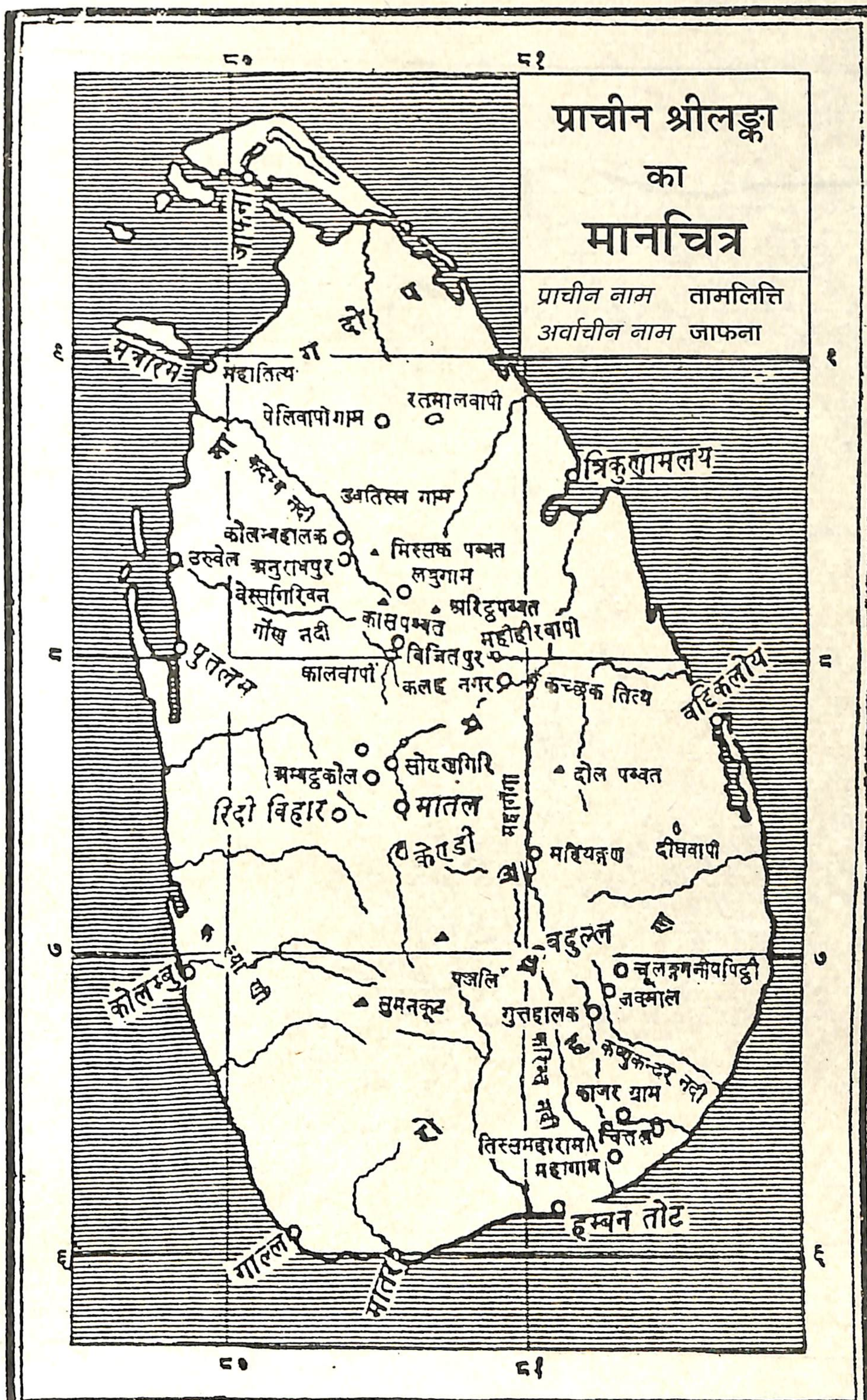
३२.	अनुला देवी	चार मास	४९९	३४-१८-२७
३३.	कुटिकण्ण तिस्स	२२ वर्ष	४९९-५२१	३४-३०
३४.	भातिक अभय	२८ वर्ष	५२१-५४९	३४-३७
३५.	महादाठिक महानाग	१२ वर्ष	५४९-५६१	३४-६९
३६.	आमण्डगामणी	९ वर्ष	५६१-५७१	३५-१
३७.	कणीरजानु तिस्स	३ वर्ष	५७१-५७४	३५-९
३८.	चूळाभय	१ वर्ष	५७४-५७५	३५-१२
३९.	सीवली	४ मास	५७५	३५-२०
४०.	इळनाग	६ वर्ष	५७८-५८४	३५-३५
४१.	चन्द्रमुख सिव	८ वर्ष	५८४-५९३	३५-४६
४२.	यसलालक तिस्स	७ वर्ष	५९३-६०१	३५-५०
४३.	सुभ राजा	६ वर्ष	६०१-६०७	३५-५६
४४.	वसभ	४४ वर्ष	६०७-६५१	३५-२००
४५.	वङ्कनासिक तिस्स	३ वर्ष	६५१-६५४	३५-११२
४६.	गजबाहुक गामणी	२२ वर्ष	६५४-६७६	३५-११५
४७.	महल्लनाग	६ वर्ष	६७६-६८२	३५-१२३
४८.	भातिक तिस्स	३१ वर्ष	६८२-७०६	३६-१
४९.	कनिट्ठ तिस्स	१८ वर्ष	७०६-७२४	३६-६
५०.	खुज्जनाग	२ वर्ष	७२४-७२६	३६-१८
५१.	कुञ्चनाग	१ वर्ष	७२६-७२७	३६-१९
५२.	सिरिनाग (१)	१९ वर्ष	७२७-७४६	३६-२३
५३.	बोहारिक तिस्स	२२ वर्ष	७४६-७६८	३६-२७
५४.	अभयनाग	८ वर्ष	७६८-७७६	३६-५१
५५.	सिरिनाग (२)	२ वर्ष	७७६-७७८	३६-५४
५६.	विजयकुमार	१ वर्ष	७७८-७७९	३६-५७
५७.	सङ्घतिस्स	४ वर्ष	७७९-७८३	३६-६४
५८.	सङ्घबोधि	२ वर्ष	७८३-७८५	३६-७३
५९.	गोठकाभय	१३ वर्ष	७८५-७९८	३६-९८
६०.	जेट्ठ तिस्स	१० वर्ष	७९८-८०८	३६-१३०
६१.	महासेन	२७ वर्ष	८०८-८३५	३७-१

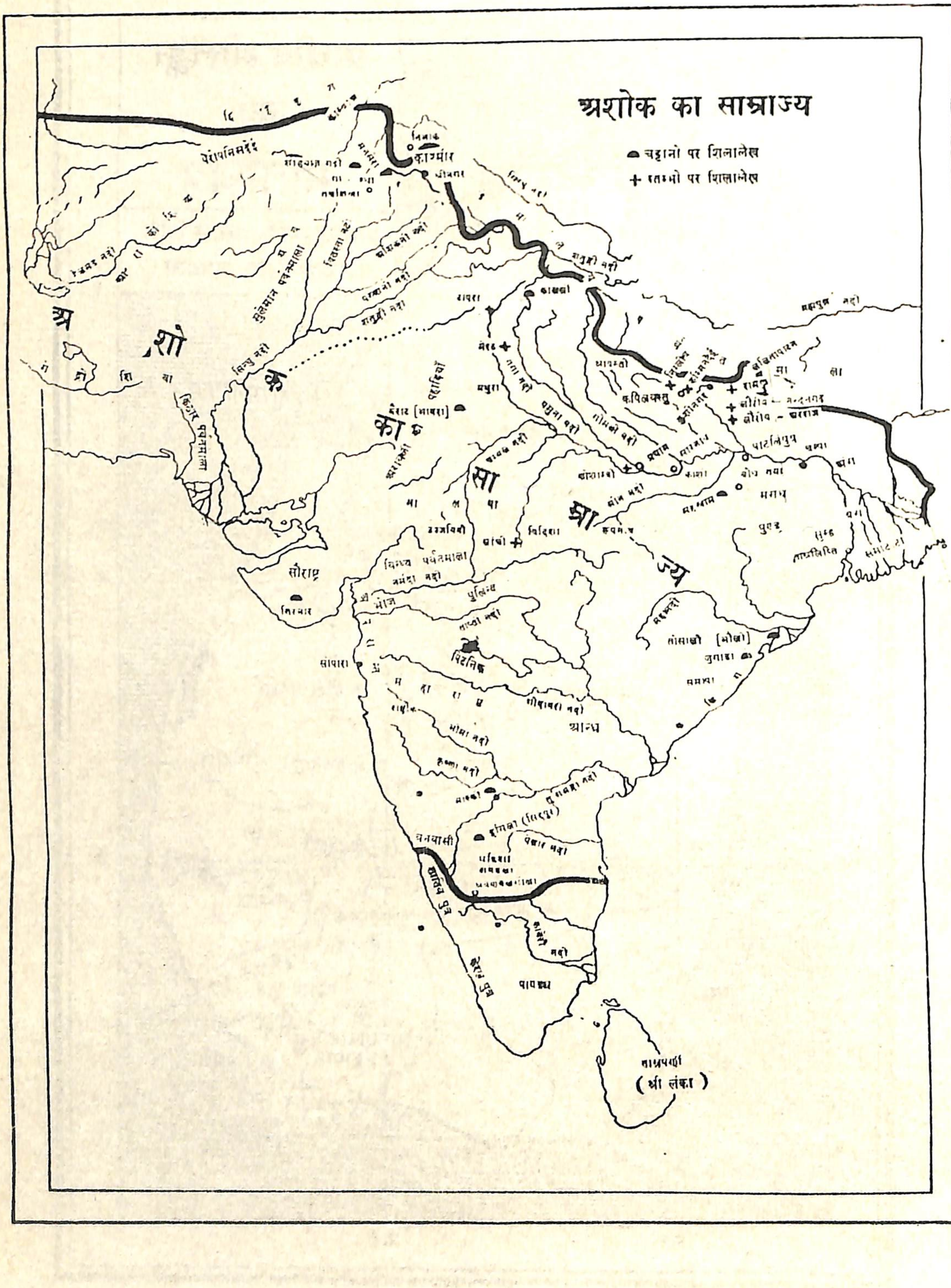
(स्वा. द्वा. शा.)

महावंस ग्रन्थ की

विषय-सूची

●


प्राचीन श्रीलङ्का
का
मानचित्र
प्राचीन नाम तामलित्ति
अर्वाचीन नाम जाफना
जाफना
महातित्थ
पेलिवापीगाम
रतमालवापी
त्रिकुणामलय
अतिस्स गाम
कोलम्बहालक
मिरसक पब्बत
उरुवेल
अनुराधपुर
लज्जुगाम
वेस्सगिरिवन
अरिट्ठपब्बत
कासपब्बत
गोंण नदी
महीहीरवापी
पुत्तलम
विजितपुर
कालवापी
कलह नगर
कच्छक तित्थ
बट्टिकलाय
सोरसगिरि
अम्बट्ठकोल
दोल पब्बत
रिदी विहार
मातल
महागंगा
कोण्डी
महियङ्गण
दीघवापी
बदुल्ल
कोलम्बु
चूलङ्गनीयपिट्ठी
जवमाल
सुमनकूट
गुत्तहालक
कजर ग्राम
तिस्समहाराम
महागाम
हम्बन तोट
गाल्ल
मातर



अशोक का साम्राज्य
चट्टानों पर शिलालेख
+ स्तम्भों पर शिलालेख
काश्मीर
सुलेमान पर्वतमाला
सिन्धु नदी
किरथर पर्वतमाला
यमुना नदी
मेरठ
मथुरा
श्रावस्ती
कपिलवस्तु
प्रयाग
पाटलिपुत्र
मगध
ब्रह्मपुत्र नदी
ताम्रलिप्ति
उज्जयिनी
विदिशा
साँची
सौराष्ट्र
गिरनार
विन्ध्य पर्वतमाला
नर्मदा नदी
पुलिन्द
भोज
सोपारा
महानदी
तोसाली (धौली)
जौगढ़
गोदावरी नदी
आन्ध्र
भीमा नदी
कृष्णा नदी
तुंगभद्रा नदी
वनवासी
पाण्ड्य
ताम्रपर्णी
(श्री लंका)

महावंस

(हिन्दी रूपान्तर सहित)

● नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ●

१.

महावंसम्हि

पठमो परिच्छेदो

(तथागताभिगमनं नाम)

[W.G.3] नमस्सित्वान सम्बुद्धं सुसुद्धं सुद्धवंसजं ।
महावंसं पवक्खामि नानानूनाधिकारिकं ॥ १ ॥

पोराणेहि कतो पेसो अतिवित्थारितो क्वचि ।
अतीव क्वचि सङ्खित्तो, अनेकपुनरुत्तको ॥ २ ॥

वज्जितं तेहि दोसेहि सुखग्गहणधारणं ।
पसादसंवेगकरं सुतितो च उपागतं ॥ ३ ॥

पसादजनके ठाने तथा संवेगकारके ।
जनयन्ता पसादं च संवेगं च सुणाथ तं ॥ ४ ॥

दीपङ्करं हि सम्बुद्धं पस्सित्वा नो जिनो पुरा ।
लोकं दुक्खा पमोचेतुं बोधाय पणिधिं अका ॥ ५ ॥

ततो तं चेव सम्बुद्धं कोण्डञ्ञं मङ्गलं मुनिं ।
सुमनं रेवतं बुद्धं सोभितं च महामुनिं ॥ ६ ॥

महावंस

प्रथम परिच्छेद

(तथागत का लङ्काद्वीप-गमन)

मङ्गलाचरण–सभी प्रकार के कायिक, वाचिक एवं मानसिक विकारों से रहित अतएव पूर्ण परिशुद्ध, मातृकुल एवं पितृकूल–यों दोनों ही कुलों से निर्दुष्ट (=शुद्धवंशज), भगवान् सम्यक्सम्बुद्ध को प्रणाम कर; मैं इस महावंश ग्रन्थ का प्रणयन इस प्रकार करूँगा कि जो सम्बद्ध इतिहास के समग्र पक्षों को स्पष्ट करता हो। जो न अतिसंक्षिप्त हो एवं न अतिविस्तृत, तथा जिसका रूप (रचना) भी अधिकृत (प्रामाणिक) हो ॥ १ ॥

ग्रन्थ की विशेषता–कुछ पुराने विद्वानों ने भी ऐसी ही इतिहासरचना का उपक्रम किया था; परन्तु उन्होंने कहीं तो उसका बहुत अधिक विस्तार कर दिया, या कहीं बहुत संक्षेप, या फिर उस में स्थान-स्थान पर पुनरुक्ति की इतनी बहुलता हो गयी कि वे (रचनाएँ) विद्वानों के लिये सर्वथा अग्राह्य एवं नीरस (अरुचिकर) हो गयी ॥ २ ॥

१. परन्तु मेरा यह ग्रन्थ इस उपर्युक्त दोषों से सर्वथा मुक्त है, अतः साधारण पाठक भी स्वज्ञानवर्धनहेतु सुखपूर्वक (अनायास) इसका उपयोग कर सकते हैं। २. दूसरी बात यह है कि इस का अध्ययन जिज्ञासुओं में बुद्ध, धर्म तथा सङ्घ के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह (उत्सुकता) उत्पन्न करने में प्रबल सहायक होगा तथा ३. यह इतना सरल विधि से लिखा गया है कि श्रवणमात्र से ही यह जिज्ञासुओं के हृदय में प्रवेश कर उन्हें अधिगृहीत हो जायगा ॥ ३ ॥

४. मैं जिज्ञासुओं को इस ग्रन्थ के श्रवणहेतु इसलिये भी प्रेरित कर रहा हूँ कि यह त्रिरत्न के प्रति सद्यःश्रद्धोत्पादक है तथा इसके वैराग्योद्बोधक स्थलों का वर्णन श्रवणमात्र से ही वैराग्य के प्रति उत्सुकता उद्भूत कर सकता है ॥ ४ ॥

बोधिसत्त्व का बुद्धत्व-प्राप्तिहेतु सत्यसङ्कल्प– पूर्वकाल में हमारे भगवान् (गौतम) बुद्ध ने, अपनी बोधिसत्त्वावस्था में, भगवान् दीपङ्कर बुद्ध से प्रेरणा ले कर, संसार के प्राणियों की दुःखोन्मुक्ति हेतु बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये सङ्कल्प (=प्रणिधि) किया ॥५ ॥

पूर्व-बुद्धों का आशीर्वचन–फिर उस बोधिसत्त्व ने क्रमशः–(१. दीपङ्कर), २. कौण्डिन्य, ३. मङ्गल, ४. सुमन, ५. रेवत, ६ महामुनि शोभित ॥ ६ ॥

अनोमदस्सिं सम्बुद्धं पदुमं नारदं जिनं ।
पदुमुत्तरसम्बुद्धं सुमेधं च तथागतं ॥ ७ ॥

सुजातं पियदस्सिं च अत्थदस्सिं च नायकं ।
धम्मदस्सिं च सिद्धत्थं तिस्सं फुस्सं जिनं तथा ॥ ८ ॥

[W.G.4] विपस्सिं सिखिसम्बुद्धं सम्बुद्धं वेस्सभुं विभुं ।
ककुसन्धं च सम्बुद्धं कोणागमनमेव च ॥ ९ ॥

कस्सपं सुगतं चेमे सम्बुद्धे चतुवीसति ।
आराधेत्वा महावीरो तेहि बोधाय व्याकतो ॥ १० ॥

पूरेत्वा पारमी सब्बा पत्वा सम्बोधिमुत्तमं ।
उत्तमो गोतमो बुद्धो सत्ते दुक्खा पमोचयि ॥ ११ ॥

मगधेसूरुवेलायं बोधिमूले महामुनि ।
वेसाखपुण्णमायं सो पत्तो सम्बोधिमुत्तमं ॥ १२ ॥

सत्ताहानि तहिं सत्त सो विमुत्तिसुखं परं ।
विन्दं तंमधुरत्तं च दस्सयन्तो वसी वसि ॥ १३ ॥

ततो वाराणसिं गन्त्वा धम्मचक्कं पवत्तयि ।
तत्थ वस्सं वसन्तो च सट्ठिं अरहतं अका ॥ १४ ॥

ते धम्मदेसनत्थाय विस्सज्जेत्वान भिक्खवो ।
विनेत्वा च ततो तिंस सहाये भद्दवग्गिये ॥ १५ ॥

सहस्सजटिले नाथो विनेतु कस्सपादिके ।
हेमन्ते उरुवेलायं वसि ते परिपाचयं ॥ १६ ॥

७. अनोमदर्शी, ८. पद्म, ९. नारद, १०. पद्मोत्तर, ११. सुमेध, ॥ ७ ॥

१२. सुजात, १३. प्रियदर्शी, १४. अर्थदर्शी, १५. धर्मदर्शी, १६. सिद्धार्थ, १७. तिष्य, १८. पुष्य ॥ ८ ॥

१९. विपश्यी, २०, शिखी, २१ विश्वभू, २२. क्रकुच्छन्द, २३. कोणागमन ॥ ९ ॥

एवं २४. काश्यप–इन चौबीस बुद्धों की आराधना की । तब उस महाबलशाली बोधिसत्त्व के लिये उन पूर्वबुद्धों ने घोषणा की कि वे भावी (पच्चीसवें बुद्ध होंगे ॥ १० ॥

बुद्धत्व-प्राप्ति–तब वे बोधिसत्त्व दान, शील आदि देशों पारमिताएँ पूर्ण कर उनके आधार पर उत्तम बुद्धत्व (सम्यक्सम्बोधि) प्राप्त कर प्राणियों को दुःखों से त्राण दिलाने के लिये सन्नद्ध हुए ॥ ११ ॥

मगध जनपद की ऊरुवेला (बोधगया के समीप) नगरी के समीपस्थ प्रदेश में बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर वैशाखमास की पूर्णिमा के दिन उन्होंने यह अद्वितीय सम्बोधि प्राप्त की ॥ १२ ॥

उस जितेन्द्रय (वशी) ने सम्बोधिप्राप्त्यनन्तर परम विमुक्ति-सुख की अनुभूति कर उसके अनुपम माधुर्य का रसास्वादन करते हुए वहीं (उन्हीं बोधिवृक्ष आदि के नीचे) बैठकर सात सप्ताह (४९ दिन) का समय बिताया ॥ १३ ॥

वाराणसी में धर्मचक्रप्रवर्तन– फिर वहाँ से उठ कर, वाराणसी में पहुँच कर वहाँ (ऋषिपतन, मृगदाव में) धर्मचक्र (स्वसाक्षात्कृत धर्म) का प्रवर्तन (=स्पष्टीकरण, विशदीकरण) किया । तथा वहीं वर्षावास (वर्षा ऋतु के तीन मास) की अवधि तक ठहर कर साठ (६०) भिक्षुओं को अर्हत्त्व (परम ज्ञान), पद प्राप्त कराया ॥ १४ ॥

भद्रवर्गीय सहायकों को सदुपदेश–उन भिक्षुओं को लोक में धर्म-प्रचार हेतु विचरण करने की अनुमति दी । फिर तीस (३०) परस्पर सहायक भद्रवर्गीय गृहस्थों को सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया ॥ १५ ॥

ऊरुवेला में जटिलों को धर्मोपदेश–वाराणसी से पुनः ऊरुवेला में आ कर हमारे ये लोकनाथ, काश्यप आदि एक हजार जटिलों को सद्धर्म का उपदेश कर उनके ज्ञान को परिपक्व करते हुए, स्वयं भी साधनाहेतु वहीं विराजमान रहे ॥ १६ ॥

उरुवेलकस्सपस्स महायञ्ञे उपट्ठिते ।
तस्सत्तनो नागमने इच्छाचारं विजानिय ॥ १७ ॥

उत्तरकुरुतो भिक्खं आहरित्वारिमद्दनो ।
अनोतत्तदहे भुत्वा सायन्हसमये सयं ॥ १८ ॥

बोधितो नवमे फुस्सपुण्णमियं जिनो ।
लङ्कादीपं विसोधेतुं लङ्कादीपं उपागमि ॥ १९ ॥

[W.G.5] सासनुज्जोतनट्ठानं लङ्का ञाता जिनेन हि ।
यक्खपुण्णाय लङ्काय यक्खा निब्बासिया ति च ॥ २० ॥

ञातो च लङ्कामज्झम्हि गङ्गातीरे मनोरमे ।
तियोजनायते रम्मे एकयोजनवित्थते ॥ २१ ॥

महानागवनुय्याने यक्खसङ्गामभूमियं ।
लङ्कादीपट्ठयक्खानं महायक्खसमागमो ॥ २२ ॥

उपागतो तं सुगतो महायक्खसमागमं ।
समागमस्स मज्झम्हि तत्थ तेसं सिरोपरि ॥ २३ ॥

महियङ्गणथूपस्स ठाने वेहायसं ठितो ।
वुट्ठिवातन्धरादिं तेसं संवेजनं अका ॥ २४ ॥

ते भयट्टाभयं यक्खा आयाचुं अभयं जिनं ।
जिनो अभयदो आह यक्खे ते तिभयट्टिते ॥ २५ ॥

"यक्खा ! भयं वो दुक्खं च हरिस्सामि इदं अहं ।
तुम्हे निसज्जट्ठानं मे समग्गा देथ मे इध" ॥ २६ ॥

आहु ते सुगतं यक्खा—"देम मारिस ! ते इमं ।
सब्बे पि सकलं दीपं, देहि नो अभयं तुवं" ॥ २७ ॥

लङ्काद्वीप को प्रस्थान– कुछ समय बीतने पर, उक्त ऊरुवेल काश्यप के आश्रम पर किसी विशाल यज्ञ की तय्यारी प्रारम्भ हुई । ऊरुवेलकाश्यप नहीं चाहते थे कि भगवान् यज्ञ के समय आश्रम में उपस्थित रहें । उसके मन की बात जानकर मारशत्रुनाशक भगवान् उत्तरकुरु से भिक्षा कर वहाँ से अनवतप्त दह (मान-सरोवर) जाकर वहाँ भिक्षा कर, सायङ्काल होते-होते ।। १७-१८ ।।

बोधिप्राप्ति के नौ (९) मास बाद, पौष मास की पूर्णिमा के दिन, लङ्काद्वीप को (स्वधर्मोपदेश द्वारा) पवित्र करने हेतु स्वयं लङ्काद्वीप पधारे ।। १९ ।।

लङ्काद्वीप से यक्षों का निष्कासन–भगवान् जानते थे कि लङ्काद्वीप को धर्म-ज्योति से प्रकाशित किये रखना है, वे यह भी जानते थे कि वर्तमान में लङ्का में इधर-उधर फैले ये यक्ष-राक्षस धर्मप्रचार में विघ्नभूत है, वहाँ से इनको भी निकालना अत्यावश्यक है ।। २० ।।

यक्षसम्मेलन–वे यह भी जानते थे कि उस समय लङ्काद्वीप के मध्य बहने वाली 'गङ्गा' (नदी) के रम्य तट पर तीन योजन लम्बे एवं एक योजन विस्तृत नागवनोद्यान में लङ्का-द्वीपवासी यक्षों का कोई बृहत् सम्मेलन होने वाला है ।। २१-२२ ।।

भगवान् सुगत उसी यक्ष-सम्मेलन में पहुँचे और वहाँ वे उस सम्मेलन के बीचों बीच उन यक्षों के शिर पर (आकाश में) आ विराजे ।। २३ ।।

वहाँ, जहाँ आज मह्यङ्गणस्तूप बना हुआ है, उस स्थान पर आकाश में विराजमान होकर उन्होंने आँधी, वर्षा एवं घनघोर अन्धकार फैला कर उन यक्षों को अत्यधिक उद्विग्न किया ।। २४ ।।

अन्त में, इस से भयार्त होकर उन यक्षों ने भगवान् से अभय वर माँगा । तब अभयप्रद भगवान् ने उन अत्यधिक भयोद्विग्न यक्षों से कहा– ।। २५ ।।

"यक्षजनो ! मै तुम्हारा भय तथा दुःख–दोनों ही हर दूर कर सकता हूँ, यदि तुम सब सम्मतिपूर्वक मुझे भी यहाँ बैठने के लिये कुछ स्थान दे दो ।" २६ ।।

इस पर यक्षों ने भगवान् को उत्तर दिया–"मार्ष ! हम आपको यह (स्थान) देगें । और इतने से स्थान की तो बात ही क्या, हम सब आपको यह समग्र लङ्काद्वीप ही देने को कटिबद्ध हैं । आप पहले हमें अभयदान तो दें ! ।। २७ ।।

भयं सीतं तमं तेसं हन्त्वा तन्दिन्नभूमियं ।
चम्मक्खण्डं अत्थरित्वा तत्थासीनो जिनो ततो ॥ २८ ॥

चम्मखण्डं पसारेसि आदित्तं तं समन्ततो ।
घम्माभिभूता ते भीता ठिता अन्ते समन्ततो ॥ २९ ॥

गिरिदीपं ततो नाथो रम्मं तेसं इधानयि ।
तेसु तत्थ पविट्ठेसु यथाठाने ठपेसि च ॥ ३० ॥

[W.G.6] नाथो तं सङ्खिपी चम्मं तदा देवा समागमुं ।
तस्मिं समागमे तेसं सत्था धम्मं अदेसयि ॥ ३१ ॥

नेकेसं पाणकोटीनं धम्माभिसमयो अहु ।
सरणेसु च सीलेसु ठिता आसुं असङ्खिया ॥ ३२ ॥

सोतापत्तिफलं पत्वा सेले सुमनकूटके ।
महासुमनदेविन्दो पूजियं याचि पूजियं ॥ ३३ ॥

सिरं परामसित्वान नीलामलसिरोरुहो ।
पाणिमत्ते अदा केसे तस्स पाणहितो जिनो ॥ ३४ ॥

सो तं सुवण्णचङ्गोटवरेणादाय सत्थुनो ।
निसिन्नट्ठानरचिते नानारतनसञ्चये ॥ ३५ ॥

सब्बतो सत्तरतने ते ठपेत्वा सिरोरुहे ।
सो इन्दनीलथूपेन पिदहेसि नमस्सि च ॥ ३६ ॥

तब भगवान् ने उन **यक्षों** का वह भय, शीत, अन्धकार–सभी कुछ दूर कर, वे उन की दी हुई भूमि पर अपना चर्मखण्ड बिछा कर विराजमान हुए ॥ २८ ॥

भयभीत एवं ताप से पीड़ित वे यक्ष भी भगवान् द्वारा बिछाये गये प्रदीप्त चर्मखण्ड के चारों किनारों के आस-पास आकर खड़े हो गये ॥ २९ ॥

तब भगवान् ने उन यक्षों को रम्य गिरिद्वीप पर पहुँचा कर, वहाँ उन्हें प्रविष्ट करा कर, उन्हें वहीं रहने का आदेश दिया ॥ ३० ॥

एतदनन्तर भगवान् ने अपना चर्मखण्ड समेट लिया । उसी समय कुछ देवता समूह रूप में भगवद्दर्शनार्थ आ पहुँचे । इस देवसमूह को भगवान् ने देशना की ॥ ३१ ॥

उस देशना के प्रभाव से करोड़ो प्राणियों को धर्मचक्षु (धर्मज्ञान) उत्पन्न हो गया जिससे वे सभी त्रिशरण (बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ) तथा पञ्चशील (अहिंसा, अस्तेय, सदाचार, सत्यभाषण एवं मद्यनिषेध) के प्रति आस्थावान् हुए ॥ ३२ ॥

महासुमन द्वारा चैत्यनिर्माण–सुमन पर्वत वासी महासुमन देवेन्द्र ने उस धर्माभिसमय से स्रोतआपत्ति फल प्राप्त कर उन पूजनीय भगवान् से कोई पूजायोग्य वस्तु की याचना की ॥ ३३ ॥

केशदान–तब प्राणियों के हितचिन्तक, निर्मल किन्तु कृष्णवर्ण केश वाले भगवान् ने अपने शिर पर हाथ फेरते हुए उसको एक मुट्ठी भर केश दिये ॥ ३४ ॥

देवेन्द्र ने उस पवित्र केशराशिको सुवर्णनिर्मित चङ्गोटक (छाबड़ी) में रखकर, जहाँ भगवान् विराजमान् थे उसी स्थान पर प्रतिष्ठित किया ॥ ३५ ॥

सात महार्घ रत्नों पर उस कशराशि को रखकर, ऊपर से इन्द्रनील- मणिमय स्तूप से आवृत कर दिया । तथा उसकी पूजा-अर्चना की ॥ ३६ ॥

परिनिब्बुतम्हि सम्बुद्धे चितकतो व इद्धिया ।
आदाय जिनगीवट्ठिं थेरो सरभुनामको ॥ ३७ ॥

थेरस्स सारिपुत्तस्स सिस्सो आनीय चेतिये ।
तस्मिंयेव ठपेत्वान भिक्खूहि परिवारितो ॥ ३८ ॥

छादापेत्वा मेदवण्णपासाणेहि महिद्धिको ।
थूपं द्वादसहत्थुच्चं कारयित्वान पक्कमि ॥ ३९ ॥

देवानम्पियतिस्सस्स रञ्ञो धातुकुमारको ।
उद्धचूळाभयो नाम दिस्वा (तं) चेतियमब्भुतं ॥ ४० ॥

तं छादयित्वा कारेसि तिंसहत्थुच्चचेतियं ।
मद्दन्तो दमिळे राजा तत्रट्ठो दुट्ठगामणी ॥ ४१ ॥

असीतिहत्थं कारेसि तस्स कञ्चुकचेतियं ।
महियङ्गणथूपो यं एसो एवं पतिट्ठितो ॥ ४२ ॥

[W.G.7] एवं दीपं इमं कत्वा मनुस्सारहमिस्सरो ।
उरुवेलं अगा धीरो उरुवीरपरक्कमो ॥ ४३ ॥

महियङ्गणागमनं निट्ठितं

नागदीपागमनं–

महाकारुणिको सत्था सब्बेलोकहिते रतो ।
बोधितो पञ्चमे वस्से वसं जेतवने जिनो ॥ ४४ ॥

महोदरस्स नागस्स तथा चूलोदरस्स च ।
मातुलभागिनेयानं मणिपल्लङ्कहेतुकं ॥ ४५ ॥

दिस्वा सपारिसज्जानं सङ्गामं पच्चुपट्ठितं ।
सम्बुद्धो चित्तमासस्स कालपक्खे उपोसथे ॥ ४६ ॥

पातो येव समादाय पवरं पत्तचीवरं ।
अनुकम्पाय नागानं नागदीपं उपागमि ॥ ४७ ॥

सरभू स्थविर द्वारा स्तूप मह्यङ्गण चैत्यका निर्माण—भगवान् के परिनिर्वृत होते ही, स्थविर सारिपुत्र के शिष्य सरभू नामक स्थविर ने स्वकीय ऋद्धिबल से उन् भगवान् की चिता से ही उनकी ग्रीवास्थि निकाल कर भिक्षुओं सहित यहाँ आकर उसी स्तूप में रखकर उस पर मेदोवर्ण के पत्थरों का बारह हाथ ऊँचा स्तूप बनवाया और वे वापस चले गये ॥ ३७-३९ ॥

स्तूप का पुनर्निमाण— राजा देवानाम्प्रिय तिष्य के धात्रीपुत्र ऊर्ध्वचूड़ाभय ने इसे देखकर प्रसन्न हो, इसी स्तूप को, अपने समय में इसे आच्छदित कर तीस हाथ ऊँचा करवा दिया। फिर कुछ काल बाद राजा दुष्टग्रामणी ने द्रविड़ों को पराजित कर उस कञ्चुक और चैत्य को अस्सी हाथ ऊँचा बनवाया। तथा उसे 'मह्यङ्गण चैत्य' नाम से लोक में प्रख्यापित किया ॥ ४०-४२ ॥

यों, इस द्वीप को (यक्षों को निष्कासित कर) मनुष्यों के रहने योग्य बनाकर धीर, वीर, पराक्रमी बुद्ध पुनः अरुवेला लौट आये ॥ ४३ ॥

महिअङ्गणआगमन-प्रकरण समाप्त ॥

नाग-द्वीप में भगवान् का पधारना—सभी प्राणियों के हित में लगे, महाकारुणिक भगवान् बुद्ध बोधिप्राप्ति के पाँच वर्ष बाद श्रावस्ती के जेतवन महाविहार में विराजमान थे ॥ ४४ ॥

नागयुद्ध—उस समय महोदर एवं चूड़ोदर नामक दो नागों को, जो कि परस्पर मामा-भानजा थे, एक मणिमय सिंहासन के लिये दल-बल सहित युद्ध में उपस्थित होते देखकर, भगवान् बुद्ध चैत्रमास के कृष्णपक्षीय उपोसथ के दिन प्रातः काल ही पात्र-चीवर लेकर, उन नागों पर कृपा करने के लिये नागद्वीप की ओर पधारे ॥ ४५-४७ ॥

महोदरो पि सो नागो तदा राजा महिद्धिको ।
समुद्दे नागभवने दसड्ढसतयोजने ॥ ४८ ॥

कनिट्ठिका तस्स कञ्ञा वड्ढमानम्हि पब्बते ।
नागराजस्स दिन्नासि तस्सा चूलोदरो सुतो ॥ ४९ ॥

तस्स मातामहो मातु मणिपल्लङ्कुत्तमं ।
दत्वा कालकतो नागो, मातुलेन ततो हि सो ॥ ५० ॥

अहोसि भागिनेय्यस्स सङ्गामो पच्चुपट्ठितो ।
पब्बतेय्या पि नागा ते अहेसुं हि महिद्धिका ॥ ५१ ॥

समिद्धिसुमनो नाम देवो जेतवने ठितं ।
राजयतनमादाय अत्तनो वनं सुभं ॥ ५२ ॥

[W.G.8] बुद्धानुमतिया चेव छत्ताकारं जिनोपरि ।
धारयन्तो उपागञ्छि ठानं तं पुब्बवुत्थकं ॥ ५३ ॥

देवो हि सो नागदीपे मनुस्सो नन्तरे भवे ।
अहोसि राजायतनट्ठितट्ठाने स अद्दस ॥ ५४ ॥

पच्चेकबुद्धे भुञ्जन्ते दिस्वा चित्तं पसादयि ।
पत्तसोधनसाखानि तेसं पादासि तेन सो ॥ ५५ ॥

निब्बत्ति तस्मिं रुक्खस्मिं जेतुय्याने मनोरमे ।
द्वारकोट्ठकपस्सम्हि पच्छा बहि अहोसि सो ॥ ५६ ॥

देवातिदेवो देवस्स तस्स वुद्धिं च पस्सिय ।
इदण्ठानहितत्थं च तं सरुक्खं इधानयि ॥ ५७ ॥

सङ्गाममज्झे आकासे निसिन्नो तत्थ नायको ।
तमं तमोनुदो तेसं नागानं भिंसनं अका ॥ ५८ ॥

उस समय महाबली महोदर नागराज साढे दस सौ योजन विस्तार वाले अपने समुद्रस्थित भवन में रहता था ।। ४८ ।।

उसकी छोटी बहन वर्धमानपर्वतवासी नागराज को व्याही गयी थी । चुळोदर उसी का पुत्र था ।। ४९ ।।

उसका मातामह (नाना) चुळोदर की माता को एक सुन्दर मणिमय सिंहासन देकर देहपात कर गया ।। ५० ।।

(इस मणिमय सिंहासन के लिये ही) महोदर का अपने भानजे चुळोदर से युद्ध प्रारम्भ हो गया । वर्धमानपर्वतवासी नाग (चूळोदर के साथी) भी अपने आप में बलशाली थे ।। ५१ ।।

समृद्धिसुमन नामक देवता जेतवनविहार; स्थित राजायतन वृक्ष पर अपना वास बनाये हुए था । वह वृक्ष इतना वृत्ताकार था मानो नीचे बैठे भगवान् के सिर पर छत्र बना हो ।। ५२ ।।

भगवान् की अनुमति लेकर वह अपने अभिजन (पूर्ववासस्थान) लङ्का स्थित नागद्वीप में गया ।। ५३ ।।

वह समृद्धिसुमन देवता पूर्वजन्म में नामद्वीप में रहता था । उसने कभी राजायतन वृक्ष के नीचे बैठे कुछ प्रत्येकबुद्धों को भोजन करते देखा । भोजन कर चुकने के बाद, उसने उन को पात्र-शुद्धि के लिये वृक्ष के पत्ते दिये ।। ५४-५५ ।।

उस दान के पुण्य प्रभाव से वह इस जन्म में जेतवनाराम के पश्चिम द्वार पर लगे वृक्ष पर आकर वास करने लगा ।। ५६ ।।

हमारे देवाधिदेव भगवान् ने उस देवता तथा जेतवन को शोभा-दोनों की वृद्धि (भौतक उन्नति) देखते हुए उस देवता को उस वृक्ष पर ही स्थापित किया ।। ५७ ।।

अन्धकारोत्पादन–उधर वह नागों का संग्राम हो ही रहा था कि वहाँ आकाश में लोकनायक ने घोर अन्धकार उत्पन्न कर दिया । उस घोर अन्धकार से वे नाग भयभीत हो उठे ।। ५८ ।।

अस्सासेन्तो भयट्टे ते आलोकं पविधंसयि ।
ते दिस्वा सुगतं तुट्ठा पादे वन्दिंसु सत्थुनो ॥ ५९ ॥

तेसं धम्मं अदेसेसि सामग्गिकरणं जिनो ।
उभो पि ते पतीता तं पल्लङ्कं मुनिनो अदुं ॥ ६० ॥

सत्था भूमिगतो तत्थ निसीदित्वान आसने ।
तेहि दिब्बन्नपानेहि नागराजेहि तप्पितो ॥ ६१ ॥

ते जलट्ठे थलट्ठे च भुजगे सीतिकोटियो ।
सरणेसु च सीलेसु पतिट्ठापेति नायको ॥ ६२ ॥

[W.G.9] महोदरस्स नागस्स मातुलो मणिअक्खिको ।
कल्याणियं नागराजा युद्धं कातुं तहि गतो ॥ ६३ ॥

बुद्धागमम्हि पठमे सुत्वा सद्धम्मदेसनं ।
ठितो सरणसीलेसु तत्थ याचि तथागतं ॥ ६४ ॥

"महती अनुकम्पा नो कता, नाथ, तया अयं ।
तवानागमने सब्बे मयं भस्मीभवामहे ॥ ६५ ॥

"अनुकम्पा मयि पि ते विसुं होतु महादय !
पुनरागमनेनेत्थ वासभूमिं ममागम[1]" ॥ ६६ ॥

अधिवासयित्वा भगवा तुण्हीभावेनिधागमं ।
पतिट्ठापयि तत्थेव राजायतनचेतियं ॥ ६७ ॥

तं चापि राजायतनं पल्लङ्कं च महारहं ।
अप्पेसि नागराजूनं लोकनाथो नमस्सितुं ॥ ६८ ॥

---

1. ममामम–इति W.G. सम्मतो पाठो ।

यों अन्धकारसे भयार्त नागों के दोनों ही पक्ष जब भगवान् की शरण में आ गिरे तो भगवान् ने उन को आश्वस्त करते हुए अन्धकार का विनाश कर पुनः प्रकाश उत्पन्न किया । नागों ने प्रकाश देखकर सन्तुष्ट होते हुए भगवान् के श्रीचरणों की श्रद्धापूर्वक वन्दना की ।। ५९ ।।

पर्यङ्कदान-- तब भगवान् ने उन को एकतापूर्वक रहने का परामर्श दिया । साथ ही धर्मदेशना भी की । दोनों ही पक्षों ने भगवान् पर विश्वास (प्रतीति) प्रकट करते हुए वह पर्यङ्क (पलङ्ग) मुनि (भगवान्) को ही समर्पित कर दिया ।। ६0 ।।

तब भगवान् भी, आकाश से भूमि पर आकर आसन पर विराजमान हुए तथा उन नागों द्वारा समर्पित दिव्य अन्न-पान का सेवन कर सन्तृप्त हुए ।। ६१ ।।

इस प्रकार हमारे लोकनायक ने उन अस्सी करोड़ नागों को त्रिशरण एवं पञ्चशील के आचरण में प्रतिष्ठित किया ।। ६२ ।।

मणिअक्षिक नाग का निवेदन--महोदर नाग का मामा मणिरक्षक नाग भी उस नाग-युद्ध में आया हुआ था ।। ६३ ।।

वह लङ्काद्वीप में बुद्ध के प्रथम आगमन के समय सद्धर्म-देशना सुनकर त्रिशरण एवं पञ्चशील में प्रतिष्ठित हो चुका था, उसने तथागत से याच्ञा की– ।। ६४ ।।

"हे नाथ! आपने हम पर यह अत्यधिक अनुकम्पा की कि हम को युद्ध-विरत कर दिया । अन्यथा हम लोग परस्पर युद्ध में भस्म (विनष्ट) ही हो गये होते ! ।। ६५ ।।

"हे दयामय! हे वीततृष्ण! मुझ पर आप इतनी और दया कीजिये कि आप अपने पुनरागमन से मेरे स्थान (कल्याणी नदी के तट) को एक बार अवश्य पवित्र करें" ।। ६६ ।।

भगवान् ने मौनभाव से उस नागराज का वह निवेदन स्वीकार कर लिया । तथा वहाँ राजायतन चैत्य भी स्थापित किया ।। ६७ ।।

तदनन्तर, भगवान् ने वह राजायतन चैत्य तथा वह पर्यङ्क–दोनों ही नागराजों वन्दना हेतु सौपते हुए कहा– ।। ६८ ।।

"परिभोगचितियं मय्हं, नागराजा, नमस्सथ ।
तं भविस्सति वो, ताता, हिताय च सुखाय च" ॥ ६९ ॥

इच्चेवमादिं सुगतो नागानं अनुसासनं ।
कत्वा गतो जेतवनं सब्बलोकानुकम्पको ॥ ७० ॥

नागदीपागमनं निट्ठितं ॥

[W.G.10] ततो सो ततिये वस्से नागिन्दो मणिअक्खिको ।
उपसङ्कमित्वा सम्बुद्धं सहसङ्घं निमन्तियि ॥ ७१ ॥

बोधितो अट्ठमे वस्से वसं जेतवने जिनो ।
नाथो पञ्चहि भिक्खूनं सतेहि परिवारितो ॥ ७२ ॥

दुतये दिवसे भत्तकाले आरोचिते जिनो ।
रम्मे वेसाखमासम्हि पुण्णमायं मुनिस्सरो ॥ ७३ ॥

तत्थेव पारुपित्वान सङ्घाटिं पत्तमादिय ।
अगा कल्याणिदेसं तं मणिअक्खिकनिवेसनं ॥ ७४ ॥

कल्याणिचेतियट्ठाने कते रतनमण्डपे ।
महारहम्हि पल्लङ्के सह सङ्घेनुपाविसि ॥ ७५ ॥

दिब्बेहि खज्ज-भोज्जेहि सगणो सगणं जिनं ।
नागराजा धम्मराजं सन्तापेसि सुमानसो ॥ ७६ ॥

तत्थ धम्मं देसयित्वा सत्था लोकानुकम्पको ।
उग्गन्त्वा सुमनकूटे पदं देसेसि नायको ॥ ७७ ॥

तस्मिं पब्बतपादम्हि सहसङ्घो यथासुखं ।
दिवाविहारं कत्वान दीघवापिमुपागमिं ॥ ७८ ॥

"हे नागराजो! यह मेरा परिभोग (आवासीय) चैत्य रहा है, इस की तुम नित्य वन्दना करते रहना, यही तुम्हारे लिये हितकर होगा" ।। ६९ ।।

सभी पर अकारण करुणा वृष्टि करे वाले सुगत उन नागराजों को यों समझा-बुझा कर, सन्मार्ग पर लगाकर पुनः जेतवन लौट आये ।। ७० ।।

नागद्वीपआगमन-वर्णन समाप्त ।।

कल्याणी नदी पर आगमन—फिर तीसरे वर्ष, उस नागराज मणिअक्षक ने भगवान् की सेवा में पहुँच कर सङ्घसहित भगवान् को अपने घर पर भोजन का निमन्त्रण दिया ।। ७१ ।।

बोधिप्राप्ति से आठवें वर्ष में जेतवन में साधना करते हुए मुनीश्वर (भगवान्) ने पाँच सौ भिक्षुओं के साथ दूसरे दिन भोजन का समय सूचित किये जाने पर, रमणीय वैशाख की पूर्णिमा के दिन सङ्घाटी तथा पात्र-चीवर लेकर कल्याणी नदी-प्रदेश की तरफ, जहाँ कि उस मणिअक्षक का आवास था, चल पड़े ।। ७२-७४ ।।

कल्याणी नदी के तट पर पहुँच कर वहाँ बने चैत्य के रत्नमण्डप में भगवान् महार्घ (बहुमूल्य) पर्यङ्क (पलंग) पर सङ्घसहित विराजमान हुए ।। ७५ ।।

तब अपने परिजनों के साथ नागराज ने प्रसन्न चित्त से सङ्घसहित उस धर्मराज (तथागत) को दिव्य (उत्तमोत्तम) खाद्य-भोज्य पदार्थों से सन्तृप्त किया ।। ७६ ।।

वहाँ भोजन के बाद, लोक पर दयालु शास्ता ने धर्मोपदेश करते हुए, वहाँ से सुमनकूट पर्वत पर जाकर अपने चरण-चिह्न अङ्कित किये । (जो वर्तमान में भी श्रीपाद नाम से पूजास्थल के रूप में प्रसिद्ध हैं ।) ।। ७७ ।।

फिर उस पर्वत की उपत्यका (तलहटी) में दिवाविहार कर सङ्घसहित भगवान् बुद्ध दीर्घवापी पहुँचे ।। ७८ ।।

तत्थ चेतियठानम्हि ससङ्घो व निसीदिय ।
समाधिं अप्पयी नाथो ठानगारवपत्तिया ॥ ७९ ॥

[W.G.9] ततो वुट्ठाय ठानम्हा ठानाठानेसु कोविदो ।
महामेघवनाराममट्ठानमागा महामुनि ॥ ८० ॥

महाबोधिट्ठितट्ठाने निसीदित्वा ससावको ।
समाधिमप्पयी नाथो महाथूपट्ठिथे तथा ॥ ८१ ॥

थूपाराममिह् थूपस्स ठितट्ठाने तथेव च ।
समाधितो च वुट्ठाय सिलाचेतियठानगो ॥ ८२ ॥

सहागते देवगणे गणी समनुसासिय ।
ततो जेतवनं बुद्धों बुद्धसब्बद्धगो अगा ॥ ८३ ॥

एवं लङ्काय नाथो हितममितमती आयतिं पेक्खमानो,
तस्मिं कालम्ह लङ्कासुरभुजगगणादीनमत्थं च पस्सं ।

आगा तिक्खत्तुमेतं अतिविपुलदयो लोकदीपो सुदीपं,
दीपो तेनायमासी सुजनबहुमतो धम्मदीपावभासी[1] ॥ ति ॥ ८४ ॥

कल्याणि-आगमनं निट्ठितं ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

तथागतभिगमनं नाम

पठमो परिच्छेदो

❄❄❄

1. स्रग्धरा छन्द ।

भगवान् लोकनाथ वहाँ चैत्यस्थान में सङ्घसहित विराजमान हुए । तथा उस स्थान को गौरव प्रदान करने के लिये कुछ समय तक वहाँ समाधिरत रहे ।। ७९ ।।

उचित अनुचित के सम्यग्ज्ञाता वे महामुनि कुछ समय बाद वहाँ से उठ कर महामेघवनाराम स्थान पर पहुँचे ।। ८० ।।

वहाँ वे सङ्घसहित, कुछ काल तक, विराजे । तथा फिर महाबोधि स्थान पर जाकर समाधिरत हुए । उसी तरह महास्तूप जाकर भी कुछ समय समाधिरत रहे ।। ८१ ।।

स्तूपाराम स्थान पर भी, जहाँ बाद में स्तूप बनाया गया, भगवान् कुछ समय समाधिरत रह कर शिलाचैत्य स्थान पर पधारे ।। ८२ ।।

अन्त में, साथ में देवताओं को धर्म-देशना करते हुए वे त्रिकालज्ञ गणनायक (सङ्घनायक) पुनः जेतवन लौट आये ।। ८३ ।।

इस प्रकार, उस समय लङ्काद्वीपवासी असुरों (यक्षों) एवं नागों का भविष्य में कल्याण देखते हुए भगवान् बुद्ध का तीन बार इस लङ्काद्वीप पर आगमन हुआ, जिससे यह द्वीप सज्जनों में 'धर्मद्वीप' नाम से प्रसिद्ध हो गया ।। ८४ ।।

कल्याणीआगमन-वर्णन समाप्त ।।

सुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं वैराग्य वृद्धि हेतु

रचित इस महावंस ग्रन्थ का

तथागताभिगमन नामक

प्रथम परिच्छेद समाप्त

❄❄❄

२.

दुतियो परिच्छेदो

(महासम्मतवंसो नाम)

[W.G.12] महासम्मतराजस्स वंसजो हि महामुनि ।
कप्पादिस्मिं हि राजासि महासम्मतनामको ॥ १ ॥

रोजो च वररोजो च तथा कल्याणका दुवे ।
उपोसथो च मन्धाता चरकोपचरा दुवे ॥ २

चेतियो मुचलो चेव महामुचुलनामको ।
मुचलिन्दो सागरो चेव सागरदेवनामको ॥ ३ ॥

भरतो अङ्गीरसो चेव रुचि च सुरुची पि च ।
पतापो महापतापो पणादा च तथा दुवे ॥ ४ ॥

सुदस्सना चं नेरू च तथा एव दुवे दुवे ।
अच्चिमा चा ति राजानो तस्स पुत्तपपुत्तका ॥ ५ ॥

असङ्खेय्यायुका एते अट्ठवीसति भूमिपा ।
कुसावतिं राजगहं मिथिलं चापि आवसुं ॥ ६ ॥

ततो स[1]तं च राजानो छपञ्ञासं च सट्ठि च ।
चतुरासीतिसहस्सानि छत्तिंसा च ततो परे ॥ ७ ॥

द्वत्तिंस अट्ठवीसं च द्वावीसति ततो परे ।
अट्ठारस सत्तरस पण्णरस चतुद्दस ॥ ८ ॥

---

1. स्र

द्वितीय परिच्छेद

(महासम्मत राजा का वंश-वर्णन)

महासम्मत राजवंश– इस कल्प के प्रारम्भ में एक महासम्मत राजा हुए। (आगे चलकर) इन्हीं महासम्मत राजा के कुल में हमारे महामुनि (भगवान् बुद्ध) भी अवतरित हुए थे ॥ १ ॥

(उस राजा के) १. रोज, २. वररोज, ३. कल्याणक (प्रथम), कल्याणक (द्वितीय,) ५. उपोसथ, ६. मान्धाता, ७. चरक एवं ८. उपचर ॥ २ ॥

९. चेतिय (चैत्य), १०. मुचल, ११. महामुचल, १२. मुचलिन्द, १३. सागर एवं १४. सागरदेव ॥ ३ ॥

१५. भरत, १६. अङ्गीरस, १७. रुचि, १८. सुरुचि, १९. प्रताप, २०. महाप्रताप, २१. प्रणाद (प्रथम), २२. प्रणाद (द्वितीय) ॥ ४ ॥

२३. सुदर्शन (प्रथम), २४. सुदर्शन (द्वितीय), २५. नेरू (प्रथम), २६. नेरू (द्वितीय), एवं २७. अर्चिष्मान् तथा २८. उसके पुत्र-पौत्र ॥ ५ ॥

ये अगणित आयुवाले अट्ठाईस राजा कुशावती (वर्तमान–कसया, पूर्वी उत्तर प्रदेश), राजगृह (वर्तमान–राजगीर, बिहार) एवं मिथिला (वर्तमान-जनकपुर, नेपाल) नगरियों को राजधानी बना कर राज्य करते रहे ॥ ६ ॥

(राजाओं की इन अट्ठाईस पीढ़ियों के बाद) एक सौ (१००) राजा, छप्पन, (५६), साठ (६०), चौरासी हजार, (८४,०००), फिर ३६ (छत्तीस), फिर बत्तीस (३२), अट्ठाईस (२८), बाईस (२२), अट्ठारह (१८) फिंर सत्तरह (१७), फिर पचास (५०), फिर चौदह (१४), ॥ ७-८ ॥

नव सत्त द्वादसं च पञ्चवीस ततो परे ।
पञ्चवीसं द्वादसं च द्वादसं च नवापि च ॥ ९ ॥

चतुरासीतिसहस्सानि मखादेवादिका पि च ।
चतुरासीतिसहस्सानि कलारजनकादयो ॥ १० ॥

सोळस याव ओक्काका पपुत्ता रासितो इमे ।
विसुं विसुं पुरे रज्जं कमतो अनुसासिसुं ॥ ११ ॥

ओक्कामुखो जेट्ठपुत्तो ओक्काकस्सासि भूपति ।
निपुणो चन्दिमा चन्दमुखो च सिविसञ्जयो ॥ १२ ॥

वेस्सन्तरो महाराजा जाली च सीहवाहनो ।
सीहस्सरो च इच्चेते तस्स पुत्त-पपुत्तका ॥ १३ ॥

द्वे असीति सहस्सानि सीहीस्सरस्स राजिनो ।
पुत्त-पपुत्तराजानो जयसेनो तदन्तिमो ॥ १४ ॥

एते कपिलवत्थुस्मिं साक्यराजा ति विस्सुता ।
सीहहनु महाराजा जयसेनस्स अत्रजो ॥ १५ ॥

[W.G.14] जयसेनस्स धीता च नामेनासि यसोधरा ।
देवदहे देवदहसक्को नामासि भूपति ॥ १६ ॥

अञ्जनो चाथ कच्चाना आसुं तस्स सुता दुवे ।
महेसी चासि कच्चाना रञ्ञो सीहहनुस्स सा ॥ १७ ॥

आसि अञ्जनसक्कस्स महेसी सा यसोधरा ।
अञ्जनस्स दुवे धीता माया चाथ पजापती ॥ १८ ॥

पुत्ता दुवे दण्डपाणि सुप्पबुद्धो च साकियो ।
पञ्च पुत्ता दुवे धीता आसुं सीहहनुस्स तु ॥ १९ ॥

फिर नौ (९), सात (७), बारह (१२), फिर पच्चीस (२५), फिर पच्चीस (२५), बारह(१२), बारह (१२), तथा फिर नौ (९) ॥ ९ ॥

फिर चौरासी हजार (८४, ०००) मखदेव आदि एवं चौरासी हजार (८४,०००) ही कलारजनक आदि राजा ॥ १० ॥

तथा इसके बाद ओक्काक (इक्ष्वाकु?) तथा उसके पुत्र-पौत्र सोलह (१६), पीढ़ी तक, पृथक्-पृथक् नगरों को राजधानी बनाकर, राज्यसञ्चालन करते रहे ॥ ११ ॥

कपिलवस्तु का शाक्यवंश—राजा ओक्काक का ज्येष्ठ पुत्र ओक्कामुख (उल्का-मुख) राजा बना । उस के बाद क्रमशः निपुण, चन्द्रमा, चन्द्रमुखी, शिवि-सञ्जय ॥ १२ ॥

फिर महाराज वेस्सन्तर, उनके सिंहवाहन, उनके सिंहस्वर तथा उन के पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रों ने राज्य किया ॥ १३ ॥

सिंहस्वर के बाद बयासी हजार (८२०००) उस के पुत्र-पौत्र क्रमशः राजा बने । उनमें अन्तिम राजा का नाम जयसेन ॥ १४ ॥

कपिलवस्तु नगरी को राजधानी बना कर राज्य करने वाले ये सभी राजा 'शाक्यराज' नाम से प्रसिद्ध हुए । राजा जयसेन के पुत्र का नाम सिंहहनु था ॥ १५ ॥

और जयसेन की पुत्री का नाम था यशोधरा । देवदह में देवदह शाक्य राजा बना ॥ १६ ॥

उसके पुत्र का नाम था **अञ्जन** और पुत्री का नाम था कात्यायनी (कच्चाना) । इन में कात्यायनी महाराज सिंहहनु की महारानी बनी ॥ १७ ॥

और शाक्यराज अञ्जन की पटरानी बनी यशोधरा (जो कि महाराज जयसेन की पुत्री थी) । अञ्जन की भी दो पुत्रियों थी– एक माया और दूसरी प्रजापती ॥ १८ ॥

इस अञ्जन के दो पुत्र थे–१. दण्डपाणि एवं सुप्रबुद्ध शाक्य । तथा सिंहहनु के पांच पुत्र और दो पुत्रियाँ थी ॥ १९ ॥

सुद्धोदनो धोतोदनो सक्कसुक्कामितोदनो ।
अमिता पमिता चा ति इमे पञ्च इमा दुवे ॥ २० ॥

सुप्पबुद्धस्स सक्कस्स महेसी अमिता अहु ।
तस्सासु भद्दकच्चाना देवदत्तो दुवे सुता ॥ २१ ॥

माया पजापती चेव सुद्धोदनमहेसियो ।
सुद्धोदनमहारञ्ञो पुत्तो मायाय नो जिनो ॥ २२ ॥

महासम्मतवंसम्हि असम्भिन्ने महामुनि ।
एवं पवत्ते सञ्जातो सब्बखत्तियमुद्धनि ॥ २३ ॥

सिद्धत्थस्स कुमारस्स बोधिसत्तस्स सा अहु ।
महेसी भद्दकच्चाना, पुत्तो तस्सासि राहुलो ॥ २४ ॥

बिम्बसारो च सिद्धत्थकुमारो च सहायका ।
उभिन्नं पितरो चापि सहाया एव ते अहुं ॥ २५ ॥

बोधिसत्तो बिम्बिसारा पञ्चवस्साधिको अहु ।
एकूनतिंसो वयसा बोधिसत्तो भिनिक्खमि ॥ २६ ॥

[W.G.15] पदहित्वान छब्बस्सं बोधिं पत्वा कमेन च ।
पञ्चतिंसो व वयसा बिम्बिसारमुपागमि ॥ २७ ॥

बिम्बिसारो पण्णरसवस्सो थ पितरा सयं ।
अभिसित्तो महापुञ्ञो, पत्तरज्जस्स तस्स तु ॥ २८ ॥

पत्ते सोळसमे वस्से सत्था धम्मनेसयि ।
द्वापञ्ञासेव वस्सानि रज्जं कारेसि सो पन ॥ २९ ॥

रज्जे समा पन्नरस पुब्बे जिनसमागमा ।
सत्ततिंस समा तस्स धरमाने तथागते ॥ ३० ॥

(उन पाचों पुत्रों के नाम क्रमशः यो थे–) १. शुद्धोदन, २. धौतोदन, ३. शक्रोदन, ४. शुक्लोदन एवं ५. अमितोदन । अमिता एवं प्रतिमा– ये दो कन्याएँ थीं ॥ २० ॥

अमिता सुप्रबुद्ध (अञ्जन के पुत्र) शाक्य की रानी बनी । उस से देवदत्त पुत्र एवं भद्रकात्यायनी नाम की एक कन्या हुई ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व के माता-पिता–माया एवं प्रजापती (अञ्जन की पुत्रियाँ)ये दोनों शुद्धोदन की रानियाँ बनी । इन्हीं शुद्धोदन महाराज तथा रानी माया के पुत्र रूप में हमारे तथागत (सिद्धार्थ नाम से) अवतरित हुए ॥ २२ ॥

इस प्रकार आदि से अविच्छिन्न परम्परा वाले इस महासम्मत वंश में उत्पन्न हुए हमारे महामुनि सभी क्षत्रियों में श्रेष्ठ हुए ॥ २३ ॥

बोधिसत्त्व के पुत्र–उपर्युक्त भद्रकात्यायनी (सुप्रबुद्ध शाक्य की पुत्री) बोधिसत्त्व सिद्धार्थकुमार की राजमहिषी बनी । इन दोनों से उत्पन्न पुत्र **राहुल** नाम से जगत् में विख्यात हुआ ॥ २४ ॥

बोधिसत्त्व के सहायक–बोधिसत्त्व सिद्धार्थकुमार एवं राजगृह का राजा बिम्बिसार दोनों साथी (सहायक) थे । इसी तरह इन दोनों के पिता भी परस्पर सहायक (मित्र) थे ॥ २५ ॥

यों, बोधिसत्त्व बिम्बिसार से (जन्मना) आयु में पांच वर्ष बड़े थे । उनतीस (२९) वर्ष की आयु में सिद्धार्थकुमार, गृहस्थ धर्म त्याग कर, अभिनिष्क्रान्त (प्रव्रजित) हो गये ॥ २६ ॥

बोधि-प्राप्ति–तदनन्तर उन्होंने छह वर्ष तक निरन्तर, परन्तु क्रमशः, साधना करते हुए समग्र आस्रवों (चित्तविकारों) को क्षीण करते हुए बोधि (सम्यज्ञान) प्राप्त की, बोधि-प्राप्त्यनन्तर वे पैंतीस (३५) वर्ष की आयु में अपने साथी राजा बिम्बिसार के यहाँ (राजगृह) पहुँचे ॥ २७ ॥

बिम्बसार का परिचय–स्वयं इसके पिता ने पन्द्रह वर्ष की आयु में ही इस महान् पुण्यात्मा बिम्बिसार को राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया था ॥ २८ ॥

शास्ता (बुद्ध) ने राज्य-प्राप्ति के सोलहवें वर्ष में इस को धर्म-देशना की । उसने बावन (५२) वर्ष तक निरन्तर मगध देश पर निष्कण्टक राज्य किया ॥ २९ ॥

उसने शासनकाल को इस प्रकार भी वर्गीकृत किया जा सकता है–पन्द्रह (१५) वर्ष भगवान् के मिलन (समागम) से पूर्व तथा सैतीस (३७) वर्ष तथागत के बुद्धत्वकाल में । (१५+३७=५२) ॥ ३० ॥

बिम्बिसारसुतो जातसत्तु तं घातियामति ।
रज्जं द्वत्तिंस वस्सानि महामित्तद्दु कारयि ॥ ३१ ॥

अजातसत्तुनो वस्से अट्ठमे मुनि निब्बुतो ।
पच्छा सो कारयी रज्जं वस्सानि चतुवीसति ॥ ३२ ॥

तथागतो सकलगुणग्गतं गतो,
अनिच्चतावसमवसो उपागतो ।
इतीध यो भयजननीमनिच्चतं
अवेक्खते, स भवति दुक्खपरगो ॥ ति ॥ ३३ ॥

सुजनपसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

महासम्मतवंसो नाम

दुतियो परिच्छेदो

❄❄❄

बिम्बिसारपुत्र अजातशत्रु—इसके बाद उसके पुत्र महान् मित्रदोही (=महामित्तद्दु) एवं दुर्बुद्धि अजातशत्रु ने उस (अपने पिता) को मार कर बत्तीस (३२) वर्ष तक राज्य किया ॥ ३१ ॥

अजातशत्रु के शासनकाल के आठवें वर्ष में महामुनि (बुद्ध) का महापरिनिर्वाण हो गया । इसके बाद उस (अजातशत्रु) ने चौबीस (२४) वर्ष राज्य किया ॥ ३२ ॥

सभी गुणियों में श्रेष्ठताप्राप्त भगवान् तथागत विवश हो कर ही अनित्यतादर्शन को स्वीकार कर पाये थे । अतः साधना में अत्यन्त दुष्कर होने के कारण साधारण जन के लिये भयोत्पादिका इस अनित्यता को जो सम्यक्तया अधिगत कर लेता है वह इस सांसारिक बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

सज्जनों के हृदय में श्रद्धा एवं वैराग्य के उत्पादहेतु

रचित इस महावंस ग्रन्थ में

महासम्मतवंश वर्णन नामक

द्वितीय परिच्छेद समाप्त

❄❄❄

३.

ततियो परिच्छेदो

(पठमधम्मसङ्गीति नाम)

[W.G.16]

पञ्चनेत्तो जिनो पञ्चचत्तालीस समाससो ।
ठत्वा सब्बानि किच्चानि कत्वा लोकस्स सब्बथा ॥ १ ॥

कुसिनारायं यमकसालानमन्तरे वरे ।
वेसाखपुण्णिमायं सो दीपो लोकस्स निब्बुतो ॥ २ ॥

सङ्ख्यापथमतिक्कन्ता भिक्खू तत्थ समागता ।
खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा सुद्दा देवा तथेव च ॥ ३ ॥

सत्त सतसहस्सानि तेसु पामोक्खभिक्खवो ।
थेरो महाकस्सपो च सङ्घत्थेरो तदा अहु ॥ ४ ॥

सत्थु सरीरसारीरधातुकिच्चानि कारिय ।
इच्छन्तो सो महाथेरो सत्थुधम्मचिरट्टितिं ॥ ५ ॥

लोकनाथे दसबले सत्ताहपरिनिब्बुते ।
दुब्भासितं[1] सुभद्दस्स वुड्ढस्स वचनं सरं ॥ ६ ॥

सरं चीवरदानं च समत्ते ठपनं तथा ।
सद्धम्मट्ठपनत्थाय मुनिनानुग्गहं कतं ॥ ७ ॥

---

1. १. "अलं, आवुसो, मा सोचित्थ, मा परिदेवित्थ! सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन ! उपद्दुता च होम । .....(द्र.–दी० नि० म० प० रिनि० सु०) ।

३.

तृतीय परिच्छेद

(प्रथम धर्मसङ्गीति)

पञ्च नेत्र (१. मांसचक्षु, २. दिव्यचक्षु, ३. प्रज्ञाचक्षु, ४. बुद्धचक्षु एवं ५. समन्तचक्षु) युक्त भगवान् बुद्ध (बुद्धत्वप्राप्त्यनन्तर) पैंतालीस वर्ष तक इस लोक में विचरण कर लोकहित के लिये धर्म-देशना आदि समग्र कृत्य सम्पन्न करते रहे ॥ १ ॥

अन्त में, कुसीनारा (कुशीनगर) के दो उत्तम युगल सालवृक्षों के बीच वैशाख पूर्णिमा के दिन जगत्प्रकाशक वह अनुपम दीप परिनिर्वृत (बुझ) हो गया ॥ २ ॥

भगवान् के इस महापरिनिर्वाण के अवसर पर वहाँ (कुसीनारा) में इतने अधिक भिक्षु, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र एवं देवता एकत्र हुए थे कि उनकी गणना करना असम्भव हो गया था ॥ ३ ॥

वहाँ सात लाख तो मुख्य मुख्य भिक्षु ही एकत्र हो गये थे जिन में सङ्घप्रमुख स्थविर महाकाश्यप अग्रणी थे ॥ ४ ॥

शास्ता द्वारा उपदिष्ट धर्म की चिरस्थायिता की कामना करते हुए, उस महास्थविर ने शास्ता के पवित्र शरीर तथा शरीरधातुसम्बन्धी सभी सामयिक कार्य श्रद्धा एवं सम्मान के साथ निष्पन्न कराये ॥ ५ ॥

फिर उन्होंने दशबलसम्पन्न भगवान् लोकनाथ के परिनिर्वाण के एक सप्ताह बाद, वृद्ध सुभद्र भिक्षु द्वारा कथित दुर्वचनों[1] का स्मरण करते हुए ॥ ६ ॥

भगवान् द्वारा प्रदत्त चीवरदान, सङ्घ के बीच बैठ कर सबके सामने स्वयं (महाकाश्यप को) सभी भिक्षुओं से श्रेष्ठ बताते हुए ज्ञान एवं कर्म में अपने समान बताना, तथा सद्धर्मस्थापना हेतु भगवान् द्वारा विहित लोकानुग्रह का बार-बार स्मरण करते हुए ॥ ७ ॥

---

1. १. आयुष्मानो! अब कोई शोक न करो, विलाप न करो; क्योंकि अब तो उस महाश्रमण (के बन्धन) से मुक्त हो चुके हैं। उसने हमको दिन-रात 'यह करो, यह न करो' के नाना विध आदेश दे देकर त्रस्त कर रखा था..."
(–दी. नि., म. प. नि. सु.।)

कातुं सद्धम्मसङ्गीतिं सम्बद्धानुमतिं सतिं ।
नवङ्गसासनधरे सब्बङ्गसमुपागते ॥ ८ ॥

[W.G.17]
भिक्खू पञ्चसतानेव महाखीणासवे वरे ।
समन्नि एकेननूने तु आनन्दत्थेरकारणा ॥ ९ ॥

पुन आनन्दथरो पि भिक्खूहि अभियाचितो ।
सम्मन्नि कातुं सङ्गीतिं, सा न सक्का हि तं विना ॥ १० ॥

साधुकीलनसत्ताहं सत्ताहं धातुपूजनं ।
इच्चढमासं खेपेत्वा सब्बलोकानुकम्पका ॥ ११ ॥

"वस्सं वसन्ता राजगहे करिस्साम धम्मसङ्गहं ।
नाञ्ञेहि तत्थ वत्थब्बं" इति कत्वान निच्छयं ॥ १२ ॥

सोकातुरं तत्थ तत्थ अस्सासेन्ता महाजनं ।
जम्बुदीपम्हि ते थेरा विचरित्वान चारिकं ॥ १३ ॥

आसाव्हसुक्कपक्खम्हि सुक्कपक्खट्ठितत्थि का ।
उपागमुं राजगहं सम्पन्नचतुपच्चयं ॥ १४ ॥

तत्थेव वस्सूपगता ते महाकस्सपादयो ।
थेरा थिरगुणूपेता सम्बुद्धमतकोविदा ॥ १५ ॥

वस्सानं पठमं मासं सब्बसेनासनेसु पि ।
कारेसुं पटिसङ्खारं वत्वानाजातसत्तुनो ॥ १६ ॥

विहारपटिसङ्खारे निट्ठिते आहु भूपतिं ।
"इदानि धम्मसङ्गीतिं करिस्साम मयं" इति ॥ १७ ॥

"कत्तब्बं किं ?" ति पुट्ठस्स "निसज्जट्ठानं" आहु ते ।
राजा "कत्था ? ति पुच्छत्वा वुत्तट्ठानम्हि तेहि सो ॥ १८ ॥

भगवान् द्वारा अनुमत सङ्गीति (सद्धर्म का सर्वसम्मत पाठ) करने के लिये नौ (९) अङ्गों (सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म, एवं वेदल्ल) वाले बुद्धोपदेश के धारक सभी अङ्गों से युक्त ॥ ८ ॥

आनन्द स्थविर के कारण सङ्ख्या में एक कम पाँच सौ क्षीणास्रव भिक्षु चुने ॥ ९ ॥

बाद में, आनन्द स्थविर ने भी, भिक्षुओं द्वारा बार-बार समझाये जाने पर, उस सङ्गीति में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया; क्योंकि उक्त सङ्गीति उनके बिना पूर्ण हो ही नहीं सकती थी ॥ १० ॥

उन सभी लोकानुकम्पक भिक्षुओं ने एक सप्ताह उत्सव (साधुक्रीडन) एवं एक सप्ताह भागवान् की शरीर-धातुओं के पूजन में—यों आधा पक्ष (पन्द्रह दिन) बिता कर ॥ ११ ॥

"इस वर्ष हम सब राजगृह में वर्षावास करते हुए धर्मसंग्रह (धर्मसङ्गायन) करेंगे । उस समय धर्मसंग्राहक भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य कोई भिक्षु वहाँ (राजगृह में धर्म-संग्रहकस्थल पर) नहीं रहेगा"— यह निश्चय कर ॥ १२ ॥

वे स्थविर जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में चारिका करते हुए वहाँ-वहाँ भगवान् के परिनिर्वाण (के कारण तज्जन्य वियोग) से दुःखी एवं शोकाकुल जनता को आश्वस्त करते हुए ॥ १३ ॥

आषाढ़मास शुक्ल पक्ष में, सद्धर्म की शुक्लता (निर्दोषता) की कामना करते हुए एवं चारों प्रत्ययों (चीवर, पिण्डपात, शयनासन एवं भेषज) से सम्पन्न रहते हुए राजगृह आ पहुँचे ॥ १४ ॥

सम्यक्सम्बुद्ध के मत के पूर्ण ज्ञाता, सभी भिक्षुगुणों से सम्पन्न वे महाकाश्यप आदि स्थविर भिक्षु वर्षावासहेतु वहीं राजगृह में ठहर गये ॥ १५ ॥

विहार का जीर्णोद्धार— वर्षावास के प्रथम सप्ताह में उन स्थविर भिक्षुओं ने अजातशत्रु से कहकर भिक्षुओं के वासयोग्य सभी स्थानों का जीर्णोद्धार (प्रतिसंस्कार) कराया ॥ १६ ॥

विहारों का जीर्णोद्धार हो जाने पर उन्होंने भूपति (राजा अजातशत्रु) को सूचित किया—"अब हम धर्मसङ्गायन करेंगे" ॥ १७ ॥

राजा ने पूछा— "मेरा उस में क्या कर्तव्य है?" स्थविरों ने कहा—"इस धर्म-सङ्गायन के लिये हमें बैठने हेतु उचित स्थान चाहिये ।" राजा ने पूछा— "यह स्थान कहाँ उचित होगा ?" स्थविरों द्वारा उचित स्थान बता दिये जाने पर ॥ १८ ॥

[W.G.18] सीघं वेभारसेलस्स पस्से कारेसि मण्डपं ।
सत्तपण्णिगुहाद्वारे रम्मं देवसभोपमं ॥ १९ ॥

सब्बथा मण्डयित्वा तं अत्थरोपेसि तत्थ सो ।
भिक्खूनं गणनायेव अनग्घत्थरणानि च ॥ २० ॥

निस्साय दक्खिणं भागं उत्तरामुखमुत्तमं ।
थेरासनं सुपञ्ञत्तं आसि तत्थ महारहं ॥ २१ ॥

तस्मिं मण्डपमज्झस्मिं पुरत्थामुखमुत्तमं ।
धम्मासनं सुपञ्ञत्तं अहोसि सुगतारहं ॥ २२ ॥

राजारोचेसि थेरानं "कम्मं मे निट्ठितं" इति ।
ते थेरा थेरमानन्दं आनन्दकरमब्रवुं ॥ २३ ॥

"स्वे सन्निपातो, आनन्द, सेखेन गमनं तहिं ।
न युत्तं ते सदत्थे त्वं अप्पमत्तो ततो भव" ॥ २४ ॥

इच्चेवं चोदितो थेरो कत्वान विरियं समं ।
इरियापथतो मुत्तं अरहत्तं अपापुणि ॥ २५ ॥

वस्सानं दुतिये मासे दुतिये दिवसे पन ।
रुचिरे मण्डपे तस्मिं थेरा सन्निपतिंसु ते ॥ २६ ॥

ठपेत्वानन्दथेरस्स अनुच्छविकमासनं ।
आसनेसु निसीदिंसु अरहन्तो यथारहं ॥ २७ ॥

थेरो रहत्तपत्तिं सो ञापेतुं तेहि नागमा ।
"कुहिं आनन्दथेरो?" ति वुच्चमाने तु केहिचि ॥ २८ ॥

(राजा ने राजगृहस्थित) वैभार पर्वत के पार्श्व में स्थित सप्तपर्णी गुफा के द्वार के सम्मुख बहुमूल्य देवसभासदृश एक मण्डप बनवा ॥ १९ ॥

सभी तरह से अलंकृत करा, कर उसने उसमें भिक्षुओं की गणना (सङ्ख्या) के अनुसार बहुमूल्य आसन बिछवा दिये ॥ २० ॥

इस मण्डप के दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख एक अतिमनोहर आसन, जिसे 'स्थविरासन' की संज्ञा दी गयी, लगवा दिया ॥ २१ ॥

उस मण्डप के मध्य भाग में पूर्वाभिसुख भगवान् के विराजने योग्य सुप्रज्ञप्त आसन, जिसे 'धर्मासन' कहा गया, लगवा दिया ॥ २२ ॥

यों, ये सब कार्य पूर्ण कर राजा ने स्थविरों से निवदन किया–"भन्ते! मुझे आदिष्ट सभी कार्य मैने निष्पन्न कर दिये हैं ।" तब उन स्थविरों ने सभी के साथ सुखद व्यवहार करने वाले स्थविर आनन्द को एक बार फिर समझाया– ॥ २३ ॥

"आयुष्मन् आनन्द! कल से धर्मसङ्गायन का सम्मेलन (सन्निपात) प्रारम्भ होने वाला है । उन अर्हतों के बीच तुम्हारा वहाँ अनर्हत् के रूप में बैठना शोभानुरूप नहीं होगा । अतः तुम अभी भी अर्हत्त्वप्राप्तिहेतु सावधानता से उद्योग करो' ॥ २४ ॥

यों, स्थविरों द्वारा गम्भीरतया प्रेरित स्थविर आनन्द ने वीर्य की समता (न कम न अधिक) स्थापित कर एवं ईर्यापथ (शारीरिक चेष्टाओं) से सम्पन्न हो कर तत्काल अर्हत्त्व अधिगत कर लिया ॥ २५ ॥

वर्षावास के दूसरे मास (भाद्रपद) के दूसरे (द्वितीया के) दिन उक्त शोभासम्पन्न मण्डप में सभी स्थविर भिक्षु यथासमय एकत्र हुए ॥ २६ ॥

सभी स्थविर, आनन्द स्थविर के आसन को छोड़ कर, अपना अपना अनुकूल आसन ग्रहण कर चुके थे, परन्तु स्थविर आनन्द का आसन रिक्त (खाली) छोड़ दिया गया ॥ २७ ॥

उधर स्थविर आनन्द उन धर्मसंग्राहक अन्य स्थविरों को अपनी अर्हत्त्वप्राप्ति से चकित करने हेतु अन्य स्थविरों के साथ मण्डप में नहीं गये, अपितु स्थविरों द्वारा यह पूछे जाने पर कि "स्थविर आनन्द कहां है ?" ॥ २८ ॥

निम्मुज्जित्वा पथविया गन्त्वा जोतिपथेन वा ।
निसीदि थेरो आनन्दो अत्तनो ठपितासने ॥ २९ ॥

उपालिथेरं विनये सेसधम्मे असेसके ।
आनन्दत्थेरमकरुं सब्बे थेरा धुरन्धरे ॥ ३० ॥

[W.G.19] महाथेरो सकत्तानं विनयं पुच्छितुं सयं ।
सम्मन्नुपालिथेरो च विस्सजेतुं तमेव तु ॥ ३१ ॥

थेरासने निसीदित्वा विनयं तं अपुच्छि सो ।
धम्मासने निसीदित्वा विस्सज्जेसि तमेव सो ॥ ३२ ॥

विनयञ्ञूनमग्गेन विस्सज्जितकमेन ते ।
सब्बे सज्झायमकरुं विनयं नयकोविदा ॥ ३३ ॥

अग्गं बहुसुतादीनं कोसारक्खं महेसिनो ।
सम्मन्नित्वान अत्तानं थेरो धम्ममपुच्छि सो ॥ ३४ ॥

तथा सम्मन्नियत्तानं धम्मासनगतो सयं ।
विस्सज्जेसि तमानन्दथेरो धम्ममसेसतो ॥ ३५ ॥

वेदेहमुनिना तेन विस्सज्जितकमेन ते ।
सब्बे सज्झायमकरुं धम्मं धम्मत्थकोविदा ॥ ३६ ॥

एवं सत्तहि मासेहि धम्मसङ्गीति निट्ठिता ।
सब्बलोकहितथाय सब्बलोकहितेहि सा ॥ ३७ ॥

"महाकस्सपथेरेन इदं सुगतसासनं ।
पञ्च वस्ससहस्सानि समत्थं वत्तने कतं ॥ ३८ ॥

तभी स्थविर आनन्द पृथ्वी में समा कर वहाँ से ज्योतिःपुञ्ज रूप में निकल कर अपने लिये निश्चित स्थान पर आ बैठे ।। २९ ।।

तब उन सभी स्थविरों ने उपालि स्थविर को विनय के लिये तथा आनन्द स्थविर को प्रधान (धुरन्धर) पद पर स्थापित किया ।। ३० ।।

स्थविर महाकाश्यप ने विनय पर प्रश्न पूछने हेतु अपन लिये सङ्घ से अनुमति माँगी । तथा उस का उत्तर देने हेतु उपालिस्थविर के नाम की सङ्घ से स्वीकृति ली ।। ३१ ।।

तब स्थविरासन पर बैठकर महास्थविर महाकाश्यप ने उपालि स्थविर से विनयविषयक पूछे, तथा उपालि स्थविर ने उन प्रश्नों का, 'धर्मासन' पर बैठकर, उत्तर दिया ।। ३२ ।।

यों, विनय जानने वालों में श्रेष्ठ उपालि स्थविर द्वारा बतायी विधि से उन सब स्थविरों ने विनय का सङ्गायन (धर्मपाठ) किया ।। ३३ ।।

तदनन्तर, महाकाश्यप स्थविर ने, सङ्घ की अनुमति ले कर बहुश्रुतों में अग्रगण्य, एवं महामुनि (तथागत) के धर्मकोषाध्यक्ष आनन्द स्थविर से धर्म (सुत्तपिटक एवं अभिधर्मपिटक) विषयमें प्रश्न पूछे ।। ३४ ।।

तथा सङ्घ की अनुमति से धर्मासन पर विराजमान होकर आनन्द स्थविर ने महास्थविर द्वारा पूछे गये धर्मविषयक प्रश्नों का विस्तार के साथ उत्तर दिया ।। ३५ ।।

यों, विदेहमुनि (स्थविर आनन्द) द्वारा बोधित विधि-क्रम से उन धर्मार्थकोविद धर्मसंग्राहक स्थविरों ने समग्र धर्म (सुत्त एवं अभिधर्म) का पाठ (स्वाध्याय) किया ।। ३६ ।।

इस तरह यह धर्मसङ्गीति उन सर्वलोकहिताकांक्षी स्थविरों ने सभी प्राणियों के हित में सात मास में पूर्ण की (अर्थात् बुद्धानुमत त्रिपिटक का समग्र स्वाध्याय किया) ।। ३७ ।।

"इस समयानुकूल शुभ कर्म से महाकाश्यप स्थविर ने इस सौगत शासन (बुद्ध धर्म) को आगामी पाँच हजार वर्ष तक प्रवर्तित (बने रहने) होने योग्य बना दिया" ।। ३८ ।।

इति सञ्ञातपामोज्जा सन्धारकजलन्तिका ।
सङ्गीतिपरियोसाने छद्धा कम्पि महामही ॥ ३९ ॥

अच्छरियानि चाहेसुं लोके नेकानि नेकदा ।
थेरहेव कतत्ता च थेरियायं परम्परा ॥ ४० ॥

पठमं सङ्गहं कत्वा, कत्वा लोकहितं बहुं ।
ते यावतायुकं ठत्वा थेरा सब्बे पि निब्बुता ॥ ४१ ॥

थेरा पि ते मतिपदीपहतन्धकारा
लोकन्धकारहननम्हि महापदीपा ॥
[W.G.20] निब्बापिता मरणघोरमहानिलेन
तेनापि जीवितमदं मतिमा जहेय्या[1] ॥ ति ॥ ४२ ॥

सुजनपसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

पठमधम्मसङ्गीति नाम

ततियो परिच्छेदो

***

1. वसन्ततिलका छन्द ।

यों सोच कर सङ्गीति-समाप्ति के बाद, प्रमुदित होती हुई, लोकधारिका यह महापृथ्वी जलपर्यन्त छह बार काँप उठी ॥ ३९ ॥

लोक में उस समय इसी प्रकार के अन्य अनेक आश्चर्यमय कृत्य होने लगे । अथ च, यह सङ्गीति स्थविरों द्वारा ही सम्पन्न हुई थी, अतः यह प्रथम सङ्गीतिपरम्परा "स्थविर परम्परा" नाम से विख्यात हुई ॥ ४० ॥

वे सभी स्थविर लोकहित में इस प्रकार का यह महत्त्वपूर्ण प्रथम धर्म-संग्रह कर, जीवनपर्यन्त लोकहितार्थ अन्य भी बहुत से कार्य करते हुए, आयु समाप्त होने पर अन्त में परिनिर्वृत हो गये ॥ ४१ ॥

कहने का तात्पर्य यह है–जगत् के अज्ञानान्धकार को विनष्ट करने में समर्थ अतएव महाप्रदीपभूत वे स्थविर मृत्यु के प्रलयङ्कर झोंके से उसी तरह परिनिर्वृत हो गये, जैसे लोक में व्याप्त अन्धकार के निवारक बड़े बड़ विशाल दीपक भी, वायु के प्रबल झोंके से समय आने पर, बुझ जाया करते हैं । इस उदाहरण (दृष्टान्त) को देखकर ही बुद्धिमान् लोग जीवित रहने का मद त्याग देते तो उनके लिये यह अत्यधिक लाभप्रद एवं सुखप्रद होता! ॥ ४२ ॥

सज्जनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह

वृद्धि हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

प्रथम धर्मसङ्गीति वर्णन नामक

तृतीय परिच्छेद समाप्त

❄❄❄

४.

चतुत्थो परिच्छेदो

(दुतियसङ्गीति नाम)

[W.G. 21] अजातसत्तुपुत्तो तं घातेत्वा दयभद्दको ।
रज्जं सोळस वस्सानि कारेसि मित्तदुब्भिको ॥ १ ॥

उदयभद्दपुत्तो तं घातेत्वा अनुरुद्धको ।
अनुरुद्धस्स पुत्तो तं घातेत्वा मुण्डनामको ॥ २ ॥

मित्तदुनो दुम्मतिनो ते पि रज्जं अकारयुं ।
तेसं उभिन्नं रज्जेसु अट्ठ वस्सानतिक्कमुं ॥ ३ ॥

मुण्डस्स पुत्तो पितरं घातेत्वा नागदासको ।
चतुवीसति वस्सानि रज्जं कारेसि पापको ॥ ४ ॥

"पितुघातकवंसोयं" इति कुद्धाथ नागरा ।
नागदासकराजानं अपनेत्वा समागता ॥ ५ ॥

सुसुनागो ति पञ्ञातं अमच्चं साधुसम्मतं ।
रज्जे समभिसिञ्चिंसु सब्बेसं हितमानसा ॥ ६ ॥

सो अट्ठारस वस्सानि राजा रज्जमकारयि ।
कालासोको तस्स पुत्तो अट्ठवीसति कारयि ॥ ७ ॥

अतीते दसमे वस्से कालासोकस्स राजिनो ।
सम्बुद्धपरिनिब्बाना एवं वस्ससतं अहु ॥ ८ ॥

चतुत्थो परिच्छेदो

(दुतियसङ्गीति नाम)

पितृघातक राजकुल– तदनन्तर, मित्रद्रोही अजातशत्रु के पुत्र उदयभद्र ने अपने पिता (अजातशत्रु) को मार कर सोलह (१६) वर्ष तक राज्य किया ॥ १ ॥

इसी तरह, उदयभद्र के पुत्र अनुरुद्ध ने अपने पिता (उदयभद्र) को मार कर तथा अनुरुद्ध-पुत्र मुण्ड ने अपने पिता (अनुरुद्ध) को मार कर ॥ २ ॥

उन दोनों मित्रद्रोहियों, दुर्मतियों ने भी आठ-आठ वर्ष तक मगध देश पर राज्य किया ॥ ३ ॥

बाद में मुण्ड-पुत्र पापी नागदास ने अपने पिता (मुण्डक) की हत्याकर वहाँ चौबीस वर्ष तक राज्य किया ॥ ४ ॥

तब वहाँ की जनता ने सोचा कि "यह वंश तो पितृघातक है"। यह सोचते हुए क्रुद्ध हो कर सब ने मिल कर, नागदासक को राजगद्दी से हटा कर ॥ ५ ॥

सज्जनों द्वारा प्रशंसित 'शिशुनाग' नामक अमात्य को, लोककल्याण की दृष्टि से, मगध की राज-गद्दी पर अभिषिक्त किया ॥ ६ ॥

राजा कालाशोक–उस (शिशुनाग) राजा ने अट्ठारह (१८) वर्ष तक राज्य-शासन किया। उसके पुत्र कालाशोक ने अट्ठाईस (२८) वर्ष तक राज्य किया ॥ ७ ॥

उस कालाशोक राजा के शासनकाल में, दश वर्ष बीत जाने पर, भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण हुए एक सौ (१००) वर्ष बीत चुके थे ॥ ८ ॥

तदा वेसालिया भिक्खू अनेके वज्जिपुत्तका ।
सिङ्गलोणं द्वङ्गुलं च तथा गामन्तरं पि च ॥ ९ ॥

[W.G. 22] आवासानुमताचिण्णममथितं जलोगि च ।
निसीदनं अदसकं जातरूपादिकं इति ॥ १० ॥

दस वत्थूनि दीपेसुं "कप्पन्ती" ति अलज्जिनो ।
तं सुत्वान यसत्थेरो चरं वज्जीसु चारिकं ॥ ११ ॥

छळभिञ्ञाबलप्पत्तो काकण्डकदिजत्रजो ।
तं समेतुं सउस्साहो तत्थागामि महावनं ॥ १२ ॥

ठपेत्वा पोसथग्गे ते कंसपातिं सहोदकं ।
"कहापणादि सङ्घस्स देथे" ताहु उपासके ॥ १३ ॥

"न कप्पतेवं, मा देथ" इति थेरो स वारयि ।
पटिसारणियं कम्मं यसत्थेरस्स ते करुं ॥ १४ ॥

सङ्घ में सामग्रीभेद (फूट)–उस समय वैशालीवासी अनेक वज्जिपुत्रक भिक्षुओं ने इन (अधोलिखित) दश बातों का समर्थन प्रारम्भ कर दिया–

१. **सिङ्गिलोणकप्प** (भिक्षा के समय सींग की खोल में नमक ले जाना),

२. **द्वङ्गुलकप्प** (मध्याह्न में निश्चित समय के बाद सूर्य के दो अङ्गुल अधिक उतर जाने पर भी भोजन करना),

३. **गामन्तरकप्प** (मध्याह्न में भोजन के बाद भी दूसरे ग्राम में जाना और वहाँ निमन्त्रित होकर दुबारा भोजन करना) ॥ ९ ॥

४. **आवासकप्प** (एक ही सीमा वाले स्थान के वासी भिक्षुओं द्वारा अपना अपना उपोसथागार पृथक् बना लेना),

५. **अनुमतिकप्प** (निश्चित समय के बाद आने वाले भिक्षुओं से बाद में अनुमति लेने की प्रत्याशा में भगवान् द्वारा अननुमत **सङ्ख्या** के भिक्षुओं द्वारा भी उपोसथ करना),

६. **आचिण्णकप्प** (विनय=बुद्धवचन की अपेक्षा गुरुपरम्परा के आचार को अधिक प्रमाण मानना),

७. **अमथितकप्प** (भोजन काल के बाद भी, दूध एवं दही की मध्यावस्था वाले दूध को, जो मथा हुआ न हो, पी सकना),

८. **जलोगिकप्प** (मद्य रूप में अपरिणत सुरा (ताड़ी) का पी सकना),

९ **अदसकनिसीदनकप्प** (विना किनारे का आसन रख सकना),

१० **जातरूप-रजतकप्प** (सोने-चान्दी का ग्रहण कर सकना) ॥ १० ॥

यश स्थविर का शुभ प्रयास–वे निर्लज्ज (बुद्धवचन का उल्लङ्घन करने में भी सङ्कोच न मानने वाले) वज्जिपुत्रक भिक्षु इन (उपर्युक्त) दश बातों के औचित्य का स्पष्टतः समर्थन करने लगे। यह सुन कर उस समय **वज्जिप्रदेश** में चारिका करने वाले, काकण्डकद्विजपुत्र, छह अभिज्ञाओं[1] के वल से समन्वित यश स्थविर इस विवाद के प्रशमन हेतु महावन की तरफ सोत्साह चल पड़े ॥ ११-१२ ॥

मार्ग में उन्हें वे (वज्जिपुत्र) भिक्षु उपोसथ के दिन जलभरी काँसे की थाली सामने रखकर उपासकों (गृहस्थों) से–"सङ्घ के लिये कार्षापण आदि (सिक्के) दान दो" –ऐसा कहते हुए दिखायी पड़े ॥ १३ ॥

(यह देखकर) यश स्थविर ने उन उपासकों से कहा–"यह कर्म धर्मानुकूल नहीं हैं, अतः यह अनुचित दान न दो।" ऐसा (निषेध) सुन कर उन भिक्षुओं ने यश स्थविर का प्रतिसारणीय कर्म (क्षमायाचना-दण्ड) किया ॥ १४ ॥

---

1. १. बुद्ध-वचन के अनुसार छह अभिज्ञाएँ ये हैं– १. ऋद्धिविध, २. दिव्यश्रोत्र, ३. परचित्तविजानन, ४. पूर्वनिवास (जन्म) की अनुस्मृति, ५. दिव्यचक्षु तथा ६. आश्रवक्षयज्ञान।

याचित्वा अनुदूतं सो सह तेन पुरं गतो ।
अत्तनो धम्मवादित्तं सञ्ञापेत्वा व नागरे ॥ १५ ॥

अनुदूतवचो सुत्वा तमुक्खिपितुमागता ।
परिक्खिपिय अट्ठंसु घरं थेरस्स भिक्खवो ॥ १६ ॥

थेरो उग्गम्म नभसा गन्त्वा कोसम्बियं ठितो ।
पावेय्यकावन्तिकानं भिक्खूनं सन्तिकं लहुं ॥ १७ ॥

पेसेसि दूते तु सयं गन्त्वाहोगङ्गपब्बतं ।
आह सम्भूतथेरस्स तं सब्बं साणवासिनो ॥ १८ ॥

पावेय्यका सट्ठि थेरा असीतानन्तिका पि च ।
महाखीणासवा सब्बे अहोगङ्गम्हि ओतरुं ॥ १९ ॥

भिक्खवो सन्निपतिता सब्बे तत्थ ततो ततो ।
आसुं नवुतिसहस्सानि मन्तेत्वा अखिला पि ते ॥ २० ॥

[W.G. 23] सोरेय्यरेवतत्थेरं बहुस्सुतमनासवं ।
तङ्कालपमुखं ञत्वा पस्सितुं निक्खमिंसु तं ॥ २१ ॥

थेरो तं मन्तणं सुत्वा वेसालिं गन्तुमेव सो ।
इच्छन्तो फासुगमनं ततो निक्खम्हि तङ्खणं ॥ २२ ॥

पातो पातो व निक्खन्तट्ठानं तेन महत्तना ।
सायं सायं उपेन्ता नं सहजातियमद्दसुं ॥ २३ ॥

यश स्थविर ने उन भिक्षुओं से साथ चलने के लिये एक अनुदूत (साक्षी) सहायक माँगा (जो उनकी बात को पुनः लौट कर उन्हें बता सके) वे उस सहायक के साथ नगर में गये । वहाँ जाकर उन्होंने प्रामाणिक नागरिकों को अपना धर्मपक्ष सुनाया ॥ १५ ॥

सहायक ने पुनः लौटकर भिक्षुओं को नागरिकों से कहा गया यश स्थविर का धर्मपक्ष सुनाया । तब उन भिक्षुओं ने यश स्थविर का उत्क्षेपणीय कर्म (सङ्घ से निष्कासन का दण्ड) करने का मन बनाया और वे यश स्थविर का वासस्थान घेरकर बैठ गये ॥ १६ ॥

स्थविर ने, अपने को सङ्कट में देखकर, आकाश मार्ग से कोशाम्बी (वत्स देश की राजधानी) जा कर वहाँ से पश्चिम (पावा) वासी तथा अवन्तिवासी भिक्षुओं के पास शीघ्र ही ॥ १७ ॥

(इस घटना की सूचना देने के लिये) दूत भेजे । तथा स्वयं अहोगङ्ग पर्वत (हरिद्वार के समीप ?)पर जा कर साणवासी सम्भूत स्थविर के पास गये तथा समग्र घटना सुनायी ॥ १८ ॥

(दूतों से समाचार सुनकर) साठ (६०) **पश्चिमवासी** एवं अस्सी (८०) अवन्तिवासी क्षीणास्रव (भिक्षु) भी अहोगङ्ग पर्वत पर आ पहुँचे ॥ १९ ॥

इस तरह क्रमशः जहाँ तहाँ से आकर अन्य भिक्षु भी वहाँ एकत्र हो गये । अन्त में इनकी सङ्ख्या नब्बे हजार (९०,०००) तक पहुँच गयी । उन सबने मिलकर विचार किया ॥ २० ॥

रेवत स्थविर के पास–अन्त में वे सभी भिक्षु बहुश्रुत एवं क्षीणास्रव सौरेय रेवत स्थविर से परामर्श करने हेतु उनके वासस्थान की तरफ चले; क्योंकि उस समय वे ही भिक्षुसङ्घ के प्रमुख थे ॥ २१ ॥

रेवत स्थविर ने भिक्षुओं की उस गति-विधि को अपनी दिव्य शक्ति से जान कर, सुखपूर्वक पहुँचने के विचार से, वे उसी समय वैशाली की तरफ चल दिये ॥ २२ ॥

वे सब स्थविर भी, रेवत स्थविर का पीछा करते हुए, जहाँ से रेवत स्थविर प्रातः ही चल देते थे वहाँ वे अन्य स्थविर सायङ्काल तक पहुँच पाते थे, अतः अन्त में, वे उन से सहजाति (प्रयाग के पास) में भेंट कर पाये ॥ २३ ॥

तत्थ सम्भूतथेरेन यसत्थेरो नियोजितो ।
सद्धम्म-सवणन्ते तं रेवतत्थेरमुत्तमं ॥ २४ ॥

उपेच्च दस वत्थूनि पुच्छि, थेरो पटिक्खिपि ।
सुत्वाधिकरणं तं च "निसेधेमा" ति अब्रवि ॥ २५ ॥

पापा पि पक्खं पेक्खन्ता रेवतत्थेरमद्दसुं ।
सामणकं परिक्खारं पटियादिय ते बहुं ॥ २६ ॥

सीधं नावाय गन्त्वान सहजातिसमीपगा ।
करोन्ता भत्तविस्सग्गं भत्तकाले उपट्ठिते ॥ २७ ॥

सहजातिं आवसन्तो साळ्हथेरो विचिन्तिय ।
"पावेय्यका धम्मवादी" इति पस्सि अनासवो ॥ २८ ॥

उपेच्च तं महाब्रह्मा "धम्मे तिट्ठा" ति अब्रवि ।
निच्चं धम्मे ठितत्तं सो अत्तनो तस्स अब्रवि ॥ २९ ॥

ते परिक्खारमादाय रेवतत्थेरमद्दसुं ।
थेरो न गण्हि तं पक्खं तम्पक्खग्गाही पणामयि ॥ ३० ॥

[W.G. 24] वेसालिं ते ततो गन्त्वा, ततो पुप्फपुरं गता ।
वदन्ति कालासोकस्स नरिन्दस्स अलज्जिनो ॥ ३१ ॥

"सत्थुस्स नो गन्धकुटिं गोपायन्ता मयं तहिं ।
महावनविहारम्हि वसाम वज्जिभूमियं ॥ ३२ ॥

"गण्हिस्साम विहारं' ति गामवासिकभिक्खवो ।
आगच्छन्ति, महाराज, पटिसेधय ते" इति ॥ ३३ ॥

वहाँ सम्भूत स्थविर ने यश स्थविर को नियुक्त किया कि वे सङ्घ की तरफ से वज्जिपुत्रकों द्वारा उठाये विवाद के विषय में रेवतस्थविर से निर्णय पूछें। यश स्थविर ने सद्धर्म-श्रवणानन्तर उन महास्थविर से उक्त दश बातों के विषय मे प्रश्न किये। तथा इस विषय में उनका निर्णय जानना चाहा। स्थविर ने सब बातें सुन कर उनकी बातों का विरोध (प्रतिक्षेप) किया तथा स्पष्ट कह दिया कि ये सब बातें धर्मविरुद्ध हैं, अतः भिक्षु के लिये निषिद्ध हैं ॥ २४-२५ ॥

वज्जिपुत्तकों का भी रेवत स्थविर के पास जाना– उधर वे पापी सङ्घभेदक वज्जिपुत्रक भिक्षु भी, इस विवाद में अपना पक्ष सुनाने के लिये, भिक्षुओं के अनुकूल बहुत सा परिष्कार उपहारस्वरूप लेकर रेवत स्थविर के दर्शन हेतु चल पड़े ॥ २६ ॥

नाव द्वारा सहजाति के पास पहुँचे। भोजन का समय उपस्थित होने से पहले भोजन कर फिर यथास्थान (सहजाति) पहुँचे ॥ २७ ॥

उधर सहजाति-निवासी क्षीणास्रव साळह स्थविर ने भी इस समग्र प्रकरण पर चिन्तन करते हुए निश्चय किया कि पावेयक भिक्षुओं का मत ही धर्मसम्मत है ॥ २८ ॥

महाब्रह्मा ने भी उसके पास पहुँच कर उसे धर्म पर आरूढ रहने का परामर्श दिया। उत्तर में स्थविर ने कहा-"हम तो सदा ही धर्म पर स्थित रहते हैं" ॥ २९ ॥

वे वज्जिपुत्रक भिक्षु भी भिक्षूपयोगी परिष्कार लेकर रेवत स्थविर के दर्शन हेतु पहुँचे। परन्तु स्थविर ने उन का पक्ष नहीं माना। अपितु उस पक्ष के समर्थकों को तत्काल अपने यहाँ से दूर हटा दिया ॥ ३० ॥

वज्जिपुत्तकों का पाटलिपुत्रगमन–तब वे वज्जिपुत्रक भिक्षु पुनः वैशाली लौटकर वहाँ से पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) पहुँचे। वहाँ उन पापी निर्लज्ज भिक्षुओं ने महाराज कालाशोक से उन धर्मवादी भिक्षुओं की निन्दा कर मिथ्या सूचना देते हुए कहा– ॥ ३१ ॥

"राजन्! हम लोग वज्जिप्रदेश के (वैशालीस्थित) महावनाराम में शास्ता की गन्धकुटी (साधना-स्थल) की रक्षा कर रहे हैं। वहाँ कुछ ग्रामवासी भिक्षु आ कर उस गन्धकुटी को हम से छीनना चाहते हैं। कृपया उन्हें रोकिये" ॥ ३२-३३ ॥

इस तरह राजा को दुर्गृहीत (बहका) कर वे पुनः वैशाली लौट आये ॥ ३३॥

राजानं दुग्गहीतं ते कत्वा वेसालिमागमुं ।
रेवतत्थेरमूलम्हि सहजातियमेत्थ तु ॥ ३४ ॥

भिक्खू सतसहस्सानि एकादस समागता ।
नवुति च सहस्सानि आहु तंवत्थुसन्तिया ॥ ३५ ॥

मूलट्ठेहि विना वत्थुसमनं नेव रोचयि ।
थेरो, सब्बे पि भिक्खू ते वेसालिमगमुं ततो ॥ ३६ ॥

दुग्गहीतो च सो राजा तत्थामच्चे अपेसयि ।
मूळहा देवानुभावेन अञ्ञत्थ अगमिंसु ते ॥ ३७ ॥

पेसेत्वा ते महीपालो तं रत्तिं सुपिनेन सो ।
अपस्सि सकमत्तानं पक्खित्तं लोहकुम्भियं ॥ ३८ ॥

अतिभीतो अहू राजा तं अस्सासेतुमागमा ।
भगिनी नन्दथेरी तु आकासेन अनासवा ॥ ३९ ॥

"भारियं ते कतं कम्मं धम्मिकेय्ये खमापय ।
पक्खो तेसं भवित्वा त्वं कुरु सासनपग्गहं ॥ ४० ॥

एवं कते सोत्थि तुय्हं हेस्सती" ति अपक्कमि ।
पभाते येव वेसालिं गन्तुं निक्खमि भूपति ॥ ४१ ॥

गन्त्वा महावनं भिक्खुसङ्घं सो सन्निपातिय ।
सुत्वा उभिन्नं वादं च धम्मपक्खं च रोचिय ॥ ४२ ॥

[W.G. 25] खमापेत्वा धम्मिके सो भिक्खू सब्बे महीपति ।
अत्तनो धम्मपक्खत्तं वत्वा "तुम्हे यथारुचि ॥ ४३ ॥

सम्पग्गहं सासनस्स करोथा" ति च भासिय ।
दत्वा च तेसं आरक्खं अगमासि सकं पुरं ॥ ४४ ॥

विवाद-शान्ति हेतु रेवत स्थविर से निवेदन– उधर सहजाति में रेवत स्थविर के पास उक्त विवाद के प्रशमन हेतु पहुँचे ग्यारह लाख नब्बे हजार (११,९०,०००) भिक्षुओं ने एकस्वर से रेवत स्थविर से निवेदन किया कि आप इस विवाद को किसी तरह शान्त करें ॥ ३४-३५ ॥

स्थविर ने कहा- "विवाद का मूल देखे विना विवाद का शमन कैसे हो सकता है ! "अतः सभी भिक्षु वहाँ से वैशाली पहुँचे ॥ ३६ ॥

उधर वज्जिपुत्रक भिक्षुओं द्वारा बहकाये राजा कालाशोक ने वैशाली के विवाद की शान्ति हेतु अपने कुछ अमात्यों को भेजा । देवता की कृपा से वे दुर्मति अमात्य बीच में ही रास्ता भटक कर किसी दूसरी तरफ निकल गये । (वैशाली नहीं पहुँच पाये ।) ॥ ३७ ॥

उधर राजा, अमात्यों को विवादस्थान की रक्षा के लिये भेज कर, वैशाली के विवाद की तरफ से निश्चिंत हो गया । परन्तु रात्रि को स्वप्न में उसने अपने आपको कुम्भीपाक नरक में गिरे हुए देखा ॥ ३८ ॥

यह देखकर राजा अत्यधिक भयभीत हुआ । उसे आश्वस्त करने के लिये उसकी बहन क्षीणास्रवा नन्दा थेरी आकाशमार्ग से उसके पास आयी ॥ ३९ ॥

और धमकाते हुए समझाया–"तूँने बहुत ही अशुभ कार्य कर डाला है, तूँ जाकर उन धर्मवादी भिक्षुओं से क्षमायाच्ञा कर तथा उनके कथनानुसार उनका पक्ष लेते हुए बुद्ध-धर्म (शासन) की रक्षा कर । इसी में तेरा हित सम्भव है" । यह कहकर वह चली गयी । उधर प्रातः होते ही वह राजा वास्तविकता जानकर वैशाली के प्रति चल पड़ा ॥ ४०-४१ ॥

वहाँ महावन पहुँच कर राजा ने भिक्षुओं को एकत्र कर दोनों पक्षों को सुना। सुनकर उसे धर्मवादियों का पक्ष ही उचित जान पड़ा ॥ ४२ ॥

तब महीपति कालाशोक ने उन धर्मवादी भिक्षुओं से क्षमायाच्ञा की और घोषित किया कि "वह उन्हीं के पक्ष में है । सङ्घ अपनी इच्छानुसार धर्म की अभिवृद्धि के लिये कार्य करता रहे" । और उन्हें राजकीय रक्षा प्रदान कर वह पुनः राजधानी पाटलिपुत्र लौट आया ॥ ४३-४४ ॥

निच्छेतुं तानि वत्थूनि सङ्घो सन्निपती तदा ।
अनग्गानि तत्थ भस्सानि सङ्घमज्झे अजायिसुं ॥ ४५ ॥

ततो सो रेवतत्थेरो सावेत्वा सङ्घमज्झगो ।
उब्बाहिकाय तं वत्तुं समेतुं निच्छयं अका ॥ ४६ ॥

पाचीनके च चतुरो, चतुरो पावेय्यके पि च ।
उब्बाहिकाय सम्मन्नि भिक्खू तंवत्थुसन्तिया ॥ ४७ ॥

सब्बकामी च साळहो च खुज्जसोभितनामको ।
वासभागामिको चा ति थेरा पाचीनका इमे ॥ ४८ ॥

रेवतो साणसम्भूतो यसो काकण्डकत्रजो ।
सुमनो चाति चत्तारो थेरा पावेय्यका इमे ॥ ४९ ॥

समेतुं तानि वत्थूनि अप्पसादं अनाकुलं ।
अगमुं वालिकारामं अट्ठ थेरा अनासवा ॥ ५० ॥

दहरेनाजितेनेत्थ पञ्ञत्ते आसने सुभे ।
निसीदिंसु महाथेरा महामुनिमतञ्ञुनो ॥ ५१ ॥

तेसु वत्थुसु एकेकं कमतो रेवतो महा ।
थेरो थेरं सब्बकामिं पुच्छि पुच्छासु कोविदो ॥ ५२ ॥

[W.G. 26] सब्बकामी महाथेरी तेन पुट्ठो थ ब्याकरि ।
"सब्बानि तानि वत्थूनि न कप्पन्तीति सुत्ततो" ॥ ५३ ॥

नीहरित्वाधिकरणं तं ते तत्थ यथाक्कमं ।
तत्थेव सङ्घमज्झे पि पुच्छा-विस्सज्जना करुं ॥ ५४ ॥

निग्गहं पापभिक्खूनं दसवत्थुकदीपिनं ।
तेसं दससहस्सानं महाथेरा अकंसु ते ॥ ५५ ॥

सङ्घसमागम– तदनन्तर भिक्षुसङ्घ उन दश बातों के निर्णयहेतु एकत्र हुआ। उस समय सङ्घ के मध्य अनेक प्रकार की अनर्गल एवं निर्मूल बातें कही जाने लगी ॥ ४५ ॥

तब रेवत स्थविर ने सङ्घ के मध्य बैठकर, सबको सुनाते हुए, कहा–"इस विवाद का निर्णय उद्‌बाहिका (उपसमिति) के माध्यम से होगा ॥ ४६ ॥

इनमें चार प्राचीनक भिक्षु एवं चार पश्चिमक भिक्षु उक्त विवाद की शान्ति हेतु उद्बाहिका के सदस्य चुने गये ॥ ४७ ॥

प्राचीनकों की तरफ से ये भिक्षु चुने गये- १.सर्वकामी, २. साळ्ह, ३. क्षुद्रशोभित, तथा ४. वृषभगामिक ॥ ४८ ॥

पश्चिमक भिक्षुओं में से चार भिक्षु चुने गये– १. रेवत स्थविर, २. शाणवासी सम्भूत स्थविर, ३. काकण्डकद्विजपुत्र यश एवं ४. सुमन ॥ ४९ ॥

ये क्षीणास्रव आठ (८) भिक्षु उक्त दशवस्तु-विवाद के प्रशमनहेतु उचित निर्णय करने के लिये जनसमूह के कोलाहल से दूर एकान्त में बने बालुकाराम-विहार में एकत्र हुए ॥ ५० ॥

वहां तरुण भिक्षु अजित द्वारा प्रज्ञप्त सुन्दर आसनों पर विराज कर भगवान् बुद्ध के अभिमत को सर्वथा जानने वाले वे आठों महास्थविर उक्त विवाद पर निर्णय करने बैठे ॥ ५१ ॥

प्रश्न पूछने में अत्यधिक प्रवीण महास्थविर रेवत ने सर्वकामी स्थविर से उन दश बातों में से प्रत्येक पर क्रमशः प्रश्न पूछा ॥ ५२ ॥

महास्थविर रेवत द्वारा पूछे गये सभी प्रश्नों का सर्वकामी स्थविर ने धर्मानुकूल उत्तर देते हुए अपना निर्णय देते हुए कहा– " ये सभी बातें सूत्र की दृष्टि से धर्मानुमत नहीं हैं, अतः (भिक्षुओं के लिये) उचित नहीं हैं ॥" ५३ ॥

इस तरह उन आठों महास्थविरों ने उक्त अधिकरण को वहाँ (एकान्त पञ्चायत में) निश्चित किया। उसी तरह उन्होंने सङ्घ के बीच बैठकर भी यथापूर्व प्रश्नोत्तरपूर्वक समाधान किया ॥ ५४ ॥

अन्त में महास्थविरों ने उन दश बातों के समर्थक पापी निर्लज्ज दश हजार भिक्षुओं को सङ्घ से निष्कासित कर उनका निग्रह (दमन) किया ॥ ५५ ॥

सब्बकामी पथविया सङ्घत्थेरो तदा अहु ।
सो वीसवस्ससतिको तदासि उपसम्पदा ॥ ५६ ॥

सब्बकामी च साळ्हो च रेवतो खुज्जसोभितो ।
यसो काकण्डकसुतो सम्भूतो साणवासिको ॥ ५७ ॥

छ थेरानन्दथेरस्स एते सद्धिविहारिनो ।
वासभगामिको चेव सुमनो च दुवे पुन ॥ ५८ ॥

थेरा नुरुद्धथेरस्स एते सद्धिविहारिनो ।
अट्ठ थेरा पि धञ्ञा ते दिट्ठपुब्बा तथागतं ॥ ५९ ॥

भिक्खू सतसहस्सानि द्वादसासुं समागता ।
सब्बेसं रेवतत्थेरो भिक्खूनं पमुखो तदा ॥ ६० ॥

तदा सो रेवतत्थेरो सद्धम्मट्ठितिया चिरं ।
कारेतुं धम्मसङ्गीतिं सब्बभिक्खुसमूहतो ॥ ६१ ॥

पभिन्नत्थादिञाणानं पिटकत्तयधारिनं ।
सतानि सत्त भिक्खूनं अरहन्तानुच्चिनि ॥ ६२ ॥

[W.G. 27] ते सब्बे वालिकारामे कालासोकेन रक्खिता ।
रेवतत्थेरपामोक्खा अकरुं धम्मसङ्गहं ॥ ६३ ॥

पुब्बे कतं तथा एव धम्मं पच्छा व भासितं ।
आदाय निट्ठपेसुं तं एतं मासेहि अट्ठहि ॥ ६४ ॥

सर्वातिवृद्ध भिक्षु–उस समय महास्थविर सर्वकामी को उपसम्पन्न भिक्षु बने एक सौ बीस (१२०) वर्ष हो चुके थे अतः वे ही समग्र भूमण्डल में उस सङ्घ के 'महास्थविर' कहलाये ॥ ५६ ॥

भगवान् के समय के आठ भिक्षु–उस समय सङ्घ में एकत्र हुए भिक्षुओं में १. सर्वकामी, २. साढ, ३. रेवत, ४. क्षुद्रशोभित, ५. काकण्डक द्विजपूत्र यश एवं ६. शाणवासी सम्भूत–ये छह महास्थविर आनन्द के शिष्य थे । एवं १. वृषभगामिक एवं २. सुमन–ये दोनों स्थविर अनुरुद्ध के सहविहारिक (शिष्य) थे ॥ ५७-५८ ॥

ये आठों ही स्थविर धन्य (भाग्यशाली) थे जिन्होंने तथागत के साक्षात् दर्शन किये थे ॥ ५९ ॥

वहाँ एकत्र हुए बारह लाख (१२,००,०००) भिक्षुओं में रेवत स्थविर ही सर्वप्रमुख थे ॥ ६० ॥

सङ्गीति के लिये चयन–तब उन रेवत स्थविर ने सद्धर्म की चिरस्थिति का लक्ष्य रखते हुए धर्मसङ्गीति का निश्चय कर उस विशाल भिक्षु-समूह में से अर्थ, धर्म आदि प्रतिसंविदाओं (मीमांसायुक्त ज्ञान) में निपुण, समग्र त्रिपिटक कण्ठाग्र रखने वाले सात सौ भिक्षुओं का चयन किया ॥ ६१-६२ ॥

धर्मसङ्गीति–वे सभी सात सौ भिक्षु राजा कालाशोक के संरक्षण में, तथा रेवत स्थविर की प्रधानता में, वैशाली के बालुकारामविहार में एकत्र होकर धर्म का सङ्गायन करने लगे ॥ ६३ ॥

जिस तरह प्रथम सङ्गीति में पहले धर्म का संग्रह किया गया, बाद में उसकी घोषणा की गयी, उसी तरह यहाँ भी उद्ग्रहण कर आठ मास में यह सङ्गीति सम्पन्न हुई ॥ ६४ ॥

एवं दुतियसङ्गीतिं कत्वा ते पि महायसा ।
थेरा दोसक्खयं पत्ता, पत्ता कालेन निब्बुतिं ॥ ६५ ॥

इति परममतीनं पत्तिपत्तब्बकानं ।
तिभवहितकरानं लोकनाथोरसानं ।
सुमरिय मरणं तं सङ्खतासारकत्तं ।
परिगणियमसेसं अप्पमत्तो भवेय्या[1] ॥ ति ॥ ६६ ॥

सुजनप्पसाद-संवेगत्थाय कते महावंसे

दुतियसङ्गीति नाम

चतुत्थो परिच्छेदो

❋❋❋

9452

1. मालिनी छन्द

यो, इस द्वितीय धर्मसङ्गीति के सभी सहयोगी (सम्पादक) महायशस्वी स्थविर अपने चित्तमलों का सर्वथा क्षय करते हुए, तथा अन्त में समय आने पर, परिनिर्वाण को प्राप्त हुए ॥ ६५ ॥

अतः परम बुद्धिमान्, सफलमनोरथ (अधिगत-प्राप्तव्य), तीनों (देव, मनुष्य, तिर्यक्) योनियों के हितैषी लोकनाथ भगवान् बुद्ध के उत्तराधिकारी उन स्थविरों के देहपात का स्मरण करते हुए हम को भी जीवन की क्षणभङ्गुरता के प्रति अप्रमत्त नहीं रहना चाहिये ॥ ६६ ॥

साधुजनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह उत्पादहेतु
रचित इस महावंश ग्रन्थ में

द्वितीय धर्मसङ्गीति नामक

चतुर्थ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

५.

पञ्चमो परिच्छेदो

(ततियसङ्गीति नाम)

[W.G. 28] या महाकस्सपादीहि महाथेरेहि आदितो ।
कता सद्धम्मसङ्गीति 'थेरिया' ति पवुच्चति ॥ १ ॥

एको व थेरवादो सो आदि वस्ससते अहु ।
अञ्ञाचरियवादा तु ततो ओरं अजायिसुं ॥ २ ॥

तेहि सङ्गीतिकारेहि थेरेहि दुतियेहि ते ।
निग्गहीता पापभिक्खू सब्बे दससहस्सका ॥ ३ ॥

अंकसाचरियवादं ते महासङ्घिकनामकं ।
ततो गोकुलिका जाता एकव्योहारिका पि च ॥ ४ ॥

गोकुलिकेहि पण्णत्तिवादा बाहुलिका पि च ।
चेतियवादा तेस्वेव समहासङ्घिका छ ते ॥ ५ ॥

[W.G. 29] पुन पि थेरवादेहि महिंसासकभिक्खवो ।
वज्जिपुत्तकभिक्खू च दुवे जाता इमे खलु ॥ ६ ॥

जाता ति धम्मुत्तरिया भद्रयानिक-भिक्खवो ।
छन्दागारिक-सम्मिति-वज्जिपुत्तियभिक्खवो ॥ ७ ॥

महिंसासकभिक्खूहि भिक्खू सब्बत्थवादिनो ।
धम्मगुत्तिकभिक्खू च जाता खलु इमे दुवे ॥ ८ ॥

पञ्चम परिच्छेद

(तृतीय धर्मसङ्गीति)

आचार्यकुलवाद– प्रारम्भ में (तथागत के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद) महा स्थविर महाकाश्यप की प्रधानता में जो (प्रथम) धर्मसङ्गीति हुई उसे 'स्थविरीय (थेरीय) सङ्गीति' कहते हैं॥ १ ॥

(भगवान् बुद्ध) के परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद तक सङ्घ में एक आचार्यवाद (मतवाद) ही प्रमुख रहा (जिसे स्थविरवाद कहते हैं) ॥ २ ॥

उन द्वितीय सङ्गीतिकार स्थविरों ने उन सभी दश हजार पापी भिक्षुओं का निग्रह कर दिया था जो दश वस्तुओं के मानने वाले थे ॥ ३ ॥

उन पापी भिक्षुओं ने ही 'महासाङ्घिक' नाम से अपना पृथक् मतवाद चलाया। उन्हीं महासाङ्घिकों में से आगे चलकर 'गोकुलिक' एवं 'एकव्योहारिक' मतवाद निकले ॥ ४ ॥

गोकुलिकों में से 'प्रज्ञप्तिवादी' एवं 'बाहुलिक' तथा (आगे चलकर) उन्हीं में से 'चैत्यवाद' मतकी स्थापना हुई। इस तरह महासाङ्घिकों को मिलाकर छह (६) मतवाद स्थापित हुए ॥ ५ ॥

फिर प्रधान थेरवाद में से 'महिंशासक' भिक्षुओं का दल निकला। साथ ही 'वज्जिपुत्रक' भिक्षुओं ने भी अपना पृथक् दल बना लिया। इस तरह ये दो दल और पृथक् हुए ॥ ६ ॥

बाद में इन्हीं 'वज्जिपुत्रक' भिक्षुओं में से 'धर्मोत्तरीय', 'भद्रयानिक', 'छन्दागारिक ' 'सम्मितीय' मतवादी भिक्षु पृथक हुए ॥ ७ ॥

उधर 'महिंशासक' भिक्षुओं में से 'सर्वास्तिवादी' एवं 'धर्मगुप्तिक' ये दो भिक्षुदल पृथक् हुए ॥ ८ ॥

जाता सब्बत्थवादीहि कस्सपीया, ततो पन ।
जाता सङ्कन्तिका भिक्खू, सुत्तवादा ततो पन ॥ ९ ॥

थेरवादेन सह ते होन्ति द्वादसिमे पि च ।
पुब्बे वुत्ता छ वादा च इति अट्ठारसाखिला ॥ १० ॥

सत्तरसापि दुतिये जाता वस्ससते इति ।
अञ्ञाचरियवादा तु ततो ओरं अजायिसुं ॥ ११ ॥

हेमवता राजगिरिया तथा सिद्धत्थका पि च ।
पुब्बसेलियभिक्खू च तथा अपरसेलिया ॥ १२ ॥

वाजिरिया, छ एते पि जम्बुदीपम्हि भिन्नका ।
धम्मरुची सागलीया लङ्कादीपम्हि भिन्नका ॥ १३ ॥

आचरियकुलवादकथा निट्ठिता ॥

[W.G. 30] कालासोकस्स पुत्ता तु अहेसुं दस भातुका ।
द्वावीसति ते वस्सानि रज्जं समनुसासिसुं ॥ १४ ॥

नव नन्दा ततो आसु कमेनेव नराधिपा ।
ते पि द्वावीस वस्सानि रज्जं समनुसासिसुं ॥ १५ ॥

मोरियानं खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं ।
चन्दगुत्तो ति पञ्ञातं चाणक्को ब्राह्मणो ततो ॥ १६ ॥

नवमं घननन्दं तं घातेत्वा चण्डकोधवा ।
सकले जम्बुदीपस्मिं रज्जे समभिसिञ्चि सो ॥ १७ ॥

सो चतुवीस वस्सानि राजा रज्जमकारयि ।
तस्स पुत्तो बिन्दुसारो अट्ठवीसति कारयि ॥ १८ ॥

बिन्दुसारसुता आसुं सतमेको च विस्सुता ।
असोको आसि तेसं तु पुञ्ञतेजोबलिद्धिको ॥ १९ ॥

फिर सर्वास्तिवादियों में से 'काश्यपीय वाद' पृथक् हुआ । उनसे 'सांक्रान्तिक', फिर उनमें से 'सूत्रवादी' पुथक् हुए ॥ ९ ॥

गणना में, स्थविरवाद सहित ये बारह (१२) होते हैं । तथा पहले कहे गये महासङ्घिक आदि छह (६) वाद, सब मिलाकर (१२+६=१८) अट्ठारह होते हैं ॥ १० ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि ये (स्थविरवाद को छोड़कर) अन्य सत्तरह (१७) वाद ही बुद्ध परिनिर्वाण की द्वितीय शताब्दी में प्रचलित हुए । इनके अतिरिक्त अन्य छोटे-मोटें आचार्यवाद तो बहुत बाद में प्रचलित हुए ॥ ११ ॥

जैसे– १. हैमवत, २. राजगृहिक, ३. सिद्धार्थक, ४. पूवशैलीय, ५. अपरशैलीय, तथा ६.वाज्रीय ॥ १२ ॥

ये छह मतवाद जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में आगे चलकर पृथक् हुए । तथा १. धर्मरूचि, एवं २. सागलीय–ये दो लङ्काद्वीप में (स्थविरवाद से) पृथक् आचार्यवाद (मतवाद) चले ॥ १३ ॥

आचार्यकुलवाद-कथा समाप्त ॥

राजा धर्माशोक का अभिषेक–कालशोक के पुत्र परस्पर दस भाई थे । उन्होंने बाईस (२२) वर्ष तक राज्य किया ॥ १४ ॥

इनके बाद नौ नन्द क्रमशः राजा बने । उन्होंने भी बाईस (२२) वर्ष ही राज्य किया ॥ १५ ॥

फिर मौर्य वंश के क्षत्रियों में मूर्धन्य श्रीमान् चन्द्रगुप्त राजा हुए, जिन्हें महाक्रोधी चाणक्य ब्राह्मण ने ॥ १६ ॥

नवम घननन्द राजा को मरवाकर (उस चन्द्रगुप्त को) सकल जम्बुद्वीप का सम्राट् बनाया ॥ १७ ॥

उसने चौबीस (२४) वर्ष राज्य किया तथा उसके पुत्र बिन्दुसार ने अट्ठाईस (२८) वर्ष राज्य किया ॥ १८ ॥

बिन्दुसार के एक सौ एक (१०१) पुत्र हुए । उनमें सबसे अधिक पुण्यवान् बलशाली, तेजस्वी तथा ऋद्धिसम्पन्न अशोक थे ॥ १९ ॥

वेमातिके भातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं ।
सकले जम्बुदीपस्मिं एकरज्जं अपापुणि ॥ २० ॥

जिननिब्बानतो पच्छा पुरे तस्साभिसेकतो ।
साट्ठारसं वस्ससतद्वयं एवं विजानियं ॥ २१ ॥

[W.G. 31] पत्वा चतूहि वस्सेहि एकरज्जं महायसो ।
पुरे पाटलिपुत्तस्मिं अत्तानमभिसेचयि ॥ २२ ॥

तस्साभिसेकसमकालं आकासे भूमियं तथा ।
योजने योजने आणा निच्चं पविसता अहु ॥ २३ ॥

अनोतत्तोदकं काजे अट्ठानेसुं दिने दिने ।
देवा, देवो अका तेहि संविभागं जनस्स तु ॥ २४ ॥

नागलतादन्तकट्ठं आनेसुं हिमवन्ततो ।
अनेकेसं सहस्सानं देवा एव पहोनकं ॥ २५ ॥

अगदामलकं चेव तथागदहरीतकं ।
ततो वा अम्बपक्कं च वण्णगन्धरसुत्तमं ॥ २६ ॥

पञ्चवण्णानि वत्थानि हत्थपुञ्छनपट्टकं ॥
पीतं च दिब्बपानं च छद्दन्तदहतो मरू ॥ २७ ॥

सुमनपुप्फटकं असुत्तं दिब्बमुप्पलं ।
विलेपनं अञ्जनं च नागा नागविमानतो ॥ २८ ॥

[W.G. 32] सालिवाहसहस्सानि नवुतिं तु सुवा पन ।
छद्दन्तदहतो येवं आहरिंसु दिने दिने ॥ २९ ॥

ते साली नित्तुसकणे अखण्डेत्वान तण्डुले ।
अकंसु मूसिका, तेहि भत्तं राजकुले अहु ॥ ३० ॥

अकंसु सततं तस्स मधूनि मधुमक्खिका ।
तथा कम्मारसालासु अच्छा कूटानि पातयुं ॥ ३१ ॥

उन्होंने अपने निन्यानवे (९९) सौतेले भाइयों को मारकर समग्र जम्बुद्वीप पर एकच्छत्र राज्य किया ॥ २० ॥

यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिये कि भगवान् के महापरिनिर्वाण तथा सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक के बीच दो सौ अट्ठारह (२१८) वर्ष का अन्तराल था ॥ २१॥

उस महायशस्वी अशोक ने एकच्छत्र राज्य प्राप्त करने के चार वर्ष बाद पाटलिपुत्र में अपना राज्याभिषेक कराया ॥ २२ ॥

उसके अभिषेक के समय से ही उसकी शासकीय आज्ञाएँ (घोषणाएँ) योजन-योजन पर नित्य निरन्तर पहुँचती रहता थी ॥ २३ ॥

देवता लोग प्रतिदिन अनवतप्तदह (मानसरोवर) से आठ बहँगी जल लाते थे । और राजा अशोक अपने परिवारजनों में उसका वितरण कर देते थे ॥ २४ ॥

इसी तरह हजारों देवता उसके लिये हिमालय से नागलता की दतउन प्रतिदिन लाते थे ॥ २५ ॥

इसी प्रकार अन्य देवता विषनाशक आमला एवं हर्रे तथा सुगन्ध एवं रस युक्त आम्रफल भी प्रतिदिन लाते थे ॥ २६ ॥

मरुदेवता षड्दन्त दह से पाँच रङ्ग के वस्त्र, हाथ पोंछने का पीला वस्त्र, तथा दिव्य पान लाते थे ॥ २७ ॥

इसी तरह, नागदेवता नागभवन से सुमन पुष्प के समान सूत्ररहित वस्त्र, दिव्य कमलपुष्प, उबटन तथा नेत्राञ्जन लाते थे ॥ २८ ॥

शुकपक्षी (तोते) भी षड्दन्त (छद्दन्त) सरोवर से प्रतिदिन नब्बै हजार बहँगी शालिधान इसके राजभवन में पहुँचाते थे ॥ २९ ॥

मूषकगण (चूहे) उस शालिधान को निष्तुष कर विना टूटे (अखण्ड) चावल पृथक् करते थे । राजकुल के लिये उसी शालिधान का भात बनता था ॥ ३० ॥

मधुमक्खियाँ उस राजा के लिये निरन्तर मधु का संग्रह करती रहती थीं । तथा उसके कारखानों में रीछ हथौड़े चलाते थे ॥. ३१ ॥

करवीका सकुणिका मनुञ्ञा मधुरस्सरा ।
अकंसु तस्सागन्त्वान रञ्ञो मधुरवस्सितं ॥ ३२ ॥

राजाभिसित्तो सोसोको कुमारं तिस्ससव्हयं ।
कनिट्ठकं सोदरियं उपरज्जे भिसेचयि ॥ ३३ ॥

धम्मासोकाभिसेको निट्ठितो ॥

पिता सट्ठिसहस्सानि ब्राह्मणे ब्रह्मपक्खिके ।
भोजेसि, सो पि ते येव तीणि वस्सानि भोजयि ॥ ३४ ॥

दिस्वानुपसमं तेसं असोको परिवेसने ।
"विचेय्य दानं दस्सं" ति अमच्चा सन्नियोजयि ॥ ३५ ॥

आनापयित्वा मतिमा नानापासण्डिके विसुं ।
वीमंसित्वा निसज्जाय भोजापेत्वा विसज्जयि ॥ ३६ ॥

काले वातायनगतो सन्तं रच्छागतं यतिं ।
निग्रोधसामणेरं सो दिस्वा चित्तं पसादयि ॥ ३७ ॥

[W.G. 33] बिन्दुसारस्स पुत्तानं सब्बेसं जेट्ठभातुनो ।
सुमनस्स कुमारस्स पुत्तो सो हि कुमारको ॥ ३८ ॥

असोको पितरा दिन्नं रज्जं उज्जेनियं हि सो ।
हित्वागतो पुप्फपुरं विन्दुसारे गिलानके ॥ ३९ ॥

कत्वा पुरं सकायत्तं मते पितरि भातरं ।
घातेत्वा जेट्ठकं रज्जं अग्गहेसि पुरे वरे ॥ ४० ॥

सुमनस्स कुमारस्स देवी तन्नामिका ततो ।
गब्भिणी निक्खमित्वान पाचीनद्वारतो बहि ॥ ४१ ॥

उसके राजभवन में राजा के आने पर करवीक पक्षी (कोयल) का मधुर स्वर गूँजता रहता था ॥ ३२ ॥

इस सम्राट् ने अपने राज्याभिषेक के बाद तिष्य नामक अपने सहोदर भ्राता को युवराज पद पर अभिषिक्त किया ॥ ३३ ॥

सम्राट् धर्माशोक के पिता ब्राह्मणमतानुयायी थे । अतः वे साठ हजार (६०,०००) ब्राह्मणों को भोजन कराया करते थे । सम्राट् धर्माशोक ने भी अपने शासन के तीन वर्ष तक उतने ही हजार ब्राह्मणो को भोजन कराया ॥ ३४ ॥

एक समय ऐसा आया कि भोजन परोसते समय बहुत तीव्र कोलाहल हुआ । इसे सुनकर धर्माशोक ने आदेश दिया कि यह भोजनदान चयनपद्धति से करायी जाय । इसके लिये उन्होंने अधिकारी नियुक्त कर दिये ॥ ३५ ॥

फिर उस बुद्धिमान् सम्राट् ने उन पाषण्डियों में से प्रत्येक की धार्मिक गवेषणा कर, उसदिन भोजन करा कर, सदा की लिये उन को अपने यहाँ से निकाल दिया ॥ ३६ ॥

न्यग्रोध श्रामणेर-दर्शन—किसी समय अपने महल की खिड़की (वातायन) के पास बैठे सम्राट् का चित्त मार्ग (रथ्या) में जाते हुए जितेन्द्रिय न्यग्रोध श्रामणेर को देखकर अत्यधिक प्रमुदित हुआ ॥ ३७ ॥

यह कुमार श्रामणेर बिन्दुसार के पुत्रों में ज्येष्ठ (धर्माशोक) के भ्राता सुमनकुमार का पुत्र था ॥ ३८ ॥

बिन्दुसार के रुग्ण होने पर अशोक, पिता द्वारा प्रदत्त उज्जयिनी का राज्य छोड़कर, पुष्पपुर (पाटलीपुत्र) लौट आये ॥ ३९ ॥

तथा पिता के मरणानन्तर, ज्येष्ठ भ्राता (सुमन) को मार कर, उस श्रेष्ठ नगर को अपने अधीन कर राज्य-शासन पर स्वाधिकार कर लिया ॥ ४० ॥

उस समय सुमनकुमार की सुमना देवी गर्भवती थी, वह इस हत्या से डरकर चुपचाप नगर के पूर्वी द्वार से निकल कर ॥ ४१ ॥

चण्डालगामं अगमा, तत्थ निग्रोधदेवता ।
तमामन्तिय नामेन मापेत्वा घरकं अदा ॥ ४२ ॥

तदहेव वरं पुत्तं विजायित्वा सुतस्स सा ।
निग्रोधो ति अका नामं देवतानुग्गहानुगा ॥ ४३ ॥

दिस्वा तं जेट्ठचण्डालो अत्तनो सामिनिं विय ।
मञ्ञन्तो तं उपट्ठासि सत्तवस्सानि साधुकं ॥ ४४ ॥

तं महावारुणत्थेरो तदा दिस्वा कुमारकं ।
उपनिस्सयसम्पन्नं अरहा पुच्छि मातरं ॥ ४५ ॥

पब्बाजेसि खुरग्गे सो अरहत्तं अपापुणि ।
दस्सनायोपगच्छन्तो सो ततो मातुदेविया ॥ ४६ ॥

दक्खिणेन दुवारेन पविसित्वा पुरुत्तमं ।
तङ्गामगामिमग्गेन याति राजङ्गणे तदा ॥ ४७ ॥

सन्ताय इरियायस्मिं पसीदि स महीपति ।
पुब्बे तु सन्निवासेन पेमं चास्मिं अजायथ ॥ ४८ ॥

[W.G. 34] पुब्बे किर तयो आसुं भातरो मधुवाणिजा ।
एको मधुं विक्किणाति, आहरन्ति मधुं दुवे ॥ ४९ ॥

एको पच्चेकसम्बुद्धो वणरोगातुरो अहु ।
अञ्ञो पच्चेकसम्बुद्धो तदत्थं मधुअत्थिको ॥ ५० ॥

पिण्डचारिकवत्तेन नगरं पाविसि तदा ।
तित्थं जलत्थं गच्छन्ती एका चेरी तमद्दस ॥ ५१ ॥

पुच्छित्वा मधुकामत्तं ञत्वा हत्थेन आदिसि ।
"एसो मध्वापणो, भन्ते, तत्थ गच्छा" ति तं ब्रवि ॥ ५२ ॥

समीप के चाण्डालग्राम में पहुँची । वहाँ एक न्यग्रोध वृक्ष के अधिवासी देवता ने उस देवी को नाम से बुलाकर उस के लिये घर बना दिया ।। ४२ ।।

क्योंकि उसी दिन, उस घर में जाते ही, उसको पुत्र उत्पन्न हुआ, अतः उस देवता की कृपा का स्मरण करते हुए उसने उसका नाम 'न्यग्रोध' रख दिया ।। ४३ ।।

उस चाण्डालग्राम के प्रमुख (चौधरी) ने सुमना देवी को अपनी स्वामिनी के तुल्य मानते हुए उसकी सात वर्ष तक निरन्तर सेवा की, तथा उसको पुत्र के पालन-पोषण में सभी प्रकार की सहायता दी ।। ४४ ।।

क्षीणास्रव (अर्हत्) महावरुण स्थविर ने उस बालक में उपनिःश्रय (अर्हत्त्व-प्राप्ति हो गयी । एक दिन वह माता के दर्शन हेतु निकला ।। ४६ ।।

इसी क्रम में वह नगर में दक्षिणद्वार से प्रविष्ट होकर माता के ग्राम की तरफ जाने वाले मार्ग पर जाने के लिये राजाङ्गण में प्रविष्ट हुआ था । (उसी समय राजा ने उस को अपने महल की खिड़की से देखा था ।) ।। ४७ ।।

उसकी शान्त पादन्यास आदि शरीर-चेष्टाएँ (ईर्यापथ) देखकर राजा बहुत प्रहृष्ट हुआ । तथा पूर्वजन्म की घटना का स्मरण कर उसकी उसके प्रति अत्यधिक स्नेहवृद्धि हो गयी ।। ४८ ।।

अन्तः कथा—

कभी पूर्वकाल में कोई तीन भाई मधु का व्यापार करते थे । उनमें एक मधु बेचता था, और दो उस को इधर-उधर से एकत्र करते थे ।। ४९ ।।

उसी समय, किसी दिन कोई प्रत्येक-बुद्ध व्रणरोग से आक्रान्त हो गया । तब उसका दूसरा सहायक प्रत्येकबुद्ध उसके लिये उपचारहेतु मधु की खोज में निकला ।। ५० ।।

वह भिक्षायाचन की पद्धति से नगर में प्रविष्ट हुआ । वहाँ जल लाने के लिये जाती हुई किसी दासी ने उस को देखा ।। ५१ ।।

दासी के पूछने पर उसने बताया कि इस कार्यविशेष के लिये मुझे कुछ मधु चाहिये । दासी ने हाथ के सङ्केत से उस को मधु-विक्रय का स्थान बता दिया । और कहा—"वह मधु की दुकान है, वहीं आप चले जाइये" ।। ५२ ।।

तत्थ पत्तस्स बुद्धस्स वाणिजो सो पसादवा ।
विस्सन्दयन्तो मुखतो पत्तपूरं मधुं अदा ॥ ५३ ॥

पुण्णं च उप्पतन्तं च पतितं च महीतले ।
दिस्वा मधुं पसन्नो सो एवं पणिदही तदा ॥ ५४ ॥

"जम्बुदीपे एकरज्जं दानेनानेन होतु मे ।
आकासे योजने आणा भूमियं योजने ति च ॥" ५५ ॥

भातरे आगते आह– "एदिसस्स मधुं अदं ।
अनुमोदथ तुम्हे तं तुम्हाकं च यतो मधु ॥" ५६ ॥

जेट्ठो आह अतुट्ठो सो– "चण्डालो नून सो सिया ।
निवासेन्ति हि चण्डाला कासायानि सदा" इति ॥ ५७ ॥

मज्झो– "पच्चेकबुद्धं तं खिप पारण्णवे" इति ।
पत्तिदानवचो तस्स सुत्वा ते चानुमोदिसुं ॥ ५८ ॥

[W.G. 35] आपणदेसिका सा तु देवित्तं तस्स पत्थयि ।
अदिस्समानसन्धी च रूपं अतिमनोरमं ॥ ५९ ॥

असोको मधुदो, सन्धिमित्ता देवी तु चेटिका ।
चण्डालवादी निग्रोधो, तिस्सो सो पारवादिको ॥ ६0 ॥

चण्डालवादी चण्डालगामे आसि यतो तु सो ।
पत्थेसि मोक्खं, मोक्खं च सत्तवस्सो अपापुणि ॥ ६१ ॥

निविट्ठपेमो तस्मिं सो राजातितुरितो ततो ।
पक्कोसापेसि तं, सो तु सन्तवुत्ति उपागमि ॥ ६२ ॥

"निसीद, तातानुरूपे आसने" त्याह भूपति ।
अदिस्वा भिक्खुमञ्ञं सो सीहासनमुपागमि ॥ ६३ ॥

वहाँ जाने पर उस श्रद्धालु (प्रसादवान्) वणिक् ने प्रत्येकबुद्ध का पात्र मधु से भर दिया। पात्र भर जाने के बाद मधु की कुछ बूंद पात्र से बाहर भी गिर पड़ीं। यों, वणिक् ने वह मधुपूर्ण पात्र प्रत्येकबुद्ध को दे दिया ॥ ५३ ॥

उस मधुपूर्ण पात्र से बाहर गिरता हुआ मधु देखकर वणिक् हर्षविभोर हो उठा। तभी उसने यह सत्यसङ्कल्प (प्रणिधान) किया– ॥ ५४ ॥

"इस दान के प्रताप से आगामी जन्म में मैं जम्बूद्वीप का ऐसा एकच्छत्र राजा बनूँ कि मेरी आज्ञाएँ भूमि तथा आकाश में एक एक योजन तक नित्य नये रूप से प्रचारित होती रहें" ॥ ५५ ॥

फिर, दोनों भाइयों के आने पर उनसे भी उसने कहा–"मैने ऐसे-ऐसे एक साधु को पात्र भर कर मधु-दान किया है। आप लोग भी उस दान का अनुमोदन कर दें, क्योंकि आप लोगों का भी उस मधु-संग्रह में भाग होता है" ॥ ५६ ॥

तब उन में से बड़े भाई ने असन्तुष्ट होते हुए कहा–"अरे ! तब तो वह निश्चित ही चाण्डाल रहा होगा ! क्योकि चाण्डाल ही ऐसे वस्त्र पहनते हैं" ॥ ५७ ॥

मध्यम ने इससे भी अधिक क्रुद्ध होते हुए कहा–"अरे होगा प्रत्येकबुद्ध! ऐसे प्रत्येकबुद्ध को समुद्र के पार फैक दो!" फिर भी उन्होंने दान का अनुमोदन तो कर ही दिया ॥ ५८ ॥

दुकान का सङ्केत करने वाली उस दासी ने भी सङ्कल्प किया कि मैं उस जन्म में इसकी रानी बनूँ। उस जन्म में मेरा शरीर इतना रूपवान् सुन्दर तथा इतना मांसल हो कि मेरे शरीर की कोई अस्थि न दिखायी दे ॥ ५९ ॥

उस समय का मधुदानी वणिक् आज अशोक बना, सङ्केतकारिका दासी आज अशोक की असन्धिमित्रा नाम की रानी बनी, प्रत्येकबुद्ध को 'चाण्डाल' कहने वाला आज यही न्यग्रोध बना, तथा समुद्र पार फैकने वाला यह तिष्य (अशोक का छोटा भाई) बना ॥ ६० ॥

'चाण्डाल' कहने के कारण उसे चाण्डालग्राम में पैदा होना पड़ा। और उससे मोक्ष चाहने के कारण वह सात वर्ष की आयु में ही मुक्त (अर्हत्) हो गया ॥ ६१ ॥

अन्तःकथा समाप्त ॥

अतः उसमें अतिस्नेहासक्त होने के कारण, राजा ने उस श्रामणेर (ऐसा प्रव्रजित भिक्षु जिसकी उपसम्पदा न हुई हो) को अपने पास बुलाया। तो वह शान्तवृत्ति श्रामणेर राजा के पास चला आया ॥ ६२ ॥

तस्मिं पल्लङ्कमायन्ते राजा इति विचन्तयि ।
"अज्जायं सामणेरो मे घरे हेस्सति सामिको" ॥ ६४ ॥

आलम्बिवया करं रञ्ञो सो पल्लङ्कं समारुहि ।
निसीदि राजपल्लङ्के सेतच्छत्तस्स हेट्ठतो ॥ ६५ ॥

दिस्वा तथा निसिन्नं तं असोको सो महीपति ।
सम्भावेत्वान गुणतो तुट्ठोतीव तदा अहु ॥ ६६ ॥

अत्तनो पटियत्तेन खज्जभोज्जेन तप्पिय ।
सम्बुद्धभासितं धम्मं सामणेरं अपुच्छि तं ॥ ६७ ॥

तस्सप्पमादवग्गं सो सामणेरो अभासथ ।
तं सुत्वा भूमिपालो सो पसन्नो जिनसासने ॥ ६८ ॥

"अट्ठ ते निच्चभत्तानि दम्मि, ताता "ति आह तं ।
"उपज्झायस्स मे तानि दम्मी" ति आह सो ॥ ६९ ॥

पुन अट्ठसु दिन्नेसु तानदाचरियस्स तु ।
पुन अट्ठसु दिन्नेसु भिक्खुसङ्घस्स तानदा ॥ ७० ॥

[W.G. 36] पुनः अट्ठसु दिन्नेसु अधिवासेसि बुद्धिमा ।
द्वत्तिंस भिक्खू आदाय दुतिये दिवसे गतो ॥ ७१ ॥

सहत्था तप्पितो रञ्ञा धम्मं देसिय भूपतिं ।
सरणेसु च सीलेसु ठपेसि समहाजनं ॥ ७२ ॥

निग्रोधसामणेरदस्सनं निट्ठितं ॥

ततो राजा पसन्नो सो दिगुणेन दिने दिने ।
भिक्खू सट्ठि सहस्सानि अनुपुब्बेन वड्ढयि ॥ ७३ ॥

आने पर राजा ने उससे कहा-"तात! उचित आसन पर बैठें" । भिक्षु ने वहाँ कोई अन्य अनुरूप आसन न देख कर, वह राजसिंहासन की तरफ ही बढ़ चला । उसे उधर बढ़ते देखकर राजाने सोचा-"आज यह श्रामणेर मेरे घर का स्वामी हो गया" ॥ ६४ ॥

तथा राजा के हाथ का सहारा लेते हुए वह पर्यङ्क पर चढ़ गया तथा श्वेत छत्र के नीचे बैठ गया ॥ ६५ ॥

उस सर्वगुणसम्पन्न श्रामणेर को सिंहासन पर वैसे बैठा हुआ देखकर सम्राट् अशोक अत्यधिक प्रमुदित हुए । तथा सम्भावनानुसार उस की पूजा करते हुए अपने हृदय में सन्तोष माना ॥ ६६ ॥

सम्राट् ने अपने लिए बने भोजन (खाद्य-भोज्य) में से उसको भोजन कराकर उससे बुद्धभाषित धर्म के विषय में जिज्ञासा प्रकट की ॥ ६७ ॥

श्रामणेर ने सम्राट् को **अप्रमादवर्ग** (धम्मपद का द्वितीय वर्ग) बुद्धवचन के रूप में सुनाया । उसे सुनकर सम्राट् के हृदय में बुद्धशासन के प्रति अपार श्रद्धा उमड़ पड़ी ॥ ६८ ॥

सम्राट् ने कहा- "आज से मैं अपने राजमहल में आठ भिक्षुओं सहित आपको प्रतिदिन भोजन कराने का वचन देता हूँ । श्रामणेर ने कहा-"ये आठों भोजनदान मैं अपने उपाध्याय को समर्पित करता हूँ" ॥ ६९ ॥

सम्राट् द्वारा पुनः आठ भोजन-दान दिये जाने पर, श्रामणेर ने वे आठों भोजनदान भी अपने आचार्य को समर्पित कर दिये । सम्राट् द्वारा पुनः आठ भोजन-दान किये जाने पर, बुद्धिमान् श्रामणेर ने वे आठ भोजन सङ्घ को समर्पित कर दिये ॥ ७० ॥

सम्राट द्वारा पुनः आठ भोजन-दान किये जाने पर अपने लिये स्वीकार किये । तथा दूसरे दिन बत्तीस (३२)भिक्षुओं के साथ वहं राजमहल पहुँचा ॥ ७१ ॥

राजा ने उस स्रामणेर को अपने हाथ से खाद्य-भोजन परोसते हुए सन्तुष्ट किया । श्रामणेर ने, भोजनोत्तर, सपरिवार राजा को धर्मोपदेश किया, जिससे उसकी रत्नत्रय एवं शील के प्रति श्रद्धा प्रतिष्ठित हुई ॥ ७२ ॥

न्यग्रोधश्रामणेरदर्शन-वर्णन समाप्त ॥

सम्राट् का बौद्ध धर्म स्वीकार करना-तब सम्राट् ने बौद्ध धर्म के प्रति दिनानुदिन अधिक श्रद्धालु होकर, वह भोजन-दान क्रमशः द्विगुणित करते हुए, एक दिन में साठ हजार भिक्षुओं को भोजन कराना प्रारम्भ किया ॥ ७३ ॥

तित्थियानं सहस्सानि निक्कड्ढित्वान सट्ठि सो ।
सट्ठि भिक्खुसहस्सानि घरे निच्चमभोजयि ॥ ७४ ॥

सट्ठि भिक्खुसहस्सानि भोजेतुं तुरितो हि सो ।
पटियादापयित्वान खज्जभोज्जं महारहं ॥ ७५ ॥

भूसापेत्वान नगरं गन्त्वा सङ्घं निमन्तिय ।
घरं नेत्वान भोजेत्वा दत्वा सामणकं बहुं ॥ ७६ ॥

"सत्थारा देसितो धम्मो कित्तको ?" ति अपुच्छथ ।
व्याकासि मोग्गलिपुत्तो तिस्सत्थेरो तदास्स तं ॥ ७७ ॥

सुत्वान "चतुरासीति धम्मक्खन्धा" ति सो ब्रवि ।
"पूजेमि तेहं पच्चेकं विहारेणा" ति भूपति ॥ ७८ ॥

दत्वा तदा छन्नवुतिधनकोटिं महीपति ।
पुरेसु चतुरासीतिसहस्सेसु महीतले ॥ ७९ ॥

तत्थ तत्थेव राजूहि विहारे आरभापयि ।
सयं असोकारामं तुं कारापेतुं समारभि ॥ ८० ॥

रतनत्तयनिग्रोधगिलानानं ति सासने ।
पच्चेकं सतसहस्सं सो अदासि दिने दिने ॥ ८१ ॥

[W.G. 37] धनेन बुद्धदिन्नेन थूपपूजा अनेकधा ।
अनेकेसु विहारेसु अनेके अकरुं तदा ॥ ८२ ॥

धनेन धम्मदिन्नेन पच्चये चतुरो वरे ।
धम्मधरानं भिक्खूनं उपनेसुं सदा नरा ॥ ८३ ॥

यों वह पहले (पिता के समय में) जो साठ हजार की सङ्ख्या में तीर्थिक ब्राह्मण राजप्रसाद में भोजन करने आते थे उन्हें निकाल कर, उनके स्थान पर साठ हजार भिक्षुओं को नित्यभोजन कराने लगा[1] ॥ ७४ ॥

एक दिन सम्राट् ने उन साठ हजार भिक्षुओं को भोजन कराने के लिये अपने प्रासाद में त्वरित (शीघ्र) गति से खाद्य भोज्य पदार्थ बनवा कर ॥ ७५ ॥

सम्पूर्ण नगर को अलंकृत कराकर, सङ्घ को निमन्त्रित कर, महल में बुलाकर, उसे ससम्मान भोजन कराकर बहुत सा दान किया ॥ ७६ ॥

फिर एकान्त में बैठकर उसने सङ्घ से पूछा–"भन्ते ! शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित दर्म कितना है ?" सङ्घ की तरफ से मोग्गलिपुत्र तिष्यस्थविर ने इसका उत्तर दिया– ॥ ७७ ॥

"राजन्! सुगतोपदिष्ट धर्म के चौरासी हजार (८४०००) स्कन्ध (विभाग) हैं।" भूपति बोले–"मैं उन स्कन्धों को एक-एक विहार बनवा कर प्रत्येक को सम्मान (सत्कार) दूँगा" ॥ ७८ ॥

तब सम्राट् ने छयानवे करोड़ (९६,००,००,०००) धन एक साथ देकर समग्र पृथ्वीतल के चौरासी हजार (८४०००) नगरों में विहार-निर्माण प्रारम्भ करवाये ॥ ७९ ॥

वहाँ के अधीन राजाओं को आज्ञा भेज कर उन-उन नगरों में उनसे स्वतन्त्र विहार र्निाण कराये । और स्वयं ने (पाटलिपुत्र में) विशाल अशोका रामविहार बनवाना प्रारम्भ किया ॥ ८० ॥

रोगी भिक्षुओं को भेषज-दान–वह अपनी राज्यसीमा में रत्नत्रय, न्यग्रोध तथा रोगी भिक्षुओं के लिये प्रतिदिन प्रत्येक के लिये एक-एक लाख मुद्रा दान करता था ॥ ८१ ॥

उस की राज्यसीमा में तथागत को समर्पित धन से अनेक विहारों में नाना प्रकार से स्तूप-पूजा की जाती थी ॥ ८२ ॥

उस की राज्यसीमा में धर्म को समर्पित दान से धर्माचारी भिक्षुओं को अच्छे से अच्छे चारों प्रत्यय (चीवर, पिण्डपात, शयनासन, एवं ग्लानभैषज्य) प्रतिदिन उपलब्ध कराये जाते थे ॥ ८३ ॥

---

1. यहाँ ७३-७४ गाथा प्रक्षिप्त हैं–ऐसा भ. आनन्द कौशल्यायन का मन्तव्य है । परन्तु महावंस टीकाकार ने इस विषय में कुछ भी नहीं लिखा है–अनु. ।

अनोतत्तोदकाजेसु सङ्घस्स चतुरो अदा ।
तेपिटकानं थेरानं सट्ठियेकं दिने दिने ॥ ८४ ॥

एकं असन्धिमित्ताय देविया तु अदापयि ।
सयं पन दुवे येव परिभुञ्जि महीपति ॥ ८५ ॥

सट्ठि भिक्खुसहस्सानं दन्तकट्ठं दिने दिने ।
सोळसित्थिसहस्सानं अदा नागलताव्हयं ॥ ८६ ॥

अथेकदिवसं राजा चतुसम्बुद्धदस्सिनं ।
कप्पायुकं महाकालं नागराजं महिद्धिकं ॥ ८७ ॥

सुणित्वान तमानेतुं सोण्णसङ्खलिबन्धनं ।
पेसयित्वा तमानेत्वा सेतच्छत्तस्स हेट्ठतो ॥ ८८ ॥

पल्लङ्कम्हि निसीदेत्वा नानापुप्फेहि पूजयि ।
सोलसित्थिसहस्सेहि परिवारिय अब्रवि ॥ ८९ ॥

"सद्धम्मचक्कवत्तिस्स सब्बञ्ञुस्स महेसिनो ।
रूपं अनन्तञाणस्स दस्सेहि मम, भो" इति ॥ ९० ॥

द्वत्तिंसलक्खणूपेतं असीतिव्यञ्जनुज्जलं ।
व्यामप्पभापरिक्खित्तं केतुमालाभिसोमितं ॥ ९१ ॥

निम्मायि नागराजा सो बुद्धरूपं मनोरमं ।
तं दिस्वातिपसादस्स विम्हयस्स च पूरितो ॥ ९२ ॥

"एतेन निम्मितं रूपं ईदिसं, कीदिसं नु खो ।
तथागतस्स रूपं !" ति आसि पीतुन्नतुन्नतो ॥ ९३ ॥

सम्राट् मानसरोवर से मँगायी जानेवाली जल की आठ बहँगियों में से चार सङ्घ को, एक बहँगी साठ (६०) त्रिपिटकधारी भिक्षुओं को ॥ ८४ ॥

एक असन्धिमित्रा रानी को देने के बाद अवशिष्ट दो बहँगियों का जल ही अपने उपयोग में लाता था ॥ ८५ ॥

वह सम्राट् प्रतिदिन साठ हजार भिक्षुओं को तथा सोलह हजार भिक्षुणियों को हिमालय से मँगायी गयी नागलता की दतुअन दान करता था ॥ ८६ ॥

सम्राट् को भगवान् के दर्शन– एक दिन राजा ने सुना कि एक कल्प आयु वाले, ऋद्धिसम्पन्न महाकालरूप नागराज ने समय-समय पर चार बुद्धों के दर्शन किये हैं ॥ ८७ ॥

सुनकर उसे लिवा लाने के लिये सोने की जञ्जीर का बन्धन भेजा । उसे अपने महल में बुलवाकर श्वेत छत्र के नीचे, पलंग बैठा कर, फूलों से उसका सत्कार कर, सोलह हजार स्त्रियों के परिवृत (घर) कर निवेदन किया –॥ ८८-८९ ॥

"आप मुझे सद्धर्मचक्रवर्ती, सर्वज्ञ, अनन्त ज्ञान के अधिष्ठाता महर्षि (बुद्ध) के दर्शन कराइये" ॥ ९० ॥

तब नागराज ने भगवान् बुद्ध का ऐसा मोहक एवं नयनानन्दकारी रूप चित्रित किया, जो बत्तीस (३२) महापुरुषलक्षणों से एवं अस्सी (८०) अनुव्यञ्जनों से शोभित व्यामप्रभासम्पन्न तथा तेजःसम्पृक्त और केतु-मालाधारी था । उस मनोमोहक रूप को देखकर सम्राट् अतिविस्मित हो उठे ॥ ९१-९२ ॥

और बोले–"जब इस नागराज द्वारा बनाया गया भगवान् का यह कृत्रिम चित्र ऐसा सुन्दर है तो वे वास्तव में स्वयं कितने सुन्दर रहे होंगे ! " यों कहकर वह भगवान् में अधिक से अधिक श्रद्धा (प्रीति) करने लगा ॥ ९३ ॥

[W.G. 38] अक्खिपूजं ति सञ्ञातं तं सत्ताहं निरन्तरं ।
महामहं महाराजा कारापेसि महिद्धिको ॥ ९४ ॥

सासनप्पवेसो निट्ठितो ॥

एवं महानुभावो च सद्धो चापि महीपति ।
थेरो च मोग्गलीपुत्तो दिट्ठा पुब्बे वसीहि ते ॥ ९५ ॥

दुतिये सङ्गहे थेरा पेक्खन्तानागतं हि ते ।
सासनोपद्दवं तस्स रञ्ञो कालम्हि अद्दसुं ॥ ९६ ॥

पेक्खन्ता सकले लोके तदुपद्दवघातकं ।
तिस्सब्रह्मानमद्दक्खुं अचिरट्ठायिजीवितं ॥ ९७ ॥

ते तं समुपसङ्कम्म आयाचिंसु महामतिं ।
मनुस्सेसूपपज्जित्वा तदुपद्दवघातनं ॥ ९८ ॥

अदा पटिञ्ञं तेसं सो सासनुज्जोतनत्थिको ।
सिग्गवं चण्डवज्जिं च अवोचुं दहरे यती ॥ ९९ ॥

"अट्ठारसाधिका वस्ससता उपरि हेस्सति ।
उपद्दवो सासनस्स न सम्भोस्साम तं मयं ॥ १०० ॥

इमं तुम्हेधिकरणं नोपगच्छित्थ, भिक्खवो ।
दण्डकम्मारहा तस्मा, दण्जकम्मं इदं हि वो ॥ १०१ ॥

सासनस्सुज्जोतनत्थाय तिस्सो ब्रह्मा महामति ।
मोग्गलिब्राह्मणघरे पटिसन्धिं महेस्सति ॥ १०२ ॥

काले तुम्हेसु एको तं पब्बाजेतु कुमारकं ।
एको सम्बुद्धवचनं उग्गहापेतु साधुकं" ॥ १०३ ॥

इस रूपदर्शन से प्रभावित होकर महान् सामर्थ्यशाली सम्राट् ने सप्ताहपर्यन्त निरन्तर **अक्षिपूजा** नामक महोत्सव करवाया ॥ ९४ ॥

सम्राट् का शासन-प्रवेश वर्णन समाप्त ॥

मोग्गलिपुत्र तिष्य का परिचय– यों तो, पहले के विमलमति ज्ञानिजन इस श्रद्धालु, महान् सामर्थ्यशाली राजा अशोक एवं मोग्गलिपुत्र तिष्य के विषय में सब कुछ जानते ही थे ॥ ९५ ॥

परन्तु द्वितीय सङ्गीति प्रारम्भ होने से पूर्व वर्तमान काल के स्थविरों ने भी दिव्य दृष्टि से जान लिया कि इस सम्राट् के राज्यकाल में बुद्धशासन (धर्म) सङ्कटग्रस्त होगा ॥ ९६ ॥

इस सङ्कट को समाप्त कराने में पूर्ण समर्थ किसी देवता या मनुष्य को खोजते हुए उन पूर्वजों ने तिष्य ब्रह्मा को इस सामर्थ्य से सम्पन्न पाया, जिस का ब्रह्मा के रूप में जीवनकाल भी पूर्ण होने वाला था ॥ ९७ ॥

वे उस महामति के पास गये तथा बोले–"आप को मनुष्यलोक में उत्पन्न हो कर, सद्धर्म पर आनेवाले इस सङ्कट का निवारण करना है" ॥ ९८ ॥

उस तिष्य ब्रह्मा ने भी शासन की उन्नति (हित) देखते हुए मनुष्यलोक में उत्पन्न होने का प्रतिवचन दिया। तब उन पूर्वजों ने सिग्गव एवं चण्डवज्जी नामक दो तरुण यतियों (भिक्षुओं) से कहा– ॥ ९९ ॥

"आज से एक सौ अट्ठारह (११८) वर्ष बाद शासन पर सङ्कट आयगा, जिसे कि हम देखने के लिये उपस्थित न रह पायेंगे ॥ १०० ॥

"भिक्षुओ ! तुम उस दशवस्तु **सङ्कट** (द्वितीय सङ्गीति) के समय उपस्थित रहकर समाधान नहीं करवा पाये, अतः तुम दण्ड के अधिकारी हो। अब तुम्हारे लिये दण्ड-कर्म यह है– ॥ १०१ ॥

"बुद्धशासन की उन्नतिहेतु जब तिष्य ब्रह्मा मोग्गलि ब्राह्मण के घर में जन्म लेंगे तब समय आने पर तुम में से एक उस ब्राह्मणपुत्र को भिक्षुभाव (प्रव्रज्या) में लावे तथा दूसरा उसको समग्र बुद्धवचन भलीभाँति पढावे" ॥ १०२-१०३ ॥

[W.G. 39] अहु उपालिथेरस्स थेरो सद्धिविहारिको ।
दासको, सोणको तस्स, द्वे थेरा सोणकस्सिमे ॥ १०४ ॥

अहु वेसालियं पुब्बे दासको नाम सोत्थियो ।
तिस्सिसतजेट्ठो सो वसं आचरियन्तके ॥ १०५ ॥

द्वादसवस्सिको येव वेदपारगतो चरं ।
ससिस्सो वालिकारामे वसन्तं कतसङ्गहं ॥ १०६ ॥

उपालिथेरं पस्सित्वा निसीदित्वा तदन्तिके ।
वेदेसु गन्थिट्ठानानि पुच्छि, सो तानि व्याकरि ॥ १०७ ॥

"सब्बधम्मानुपतितो एकधम्मो पि माणव ।
सब्बे धम्मा ओसरन्ति एक धम्मम्हि" "को नु सो ?' ॥ १०८ ॥

इच्चाह नामं सन्धाय थेरो, माणवको तु सो ।
नाञ्ञासि, पुच्छि-"को मन्तो ?""बुद्धमन्तो" ति भासितो ॥ १०९।

"देही" ति आह, सो आह–"देम नो वेसधारिनो" ।
गुरुं अपुच्छि मन्तत्थं मातरं पितरं तथा ॥ ११० ॥

माणवानं सतेहेस तीहि थेरस्स सन्तिके ।
पब्बजित्वान कालेन उपसम्पज्जि माणवो ॥ १११ ॥

खीणासवसहस्सं सो दासकत्थेरजेट्ठकं ।
उपालिथेरो वाचेसि सकलं पिटकत्तयं ॥ ११२ ॥

गणनावीतिवत्ता ते सेसारियपुथुज्जना ।
पिटकानुग्गहीतानि येहि थेरस्स सन्तिके ॥ ११३ ॥

अन्तःकथा– उपालि स्थविर के शिष्य (सद्धिविहारी) थे दासक, दासक के शिष्य हुए सोणक । इस सोणक के ही ये दोनों–सिग्गव एवं चण्डवज्जी शिष्य थे ।। १०४ ।।

१. दासक : पूर्वकाल में दासक नामक एक श्रोत्रिय ब्राह्मण था । उसने अपने आचार्य के तीन सौ शिष्यों में ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता ग्रहण कर ली थी ।। १०५ ।।

बारह वर्ष की ही अवस्था (आयु) में उसने समग्र वेदों का अध्ययन कर लिया था । एक दिन वह साथियों के साथ घूमते हुए बालुकाराम पहुँच गया । वहाँ (प्रथम) सङ्गीति समाप्ति के बाद निरन्तर वास करते हुए ।। १०६ ।।

उपालि स्थविर को देखकर उनके पास श्रद्धा के साथ बैठकर वेदों के गूढ रहस्यों पर आचार्यमुष्टि प्रश्न पूछने लगा । उपालि स्थविर ने उनका उचित समाधान किया ।। १०७ ।।

अन्त में उपालि स्थविर ने उससे कहा– "माणव! सभी धर्मों का समानानुपाती एक अन्य धर्म भी है, जहाँ सभी धर्म समन्वित हो जाते हैं । क्या तुम उसके विषय में भी कुछ जानते हो ?" "नहीं, भन्ते!, कृपया बतावें–वह धर्म कौन सा है ?" ।। १०८ ।।

उपालि स्थविर ने कहा– "अरे! उसे कोई भी यथेच्छ नाम दे लो ।" परन्तु दासक माणवक स्थविर के उत्तर की गम्भीरता को नहीं समझ पाया । अतः उसने फिर पूछा– " उसका मुख्य मन्त्र क्या है ?" उपालि ने उत्तर दिया–"बुद्धमन्त्र" ।। १०९ ।।

उस माणव ने कहा–" उस मन्त्र का मुझे भी उपदेश कीजिये ।" उपालि स्थविर ने उत्तर दिया–" नहीं, हम अपने जैसा वेष धारण न करने वाले को मन्त्र नहीं देते" । तब घर जाकर, माणवक ने अपने गुरु, माता-पिता से मन्त्रग्रहण की अनुमति माँगी ।। ११० ।।

फिर उस माणव ने अपने तीन सौ साथियों के साथ उपालि स्थविर से प्रव्रज्या ली । तथा समय से उपसम्पदा भी प्राप्त कर ली ।। १११ ।।

यों, उन उपालि स्थविर ने दासकप्रमुख एक हजार क्षीणास्रव भिक्षुओं को समग्र त्रिपिटक का स्वाध्याय कराया ।। ११२ ।।

ऐसे उन सभी आर्य पृथग्जनों की तो गणना करना ही असम्भव है जिन्होंने उपालि स्थविर से त्रिपिटक पढ़ा था ।। ११३ ।। (१)

[W.G. 40] कासीसु सोणको नाम सत्थवाहसुतो अहु ।
गिरिब्बजं वणिज्जाय गतो मातापितूहि सो ॥ ११४ ॥

अगा वेळुवनं पञ्चदसवस्सो कुमारको ।
माणवा पञ्चपञ्ञास परिवारिय तं गता ॥ ११५ ॥

सगणं दासकं थेरं तत्थ दिस्वा पसीदिय ।
पब्बज्जं याचि, सो आह– "तवापुच्छ गुरुं" इति ॥ ११६॥

भत्तत्तयं अभुञ्जित्वा सोणको सो कुमारको ।
मातापितूहि कारेत्वा पब्बज्जानुञ्ञमागतो ॥ ११७ ॥

सद्धिं तेहि कुमारेहि दासकत्थेरसन्तिके ।
पब्बज्ज उपसम्पज्ज उग्गण्हि पिटकत्तयं ॥ ११८ ॥

खीणासवसहस्सस्स थेरसिस्सगणस्स सो ।
अहोसि पिटकञ्ञुस्स जेट्ठको सोणको यति ॥ ११९ ॥

अहोसि सिग्गवो नाम पुरे पाटलिनामके ।
पञ्ञवामच्चतनयो, अट्ठारसवस्सो तु सो ॥ १२० ॥

पासादेसु वसं तीसु छलड्ढउतुसाधुसु ।
अमच्चपुत्तं आदाय चण्डवज्जिं सहायकं ॥ १२१ ॥

पुरिसानं दसड्ढेहि सतेहि परिवारितो ।
गन्त्वान कुक्कुटारामं सोणकत्थेरमद्दस ॥ १२२ ॥

समापत्तिसमापन्नं निसिन्नं संवुतिन्द्रियं ।
वन्दित्वे नालपन्तं तं ञत्वा सङ्घमपुच्छि तं ॥ १२३ ॥

"समापत्तिसमापन्ना नालपन्ती" ति आहु ते ।
"कथं नु वुट्ठहन्ती?" ति वुत्ता आहंसु भिक्खवो ॥ १२४ ॥

२. सोणक : सोणक किसी काशीप्रदेशवासी सार्थवाह (व्यापारी) का पुत्र था । वह कभी व्यापारिक कार्य से माता-पिता के साथ गिरिव्रज (राजगृह) गया था ॥ ११४ ॥

वहाँ वह पन्द्रह वर्ष का कुमार अपने पचास (५०) समानवयस्क साथियों के साथ वेणुवनाराम में पहुँच गया ॥ ११५ ॥

वहाँ वह शिष्यों सहित दासक स्थविर को शान्त भाव से बैठे देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुआ । उसने प्रव्रज्या चाही । परन्तु उन्होंने (दासक स्थविर ने) एतदर्थ गुरुजनों की आज्ञा लेकर आने को कहा ॥ ११६ ॥

यद्यपि पहले तो उसके माता-पिता उसके सन्नद्ध नहीं हुए । परन्तु तीन दिन तक निरन्तर भोजन न करने से इसमें इस (दासक) का अत्यधिक आग्रह देख कर अन्तमें विवश होकर उन्होंने उसे प्रव्रज्या की अनुमति दे दी ॥ ११७ ॥

उसने पुनः अपने पचास साथियों के साथ वेणुवनाराम में लौट कर दासक स्थविर से प्रवजित एवं उपसम्पन्न होकर समग्र त्रिपिटक का अध्ययन किया ॥ ११८ ॥

इस तरह वह ज्येष्ठ सोणक यति दासक स्थविर के एक हजार (१०००) शिष्यों वाले समूह में, जिसमें कि सभी त्रिपिटकज्ञ भिक्षु थे, सर्वप्रमुख रहा ॥ ११९ ॥ (२)

३. सिग्गव : पाटलिपुत्र में किसी प्रज्ञावान् अधिकारी का सिग्गव नामक पुत्र था । उसकी आयु अट्ठारह (१८) वर्ष की ही थी ॥ १२० ॥

तीनों ऋतुओं के अनुकूल दूसरे साथी प्रासादों में वास कर सुखमय जीवन बिताते हुए उसने कभी अपने दूसरे साथी अमात्यपुत्र चण्डवज्जी को साथ लेकर ॥ १२१ ॥

पाँच सौ अङ्गरक्षकों से घिरे रहते हुए, कुक्कुटाराम जाकर सोणक स्थविर के दर्शन किये ॥ १२२ ॥

संयतेन्द्रिय, ध्यानरत, समापत्ति (समाधि) समापन्न उन स्थविर को प्रणाम करने पर आशीर्वाद न देते देखकर उसने भिक्षुओं से उनके विषय में पूछा– ॥ १२३ ॥

भिक्षुओं ने बताया–"समाधिनिष्ठ सन्त किसी से बात-चीत (आलाप) नहीं किया करते ।" "अब ये समाधि से कब उठेंगे?"–यह पूछे जाने पर भिक्षुओं ने बताया– ॥ १२४ ॥

"पक्कोसनाय सत्थुस्स, सङ्घपक्कोसनाय च ।
यथाकालपरिच्छेदा, आयुक्खयवसेन च ॥ १२५ ॥

[W.G. 41] वुड्ढहन्ती" ति वत्वान तेसं दिस्वा पनिस्सयं ।
पाहेसुं सङ्घवचनं वुड्ढाय स तहिं अगा ॥ १२६ ॥

कुमारो पुच्छि–"किं भन्ते! नालपित्था" ति, आह सो ।
"भुञ्जिम्हा भुञ्जितब्ब" ति, आह–"भोजेथ नो अपि" ॥ १२७ ॥

आह– "अम्हादिसे जाते सक्का भोजयितुं" इति ?
"मातापितु अनुञ्ञाय" सो कुमारो थ सिग्गवो ॥ १२८ ॥

चण्डवज्जि च ते पञ्च सतानि पुरिसा पि च ।
पब्बजित्वोपसम्पज्जुं सोणकत्थेरसन्तिके ॥ १२९ ॥

उपज्झायन्तिके येव ते दुवे पिटकत्तयं ।
उग्गहेसुं उस्साहेन छ भिञ्ञा पापुणिसु च ॥ १३० ॥

ञत्वा तिस्सपटिसन्धिं ततो पभुति सिग्गवो ।
थेरो सो सत्तवस्सानि तं घरं उपसङ्कमि ॥ १३१ ॥

"गच्छा" ति वाचमत्तं पि सत्त वस्सानि नालभि ।
अलत्थ अट्ठमे वस्से "गच्छा" ति वचनं तहिं ॥ १३२ ॥

तं निक्खन्तं पविसन्तो दिस्वा मोग्गलिब्राह्मणो ।
"किञ्चि लद्धं नो?" ति पुच्छि,"आमा" ति सो ब्रवि ॥ १३३ ॥

घरं गन्त्वान पुच्छित्वा दुतिये दिवसे ततो ।
मुसावादेन निग्गण्हि थेरं घरमुपागतं ॥ १३४ ॥

थेरस्स वचनं सुत्वा सो पसन्नमनो दिजो ।
अत्तनो पाकतो तस्स निच्चं भिक्खं पवत्तयि ॥ १३५ ॥

"ये चार कारण उपस्थित होने पर ही समाधि से उठ सकते हैं– १. या तो इन्हें इस अवस्था में शास्ता बुलावें, २ या सङ्घ बुलावे, ३. या समाधि का काल पूर्ण हो गया हो, ४ या फिर आयुःक्षय समीप आ गया हो" ।। १२५ ।।

यह कह कर, भिक्षुओं ने उनकी अर्ह त्व प्राप्ति की सम्भावना देखकर, सङ्घ की ओर से सूचना भेजी । तब वे स्थविर समाधि से उठकर वहाँ आ गये ।। १२६ ।।

सिग्गव कुमार ने उनसे पूछा–" भन्ते! आप मेरी बात का उत्तर क्यों नहीं दे रहे थे ?" स्थविर ने कहा–"अपना भोग े योग्य भोग रहे थे ।" कुमार ने कहा– "ऐसा भोग हमें भी भोगने दीजिये?" ।। १२७ ।।

स्थविर ने कहा– "हमारे ऐसा बन कर ही तुम उसे भोग सकते हो ।" तब वह सिग्गव कुमार माता पिता की आज्ञा लेकर ।। १२८ ।।

तथा दूसरा अमात्यकुमार चण्डवज्जी एवं वे पाँच सौ (५००) अङ्गरक्षक–सभी ने सोणक स्थविर से प्रव्रज्या ग्रहण कर उपसम्पदा प्राप्त कर ली ।। १२९ ।।

उन दोनों ने उपाध्याय से ही तीनों पिटकों का उत्साहपूर्वक अध्ययन किया । और वे अन्त में छह अभिज्ञाओं को भी प्राप्त कर सके ।। १३० ।। (३)

अन्तःकथा समाप्त ।।

तिष्य को उत्पन्न हुआ जानकर उसी समय से सिग्गव स्थविर निरन्तर सात वर्ष तक मोग्गलि ब्राह्मण के घर (भिक्षा के समय) जाते रहे ।। १३१ ।।

"आगे जाओ"–यह वचन भी सिग्गव स्थविर को सात वर्ष तक उस घर से सुनने को नहीं मिला । आठवें वर्ष एक वार" आगे जाओ"– ऐसा वचन उस घर से सुनने को मिला ।। १३२ ।।

यह सुनकर उस सिग्गव स्थविर को घर से निकलते हु देखकर मोग्गलि ब्राह्मण ने पूछा– "हमारे घर से कुछ मिला?" स्थविर ने उत्तर दिया–"हाँ !" ।। १३३ ।।

घर में जाकर मोग्गलि ब्राह्मण ने पूछा ते उसे सचाई ज्ञात हुई । उसने दूसरे दिन घर आये स्थविर को असत्य-भाषण का आरोप लगाया ।। १३४ ।।

परन्तु स्थविर से अपनी बात का स्पष्टीकरण पाकर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ । तथा अपने लिये बने भोजन में से उन्हें नित्य भिक्षा देने लगा[1] ।। १३५ ।।

---

1. मिलिन्दपञ्ह के अन्तर्गत नागसेन-जन्मकथा से इस कथा की तुलना करें–अनु. ।

[W.G. 42] कमेनस्स पसीदिंसु सब्बे पि घरमानुसा ।
भोजापेसि दिजो निच्चं निसीदापिय तं घरे ॥ १३६ ॥

एवं कमेन गच्छन्ते काले सोळसवस्सिको ।
अहु तिस्सकुमारो सो तिवेदोदधिपारगो ॥ १३७ ॥

थेरो "कथासमुट्ठानं हेस्सतेवं" ति तग्घरे ।
आसनानि न दस्सेसि ठपेत्वा माणवासनं ॥ १३८ ॥

ब्रह्मलोका आगतत्ता सुचिकामो अहोसि सो ।
तस्मा सो तस्स पल्लङ्को तासयित्वा लगीयति ॥ १३९ ॥

अञ्ञासनं अपस्सन्तो ठिते थेरे ससम्भमो ।
तस्स तं आसनं तस्स पञ्ञापेसि घरे जनो ॥ १४० ॥

दिस्वा तत्थ निसिन्नं तं आगम्माचरियन्तिका ।
कुज्झित्वा माणवो वाचममनापमुदीरयि ॥ १४१ ॥

थेरो "माणव! किं मन्तं जानासी" ति तमब्रवि ।
तमेव पुच्छं थेरस्स पच्चारोपेसि माणवो ॥ १४२ ॥

"जानामी" ति पटिञ्ञाते थेरे, थेरमपुच्छि सो ।
गन्थिट्ठानानि वेदेसु, तस्स थेरो वियाकरि ॥ १४३ ॥

गहट्ठो येव थेरो सो वेदपारगतो अहु ।
न व्याकरेय्यं किं तस्स पभिन्नपटिसम्भिदो! ॥ १४४ ॥

"यस्स चित्तं उप्पज्जति न निरुज्झति, तस्स चित्तं निरुज्झिस्सति नुप्पज्जिस्सति । यस्स वा पन चित्तं निरुज्झिस्सति नुप्पज्जिस्सति, तस्स चित्तं उप्पज्जति न निरुज्झती" ति ॥ १४५ ॥

(यमकपालि)

क्रमशः उस ब्राह्मण-गृह के सभी पारिवारिक जन सिग्गव स्थविर के प्रति श्रद्धालु हो गये । तब वह ब्राह्मण स्थविर को घर में ही बैठा कर भोजन कराने लगा ॥ १३६ ॥

इस तरह, क्रमशः समय बीतते बीतते, वह तिष्य कुमार सोलह वर्ष का हो गया और उसने इसी बीच तीनों ही वेदों का अध्ययन कर डाला ॥ १३७ ॥

स्थविर ने सोचा–"सम्भवतः इस घर में हमारी बातचीत का क्रम इस घटना से चल सके !" उस घर में एक दिन स्थविर को बैठने के लिये कोई आसन न दिखायी दिया, केवल माणव के आसन को छोड़ कर ॥ १३८ ॥

वह माणव, ब्रह्मलोक से आने के कारण, सर्वप्रकार की शुद्धि का पूर्ण ध्यान रखता था । इसलिये उसका आसन भी घर के अन्य वस्त्रों से दूर हटा कर रखा जाता था । उस पर किसी के बैठने की तो कल्पना ही नहीं थी ॥ १३९ ॥

घर में दूसरी कोई आसन न देखते हुए घरवालों ने स्थविर को निश्चिन्ता पूर्वक माणव के आसन पर ही बैठा दिया ॥ १४० ॥

आचार्यकुल से वापस लौट कर माणव ने जब अपने आसन पर स्थविर को बैठे देखा तो माणव ने क्रुद्ध होकर स्थविर को बहुत कुछ अनर्गल कह डाला ॥ १४१ ॥

तब स्थविर ने माणव से पूछा– "क्या तुम मन्त्र जानते हो?" माणवक ने भी पलट कर स्थविर से प्रश्न कर डाला ॥ १४२ ॥

स्थविर ने कहा–"हाँ! जानता हूँ ।" तब माणव ने वेदों के गूढ स्थानों से प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया । स्थविर ने सभी प्रश्नों का समुचित उत्तर दिया ॥ १४३ ॥

क्योंकि स्थविर तो गृहस्थ धर्म में रहते हुए तीनों वेदों का सूक्ष्मतया अध्ययन कर चुके थे । फिर दूसरी बात यह भी थी कि प्रतिसंविदाप्राप्त योगी के लिये किसी प्रश्न उत्तर देना दुष्कर है! ॥ १४४ ॥

अन्त में चित्त **यमकपालि** के पाठ के अनुसार स्थविर ने माणवक से पूछा– "जिसका चित्त उत्पन्न होता है निरुद्ध नहीं होता, उस का चित्त निरुद्ध होगा उत्पन्न न होगा । किन्तु जिसका चित्त निरुद्ध होगा उत्पन्न नहीं होगा उसका चित्त उत्पन्न होता है, निरुद्ध नहीं होता" ॥ १४५ ॥

[W.G. 43] तं चित्तयमके पञ्हं पुच्छि थेरो विसारदो ।
अन्धकारो विय अहू तस्स सो, तमवोच सो ॥ १४६ ॥

"भिक्खु, को नाम मन्तो ?"ति,"बुद्धमन्तो ति सो ब्रवि ।
"देही" ति वुत्ते "नो, वेसधारिणो दम्मि तं" इति ॥ १४७ ॥

मातापितूहि नुञ्ञातो मन्तत्थाय स पब्बजि ।
कम्मट्ठानमदा थेरो पब्बाजेत्वा यथारहं ॥ १४८ ॥

भावनमनुयुञ्जन्तो अचिरेण महामति ।
सोतापत्तिफलं पत्तो, थेरो ञत्वान तं तथा ॥ १४९ ॥

पेसेसि चण्डवज्जिस्स थेरस्सन्तिकमुग्गहं ।
कातुं सुत्ताभिधम्मानं, सो तत्थाका तदुग्गहं ॥ १५० ॥

उपसम्पादयित्वा तं काले सो सिग्गवो यति ।
विनयं उग्गहापेसि पुन सेसद्वयं पि च ॥ १५१ ॥

ततो सो तिस्सदहरो आरभित्वा विपस्सनं ।
छळभिञ्ञो अहू काले थेरभावं च पापुणि ॥ १५२ ॥

अतीव पाकटो आसि चन्दो व सुरियो व सो ।
लोको तस्स वचो मञ्ञि सम्बुद्धस्स वचो विय ॥ १५३ ॥

मोग्गलिपुत्ततिस्सत्थेरोदयो निट्ठितो ॥

एकाहं उपराजा सो अद्दक्खि मिगवं गतो ।
कीलमाने मृगे रञ्ञे दिस्वा एतं विचिन्तयि ॥ १५४ ॥

[W.G. 44] "मिगा पि एवं कीलन्ति अरञ्ञे तिणगोचरा ।
न कीलिस्सन्ति किं भिक्खू सुखाहारविहारिनो ?"॥ १५५ ॥

इस प्रश्न का उत्तर देना उसके लिये अन्धकार सा हो गया वह अवाक् रह गया । तब उसने स्थविर से पूछा– ॥ १४६ ॥

माणवक ने पूछा– "भन्ते ! इस मन्त्र का क्या नाम है?" स्थविर ने कहा– "बुद्धमन्त्र ।" माणवक– "यह हमें भी सिखाइये ।" स्थविर– "यह तो हम अपने जैसे वेषधारी को ही देते हैं, अन्य को नहीं ॥" १४७ ॥

इस मन्त्र-ग्रहण के लिये माता-पिता से अनुज्ञात उस माणवक ने प्रव्रज्या प्राप्त की । प्रव्रज्या के बाद स्थविर ने उसको कर्मस्थान (साधनोपाय) का उपदेश किया ॥ १४८ ॥

वह महामति तिष्य यों क्रमशः साधना करता हुआ कुछ ही समय में स्रोतआपत्तिफलमार्गारूढ़ हो गया । उसे इस स्थिति में जानकर ॥ १४९ ॥

स्थविर ने उसको गुरुभाई चण्डवज्जी के पास सूत्र और अभिधर्म का अध्ययन (उद्ग्रहण) करने के लिये भेजा । वहाँ इसने इन दोनों संग्रहों का अध्ययन किया ॥ १५० ॥

समय आने पर उसको सिग्गव स्थविर ने उपसम्पन्न किया, तथा उसको विनयपिटक पढ़ाया । शेष सूत्र और अभिधर्म– दोनों भी पढ़ाये ॥ १५१ ॥

तब उस तरुण तिष्य ने विपश्यना (अध्यात्मदृष्टि) का अभ्यास आरम्भ किया ! इस विपश्यना-साधना के बल पर उसने छहों अभिज्ञाएँ एवं अर्हत्त्व (स्थविरभाव) प्राप्त कर लिये ॥ १५२ ॥

फिर वह तिष्य स्थविर जगत् में उसी तरह प्रसिद्ध हुए जैसे सूर्य और चन्द्रमा प्रकट हैं । फिर उनके वचन (धार्मिक निर्णय) उसी तरह प्रामाणिक माने जाने लगे जैसे भगवान् बुद्ध के माने जाते हैं ॥ १५३ ॥

मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर प्रादुर्भाववर्णन समाप्त ॥

उपराज का मोह-भङ्ग– एक दिन युवराज (तिष्य) आखेट खेलने के लिये वन में गया । वहाँ उसने वन में मृगों को कामक्रीड़ा करते हुए देखा । देखकर उसने सोचा–॥ १५४ ॥

"जब सूखे तृणमात्र खाने वाले वन में ये मृग भी यों कामक्रीड़ासक्त हैं तो वे भिक्षु, जो दिन-रात सुख से खाते-पीते तथा सोते हैं, कामक्रीड़ारत क्यों नहीं होंगे !" ॥ १५५ ॥

अत्तनो चिन्तितं रञ्ञो आरोचेसि घरं गतो।
सञ्ञापेतुं तु सत्ताहं रज्जं तस्स अदासि सो ॥ १५६ ॥

"अनुभोहि इमं रज्जं सत्ताहं त्वं कुमारक!
ततो तं घातयिस्सामि" इच्चवोच महीपति ॥ १५७ ॥

आहातीतम्हि सत्ताहे–"त्वं केनासि किसो? "इति।
"मरणस्स भयेना" ति वुत्ते राजाह तं पुन ॥ १५८ ॥

'सत्ताहाहं मरिस्सं' ति त्वं न कीलि, इमे कथं।
कीलिस्सन्ति यती तात सदा मरणसञ्ञिनो ?"॥ १५९ ॥

इच्चेवं भातरा वुत्तो सासनस्मिं पसीदि सो।
कालेन मिगवं गन्त्वा थेरं उद्दक्खि संयतं ॥ १६० ॥

निसिन्नं रुक्खमूलस्मिं सो महाधम्मरक्खितं।
सालसाखाय नागेन वीजयन्तं अनासवं ॥ १६१ ॥

"अयं थेरो वियाहं पि पब्बज्ज जिनसासने।
विहरिस्सं कदारञ्ञे?" इति चिन्तयि पञ्ञवा ॥ १६२ ॥

थेरो तस्स पसादत्थं उप्पतित्वा विहायसा।
गन्त्वा असोकारामस्स पोक्खरञ्ञा जले ठितो ॥ १६३ ॥

आकासे ठपयित्वान चीवरानि वरानि सो।
ओगाहित्वा पोक्खरणिं गत्तानि परिसिञ्चथ ॥ १६४ ॥

[W.G. 45] तं इद्धिं उपराजा सो दिस्वातीव पसीदिय।
"अज्जेव पब्बजिस्सं" ति बुद्धिं चाकासि बुद्धिमा ॥ १६५ ॥

उपसङ्कमित्वा राजानं पब्बज्जं याचि सादरो।
निवारेतुं असक्कोन्तो तमादाय महीपति ॥ १६६ ॥

उससे अपना यह विचार, महल में जाकर राजा को बताया ।

उसे, वास्तविकता-उद्बोधन के लिये उचित शिक्षा हेतु, राजा ने उसको समग्र राज्य प्रदान कर दिया ॥ १५६ ॥

और कहा–"तात! तुम इस राज्य का सप्ताहपर्यन्त यथेच्छ उपभोग करो । सप्ताहानन्तर तुम्हें प्राणदण्ड (हत्या) दे दिया जायगा" ॥ १५७ ॥

सप्ताह बीतने पर राजा ने उपराज तिष्य से पूछा–"तात! तुम इतने दुर्बल क्यों हो गये ?" उपराज ने कहा–"मृत्यु के भय से ।" तब राजा ने उससे कहा– १५८ ॥

"तात! जब तुमने 'मैं सप्ताह के बाद मारा जाऊँगा!' यह सोचकर ही आमोद-प्रमोद में भाग नहीं लिया तो जो भिक्षु निरन्तर मरणभावना का अभ्यास करते रहते हैं, वे कामक्रीड़ासक्त कैसे होंगे!" ॥ १५९ ॥

भ्राता (राजा) द्वारा यों समझाये जाने पर, तिष्य भी धर्म-शासन के प्रति श्रद्धालु हो गया ।

उपराज तिष्य का सङ्कल्प– समय पाकर वह कभी फिर वन में आखेटहेतु गया । वहाँ उसने किसी संयतेन्द्रिय भिक्षु को किसी वृक्ष के नीचे समाधिस्थ देखा ॥ १६० ॥

वहाँ धर्मरक्षित स्थविर वृक्षमूल में विराजमान थे । तथा ऊपर शालवृक्ष में लिपटा एक विशालकाय सर्प क्षीणथव को मुखसे पङ्खा झल रहा था ॥ १६१ ॥

यह देखकर उस मतिमान् ने सोचा–"क्या मैं भी कभी इस महास्थविर की तरह बुद्ध-धर्म में प्रव्रज्या लेकर इसी तरह साधना कर पाउँगा!" ॥ १६२ ॥

स्थविर, उस तिष्य की धर्म के प्रति कुछ और अधिक श्रद्धा बढ़ाने के लिये, आकाशमार्ग से आकर असोकाराम की पुष्करिणी के जल पर खड़े हो गये ॥ १६३ ॥

फिर उन्होंने आकाश में ही अपने चीवर फेंककर पुष्करिणी के जल में अवगाहन किया । तथा अ पने शरीर के अङ्गों को प्रक्षालित किया ॥ १६४ ॥

वह चमत्कार देख कर उपराज तिष्य धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु हुआ । उस ने "आज ही प्रव्रजित होऊँगा"–ऐसा मन बनाया ॥ १६५ ॥

तब उसने राजा से प्रव्रज्या के लिये ससम्मान अनुमति माँगी । महीपति भी उसके इस धर्मोद्वेग को रोक नहीं पाये (अतः उसे साथ लेकर) ॥ १६६ ॥

महता परिवारेन विहारं अगमासि तं ।
पब्बजि सो महाधम्मरक्खितत्थेरसन्तिके ॥ १६७ ॥

सद्धिं तेन चतुसतसहस्सानि नरा पि च ।
अनुपब्बजितानं तु गणना च न वज्जंति ॥ १६८ ॥

भागिनेय्यो नरिन्दस्स अग्गिब्रह्मा ति विस्सुतो ।
अहोसि रञ्ञो धीताय सङ्घमित्त य सामिको ॥ १६९ ॥

तस्सा तस्स सुतो चापि सुमनो नाम नामतो ।
याचित्वा सो पि राजानं उपराजेन पब्बजि ॥ १७० ॥

उपराजस्स पब्बज्जा तस्सासोकस्स राजिनो ।
चतुत्थे आसि वस्से सा महाजनहितोदया ॥ १७१ ॥

तत्थेव उपसम्पन्नो सम्पन्नउपनिस्सयो ।
घटेन्तो उपराजा सो छळभिञ्ञो रहा अहु ॥ १७२ ॥

विहारे ते समारद्धे सब्बे सब्बपुरेसु पि ।
साधुकं तीहि वस्सेहि निट्ठापेसुं मनोरमे ॥ १७३ ॥

थेरस्स इन्दगुत्तस्स कम्माधिट्ठायकस्स तु ।
इद्धिया चासु निट्ठासि असोकारामसह्वयो ॥ १७४ ॥

[W.G. 46] जिनेन परिभुत्तेसु ठानेसु च तहिं तहिं ।
चेतियानि अकारेसि रमणीयानि भूपति ॥ १७५ ॥

पुरेहि चतुरासीतिसहस्सेहि समन्ततो ।
लेखे एकाहमानेसुं–"विहारा निट्ठिता" इति ॥ १७६ ॥

लेखे सुत्वा महाराजा महातेजिद्धिविक्कमो ।
कातुकामो सकिं येव सब्बाराममहामहं ॥ १७७ ॥

अपने विशाल परिवार के साथ विहार पहुँचे । वहाँ उपराज तिष्य ने धर्मरक्षित स्थविर से प्रव्रज्या प्राप्त की ॥ १६७ ॥

उसके साथ ही अन्य चार लाख (४, 00.000) साधारण जनों ने प्रवज्या ग्रहण की । उनके पीछे कितने अन्य लोग उस दिन प्रव्रजित हुए–इसकी तो गणना ही न हो सकी ॥ १६८ ॥

अग्निब्रह्मा की प्रव्रज्या–सम्राट् का एक भागिनेय था, जिसका नाम अग्नि-ब्रह्मा था । वह सम्राट् की पुत्री सङ्घमित्र का पति था ॥ १६९ ॥

उन दोनों के पुत्र का नाम सुमन था । उस अग्निब्रह्मा ने राजा से प्रव्रज्या की अनुमति माँगी । राजा ने युवराज के साथ ही उसके भी प्रव्रजित करा दिया ॥ १७० ॥

उस उपराज की प्रव्रज्या राजा के राज्यभिषेक से चतुर्थ वर्ष में सम्पन्न हुई । जो कि सब तरह से लोककल्याणकारक ही समझी गयी ॥ १७१ ॥

इस तरह उपसम्पन्न वह भागिनेव कुछ ही समय में साधना के बल पर षडभिज्ञ हो गया ॥ १७२ ॥

विहार-निर्माण–नगर-नगर में जिन महाविहारों का निर्माण कुछ समय पूर्व सम्राट् ने प्रारम्भ कराया था वे भी, तीन वर्ष के इस अल्पकाल में ही, पूर्णतः भव्य रूप में निर्मित हो चुके थे ॥ १७३ ॥

उधर पाटलिपुत्र में प्रधान कर्माधिष्ठायक स्थविर इन्द्रगुप्त के ऋद्धिबल के प्रभाव से वह अशोकारामविहार भी शीघ्र ही बन कर तैयार हो गया ॥ १७४ ॥

इसी तरह भूपति ने उन उन स्थानों पर भी चैत्यनिर्माण करवाये जिन स्थानों का उपयोग अपने जीवन-काल में भगवान् तथागत ने किया था ॥ १७५ ॥

यों, चारों तरफ के चौरासी हजार (८४,000) नगरों से एक साथ एक ही दिन विहार-निर्माण पूर्ण होने के समाचार (लेख) भी आ गये ॥ १७६ ॥

इन लेखों (पत्रों) को सुनकर महान् तेजस्वी, ऋद्धिसम्पन्न, बलशाली सम्राट् बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने एक वार में ही सभी महाविहारों का विशेष प्रभावशाली उद्घाटनोत्सव के आयोजन का निश्चय किया ॥ १७७ ॥

पुरे भेरिं चरापेसिः "सत्तमे दिवसे इतो ।
सब्बाराममहो होतु सब्बदेसेसु सब्बथा ॥ १७८ ॥

योजने योजने देन्तु महादानं महातले ।
करोन्तु गामारामानं मग्गानं च विभूसनं ॥ १७९ ॥

विहारेसु च सब्बेसु भिक्खुसङ्घस्स सब्बथा ।
महादानानि वत्तेन्तु यथाकालं यथाबलं ॥ १८० ॥

दीपमाला-पुप्फमालालङ्कारे च तहिं तहिं ।
तुरियेहि च सब्बेहि उपहारं अनेकधा ॥ १८१ ॥

उपोसथङ्गानादाय सब्बे धम्मं सुणन्तु च ।
पूजाविसेसे नेके च करोन्तु तदहे पि च" ॥ १८२ ॥

सब्बे सब्बत्थ सब्बथा यथाणत्ताधिका पि च ।
पूजा सम्पटियादेसुं देवलोकमनोरमा ॥ १८३ ॥

तस्मिं दिने महाराजा सब्बालङ्कारभूसितो ।
सहोरोधो सहामच्चो बलोघपरिवारितो ॥ १८४ ॥

अगमासि सकारामं भिन्दन्तो विय मेदिनिं ।
सङ्घमज्झम्हि अट्ठासि वन्दित्वा सङ्घमुत्तमं ॥ १८५ ॥

तस्मिं समागमे आसुं असीतिभिक्खुकोटियो ।
अहेसुं सतसहस्सं तेसु खीणासवा यती ॥ १८६ ॥

नवुति सतसहस्सानि आसुं भिक्खुनियो तहिं ।
खीणासवा भिक्खुनियो सहस्सं आसु तासु तु ॥ १८७ ॥

[W.G. 47] लोकविवरणं नाम पाटिहीरं अकंसु ते ।
खीणासवा पसादत्थं धम्मासोकस्स राजिनो ॥ १८८ ॥

उसने नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया–"आज से सातवें दिन उन-उन देशों में निर्मित सभी विहारों का उद्घाटनोत्सव विशेष उत्साह के साथ मनाया जायगा ॥ १७८ ॥

"समग्र भूमण्डल में योजन योजन की दूरी पर महादान के वितरण का आयोजन किया जाय । ग्रामस्थ विहार तथा मार्ग भी नयनाभिराम पद्धति से सजाये जाँय ॥ १७९ ॥

"इस अवसर पर सभी विहारों में भिक्षुसङ्घ के लिये यथासमय यथाशक्ति महादानवितरण आयोजित किया जाय ॥ १८० ॥

इस दिन दीपमालाओं, तथा पुष्पमालाओं से अपने भवनों को सजाते हुए, विविध वाद्यों के ासथ नाना प्रकार के उपहारों सहित उपोसथ व्रत रखें । धर्म-पाठ सुनें तथा इसी तरह की अन्य पूजाएँ करें" ॥ १८१-८२ ॥

सम्राट् का यह आदेश सुनकर जनता ने सर्वत्र सब तरह से वह महोत्सव इस विधि से मनाया कि राजाज्ञा से भी बढ़कर उसमें उत्साह दिखायी दिया । उस-पूजा महोत्सव की छटा महोत्सव की छटा, दिव्यता एवं मनोहरता में देवलोक की बराबरी कर रही थी ॥ १८३ ॥

उस दिन सम्राट् सभी आभूषणों से सज-धज कर, अपने अन्तःपुर तथा प्रधान अधिकारियों के साथ बहुत विशाल सेना से परिवृत होकर ॥ १८४ ॥

अपने नाम से निर्मापित **अशोकाराम** में इतनी सज-धज तथा बाजे-गाजे एवं धूम-धड़ाके के साथ गया मानो पृथ्वी फट पड़ी हो । वहाँ वह अनुपम सङ्घ को प्रणाम कर सङ्घ के बीच, नम्रता के साथ, खड़ा हो गया ॥ १८५ ॥

उस समारोह (समागम) में अस्सी करोड़ (८0,00,00,000) तो भिक्षु ही एकत्र हो गये थे । **और** उन में एक लाख (१,00,000) क्षीणस्रव (अर्हत्) भिक्षु थे ॥ १८६ ॥

नब्बे लाख (९0,00,000) भिक्षुणियाँ भी एकत्र हो गयी थीं । उनमें एक हजार भिक्षुणियाँ अर्हत्त्वप्राप्त थीं ॥ १८७ ॥

उस समय क्षीणास्रव स्थविरों ने महाराज धर्मासोक की धर्म में श्रद्धावृद्धि हेतु उस समय 'लोकविवरण' नामक ऋद्धिप्रतिहार्य दिखाया ॥ १८८ ॥

'चण्डासोको' ति ञायित्थ पुरे पापेन कम्मुना ।
'धम्मासोको' ति ञायित्थ पच्छा पुञ्ञेन कम्मुना ॥ १८९ ॥

समुद्दपरियन्तं सो जम्बुदीपं समन्ततो ।
पस्सि सब्बे विहारे च नानापूजाविभूसिते ॥ १९० ॥

अतीव तुट्ठो ते दिस्वा सङ्घं पुच्छि निसीदिय ।
"कस्स, भन्ते, परिच्चागो महा सुगतसासने?" ॥ १९१ ॥

थेरो मोग्गलिपुत्तो सो रञ्ञो पञ्हं वियाकरि ।
"धरमाने पि सुगते नत्थि चागी तया समो ॥ १९२ ॥

तं सुत्वा वचनं भिय्यो तुट्ठो राजा अपुच्छि तं ।
"बुद्धसासनदायादो होति खो मादिसो?" इति ॥ १९३ ॥

थेरो तु राजपुत्तस्स महिन्दस्सोपनिस्सयं ।
तथेव राजधीताय सङ्घमित्ताय पेक्खिय ॥ १९४ ॥

सासनस्साभिवुद्धिं च तंहेतुकमवेक्खिय ।
पच्छा भासथ राजानं सो सासनधुरन्धरो ॥ १९५ ॥

"तादिसो पि महाचागी दायादो सासनस्स न ।
पच्चयदायको चेव वुच्चते, मनुजाधिप ! ॥ १९६ ॥

यो तु पुत्तं धीतरं वा पब्बज्जापेसि सासने ।
सो सासनस्स दायादो होति, नो दायको अपि" ॥ १९७ ॥

अथ सासनदायादभावं इच्छं महीपति ।
महिन्दं सङ्घमित्तं च ठिते तत्थ अपुच्छिथ ॥ १९८ ॥

"पब्बजिस्सथ किं ताता ? पब्बज्जा महती मता" ।
पितुनो वचनं सुत्वा पितरं ते अभासिसुं ॥ १९९ ॥

(उसमें दिखाया गया कि) जो कभी अपने पापकर्मों के कारण लोक में 'चण्डाशोक' नामसे कुख्यात था, वही आज अपने सतत्कर्मो के कारण 'धर्माशोक' नाम से सुख्यात हो गया ॥ १८९ ॥

(महाराज अशोक ने देखा कि) समुद्र तक फैल समग्र जम्बुद्वीप में चारों तरफ बने सबी नवनिर्मित विहारों में नाना प्रकार की पूजाएँ हो रही हैं ॥ १९० ॥

बुद्ध शासन का दायाद– यह प्रातिहार्य (चमत्कार) देखकर अतीव सन्तुष्ट सम्राट् ने एक तरफ बैठकर सङ्घ (स्थविरों) से पूछा– "भन्ते! बुद्धशासन में अब तक किस त्याग महात्याग (परित्याग) कहला सकता है"? ॥ १९१ ॥

मोग्गलिपुत्त तिष्य स्थविर ने राजा को उत्तर दिया–"राजन्! भगवान् के समय में भी तुम्हारे जैसा दानी (त्यागी) दूसरा नहीं हुआ । फिर आज की तो बात ही क्या !" ॥ १९२ ॥

यह सुनकर कर सन्तुष्ट राजा ने उन स्थविर से पूछा–" बुद्धशासन का दायाद (आत्मीय या उत्तराधिकारी) कोई मेरे जैसा बन सकता है ?" ॥ १९३ ॥

राजा का यह प्रश्न सुनकर तिष्य स्थविर ने राजकुमार महेन्द्र तथा राजकुमारी सङ्घमित्रा का उपनिश्रय (भविष्य में अर्हत्त्व प्राप्ति का आधार) ॥ १९४ ॥

तथा उनके माध्यम (तद्धेतुक) से शासन की अभिवृद्धि को देखते हुए उस शासन-धुरन्धर स्थविर ने राजा को उत्तर दिया– ॥ १९५ ॥

"नराधिप! आप जैसा महात्यागी भी 'शासन का दायाद' नहीं कहला सकता, 'महादानी' ही कहला सकता है ॥ १९६ ॥

"हाँ! जो अपने पुत्र तथा पुत्री को भी शासन में प्रव्रजित कर दे वही 'दायाद' हो सकता है, अन्य महादानी भी दायाद नहीं कहला सकता" ॥ १९७ ॥

महेन्द्र एवं सङ्घमित्रा की प्रव्रज्या– तब राजा ने स्वयं को शासन का दायाद बनने की अत्युत्कट इच्छा से वहाँ पास बैठे राजकुमार महेन्द्र एवं सङ्घमित्रा से पूछा– ॥ १९८ ॥

"पुत्रो! क्या तुम प्रव्रजित हो सकते हो ? क्यों कि प्रव्रज्या (श्रामण्यभाव) उभय लोकों में ही अत्यधिक फलप्पद मानी गयी है ।" पिता का यह वचन सुनकर उन्होंने पिता को यह उत्तर दिया– ॥ १९९ ॥

[W.G. 48] "अज्जेव पब्बजिस्साम सचे त्वं देव! इच्छसि ।
अम्हं च लाभो तुय्हं च पब्बजित्वा भविस्सति" ॥ २०० ॥

उपराजस्स पब्बज्जाकालतो पभुती हि सो ।
सा चापि अग्गिब्रह्मस्स पब्बज्जाकतनिच्छया ॥ २०१ ॥

उपरज्जं महिन्दस्स दातुकामो पि भूपति ।
ततो पि अधिका सा ति पब्बज्जं येव रोचयि ॥ २०२ ॥

पियं पुत्तं महिन्दं च बुद्धिरूपबलोदितं ।
पब्बज्जापेसि समहं सङ्घमित्तं च धीतरं ॥ २०३ ॥

तदा वीसतिवस्सो सो महिन्दो राजनन्दनो ।
सङ्घमित्ता राजधीता अट्ठारससमा तदा ॥ २०४ ॥

तदहेव अहू तस्स पब्बज्जा उपसम्पदा ।
पब्बज्जा सिक्खदानं च तस्सा च तदहू अहु ॥ २०५ ॥

उपज्झायो कुमारस्स अहु मोग्गलिसव्हयो ।
पब्बाजेसि महादेवत्थेरो, मज्झन्तिको पन ॥ २०६ ॥

कम्मवाचं अका, तस्मिं सोपसम्पदमण्डले ।
अरहत्तं महासत्तो पत्तो सपटिसम्भिदं ॥ २०७ ॥

सङ्घमित्तायुपज्झाया धम्मपाला ति विस्सुता ।
आचरिया आयुपाला, काले सासि अनासवा ॥ २०८ ॥

उभो सासनपज्जोता लङ्कादीपोपकारिनो ।
छट्ठे वस्से पब्बजिंसु धम्मासोकस्स राजिनो ॥ २०९ ॥

"देव ! यदि आप की अनुमति (इच्छा) हो तो हम आज ही प्रव्रजित हो सकते हैं, क्योंकि हमारी इस प्रव्रज्या से हमारा और आपका–दोनों का ही लाभ होगा ॥ २०० ॥

उपराज तिष्य के प्रव्रज्या-ग्रहण के समय से ही कुमार महेन्द्र की भी प्रव्रजित होने की इच्छा थी, उधर अग्निब्रह्मा के प्रव्रजित होने के बाद सङ्घमित्रा भी प्रव्रजित होने का मन बना रही थी ॥ २०१ ॥

यद्यपि भूपति (अशोक) महेन्द्र को अपना युवराज बनाने की इच्छा भी मनमें सँजोये हुए थे, परन्तु 'प्रवज्या युवराजपद से अधिक फलदायिनी है'–यह सोच कर ॥ २०२ ॥

उन्होंने अपने प्रिय पुत्र महेन्द्र को, जो कि बुद्धि रूप एवं बल– तीनों में ही अद्वितीय था, उत्सवपूर्वक प्रव्रजित करा दिया । साथ ही पुत्री सङ्घमित्रा को भी प्रव्रजित करा दिया ॥ २०३ ॥

प्रव्रज्या के समय राजकुमार महेन्द्र की बीस (२०) वर्ष की आयु थी । तथा राजपुत्री सङ्घमित्रा की आयु अट्ठारह (१८) वर्ष थी ॥ २०४ ॥

उस राजकुमार महेन्द्र की प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा– दोनों एक साथ उसी दिन हो गये । परन्तु सङ्घमित्रा के प्रव्रज्या एवं शिक्षादान कर्म ही हुए । (उपसम्पदा नहीं हुई; क्योंकि विनय-नियम के अनुसार स्त्रियों को उपसम्पदा के लिये दो वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है ।) ॥ २०४ ॥

प्रव्रज्या की विधि में, महेन्द्र के उपाध्याय बने मोग्गलिपुत्र तिष्य तथा प्रव्रज्या देने वाले बने महादेव स्थविर । मध्यमक स्थविर ने कर्म्मवाक् (उपसम्पदा में बुद्ध-वचनों की पाठ क्रिया) पढ़ी यों महासत्त्व महेन्द्र उपसम्पन्न होते समय ही प्रतिसंविदाओं सहित अर्हत्त्व के लाभी हो गये ॥ २०६-२०७ ॥

सङ्घमित्रा की उपाध्याय बनी विख्यात धर्मपाला थेरी । तथा आचार्य बनी आयुपाला थेरी । समय आने पर वह भी क्षीणास्रव (अर्हत्) हो गयी ॥ २०८ ॥

ये धर्मप्रकाशक, लङ्काद्वीपोपकारक महेन्द्र एवं सङ्घमित्रा–दोनों ही सम्राट् अशोक के राज्यारोहण के छठे वर्ष में प्रव्रजित हुए ॥ २०९ ॥

महामहिन्दो वस्सेहि तीहि दीपप्पसादको ।
पिटकत्तयमुग्गण्हि उपज्झायस्स सन्तिके ॥ २१० ॥

W.G. 49] सा भिक्खुनी चन्दलेखा, महिन्दो भिक्खुसूरियो ।
सम्बुद्धसासनाकासं ते सदा सोभयं तदा ॥ २११ ॥

पुब्बे पाटलिपुत्तम्हा वने वनचरो चरं ।
कुन्तिकिन्नरिया सद्धिं संवासं कप्पयी किर ॥ २१२ ॥

तेन संवासमन्वाय सा पुत्ते जनयी दुवे ।
तिस्सो जेट्ठो, कनिट्ठो तु सुमितो नाम नामतो ॥ २१३ ॥

महावरुणथेरस्स काले पब्बज्ज सन्तिके ।
अरहत्तं पापुणिंसु छळभिञ्ञगुणं उभो ॥ २१४ ॥

पादे कीटविसेनासि फुट्ठो जेट्ठो सवेदनो ।
आह पुट्ठो कनिट्ठेन भेसज्जं पसतं घतं ॥ २१५ ॥

थेरो निवेदनं रञ्ञो गिलानप्पच्चये पि च ।
सप्पित्थं च चरणं पच्छाभत्तं पटिक्खिपि ॥ २१६ ॥

"पिण्डाय चे चरं सप्पिं लभसे त्वं तमाहर ।
इच्चाह तिस्सत्थेरो सो सुमित्तं थेरमुत्तमं ॥ २१७ ॥

पिण्डाय चरता तेन न लद्धं पसतं घतं ।
सप्पिकुम्भसतेनापि व्याधिजातो असाधियो ॥ २१८ ॥

तेनेव व्याधिना थेरो पत्तो आयुक्खयन्तिकं ।
ओवदित्वाप्पमादेन निब्बातुं मानसं अका ॥ २१९ ॥

आकासम्हि निसीदित्वा तेजोझानवसेन सो ।
यथारुचि अधिट्ठाय सरीरं परिनिब्बुतो ॥ २२० ॥

लङ्काद्वीप के लिये श्रद्धास्थानमूल महेन्द्र ने अपने उपाध्याय से तीन वर्ष में तीनों पिटकों का अध्ययन कर लिया ॥ २१० ॥

उस समय सङ्घमित्रा भिक्षुणी चन्द्रकला के समान तथा भिक्षु महेन्द्र सूर्य के समान सम्बुद्धशासनरूपी आकाश में प्रकाशित हो रहे थे ॥ २११ ॥

कुन्तीपुत्रस्थविरकथा–पूर्वकाल में पाटलिपुत्र के निकटस्थ वन में कुन्ती नामक किन्नरी के साथ किसी वनेचर ने सहवास किया ॥ २१२ ॥

उस वनचर के साथ संवास के कारण उस किन्नरी को दो पुत्र उत्पन्न हुए । उन में ज्येष्ठ का नाम था तिष्य और कनिष्ठ का नाम था सुमित्र ॥ २१३ ॥

समय पाकर उन दोनों ने महावरुण स्थविर से प्रव्रज्या दीक्षा लेकर छह अभिज्ञाएँ एवं अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया ॥ २१४ ॥

एक समय, किसी विषकीट के काट लेने के कारण उनमें ज्येष्ठ स्थविर रुग्ण हो गया । छोटे भाई के पूछने पर ज्येष्ठ ने एक पसर घी उस रोग की औषध बतायी ॥ २१५ ॥

किन्तु छोटे भाई (सुमित्र) ने राजा को रोग की सूचना देने तथा भोजन के बाद अन्यत्र कहीं से एक पसर (अञ्जलि) घी लाने में उपेक्षा की ॥ २१६ ॥

तब बड़े भाई ने कहा–"भिक्षा में यदि कहीं घी मिल जाय तो उसे ही लेते आना" । परन्तु उस दिन उसे भिक्षा में भी घी कहीं नहीं मिला, तब उस की वह व्याधि हजार घी से भरे घड़ों से भी न शान्त होने योग्य (असाध्य) ही गयी ॥ २१७-२१८ ॥

उसी व्याधि से मरणासन्न ज्येष्ठ स्थविर ने, अपने छोटे स्थविर को अप्रमादयुक्त जीवन बिताने का उपदेश कर, निर्वाण की प्राप्ति का निश्चय किया ॥ २१९ ॥

वे तेजोध्यान के बल से, आकाश में स्थिर यथारुचि शरीर को स्तब्ध कर निर्वाण को प्राप्त हो गये ॥ २२० ॥

जाला सरीरा निक्खम्म निम्मंसच्छरिकं डहि ।
थेरस्स सकलं कायं अट्ठिकानि तु नो डहि ॥ २२१ ॥

[W.G. 50] तथा निब्बुतिमेतस्स सुत्वा थेरस्स भूपति ।
अगमासि संकारामं जनोघपरिवारितो ॥ २२२ ॥

हत्थिक्खन्धट्ठितो राजा तानट्ठीनवरोपयि ।
कारेत्वा धातुसक्कारं सङ्घं व्याधिं अपुच्छि तं ॥ २२३ ॥

तं सुत्वा जातसंवेगो पुरद्वारेसु भूपति ।
कारेत्वा पोक्खरञ्ञो ता भेसज्जानं पुरापिय ॥ २२४ ॥

दापेसि भिक्खुसङ्घस्स दिने दिने ।
"मा होतु भिक्खुसङ्घस्स भेसज्जं दुल्लभं" इति ॥ २२५

सुमित्तथेरो निब्बायि चङ्कमन्तो व चङ्कमे ।
पसीदि सासने तीव तेनापि च महाजने ॥ २२६ ॥

कुन्तीपुत्ता दुवे थेरा ते लोकहितकारिनो ।
निब्बायिंसु असोकस्स रञ्ञो वस्सम्हि अट्ठमे ॥ २२७ ॥

ततो पभुति सङ्घस्स लाभो तीव महा अहु ।
पच्छा पसन्ना च जना यस्मा लाभं पवत्तयुं ॥ २२८ ॥

पहीनलाभसक्कारा तित्थिया लाभकारणा ।
सयं कासायमादाय वसिंसु सह भिक्खुहि ॥ २२९ ॥

यथासकं च ते वादं 'बुद्धवादो' ति दीपयुं ।
यथासकं च किरियं अकरिंसु यथारुचि ॥ २३० ॥

शरीर से निकली हुई योगाग्नि की ज्वाला से, शरीर का समग्र मांस तथा त्वचा तो जल गयी परन्तु हड्डियाँ नहीं जल पायीं ॥ २२१ ॥

राजा ने स्थविर के शरीर की ऐसी दुर्दशा सुनी तो वह जनबल के साथ अपने अशोकाश्रम में गये ॥ २२२ ॥

वहाँ उन अस्थियों के आकाश में स्थिर होने के कारण राजा ने हाथी के कन्धे पर चढ़ कर उन अस्थियों को भूमि पर उतारा । उन अस्थियों का सत्कांरपूर्वक दाहकर्म कराया । बाद में राजा ने सङ्घ से स्थविर की व्याधि का कारण पूछा ॥ २२३ ॥

उसे सुनकर राजा को बहुत दुःख हुआ । उसने तत्काल नगर के सभी द्वारों पर पुष्करिणियाँ (कुण्ड) बनवा कर उन्हें औषधियों से भरवा कर ॥ २२४ ॥

प्रतिदिन भिक्षुसङ्घ को भेषज-दान कराने लगा कि भिक्षुसङ्घ को किसी प्रकार की कोई भी भेषज दुर्लभ न रहे ॥ २२५ ॥

सुमित्र (कुन्तीपुत्र) चंक्रमणशाला में घुमते-घूमते ही निर्वाण प्राप्त कर गये । इस चमत्कार से सज्जनों की धर्म के प्रति श्रद्धा में वृद्धि ही हुई ॥ २२६ ॥

ये दोनों ही लोकहितकारी कुन्तीपुत्र स्थविर सम्राट् अशोक के राज्यशासन के आठवें वर्ष में परिनिर्वृत हुए ॥ २२७ ॥

सङ्घ में सङ्कट का पूर्वाभास–(राजाश्रय मिलने के कारण) इस समय सङ्घ को जनता में बहुत अधिक लाभ-सत्कार (मिलने लगा;) क्योंकि बाद में,जनता भी धर्म में अनुरक्त होने के कारण, सङ्घ को भेंट पूजा देने लगी ॥ २२८ ॥

तीर्थिक (अपर सम्प्रदायों के साधु) भी, अपने सम्प्रदायों का लाभ-सत्कार घट जाने के कारण, अधिक लाभ कमाने हेतु स्वयं ही काषाय वस्त्र रंग-पहन कर भिक्षुओं के साथ मिलकर रहने लगे ॥ २२९ ॥

तथा अपने अपने मतों को ही वे लोग जनता में 'बुद्धवाद' नाम से प्रख्यात करने लगे । एवं बुद्धाननुमत क्रियाओं में लगे रह कर स्वजीवन यापन करने लगे ॥ २३० ॥

[W.G. 51] ततो मोग्गलिपुत्तो सो थेरो थेरगुणोदयो ।
सासनब्बुदमुप्पन्नं दिस्वा तं अतिकक्खळं ॥ २३१ ॥

तस्सोपसमने कालं दीघदस्सी अपेक्खिय ।
दत्वा महिन्दथेरस्स महाभिक्खुगणं सकं ॥ २३२ ॥

उद्धं गङ्गाय एको व अहोगङ्गम्हि पब्बते ।
विहासि सत्त वस्सानि विवेकं अनुब्रूहयं ॥ २३३ ॥

तित्थियानं बहुत्ता च दुब्बचत्ता च भिक्खवो ।
तेसं कातुं न सक्खिंसु धम्मेन पटिसेधनं ॥ २३४ ॥

तेनेव जम्बुदीपम्हि सब्बारामेसु भिक्खवो ।
सत्त वस्सानि नाकंसु उपोसथ-पवारणं ॥ २३५ ॥

तं सुत्वान महाराजा धम्मासोको महायसो ।
एकं अमच्चं पेसेसि असोकाराममुत्तमं ॥ २३६ ॥

"गन्त्वाधिकरणं एतं वूपसम्म उपोसथं ।
कारेहि भिक्खुसङ्घेन ममारामे तुवं" इति ॥ २३७ ॥

गन्त्वान सन्निपातेत्वा भिक्खुसङ्घं स दुम्मति ।
"उपोसथं करोथा" ति सावेसि राजसासनं ॥ २३८ ॥

"उपोसथं तित्थियेहि न करोमा मयं" इति ।
अवोच भिक्खुसङ्घो तं अमच्चं मूळहमानसं ॥ २३९ ॥

सोमच्चो कतिपयानं थेरानं पटिपाटिया ।
अच्छिन्दि असिना सीसं "कारेमीति उपोसथं" ॥ २४० ॥

राजभाता तिस्सथेरो तं दिस्वा किरियं लहुं ।
गन्त्वान तस्स आसन्ने आसनम्हि निसीदि सो ॥ २४१ ॥

तब स्थिरगुणसम्पन्न दीर्घदर्शी महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिष्य ने धर्म पर आयी इस घोर विपत्ति का समाधान-काल समीप न देखकर, अपनी भिक्षुमण्डली महेन्द्रस्थविर को सौंप कर, गङ्गा के ऊपर की तरफ अहोगङ्ग पर्वत पर एकान्तवास करते हुए सात वर्ष का समय बिताया ॥ २३१-२३३ ॥

यों, सङ्घ में दुर्मुख, कटुभाषी तीर्थिकों की बहुलता हो जाने से वास्तविक भिक्षुजन उनका धर्मपूर्वक प्रतिषेध न कर पाते थे ॥ २३४ ॥

अतः समग्र जम्बुद्वीप में सभी विहारों में भिक्षुजन सात वर्ष तक न उपोसथ कर पाये, न प्रवारणा ॥ २३५ ॥

तब यह सब सुनकर यशस्वी सम्राट् अशोक ने अपने राजकीय अशोकाराम में एक अमात्य भेजा ॥ २३६ ॥

उसको यह आज्ञा दी–"मेरे आराम में जाओ ! वहाँ सभी तरह के विवाद मिटा कर भिक्षुसङ्घ से उपोसथ कराओ" ॥ २३७ ॥

उस दुर्मति अधिकारी ने अशोकाराम में जा कर भिक्षुओं को एकत्र कर कहा "आप लोग उपोसथ करें–यही शासनादेश है" ॥

उस मूढ़मति को भिक्षुओं ने उत्तर दिया–"हम तीर्थिकों के साथ बैठकर उपोसथ नहीं करेंगे ॥" २३९ ॥

उसने यह सुनकर क्रुद्ध होकर सामने बैठे कुछ भिक्षुओं का शिर तलवार से, यह कहते हुए, काट डाला कि "देखूँ, तुम कैसे उपोसथ नहीं करते हो ! मैं उपोसथ करा कर छोडूँगा!" ॥ २४० ॥

उसी समय राजा के भाई तिष्य स्थविर उस अमात्य की इस हीन क्रिया को देखकर उस के समीपवर्ती आसन पर जाकर बैठ गये ॥ २४१ ॥

थेरं दिस्वा अमच्चो सो गन्त्वा रञ्ञो निवेदयि ।
सब्बं पवत्तं, तं सुत्वा जातडाहो महीपति ॥ २४२ ॥

[W.G. 52] सीघं गन्त्वा भिक्खुसङ्घं पुच्छि उब्बिग्गमानसो ।
"एवङ्कतेन कम्मेन कस्स पापं सिया"? इति ॥ २४३ ॥

तेसं अपण्डिता केचि "पापं तुय्हं" ति केचि तु ।
"उभिन्नं चा' ति आहंसु, 'नत्थि तुय्हं" ति पण्डिता ॥ २४४ ॥

तं सुत्वाह महाराजा– "समत्थो भिक्खु अत्थि नु ।
विमतिं मे विनोदेत्वा कातुं सासनपग्गहं" ॥ २४५ ॥

"अत्थि मोग्गलिपुत्तो सो तिस्सत्थेरो, रथेसभ" ।
इच्चाह सङ्घो राजानं, राजा तत्थासि सादरो ॥ २४६ ॥

विसुं भिक्खुसहस्सेन चतुरो परिवारिते ।
थेरे, नरसहस्सेन अमच्चे चतुरो तथा ॥ २४७ ॥

तदहे येव पेसेसि अत्तनो वचनेन सो ।
थेरमानेतुमेतेहि तथा वुत्तो स नागमि ॥ २४८ ॥

तं सुत्वा पुन अट्ठट्ठा थेरे मच्चे च पेसयि ।
विसुं सहस्सपुरिसे, पुब्बे विय स नागमि ॥ २४९ ॥

राजा पुच्छि– "कथं थेरो आगच्छेय्य नु खो?" इति ।
भिक्खू आहंसु थेरस्स तस्सागमनकारणं ॥ २५० ॥

"होहि, भन्ते ! उपत्थम्भो कातुं सासनपग्गहं ।
इति वुत्ते, महाराजा, थेरो एहि ति सो" इति ॥ २५१ ॥

पुन पि थेरे मच्चे च राजा सोळस सोळस ।
विसुं सहस्सपुरिसे तथा वत्वान पेसयि ॥ २५२ ॥

वह आमात्य स्थविर (राजा के भाई) को देखकर रुक गया और उसने वापस जा कर, राजा से सब घटना सुनायी ॥ २४२ ॥

सब घटना सुनकर क्रुद्ध हुए राजा ने दुःखित मन से शीघ्र ही अशोकाराम जाकर भिक्षुसङ्घ से पूछा–"इस तरह किये हुए पाप के फल का कौन वास्तविक अधिकारी होगा ? ॥ २४३ ॥

उनमें से कुछ अबुद्धिमान् भिक्षुओं ने कहा–"इस पाप के भागी तुम बनोगे ।" किसी ने कहा–"करने वाला तथा प्रेरणा देने वाला–दोनों ही समानतया दोषी हैं ।" और कुछ बुद्धिमान् भिक्षु बोले–"नहीं, आपका इस में कोई दोष नहीं है" ॥ २४४ ॥

यह सब सुन कर राजा ने पूछा–"क्या आप में से कोई ऐसा समर्थ भिक्षु है, जो मेरे इस सन्देह को धर्मानुसार निर्मूल कर सके ?" ॥ २४५ ॥

भिक्षुओं ने उत्तर दिया–"हाँ, राजन् ! मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर ही ऐसे सामर्थ्यशाली भिक्षु हैं जो आप के प्रश्नों का धर्मानुसार उचित उत्तर दे कर आप का सन्देह निर्मूल कर सकते हैं" ॥ २४६ ॥

मोग्गलिपुत्र तिष्य का पाटलिपुत्र-आगमन– राजा ने भिक्षुओं के इस वचन का आदर किया । तथा उसने उसी दिन चार स्थविर भिक्षुओं के साथ एक हजार भिक्षु तथा चार बड़े अधिकारियों के साथ एक हजार अङ्गरक्षक लगाकर महास्थविर को पाटलिपुत्र लाने के लिये भेजे । परन्तु स्थविर नहीं आये ॥ २४७-२४८ ॥

यह सुनकर राजा ने फिर आठ स्थविरों के साथ एक हजार (१,०००) भिक्षु तथा आठ अमात्यों के साथ एक हजार (१,०००) अङ्गरक्षक महास्थविर को बुलाने के लिये भेजे; परन्तु स्थविर फिर भी नहीं आये ॥ २४९ ॥

तब राजा ने भिक्षुसङ्घ से पूछा–"महास्थविर यहाँ कैसे आ सकते हैं ?" भिक्षुओं ने स्थविर के आने का उपाय बताया ॥ २५० ॥

"राजन् ! स्थविर को यह सन्देश भिजवाया जाय कि 'शासन की उन्नति में सहायक बनिये । इस समय शासन पर सङ्कट आया हुआ है । तब महास्थविर अवश्य आजायँगें" ॥ २५१ ॥

तब राजा ने महास्थविर को लाने के लिये सोलह (१६) स्थविर एवं एक हजार (१,०००) भिक्षु तथा सोलह (१६) ही बड़े अधिकारी एक हजार अङ्गरक्षकों के साथ भेजें ॥ २५२ ॥

[W.G. 53] "थेरो महल्लकत्ते पि नारोहिस्सति यानकं ।
थेरं गङ्गाय नावाय आनेथा" ति च अब्रवि ॥ २५३ ॥

गन्त्वा ते तं तथावोचुं, स तं सुत्वा व उट्ठहि ।
नावाय थेरं आनेसुं राजा पच्चुग्गमी तहिं ॥ २५४ ॥

जानुमत्तं जलं राजा गहेत्वा दक्खिणं करं ।
नावाय ओतरन्तस्स थेरस्सादा सगारवो ॥ २५५ ॥

दक्खिणं दक्खिणेय्यो सो करं रञ्ञोनुकम्पको ।
आलम्बित्वानुकम्पाय थेरो नावाय ओतरि ॥ २५६ ॥

राजा थेरं नयित्वान उय्यानं रतिवड्ढनं ।
थेरस्स पादे धोवित्वा मक्खेत्वा च निसीदिय ॥ २५७ ॥

समत्थभावं थेरस्स वीमंसन्तो महीपति ।
"दट्ठुकामो अहं, भन्ते! पाटिहीरं" ति अब्रवि ॥ २५८ ॥

"किं? "ति वुत्ते "महीकम्पं" आह तं, पुनराह सो ।
"सकलायेकदेसाय कतरं दट्ठुमिच्छसि ? ॥ २५९ ॥

"को दुक्करो?" ति पुच्छित्वा "एकदेसाय कम्पनं ।
दुक्करं" ति सुणित्वान तं दट्ठुकामतं ब्रवि ॥ २६० ॥

रथं अस्सं मनुस्सं च पातिं चोदकपूरितं ।
थेरो योजनसीमाय अन्तरम्हि चतुद्दिसे ॥ २६१ ॥

ठपापेत्वा तदड्ढेहि सह तं योजनं महिं ।
चालेसि इद्धिया तत्र निसिन्नस्स च दस्सयि ॥ २६२ ॥

[W.G. 54] तेनामच्चेन भिक्खूनं मरणेनत्तनो पि च ।
पापस्सत्थित्तं नत्थित्तं थेरं पुच्छि महीपति ॥ २६३ ॥

और आदेश दिया-'यद्यपि स्थविर वृद्ध हैं तो भी वे (हाथी-घोड़े के) यान पर नहीं चढेंगे । अतः स्थविर को गङ्गा के (जल) मार्ग से नाव द्वारा यहाँ लाया जाय" ॥ २५३ ॥

उन स्थविरों तथा अमात्यों ने जाकर महास्थविर से यही निवेदन किया । यह सन्देश सुनते ही स्थविर पाटलिपुत्र आने के लिये उठ खड़े हुए । वे लोग महास्थविर को नाव से (पाटलिपुत्र) ले आये । राजा उनके स्वागत के लिये घाट पर पहले से ही उपस्थित थे ॥ २५४ ॥

महास्थविर राजा के दाहिने हाथ का सहारा लेते हुए कृपा कर के नाव से उतरे ॥ २५६ ॥

राजा महास्थविर को सुन्दर रतिवर्धन उद्यान में ले जाकर, उनके चरण धो-कर, मींस कर, सादर बैठा कर ॥ २५७ ॥

स्थविर का ऋद्धिबल– राजा ने महास्थविर का आध्यात्मिक सामर्थ्य जानने के लिये उन से निवेदन किया–"भन्ते ! कोई विशिष्ट ऋद्धिबल (चमत्कार) दिखाने की कृपा करें ॥ २५८ ॥

स्थविर ने पूछा–"कैसा चमत्कार देखना चाहते हो?" राजा ने कहा– "भूकम्पन" । स्थविर ने पूछा–"कैसा भूकम्पन देखना चाहते हो समग्रतः या एकांशतः?" राजा ने पूछा–" इनमें कौन सा दुष्कर होता है ?" स्थविर ने कहा–"एकांश वाला ।" राजा ने कहा–"तो, भन्ते! एकांश भूकम्पन ही दिखाइये" ॥ २५९-२६० ॥

तब महास्थविर ने रथ, घोड़े, मनुष्य, जलपूर्ण थालियाँ–इन सब को योजन योजन भर दूर एकवृत्त में चारों तरफ रखवा कर ॥ २६१ ॥

वहाँ बैठे राजा को उन चारों चीजों के मध्य (राजा की तरफ) पड़ने वाले पृथ्वी के भाग (अंश) को अपने ऋद्धिबल से कँपा कर दिखा दिया ॥ २६२ ॥

राजा का पापविषयक प्रश्न–तब राजा ने महास्थविर से "अपने अमात्य द्वारा की गयी भिक्षु-हत्या में कौन वास्तविक दोषी (पापफलभोक्ता) होगा?–यह पूछा ॥ २६३ ॥

"पटिच्चकम्मं नत्थी ति किलिट्ठं चेतनं विना" ।
थेरो बोधेसि राजानं वत्वा तित्तिरजातकं ॥ २६४ ॥

वसन्तो तत्थ सत्ताहं राजुय्याने मनोरमे ।
सिक्खापेसि महीपालं सम्बुद्धसमयं सुभं ॥ २६५ ॥

तस्मिं येव च सत्ताहे दुवे यक्खे महापति ।
पेसेत्वा महियं भिक्खू असेसे सन्निपातयि ॥ २६६ ॥

सत्तमे दिवसे गन्त्वा सकारामं मनोरमं ।
कारेसि भिक्खुसङ्घस्स सन्निपातं असेसतो ॥ २६७ ॥

थेरेन सह एकन्ते निसिन्नो साणिअन्तरे ।
एकेकलद्धिके भिक्खू पक्कोसित्वान सन्तिकं ॥ २६८ ॥

"किंवादी सुगतो, भन्ते ! इति पुच्छि महीपति ।
ते सस्सतादिकं दिट्ठिं व्याकरिंसु यथासकं ॥ २६९ ॥

ते मिच्छादिट्ठिके सब्बे राजा उप्पब्बजापयि ।
सब्बे सट्ठिसहस्सानि आसुं उप्पब्बजापिता ॥ २७० ॥

अपुच्छि धम्मिके भिक्खू "किंवादी सुगतो ?" इति ।
"विभज्जवादी" त्याहंसु, तं थेरं पुच्छि भूपति ॥ २७१ ॥

"विभज्जवादी सम्बुद्धो होति, भन्ते ?" ति आह सो ।
थेरो "आमा' ति, तं सुत्वा राजा तुट्ठमनो तदा ॥ २७२ ॥

"सङ्घो विसोधितो यस्मा, तस्मा सङ्घो उपोसथं ।
करोतु, भन्ते !" इच्चेवं वत्वा थेरस्स भूपति ॥ २७३ ॥

सङ्घस्स रक्खं कत्वान नगरं पाविसी सुभं ।
सङ्घो समग्गो हुत्वान तदाकासि उपोसथं ॥ २७४ ॥

स्थविर ने उत्तर दिया-"राजन्! कोई भी कर्म तब तक दोषयुक्त नहीं होता जब तक कि उसके साथ क्लिष्ट (दोषयुक्त) मन सम्पृक्त नहीं होता ।" अपनी इस बात की पुष्टि में स्थविर ने **तित्तिरजातक** (३७) का प्रमाण उद्धृत किया । (राजा को स्थविर के इस उत्तर से सन्तोष मिला ॥ २६४ ॥

शासन की शुद्धि–यों,वे महास्थविर सप्ताहपर्यन्त उस राजोद्यान में रह कर राजा को मङ्गलमय बुद्धवचनों का उपदेश करते रहे ॥ २६५ ॥

उसी सप्ताह राजा ने दो यक्षों को भजकर समग्र भूमण्डल के भिक्षु-वेषधारियों को पाटलिपुत्र में एकत्र कर लिया ॥ २६६ ॥

सातवें दिन राजा ने अपने रम्य उद्यान में सभी भिक्षुओं को एकत्र कर, उनमें से प्रत्येक को स्थविर के साथ बैठे राजा ने पर्दे के पीछे अपने सामने बुलाकर पूछा– ॥ २६७-२६८ ॥

"भन्ते ! **भगवान् बुद्ध** किस मत के मानने वाले थे ?" तो भिक्षुवेषधारी उन तीर्थिकों ने, जो जिस विचारधारा का माननेवाला था उसने अपने अपनेमत शाश्वत दृष्टि आदि से राजा को उत्तर दिया ॥ २६९ ॥

इस तरह का उत्तर देने वाले उन सभी भिक्षुवेषधारियों को मिथ्यादृष्टि वाला समझकर राजा ने सङ्घ से निष्कासित कर दिया । सब मिला कर ऐस भिक्षु साठ हजार (६0,000) निकले ॥ २७0

तब राजा ने धर्माचारी भिक्षुओं से पूछना प्रारम्भ किया–"भन्ते! सुगत किस मत के अनुयायी थे ?" उन सब ने एक समान उत्तर दिया-"भगवान् विभज्यवादी थे"। इस उत्तर की सत्यता के विषय में राजा ने महास्थविर से जिज्ञासा की ॥ २७१ ॥

"भन्ते ! क्या भगवान् बुद्ध विभज्यवादी थे ?" स्थविर ने "हाँ" कह कर स्वीकृति दी । तब राजा सन्तुष्ट हुए ॥ २७२ ॥

तब भूपति ने महास्थविर से निवेदन किया-"भन्ते! क्योंकि सङ्घ अब विशुद्ध हो चुका है, अतः सङ्घ उपोसथ एवं प्रवारण आदि करे" ॥ २७३ ॥

यों, सङ्घ के आरक्षण की व्यवस्था का भार अधिकारियों को सौंप कर भूपति नगर में लौट आये । तब सङ्घ ने भी एकत्र बैठकर उपोसथ किया ॥ २७४ ॥

थेरो अनेकसङ्ख्यम्हा भिक्खुसङ्घा विसारदे ।
छळभिञ्ञे तेपिटके पभिन्नपटिसम्भिदे ॥ २७५ ॥

[W.G. 55] भिक्खूसहस्समुच्चिनि कातुं सद्धम्मसङ्गहं ।
तेहि असोकारामम्हि अका सद्धम्मसङ्गहं ॥ २७६ ॥

महाकस्सपथेरो च यसत्थेरो च कारयुं ।
यथा ते धम्मसङ्गीतिं, तिस्सत्थेरो पि तं तथा ॥ २७७ ॥

कथावत्थुप्पकरणं परवादप्पमद्दनं ।
अभासि तिस्सत्थेरो च तस्मिं सङ्गीतिमण्डले ॥ २७८ ॥

एवं भिक्खुसहस्सेन रक्खायासोकराजिनो ।
अयं नवहि मासेहि धम्मसङ्गीति निट्ठिता ॥ २७९ ॥

रञ्ञो सत्तरसे वस्से द्वासत्ततिसमो इसि ।
महापवारणायं सो सङ्गीतिं तं समापयि ॥ २८० ॥

साधुकारं ददन्ती व सासनट्ठितिकारणे ।
सङ्गीतिपरियोसाने अकम्पित्थ महामही ॥ २८१ ॥

हित्वा सेट्ठं ब्रह्मविमानं पि मनुञ्ञं ,
जेगुच्छं सो सासनहेतु नरलोकं ।
आगम्माका सासनकिच्चं कतकिच्चो,
को नामञ्ञो सासनकिच्चम्हि पमज्जे! ॥ ति ॥ २८२ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

ततियसङ्गीति नाम

पञ्चमो परिच्छेदो

❄❄❄

धर्मसङ्गीति का चयन– तब महास्थविर ने उस विशाल, गणनातीत भिक्षुसङ्घ में से ऐसे एक सहस्र (१,000) भिक्षु चुने जो बुद्धिमान्, षडभिज्ञ, समग्र त्रिपिटकाभ्यासी एवं प्रतिसंविदाप्राप्त थे ॥ २७५ ॥

उन्होंने अशोकाराम में एकत्र होकर यह तृतीय बार धर्मसंग्रह किया ॥ २७६ ॥

धर्मसङ्गीति– मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर के सान्निध्य में यह धर्मसङ्गीति भी उसी पद्धति से हुई जिस पद्धति से महास्थविर महाकाश्यप की अध्यक्षता में प्रथम सङ्गीति एवं यश स्थविर ने जिस प्रकार द्वितीय सङ्गीति करायी थी ॥ २७७ ॥

उसी सङ्गीति में इन तिष्य स्थविर ने स्वरचित कथावस्तु-प्रकरण, जिसमें सभी अन्य मतवादियों के मतों का खण्डन किया गया है, भी सुनाया ॥ २७८ ॥

इस तरह सम्राट् अशोक के संरक्षण में, एक सहस्र (१,000) भिक्षुओं द्वारा, नौ (९) मास में यह सङ्गीति निष्पन्न हुई ॥ २७९ ॥

राजा के शासन के सत्तरहवें (१७) वर्ष में, जब मोग्गलिपुत्र स्थविर की आयु बहत्तर (७२) की थी, महापवारणा के दिन यह सङ्गीति सम्पन्न हुई ॥ २८0 ॥

उस समय संसार में इतना हर्षमय वायुमण्डल बन गया कि हमारी यह महापृथ्वी भी, सङ्गीति के अन्त में हर्षविभोर हो कर साधुवाद देती हुई तथा सद्धर्म की चिरस्थायिता पर आश्वस्त होती हुई, प्रसन्नता से काँप उठी ॥ २८१ ॥

जब जिसने श्रेष्ठ ब्रह्मलोक को भी तुच्छ समझ कर, बुद्धशासन की स्थिरता हेतु भूलोक में आकर शासन-कार्य निष्पन्न किया और अन्त में इस कार्य की पूर्ति के बाद ही जिसने स्वयं को कृतकृत्य समझ लिया तो दूसरा कौन पुरुष चाहेगा कि धर्मशासन की रक्षा में किसी प्रकार का प्रमाद किया जाय! ॥ २८२ ॥

सज्जनों की धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह में
अभिवृद्धि हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

तृतीय धर्मसङ्गीतिवर्णन नामक

पञ्चम परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

६.

छट्ठो परिच्छेदो

(विजयागमनं नाम)

[W.G.56] वङ्गेसु वङ्गनगरे वङ्गराजा अहू पुरे ।
कलिङ्गरञ्ञो धीतासि महेसी तस्स राजिनो ॥ १ ॥

सो राजा देविया तस्सा एकं अलभि धीतरं ।
नेमित्ता व्याकरुं तस्सा संवासं मिगराजिना ॥ २ ॥

अतीव रूपिणी आसि अतीव कामगिद्धिनी ।
देवेन देविया चापि लज्जायासि जिगुच्छिता ॥ ३ ॥

एकाकिनी सा निक्खम्म सेरिचारसुखत्थिनी ।
सत्थेन सह अञ्ञाता अगा मगधगामिना ॥ ४ ॥

लाळरट्ठे अटविया सीहो सत्थं अभिद्दवि ।
अञ्ञत्थ सेसा धाविंसु सीहागतदिसं तु सा ॥ ५ ॥

गण्हित्वा गोचरं सीहो गच्छं दिस्वा तमारका ।
रत्तो उपागा लाळेन्तो लङ्गुलं पन्नकण्णको ॥ ६ ॥

सा तं दिस्वा सरित्वान नेमित्तवचनं सुतं ।
अभीता तस्स अङ्गानि रञ्जयन्ती परामसिं ॥ ७ ॥

[W.G.57] तस्सा फस्सेनातिरत्तो पिट्ठं आरोपियासु तं ।
सीहो सकगुहं नेत्वा ताय संवासमाचरि ॥ ८ ॥

षष्ठ परिच्छेद

(लङ्का दीप में विजय का आगमन)

वङ्ग-कन्या का स्वैर आचरण–प्राचीन काल में, वङ्ग देश के वङ्ग नगर में वङ्ग नामक राजा हुआ। उस राजा की रानी कलिङ्गराज की पुत्री थी ॥ १ ॥

उस वङ्ग राजा ने अपनी इस रानी से एक कन्या प्राप्त की। ज्यौतिषियों ने उसके विषय में बताया कि उस कन्या का, समय आने पर, मृगराज (सिंह) से सहवास होगा ॥ २ ॥

वह कन्या अतीव रूपवती थी, अतः युवावस्था आने पर वह स्वच्छन्दचारिणी बन गयी। और उसने अपने गर्हित कृत्यों से राजा-रानी को भी लज्जित कर दिया। वे भी उस से घृणा करने लगे ॥ ३ ॥

सिंह-समागम–एक दिन वह अकेली हीं घर से निकल कर, स्वच्छन्द कामभोग हेतु, किसी को सूचित किये विना ही, मगध की तरफ जा रहे एक व्यापारी (श्रेष्ठी) समूह के साथ हो गयी ॥ ४ ॥

जाते-जाते मार्ग में, लाड़ प्रदेश के जङ्गल में किसी सिंह ने उस व्यापारियों के समूह पर आक्रमण कर दिया। उस आक्रमण से भयभीत हो कर अन्य सभी व्यापारी इधर-उधर भाग निकले। परन्तु वह युवती सिंह की तरफ चल दी ॥ ५ ॥

अपना भक्ष्य ले जाता हुआ वह सिंह उसे दूर से ही देखकर उस पर मुग्ध हो गया। और उस पर अनुरक्त होता हुआ पूँछ हिलाता, कान गिराकर उसके पास पहुँचा ॥ ६ ॥

वह युवती, उस सिंह को देखकर बचपन में सुनी ज्यौतिषियों की भविष्यवाणी का स्मरण करती हुई, निर्भीकता के साथ उस के पास गयी और उसके अङ्गों को सहलाने लगी ॥ ७ ॥

उसके कोमल स्पर्श से उस में अनुरक्त हुआ वह सिंह उस को पीठ पर लाद कर शीघ्र ही अपनी गुफा में ले गया और उसने उसके साथ सहवास किया ॥ ८ ॥

तेन संवासमन्वाय कालेन यमके दुवे ।
पुत्तं च धीतरं चाति राजधीता जनेसि सा ॥ ९ ॥

पुत्तस्स हत्थपादासुं सीहाकारा, ततो अका ।
नामेन सीहबाहुं तं, धीतरं सीहसीवलिं ॥ १० ॥

पुत्तो सोळसवस्सो सो मातरं पुच्छि संसयं ।
"तुवं पिता च नो अम्म कस्मा असदिसा?" इति॥ ११ ॥

सा सब्बं अब्रवी तस्सा, "किं न यामा?" ति सो ब्रवि।
"गुहं थकेसि पिता ते पासाणेना" ति सा ब्रवि॥ १२ ॥

महागुहाय थकनं खन्धेनादाय सो अका ।
एकाहेनेव पञ्ञास योजनानि गतागतं ॥ १३ ॥

गोचराय गते सीहे दक्खिणंसम्हि मातरं ।
वामे कनिट्ठं कत्वान, ततो सीघं अपक्कमि ॥ १४ ॥

निवासेत्वान साखं ते पच्चन्तगाममागमुं ।
तत्थासि राजधीताय मातुलस्स सुतो तदा ॥ १५ ॥

[W.G.58] सेनापति वङ्गरञ्ञो ठितो पच्चन्तसाधने ।
निसिन्नो वटमूले सो कम्मन्तं संविधापयं ॥ १६ ॥

दिस्वा ते पुच्छि, ते वोचुं–"अटविवासिनो मयं" ।
इति सो दापयी तेसं वत्थानि धजिनीपति ॥ १७ ॥

तानि हेसं उळारानि भत्तं पण्णेसु दापयि ।
सोवण्णभाजनानासुं तेसं पुञ्ञेन तानि च ॥ १८ ॥

तेन सो विम्हितो पुच्छि–"के नु तम्हे?" चमूपति ।
तस्स सा जातिगोत्तानि राजधीता निवेदयि ॥ १९ ॥

वङ्गकन्या की सन्तानें–उस युवती (राजपुत्री) ने सिंह के साथ सहवास कर, समय आने पर, दो युगल सन्तानें उत्पन्न कीं । उन में एक था पुत्र, एक थी कन्या ॥ ९ ॥

उनमें पुत्र के हाथ-पैर सिंह के आकार तुल्य थे अतः उस का नाम उसने 'सिंहबाहु' रखा । तथा पुत्री का नाम रखा 'सिंहसीवली' ॥ १० ॥

एक दिन पुत्र (सिंहबाहु) ने, सोलह वर्ष की आयु होने पर, अपनी माता से अपने मन का सन्देह पूछ ही लिया कि" आप और पिता जी शरीरों के आकार-प्रकार में समान क्यों नहीं हैं?" ॥ ११ ॥

तब माता ने अपने साथ घटित पिछली सभी बातें स्पष्ट बता दी । सब कुछ सुन कर पुत्र ने माता से पूछा–"तो क्यों न हम यहाँ से चल दें?" माता ने कहा–"पुत्र! हम ऐसा नहीं कर सकते; क्योंकि तुम्हारा यह पिता प्रतिदिन गुफा के सामने एक भारी शिला रख जाता है" ॥ १२ ॥

पुत्र ने उस गुफा के द्वार के सामने रखी शिली को अपने कन्धे के बल से दूर हटा दिया । और वह एक ही दिन में पचास योजन दूर जाकर पुनः वहाँ लौट आया ॥ १३ ॥

सिंहबाहु का पलायन–फिर एक दिन, सिंह के भोजन की खोज में चले जाने के बाद, माता को दाहिने कन्धे पर और बहन को बाँये कन्धे पर बैठाकर वह वहाँ से निकल भागा ॥ १४ ॥

आगे चल कर वे तीनों अपने शरीर पर वृक्षों की शाखाएँ लपेट कर उस जङ्गल के एक सीमावर्ती ग्राम में प्रविष्ट हुए । उस समय वहाँ उस राजपुत्री के मामा का पुत्र (अनुरक्ष नामक) भी किसी कार्यविशेष से रहता था । ॥ १५ ॥

वह वङ्गराज का सेनापति वहाँ सीमान्त प्रदेश को सुरक्षित करने के लिये एक वटवृक्ष के नीचे बैठ कर श्रमिकों से कार्य करा रहा था ॥ १६ ॥

उन तीनों को देखकर उसने उनके विषय में पूछा । उन्होंने बताया कि "हम वन (अटवी) वासी हैं ।" तब उस सेनापति ने उन तीनों को मनुष्यों के पहनने योग्य वस्त्र दिये ॥ १७ ॥

धारण करते ही उनके वे वस्त्र बहुमूल्य हो गये । उनको वृक्ष के पत्तों पर भोजन परोसा गया । वे पत्ते भी उनके पुण्य-प्रभाव से तत्काल सुवर्णपात्र बन गये ॥ १८ ॥

इस से विस्मित होकर उस सेनापति ने उनसे पूछा–"सत्य बताओ तुम लोग कौन हो?" तब उस राजपुत्री ने अपना नाम, जाति, गोत्र सब कुछ स्पष्ट बता दिया ॥ १९ ॥

पितुच्छाधीतरं तं सो आदाय धजिनीपति ।
गन्त्वान वङ्गनगरं संवासं ताय कप्पयि ॥ २० ॥

सीहो सीघं गुहं गन्त्वा ते अदिस्वा तयो जने ।
अट्टितो पुत्तसोकेन न च खादि न चापिवि ॥ २१ ॥

दारके ते गवेसन्तो अगा पच्चन्तगामकं ।
उब्बासीयति सो सो च, यं यं गामं उपेति सो ॥ २२ ॥

पच्चन्तवासिनो गन्त्वा रञ्ञो तं पटिवेदयुं ।
"सीहो पीळेति ते रट्ठं तं देव ! पटिसेधय" ॥ २३ ॥

अलभं निसेधकं तस्स हत्थिक्खन्धगतं पुरे ।
"आदेतु सीहदायी" ति सहस्सं सो पचरयि ॥ २४ ॥

तथेव द्वे सहस्सानि तीणि चापि नरिस्सरो ।
द्वीसु वारेसु वारेसि माता सीहभुजं हि तं ॥ २५ ॥

अग्गही ततिये वारे सीहबाहू अपुच्छिय ।
मातरं तिसहस्सं तं घातेतं पितरं सकं ॥ २६ ॥

[W.G.59] रञ्ञो कुमारं दस्सेसुं, तं राजा इदमब्रवि ।
"गहितो यदि सीहो ते दम्मि रट्ठं तदेव ते" ॥ २७ ॥

सो तं गन्त्वा गुहाद्वारं सीहं दिस्वा व आरका ।
एन्तं पुत्तसिनेहेन विज्झितुं तं सरं खिपि ॥ २८ ॥

सरो नलाटमाहच्च मेत्तचित्तेन तस्स तु ।
कुमारपादमूले व निवत्तो पति भूमियं ॥ २९ ॥

तथासि यावततियं ततो कुज्झि मिगाधिपो ।
ततो खित्तो सरो तस्स कायं निब्बिज्झ निक्खमि ॥ ३० ॥

परिचय मिलने पर सेनापति को ज्ञात हुआ कि यह राजपुत्री तो उसकी फुफेरी बहन है । अतः वह उसे ससम्मान घर ले आया । और वङ्गनगर पहुँच कर सेनापति ने राजपुत्री से विवाह कर लिया ॥ २० ॥

सिंहवध–उधर जब सिंह पुनः गुफा में लौटा तो उन तीनों को वहाँ न देख कर उसने पुत्रशोक में आर्त (दु:खी) होकर न कुछ खाया, न पीया ॥ २१ ॥

फिर धीरे-धीरे शोक कम होने पर वह (सिंह) उन तीनों की खोज में आस-पास के ग्रामों में गया । यों जिन जिन ग्रामों में वह गया वे वे ग्राम उसके भय से खाली होते चले गये ॥ २२ ॥

अन्त में सीमान्तवर्ती उन ग्रामों के वासियों ने राजा के पास जाकर सिंह से अपनी रक्षा की याचना की । और कहा–"देव ! कोई सिंह प्रतिदिन आकर हम ग्रामवासियों को भयभीत कर रहा है । उससे हमारी रक्षा कीजिये" ॥ २३ ॥

बहुत प्रयास करने पर भी जब राजा को उस सिंह को रोकने नाला (निषेधक) कोई न मिला तो राजा ने एक हाथी के कन्धे पर एक हजार स्वर्णमुद्राएँ रखकर नगर में यह घोषणा करवा दी कि "जो आदमी उस सिंह का वध करे वह इन एक हजार स्वर्णमुद्राओं को उठा ले" ॥ २४ ॥

फिर उस राजा ने क्रमशः दो हजार तथा तीन हजार स्वर्णमुद्राएँ इस कार्य के बदले में देने की भी घोषणा करायी । सिंहबाहु उस सुवर्ण राशि को दोनों ही बार उठाना चाहता था, परन्तु माता द्वारा रोके जाने पर वह पीछे हट गया ॥ २५ ॥

परन्तु तीसरी बार उस सिंहबाहु ने, माता से विना पूछे ही, वह तीन हजार की राशि अपने पिता को मारने हेतु उठा ली ॥ २६ ॥

तब सिपाहियों ने उस सिंहबाहु को राजा के सम्मुख उपस्थित किया । राजा ने उस को देख कर विश्वस्त होते हुए, कहा–"यदि तुम उस सिंह का दमन कर दोगे तो मैं उसी समय समग्र राज्य ही तुम्हें दे दूँगा" ॥ २७ ॥

उस सिंहबाहु ने सिंह की गुफा पर जाकर, उस सिंह को दूर से ही देखकर उसके ललाट पर बाण छोड़ा । परन्तु वह सिंह पुत्र को बहुत समय बाद घर आया देखकर उस मैत्री भावना से अनुरक्त था, अतः वह बाण उसकी कोई हानि न कर सका, अपितु वह बाण लौटकर सिंहबाहु के पैरों के पास ही भूमि पर आकर गिर पड़ा ॥ २८-२९ ॥

सिंहबाहु ने यह क्रिया तीन बार दुहरायी । तब वह मृगराज क्रुद्ध हो उठा । क्रुद्ध होते ही उस की मैत्री भावना विनष्ट हो गयी । अतः उसका छोड़ा हुआ बाण मृगराज के शरीर को बींधता हुआ आर-पार हो गया ॥ ३० ॥

सकेसरं सीहसीसं आदाय सपुरं अगा ।
मतस्स वङ्गराजस्स सत्ताहानि तदा अहुं ॥ ३१ ॥

रञ्ञो अपुत्तकत्ता च पतीता चस्स कम्मुना ।
सुत्वा च रञ्ञो नत्तुतं सञ्ञानित्वा च मातरं ॥ ३२ ॥

अमच्चा सन्निपतिता अखिला एकमानसा ।
सीहबाहुं कुमारं तं "राजा होही" ति अब्रवुं ॥ ३३ ॥

सो रज्जं सम्पटिच्छित्वा दत्वा मातुपतिस्स तं ।
सीहसीवलिमादाय जातिभूमिं गतो सयं ॥ ३४ ॥

नगरं तत्थ मापेसि आहु सीहपुरं ति तं ।
अरञ्ञे योजनसते गामे चापि निवेसयि ॥ ३५ ॥

[W.G.60] लाळरट्ठे पुरे तस्मिं सीहबाहु नराधिपो ।
रज्जं कारेसि कत्वान महेसिं सीहसीवलिं ॥ ३६ ॥

महेसी सोळसक्खत्तुं यमके च दुवे दुवे ।
पुत्ते जनयि काले सा, विजयो नाम जेट्ठको ॥ ३७ ॥

सुमित्तो नाम दुतियो सब्बे द्वत्तिंस पुत्तका ।
कालेन विजयं राजा उपरज्जे भिसेचयि ॥ ३८ ॥

विजयो विसमाचारो आसि तम्परिसा पि च ।
साहसानि अनेकानि दुस्सहानि करिंसु ते ॥ ३९ ॥

कुद्धो महाजनो रञ्ञो तं अत्थं पटिवेदपि ।
राजा ते सञ्ञापेत्वान पुत्तमोवदि साधकं ॥ ४० ॥

सब्बं तथेव दुतियं अहोसि ततियं पन ।
कुद्धो महाजनो आह—"पुत्तं घातेहि ते" इति ॥ ४१ ॥

(तब) वह सिंहबाहु जटा (केशर) सहित उस सिंह का शिर लेकर अपने नगर में वापस लौट आया । तब तक वङ्गराज का देहावसान हुए सात दिन बीत चुके थे ।। ३१ ।।

राजा के अमात्यों ने एकत्र होकर, राजा के सन्तानहीन होने के कारण, सिंहवधरूपी इस की वीरता के प्रति आश्वस्त होने के कारण, एवं राजा का नाती होने के कारण, तथा इसकी माता के विषय में सब कुछ जान लेने के कारण ।। ३२ ।।

एकमत होकर, सिंहबाहु से ही निवेदन किया कि "तुम राजा बन जाओ" ।। ३३ ।।

उसने वह (राज्य) स्वीकार कर, अपनी माता के पति को ही उक्त राज्यभार सौंपकर सिंहसीवलि को साथ लेकर वह (सिंहबाहु) अपनी जन्मभूमि को ही पुनः लौट गया ।। ३४ ।।

सिहंबाहु का राज्य—वहाँ उसने 'सिंहपुर' नाम से एक स्वतन्त्र नगर बसाया । उस जङ्गल में पड़ने वाले आस-पास के सौ योजन तक के ग्राम उसके अधीन कर सिंहसीवलि को अपनी रानी बनाकर, राज्य करने लगा ।। ३६ ।।

विजय का जन्म—समय आने पर, उसकी रानी ने सोलह बार दो दो युगल सन्तानें पैदा कीं । वे संख्या में बत्तीस (३२) थीं और सभी पुत्र थे । उसमें सब से ज्येष्ठ पुत्र का नाम था विजय ।। ३७ ।।

उससे छोटे का नाम था सुमित्र । राजा ने समय आने पर विजय को युवराज बनाया ।। ३८ ।।

दुराचारी विजय परन्तु विजय दुराचारी था, उसके साथी भी वैसे ही थे । उन्होंने राज्यमें बहुत से दुःसाहसपूर्ण कुकृत्य किये ।। ३९ ।।

उस के इन कुकृत्यों से क्रुद्ध होकर भद्र नागरिकों ने राजा से उसके ये दुष्कृत्य बताये । राजा ने विजय को बुला कर प्रेम से समझाया और ऐसे दुष्कृत्यों से दूर रहने का उपदेश किया ।। ४० ।।

परन्तु विजय नहीं माना । वह पूर्ववत् दुष्कृत्यों में ही लगा रहा । दूसरी बार भी राजा ने उसको उसी तरह समझाया । परन्तु क्रुद्ध नागरिकों द्वारा तीसरी बार भी उसकी शिकायत किये जाने पर कि "इससे तो अच्छा है कि तुम अपने इस दुराचारी पुत्र को मार ही डालो" ।। ४१ ।।

राजाथ विजयं तं च परिवारं च तस्स तं ।
सत्त सतानि पुरिसे कारेत्वा अड्ढमुण्डके ॥ ४२ ॥

नावाय पक्खिपापेत्वा विस्सज्जापेसि सागरे ।
तथा तेसं च भरियायो तथेव च कुमारके ॥ ४३ ॥

विसुं विसुं ते विस्सट्ठा पुरिसित्थिकुमारका ।
विसुं विसुं दीपकस्मिं ओक्कमिंसु वसिंसु च ॥ ४४ ॥

'नग्गदीपो' ति ञायित्थ कुमारोक्कन्तदीपको ।
भरियोक्कन्तदीपो तु 'महिलादीपको' इति ॥ ४५ ॥

सुप्पारके पट्टनम्हि विजयो पन ओक्कमि ।
परिसासाहसेनेत्थ भीतो नावं पुनारुहि ॥ ४६ ॥

लङ्कायं विजयसनामको कुमारो,
ओतिण्णो थिरमति तम्बपण्णिदेसे ।
[W.G.61] सालानं यमकगुणानमन्तरस्मिं,
निब्बातुं सयितदिने तथागतस्सा ॥ ति ॥ ४७ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

विजयागमनं नाम

छट्ठो परिच्छेदो

❄❄❄

विजय का लङ्काद्वीपगमन—तब राजा ने विजय और उसके सात सौ साथियों को आधा सिर मुँडवा कर ॥ ४२ ॥

नाव में डलवा कर समुद्र में छुड़वा दिया। साथ ही उनकी पत्नियों तथा उनकी सन्तानों की भी यही दुर्गति की ॥ ४३ ॥

यो, वे स्त्री और पुरुष यहाँ-वहाँ बिखर कर, जिस किसी द्वीप में, जिसको जहाँ जगह मिली, उतर गये और वे वहीं बस गये ॥ ४४ ॥

जिस द्वीप में कुमार (बच्चे) उतरे वह 'नग्गद्वीप' (नग्नद्वीप) कहलाया। जिसमें उस के साथ ही महिलाएँ उतरीं वह 'महिलाद्वीप' कहलाया ॥ ४५ ॥

शूर्पारक पट्टन (महाराष्ट्र, मुम्बई के पास) में विजय कुमार उतरना चाह रहा था, किन्तु अपने साथियों की उद्दण्डता (साहस) के कारण वह पुनः नाव पर चढ़ गया ॥ ४६ ॥

विजय का लङ्कावतरण—अन्त में वह स्थिरमति विजयकुमार लङ्काद्वीप के ताम्रपर्णी नामक स्थान पर उसी समय उतरा, जिस समय भगवान् तथागत (कुसीनगर के) दो साल वृक्षों के बीच परिनिर्वाण शय्या पर लेटे हुए थे ॥

यों सज्जनों की धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह में
अभिवृद्धिहेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

लङ्का द्वीप में विजयगमन नामक

षष्ठ परिच्छेद समाप्त

७.

सत्तमो परिच्छेदो

(विजयाभिसेको नाम)

[W.G.62] सब्बलोकहितं कत्वा पत्वा सन्तिखणं परं ।
परिनिब्बानमञ्चम्हि निपन्नो लोकनायको ॥ १ ॥

देवतासन्निपातम्हि महन्तम्हि महामुनि ।
सक्कं तत्र समीपट्ठं अवोच वदतं वरो ॥ २ ॥

"विजयो लाळविसये सीहबाहुनरिन्दजो ।
एसो लङ्कं अनुप्पत्तो सत्तभच्चसतानुगो ॥ ३ ॥

पतिट्ठिस्सति देविन्द ! लङ्कायं मम सासनं ।
तस्मा सपरिवारं तं रक्ख लङ्कं च साधुकं" ॥ ४ ॥

तथागतस्स देविन्दो वचो सुत्वा व सादरो ।
देवस्सुप्पलवण्णस्स लङ्कारक्खं समप्पयि ॥ ५ ॥

सक्केन वुत्तमत्तो सो लङ्कं आगम्म सज्जुकं ।
परिब्बाजकवेसेन रुक्खमूले उपाविसि ॥ ६ ॥

विजयप्पमुखा सब्बे तं उपेच्च अपुच्छिसुं ।
"अयं भो को नु दीपो ?" ति, लङ्कादीपो" ति सोब्रवि ॥ ७ ॥

"न सन्ति मनुजा एत्थ न च हेस्सति वो भयं ।"
इति वत्वा कुण्डिकाय ते जलेन निसिञ्चिय ॥ ८ ॥

सप्तम परिच्छेद

(विजय का अभिषेक)

देवराज को भगवान् का आदेश–समग्र लोक का हितसाधन कर, परम शान्ति का क्षण (समय) उपस्थित होने पर लोकनायक भगवान् बुद्ध परिनिर्वाणमञ्च पर लेटे हुए थे ॥ १ ॥

उस समय वक्ताओं में अद्वितीय उन महामुनि के चारों तरफ बहुत से देवता एकत्र थे । उनमें से पास बैठे देवराज इन्द्र को भगवान् ने आदेश दिया–॥ २ ॥

"लाड़ प्रदेश के राजा सिंहबाहु का पुत्र विजय सात सौ पुरुष-सहयोगियों के साथ अभी लङ्काद्वीप में पहुँचा है ॥ ३ ॥

"देवेन्द्र ! लङ्का में मेरे धर्मशासन की प्रतिष्ठा में यह विजय मुख्य सहायक बनेगा, अतः लङ्का में इसकी सपरिवार भली-भाँति रक्षा करना आवश्यक है" ॥ ४ ॥

देवन्द्र ने भगवान् के ये आदेश-वचन सुनकर, उनका सम्मान करते हुए, उत्पलवर्ण (श्यामवर्ण, विष्णु) देव को तत्काल लङ्का की रक्षा का उत्तरदायित्व सौंप दिया ॥ ५ ॥

क्योंकि देवराज इन्द्र का आदेश था अतः उस (उत्पलवर्ण) देवता ने तत्काल लङ्का में जा कर वहाँ परिव्राजक वेष धारण कर वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गया ॥ ६ ॥

देवता द्वारा रक्षाबन्धन–कुछ समय बाद ही विजय के वे सब साथी उस (परिव्राजक) के पास पहुँच कर पूछने लगे–"श्रीमन् ! यह कौन द्वीप है ?" उसने बताया–"यह लङ्का द्वीप है ॥ ७ ॥

"यहाँ कोई मनुष्य नहीं रहता है, अतः यहाँ रहने में कोई भय नहीं है ।" ऐसा कह कर उसने अपने कमण्डलु से पवित्र जल छिड़क कर ॥ ८ ॥

[W.G.63] सुत्तं च तेसं हत्थेसु लग्गेत्वा नभसागमा ।
दस्सेसि सोणिरूपेण परिचारकयक्खिणी ॥ ९ ॥

एको तं वारियन्तो पि राजपुत्तेन अन्वगा ।
"गामम्हि विज्जमानम्हि भवन्ति सुनखा" इति ॥ १० ॥

तस्सा च सामिनी तत्थ कुवण्णा नाग यक्खिणी ।
निसीदि रुक्खमूलम्हि कन्तन्ती तापसी विय ॥ ११ ॥

दिस्वान सो पोक्खरणिं निसिन्नं तं च तापसिं ।
तत्थ न्हात्वा पिवित्वा च आदाय च मुळालियो ॥ १२ ॥

वारिं च पोक्खरेहेव वुट्ठासि, सा तमब्रवि ।
"भक्खो सि मम तिट्ठा" ति अट्ठा बद्धो व सो नरो ॥ १३ ॥

परित्तसुत्ततेजेन भक्खेतुं सा न सक्कुणि ।
याचियन्तो पि तं सुत्तं नादा यक्खिणिया नरो ॥ १४ ॥

तं गहेत्वा सुरुङ्गायं रवन्तं यक्खिणी खिपि ।
एतं एकेकसो तत्थ खिपि सत्त सतानि च ॥ १५ ॥

[W.G.64] अनायन्तेसु सब्बेसु विजयो भयसङ्कितो ।
नद्धपञ्चायुधो गन्त्वा दिस्वा पोक्खरणिं सुभं ॥ १६ ॥

अपस्सं उत्तिण्णपदं पस्सन्तं चेव तापसिं ।
"इमाय खलु भच्चा मे गहिता नू" ति चिन्तिय ॥ १७ ॥

"किं न पस्ससि भच्चे मे, भोति ! त्वं" इति आहतं ।
"कि, राजपुत्त ! भच्चेहि पिव न्हाया" ति आह सा ॥ १८ ॥

"यक्खिणी ताव जानाति मम जातिं" ति निच्छितो ।
सीघं सनामं सावेत्वा धनुं सन्धायुपागतो ॥ १९ ॥

उनके हाथों पर अभिमन्त्रित सूत्र (रक्षाबन्धन) बांध कर वह आकाशमार्ग से वापस देवलोक आ गया। तब उन विजय के साथियों को (कुवर्ण नामक यक्ष-परिवारक की सीसपातिका नामक) यक्षिणी कुतिया के रूप में दिखायी दी ॥ ९ ॥

यक्षिणी की धूर्तता–विजय कुमार के निषेध करने पर भी उसके साथियों में से एक आदमी, यह सोचकर, उस कुतिया के पीछे लग गया कि जहाँ ग्राम का वास होता है उसी के आस-पास कुत्ते भी रहा करते हैं ॥ १० ॥

उस कुतिया की स्वामिनी कुवर्णा नामक यक्षिणी एक वृक्ष के नीचे सूत कातती हुई तपस्विनी की तरह बैठी थी ॥ ११ ॥

वहाँ उस आदमी ने जलभरी पुष्करिणी एवं सूत कातती महिला को देखकर, उस पुष्करिणी में स्नान कर, जल पीकर तथा कमल की मृदु मृणालिनी में जल खण्ड लेकर ॥ १२ ॥

उठकर उस पुष्करिणी से वापस लौटने लगा तो उस तापसी ने कहा–"अरे ! ठहर ! कहाँ जा रहा है ! तू तो मेरा भक्ष्य है !" उस तापसी के ऐसा कहते ही वह आदमी वहीं का वहीं खड़ा रह गया ॥ १३ ॥

परन्तु वह यक्षिणी, रक्षासूत्र के प्रताप से, उस को खाने में असमर्थ ही रही। उस यक्षिणी ने वह सूत्र उससे माँगा, परन्तु उस आदमी ने नहीं दिया ॥ १४ ॥

तब उस यक्षिणी ने, उस के चीखते-चिल्लाते रहने पर भी, उसको सुरंग में डाल दिया। यों एक एक कर उन सात सौ आदमियों को सुरंग में डाल दिया ॥ १५ ॥

यक्षिणी से विवाह–उनमें से किसी के भी वापस ने लौटने पर विजय भयग्रस्त हो गया। तब वह स्वयं पाँच आयुध (तीर कमान, तलवार, फरसा, भाला एवं ढाल) लेकर उनको ढूँढने निकला। आगे चलकर उसे एक सुन्दर पुष्करिणी दिखायी दी ॥ १६ ॥

उसमें से मनुष्यों के निकलने के पदचिह्न न देख कर, तथा सामने वृक्ष के नीचे बैठी तपस्विनी को देखकर उसने सोचा–"निश्चय ही इसी स्त्री ने मेरे साथियों को पकड़ रखा है" ॥ १७ ॥

उसने उस तपस्विनी से पूछा–"आपने मेरे भृत्यों को देखा है क्या?" तपस्विनी ने उत्तर दिया–"राजपुत्र ! भृत्यों से क्या होगा, आपको जल पीना हो या स्नान करना हो तो जल पीजिये, या स्नान कीजिये" ॥ १८ ॥

'यह तो मेरी जाति भी जानती है, अतः यह यक्षिणी ही है'–ऐसा निश्चित मानकर, शीघ्र ही धनुष पर बाण चढ़ा कर उसके सामने पहुँच गया ॥ १९ ॥

यक्खिं आदाय गीवाय नाराचवलयेन सो ।
वामहत्थेन केसेसु गहेत्वा दक्खिणेन तु ॥ २० ॥

उक्खिपित्वा असिं आहः "भच्चे मे देहि दासि,तं ।
मारेमी" ति भयत्ता सा जीवितं याचि यक्खिणी ॥ २१ ॥

"जीवितं देहि मे, सामि ! रज्जं दस्सामि ते अहं ।
करिस्सं इत्थिकिच्चं च किच्चं चाञ्ञं यथिच्छितं" ॥ २२ ॥

अदुब्भत्थाय सपथं सो तं यक्खिं अकारयि ।
"आनेहि भच्चे सीघं" ति वुत्तमत्ता व सानयि ॥ २३ ॥

"इमे छाता" ति वुत्ता सा तण्डुलादीनि निद्दिसि ।
भक्खितानं वाणिजानं नावट्ठं विविधं बहुं ॥ २४ ॥

[W.G.65] भच्चा ते साधयित्वान भत्तानि ब्यञ्जनानि च ।
राजपुत्तं भोजयित्वा सब्बे चापि अभुञ्जिसुं ॥ २५ ।

दापितं विजयेनग्गं यक्खी भुञ्जिय पीणिता ।
सोळसवस्सिकं रूपं मापयित्वा मनोहरं ॥ २६ ॥

राजपुत्तं उपागञ्छि सब्बाभरणभूसिता ।
मापेसि रुक्खमूलस्मिं सयनं च महारहं ॥ २७ ॥

साणिया सुपरिक्खित्तं वितानसमलङ्कतं ।
तं दिस्वा राजतनयो पेक्खं अत्थं अनागतं ॥ २८ ॥

कत्वान ताय संवासं निपज्जि सयने सुखं ।
साणिं परिक्खिपित्वान सब्बे भच्चा निपज्जिसुं ॥ २९ ॥

रत्तिं तुरियसद्दं च सुत्वा गीतरवं च सो ।
अपुच्छि सह सेमानं "किं सद्द?" इति यक्खिणिं ॥ ३० ॥

तथा यक्षिणी के गले में धनुष् की डोरी फँसा कर बाँएँ हाथ से उसके केश पकड़ कर दाहिने हाथ में ।। २० ।।

तलवार उठाकर उससे बोला–"अरी दासि ! मेरे नौकरों को लौटा दे, नहीं तो मैं तुझे मार डालूँगा ।" तब वह यक्षिणी भयभीत होकर उससे अपना जीवन दान माँगने लगी ।। २१ ।।

उसने कहा–"हे स्वामिन् ! आप मुझे जीवन-दान दें । मैं आप को (बदले में) राज्य दूँगी, मैं जीवनपर्यन्त आपकी पत्नी बन कर सेवा करूँगी । तथा जो आप अन्य कार्य बतायेंगे वह भी पूर्ण करूँगी" ।। २२ ।।

उसने यक्षिणी से धोखा न देने की शपथ करायी । तथा कहा–"तुम पहले मुझे अभी मेरे नौकर लाकर दो ।" उसने तत्काल ही उन भृत्यों को सुरंग से ला दिया ।। २३ ।।

"ये भूखे हैं"–यह सोच कर उन सब को उसने वह चावल आदि खाद्य पदार्थ बता दिया जो उसके द्वारा खाये वणिग्जनों की नावों में रखा हुआ था ।। २४ ।।

भृत्यों ने उसी समय नाना प्रकार के व्यञ्जन बना कर राजपुत्र को भोजन कराकर बाद में सभी ने स्वयं भी भोजन किया ।। २५ ।।

विजय के द्वारा प्रथम दिया भोजन खाकर यक्षिणी बहुत प्रसन्न हुई तथा उसने सोलह (१६) वर्ष की रूपवती कन्या का मनोहर रूप धारण कर लिया ।। २६ ।।

और सभी अलङ्कारों से अलङ्कृत होकर वह राजकुमार के पास गयी । फिर उसी वृक्ष के नीचे एक अमूल्य शय्या तय्यार की ।। २७ ।।

उसके चारों ओर कनात तथा ऊपर चँदवा तान दिया । यह देख कर राजकुमार विजय ने भविष्य की बात सोच कर उस यक्षिणी के साथ सहवास किया । बीच में कपड़ा तान कर वे सब भृत्य भी सो गये ।। २८-२९ ।।

यक्षवध–रात्रि में उसने बाजे बजने तथा गीत गाने की ध्वनि सुनी । तब उसने पास सोयी यक्षिणी से पूछा–"यह कैसी ध्वनि है ?" ।। ३० ।।

"रज्जं च सामिनो देय्यं सब्बे यक्खा च घातिया ।
मनुस्सावासकारणा यक्खा मं घातयन्ति हि" ॥ ३१ ॥

इति चिन्तिय यक्खी सा अब्रवि राजनन्दनं ।
"सिरीसवत्थु नामेतं सामी यक्खपुरं इध ॥ ३२ ॥

तत्थ जेट्ठस्स यक्खस्स लङ्कानगरवासिनी ।
कुमारिका इधानीता तस्सा माता च आगता ॥ ३३ ॥

आवाहमङ्गले तत्थ सत्ताहं उस्सवो महा ।
वत्तते, तत्थ सद्दोयं महा हेस समागमो ॥ ३४ ॥

[W.G.66] अज्जेव यक्खे घातेहि, न हि सक्का इतो परं ।
सो आहा "दिस्समाने ते घातेस्सामि कथं अहं ?" ॥ ३५ ॥

"तत्थ सद्दं करिस्सामि तेन सद्देन घातय ।
आयुधं मेनुभावेन तेसं काये पतिस्सति" ॥ ३६ ॥

तस्सा सुत्वा तथा कत्वा सब्बयक्खे अघातयि ।
सयं पि लद्धविजयो यक्खराजपसाधनं ॥ ३७ ॥

पसाधनेहि सेसेहि तं तं भच्चं पसाधयि ।
कतिपाहं वसित्वेत्थ तम्बपण्णिं उपागमि ॥ ३९ ॥

मापयित्वा तम्बपण्णिनगरं च विजयो तहिं ।
वासि यक्खिनिया सद्धिं अमच्चपरिवारितो ॥ ३९ ॥

नावाय भूमि ओतिण्णा विजयप्पमुखा तदा ।
किलन्ता पाणिना भूमिं आलम्बिय निसीदिसुं ॥ ४० ॥

तम्बपण्णिरजोफुट्ठो तम्बपाणि यतो अहु ।
सो देसो येव दीपो च 'तम्बपण्णि' ततो अहु ॥ ४१ ॥

"यह (लङ्का द्वीप का) समग्र राज्य अपने इस स्वामी को दे दूँगी, तथा इन सब यक्षों को मरवा डालूँगी । अन्यथा ये यक्ष मनुष्य के साथ सहवास करने के कारण मुझे ही मार डालेंगे"–॥ ३१ ॥

ऐसा सोच कर उस **यक्षिणी** ने राजकुमार से कहा–"स्वामिन् ! शिरीषवस्तु नाम का यहाँ यक्षों का नगर है ॥ ३२ ॥

"वहाँ हमारे लङ्कानगर के प्रधान यक्ष की कन्या आयी हुई है । उसकी माता भी आयी है ॥ ३३ ॥

"उसी के विवाह-मङ्गल में यह सात दिन का महोत्सव हो रहा है । इस उत्सव के कारण यह गाने-बाजे का महान् निनाद हो रहा है ॥ ३४ ॥

"तुम ऐसा करो कि आज ही इन यक्षों को मार डालो । फिर कभी ऐसा अवसर नहीं मिलेगा ।"

वह बोला–"इन अदृश्यमान यक्षों को मैं कैसे मार पाऊँगा ?" ॥ ३५ ॥

"मैं उनके पास खड़ी होकर शब्द करती रहूँगी, उस शब्द के सहारे तुम इन सब को क्रमशः मार डालो । मेरे चमत्कार के प्रभाव से तुम्हारा प्रत्येक वाण इन के शरीर पर गिरेगा" ३६ ॥

उसकी बात मान कर, बैसा ही करते हुए (राजकुमार ने) सभी यक्षों को मार डाला । उन पर विजय प्राप्त कर उनके सभी अलङ्कार लूट लिये तथा कुछ स्वयं रखें और ॥ ३७ ॥

कुछ भृत्यों में बाँट दिये । यों वह कुछ दिन वहाँ रह कर पुनः ताम्रपर्णी लौट आया ॥ ३८ ॥

राजकुमार विजय ताम्रपर्णी नगर बसा कर यक्षिणी तथा अमात्यों के साथ रहते हुए जीवन बिताने लगा ॥ ३९ ॥

ताम्रपर्णी नाम-करण–जब विजय एवं उसके साथी नाव से पृथ्वी पर उतरे तो श्रम (थकावट) के कारण पृथ्वी पर हाथ टिका कर बैठ गये थे ॥ ४० ॥

वहाँ ताम्रवर्ण की मिट्टी लग जाने के कारण इनके हाथ ताम्र वर्ण के तुल्य हो गये । अतः इस देश एवं द्वीप का नाम 'ताम्रपर्णी' हो गया ॥ ४१ ॥

सीहबाहुनरिन्दो सो सीहं आदिन्नवा इति ।
'सीहलो', तेन सम्बन्धा एते सब्बे पि सीहला ॥ ४२ ॥

तत्थ तत्थ च गामे ते तस्सामच्चा निवेसयुं ।
अनुराधगामं तन्नामो कदम्बनदियन्तिके ॥ ४३ ॥

गम्भीरनदिया तीरे उपतिस्सो पुरोहितो ।
उपतिस्सगामं मापेसि अनुराधस्स उत्तरे ॥ ४४ ॥

[W.G. 67] उज्जेनिं उरुवेलं च विजितं नगरं तथा ।
अञ्ञे तयो अमच्चा तु मापयिंसु विसुं विसुं ॥ ४५ ॥

निवासेत्वा जनपदं सब्बे मच्चा समेच्च तं ।
अवोचुं राजतनयं : "सामि ! रज्जो भिसेचिय" ॥ ४६ ॥

इति वुत्तो राजपुत्तो न इच्छि अभिसेचनं ।
विना खत्तियकञ्ञाय अभिसेकं महेसिया ॥ ४७ ॥

अथामच्चा सामिनो ते अभिसेके कतादरा ।
दुक्करेसु पि किच्चेसु तदत्थभीरुतातिगा ॥ ४८ ॥

पण्णाकारे महासारे मणिमुत्तादिके बहू ।
गाहापयित्वा पाहेसुं दक्खिणं मधुरं पुरं ॥ ४९ ॥

पण्डुराजस्स धीतत्थं सामिनो सामिभत्तिनो।
अञ्ञेसं चापि धीतत्थं अमच्चानं जनस्स च ॥ ५० ॥

सीघं नावाय गन्त्वान दूता ते मधुरं पुरं ।
पण्णाकारे च लेखं च तस्स रञ्ञो अदस्सयुं ॥ ५१ ॥

ततो राजा अमच्चेहि मन्तयित्वा सधीतरं ।
पाहेतुकामो मच्चानं अञ्ञेसं चापि धीतरो ॥ ५२ ॥

तथा उस का राजा सिंहबाहु कभी सिंह (मारकर) लाया था, अतः उसके उत्तराधिकारियों द्वारा बसाये जाने के कारण इस द्वीप का नाम 'सीहल' पड़ गया। यहाँ के निवासी भी 'सीहल' ही कहलाये ॥ ४२ ॥

नव नगर-निर्माण—उसके कुछ समर्थ अमात्यों ने भी वहाँ-वहाँ कुछ नगर बसाये। १. अनुराध नामक अमात्य ने कदम्ब नदी के तट पर अनुराधग्राम बसाया। २. गम्भीर नदी के तट पर उपतिष्य पुरोहित ने अनुराध के उत्तर में उपतिष्यग्राम बसाया ॥ ४४ ॥

इसी तरह अन्य तीन अमात्यों ने ३. उज्जयनी, ४. उरुवेल, तथा ५. विजित नगर—ये तीन नगर वहाँ-वहाँ बसाये ॥ ४५ ॥

राज्याभिषेक—इस इस तरह कई नगर बसा कर, सभी अमात्यों ने मिलकर राजा से प्रार्थना की कि स्वामिन्! आप अपना राज्यभिषेक-उत्सव करें ॥ ४६ ॥

अमात्यों के ऐसा कहे जाने पर भी राजपुत्र ने अपना अभिषेक करना तब तक स्वीकार नहीं किया, जब तक कि कोई क्षत्रिय-कन्या राजमहिषी बनने योग्य न मिल जाय ॥ ४७ ॥

राजमहिषी की खोज—तब उसके अमात्य, जो अपने राजा के हित में दुष्कर से दुष्कर कार्य करने में भी नहीं हिचकते थे, राजा के राज्याभिषेक में अत्यधिक रुचि रखते हुए ॥ ४८ ॥

(उन्होंने) बहुत से आदमियों को मणि मुक्तादि की अमूल्य भेंट देकर दक्षिण में मधुरा नगर राजा के पास भेजा ॥ ४९ ॥

कि वे स्वामी के लिये पाण्डुराज की कन्या माँगे। इसी तरह वहाँ अन्य अमात्यों के लिये भी कुछ कुलीन कन्याओं की खोज करने के लिये कहा ॥ ५० ॥

वे दूत शीघ्र ही नाव द्वारा मधुरा नगर जाकर वहाँ के राजा को मणिमुक्ता आदि की अमूल्य भेंट तथा अपने राजा का पत्र दिया ॥ ५१ ॥

तब पाण्डुराज ने अमात्यों से मन्त्रणा कर अपनी कन्या के साथ ही अमात्यों की अन्य कन्याओं को भेजने का निश्चय किया ॥ ५२ ॥

लद्धा ऊनसतं कञ्ञा अथ भेरिं चरापयि ।
"लङ्काय धीतुगमनं इच्छमाना नरा इध ॥ ५३ ॥

निवासयित्वा दिगुणं घरद्वारेसु धीतरो ।
ठपेन्तु, तेन लिङ्गेन आदियिस्साम ता" इति ॥ ५४ ॥

एवं लद्धा बहू कञ्ञा तप्पयित्वान तङ्कुलं ।
सम्पन्नसब्बालङ्कारं धीतरं सपरिच्छदं ॥ ५५ ॥

[W.G.68] सब्बा ता लद्धसक्कारा कञ्ञायो च यथारहं ।
राजारहं च हत्थस्सरथं पेसियकारके ॥ ५६ ॥

अट्ठारसन्नं सेनीनं सहस्सं च कुलानि सो ।
लेखं दत्वान पाहेसि विजयस्स जितारिनो ॥ ५७ ॥

सब्बो सोतरि नावाहि महातित्थे महाजनो ।
तेनेव पट्टनं तं हि 'महातित्थं' ति वुच्चति ॥ ५८ ॥

विजयस्स सुतो धीता तस्सायक्खिणिया अहु ।
राजकञ्ञागमं सुत्वा विजयो आह यक्खिणिं ॥ ५९ ॥

"गच्छ दानि तुवं भो ति ! ठपेत्वा पुत्तके दुवे ।
मनुस्सा अमनुस्सेहि भायन्ति हि सदा" इति ॥ ६० ॥

तं सुत्वा यक्खभयतो भीतं तं आह यक्खिणिं ।
"मा चिन्तयि, सहस्सेन दीपयिस्सामि ते बलिं" ॥ ६१ ॥

पुनप्पुनं तं याचित्वा उभो आदाय पुत्तके ।
भीता पि सा अगतिया लङ्कापुरं उपागमि ॥ ६२ ॥

इस तरह ९९ (निन्यानवें) कन्याएँ मिली । तब नगर में ढिंढोरा (भेरी) पिटवाया गया—"जो कोई अपनी लड़की को लङ्का भेजना चाहें ॥ ५३ ॥

वे दो युगल वस्त्रों सहित कन्या को अपने द्वार पर खड़ी रखे । उस चिह्न से उनकी भेजने की इच्छा जान कर हम उसे ग्रहण कर लेंगे" ॥ ५४ ॥

इस तरह बहुत सी कन्याएँ मिल गयी । उम कन्याओं को धन-दान से सन्तुष्ट कर अपनी कन्या को बहुमूल्य वस्त्रों तथा अलङ्कारों से यथायोग्य अलङ्कृत कर ॥ ५५ ॥

तथा अन्य कन्याओं को सत्कृत कर यथायोग्य यानों से एवं अपनी कन्या को हाथी घोड़े रथ ॥ ५६ ॥

एवं अट्ठारह (१८) प्रकार के एक हजार शिल्पी परिवारों को साथ दे कर पाण्डुराज ने पत्रसहित शत्रुजित् विजय के पास भेजा ॥ ५७ ॥

ये सब लोग नाव से महातीर्थ (तट) वाले बन्दरगाह पर उतरे, तब से उस नगर का नाम भी 'महातीर्थ' पड़ गया ॥ ५८ ॥

पुलिन्दों की उत्पत्ति—राजा विजय को उस याक्षिणी से एक पुत्र एवं एक पुत्री—दो सन्तानें थीं । राज-कन्या का आगमन सुन कर विजयने यक्षिणी से कहा—॥ ५९ ॥

"भवति ! अब तुम अपने दोनों पुत्रों को यहीं छोड़ कर अन्यत्र कहीं चली जाओ; क्योंकि मनुष्य मनुष्येतर देवता यक्ष आदि से निरन्तर भयभीत रहते हैं" ॥ ६० ॥

यह सुनकर वह यक्षिणी डरने लगी कि 'मुझे अकेली जान कर यक्षगण मार न डाले !' तब उससे विजय ने कहा—"डरो नहीं, मैं तुम्हें एक हजार मुद्रा खर्च कर बलि (पूजादान) दिलवाऊँगा"॥ ६२ ॥

वह भयभीत तो रही, परन्तु बार-बार कहे जाने पर विवश हो कर अपनी सन्तानों के साथ लङ्कापुरी के लिये चल दी ॥ ६२ ॥

पुत्ते बहि निसीदेत्वा सयं पाविसि तं पुरं ।
सञ्ञानित्वान तं यक्खिं भीता 'चोरी'ति सञ्ञिनो ॥ ६३ ॥

सङ्खुभिंसु पुरे यक्खा, एको साहसिको पन ।
एकपाणिप्पहारेन विलयं नयि यक्खिणिं ॥ ६४ ॥

तस्सा तु मातुलो यक्खो निक्खम्म नगरा बहि ।
दिस्वा ते दारके पुच्छि "तुम्हे कस्स सुता?" इति॥ ६५ ॥

"कुवण्णाया" ति सुत्वाह "माता वो मारिता इध ।
तुम्हे पि दिस्वा मारेय्युं पलायथ लहुं" इति ॥ ६६ ॥

अगुं सुमनकूटं ते पलायित्वा ततो लहुं ।
वासं कप्पेसि जेट्ठो सो वुड्ढो ताय कनिट्ठिया ॥ ६७ ॥

[W.G.69] पुत्तधीताहि वड्ढित्वा राजानुञ्ञाय ते वसुं ।
तत्थेव मलये, एसो पुलिन्दानं हि सम्भवो ॥ ६८ ॥

पण्डुराजस्स दूता ते पण्णाकारे समप्पयुं ।
विजयस्स कुमारस्स राजधीतादिका च ता ॥ ६९ ॥

कत्वा सक्कारसम्मानं दूतानं विजयो पन ।
अदा यथारहं कञ्ञा अमच्चानं जनस्स च ॥ ७० ॥

यथाविधि च विजयं सब्बे मच्चा समागता ।
रज्जे समभिसिञ्चिसु करिंसु च महाछणं ॥ ७१ ॥

ततो सो विजयो राजा पण्डुराजस्स धीतरं ।
महता परिहारेन महेसित्ते भिसेचयि ॥ ७२ ॥

वहाँ पहुँच कर पुत्रों को नगर के बाहर ही छोड़ कर स्वयं नगर में गयी। यक्षों ने उसको पहचान लिया तथा उसे चौर (भेदिया) मान कर उस पर अत्यधिक क्रुद्ध हुए ॥ ६३ ॥

अन्त में एक क्रूर यक्ष ने एक हाथ से ऐसी मार मारी कि उसका प्राणान्त ही हो गया ॥ ६४ ॥

उस यक्षिणी के मामा ने नगर से बाहर जाते समय उन दोनों बालकों को खड़े देखा तो उनसे पूछा–"तुम किसके पुत्र हो ? ॥ ६५ ॥

उन्होंने कहा–"कुवण्णा के" । मामा ने कहा–"तुम्हारी माता को क्रुद्ध यक्षों ने मार दिया है, ऐसा न हो कि वे तुम्हें भी मार डालें । अतः तुम यहाँ से शीघ्र ही भाग जाओ" ॥ ६६ ॥

तब वे दोनों वहाँ से भाग कर सुमनकूट पर्वत पर पहुँचे । बड़े होने पर ज्येष्ठ ने अपनी छोटी बहन से ही सहवास किया ॥ ६७ ॥

अन्त में पुत्र-पौत्रों से बढ़ते-बढ़ते वे राजाज्ञा से उसी पर्वत बस गये । यही पुलिन्दों (व्याधों) की उत्पत्ति का इतिहास है ॥ ६८ ॥

विजय का राज्याभिषेक–पाण्डुराज के दूतों ने आकर विजयकुमार को अपने राजा की तरफ से पत्र एवं भेंट समर्पित की । तथा साथ ही अन्य कन्याओं के सहित राजकन्या को भी सौंपा ॥ ६९ ॥

विजयकुमार ने उन दूतों का सम्मान-सत्कार कर अन्य कन्याओं को यथायोग्य अमात्यों तथा विशिष्ट प्रजाजन को यथाविधि दे दिया ॥ ७० ॥

तब अमात्यों ने एकत्र होकर सर्वसम्मति से विजयकुमार को यथाविधि राज्याभिषिक्त किया, तथा महोत्सव मनाया ॥ ७१ ॥

राजा विजय ने भी पाण्डुराज की पुत्री को अपनी पटरानी बना कर समारोह-पूर्वक राजमहिषी पद पर अभिषिक्त किया ॥ ७२ ॥

धनानदा अमच्चानं, अदासि ससुरस्स तु ।
अनुवस्सं सङ्खमुत्तं सतसहस्सद्वयारहं ॥ ७३ ॥

हित्वा न पुब्बचरितं विसमं समेन,
धम्मेन लङ्कमखिलं अनुसासमानो ।
सो तम्बपण्णिनगरे विजयो नरिन्दो,
रज्जं अकारयि समा खलु अट्ठतिंसा[1] ॥ ति ॥ ७४ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

विजयाभिसेको नाम

सत्तमो परिच्छेदो

***

1. वसन्ततिलका छन्द ।

राजा विजय ने इस महोत्सव पर अमात्यों को बहुत धन दिया, श्वसुर का भी अत्यधिक सत्कार किया । उसको वह प्रतिवर्ष दो लाख मुद्राओं की शङ्ख एवं मुक्तामणि भेजता रहा ॥ ७३ ॥

अपनी प्रथम अवस्था के दुराचारों को त्याग कर उचित धर्माचरणपूर्वक लङ्काद्वीप पर शासन करते हुए नरेन्द्र विजय ने लङ्का द्वीप पर अड़तीस (३८) वर्ष तक राज्य किया ॥ ७४ ॥

साधुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह
वृद्धि हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

विजयाभिषेक नामक

सप्तम परिच्छेद समाप्त

८.

अट्ठमो परिच्छेदो

(पण्डुवासुदेवाभिसेको)

[W.G.70] विजयो सो महाराजा वस्से अन्तिमके ठितो ।
इति चिन्तयि "वुड्ढोहं, न च विज्जति मे सुतो ॥ १ ॥

किच्छेन वासितं रट्ठं नस्सेय्याथ ममच्चये ।
आनापेय्यं रज्जहेतु सुमित्तं भातरं मम" ॥ २ ॥

अथामच्चेहि मन्तेत्वा लेखं तत्थ विसज्जयि ।
लेखं दत्वान विजयो न चिरेन दिवं गतो ॥ ३ ॥

तस्मिं मते अमच्चा ते पेक्खन्ता खत्तियागमं ।
उपातिस्सगामे ठत्वान रज्जं समनुसासिसुं ॥ ४ ॥

मते विजयराजम्हि खत्तियागमना पुरा ।
एकं वस्सं अयं लङ्कादीपो आसि अराजिको ॥ ५ ॥

तस्मिं सीहपुरे तस्स सीहबाहुस्स राजिनो ।
अच्चयेन सुमित्तो सो राजा तस्स सुतो अहु ॥ ६ ॥

तस्स पुत्ता तयो आसुं मद्दराजस्स धीतुया ।
दूता सीहपुरं गन्त्वा रञ्ञो लेखं अदासु ते ॥ ७ ॥

लेखं सुत्वान सो राजा पुत्ते आमन्तयी तयो ।
"अहं महल्लको ताता ! एको तुम्हेसु गच्छतु ॥ ८ ॥

अष्टम परिच्छेद

(पाण्डुवासुदेव का राज्याभिषेक)

राज्यविषयक चिन्तन—विजय राजा ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में सोचा—"मैं तो वृद्ध हो चला, मेरे कोई सन्तान भी नहीं जो मेरे बाद इस राज्य का सञ्चालन कर सके ॥ १ ॥

"यह राज्य मैंने बहुत कठिनाई से बसाया है, मेरी मृत्यु के बाद इसका यों ही नष्ट हो जाना तो अच्छा नहीं ! तो क्यों न मैं अपने छोटे भाई सुमित्र को यहाँ बुला लूँ" ॥ २ ॥

विजय का देहपात—अपने अमात्यों से मन्त्रणा कर राजा ने अपने भाई (सुमित्र) को पत्र भेजा । किन्तु पत्र भेजने के कुछ ही समय बाद उनका देहपात (मृत्यु) हो गया ॥ ३ ॥

उस का देहपात होने पर क्षत्रिय राजकुमार के आने की प्रतीक्षा करते हुए अमात्यों ने उपतिष्य ग्राम में बैठकर राज्यकार्य का सञ्चालन किया ॥ ४ ॥

राजा विजय की मृत्यु के बाद, तथा क्षत्रिय राजकुमार के आगमन से पूर्व, एक वर्ष तक यह लङ्का द्वीप विना राजा के ही रहा ॥ ५ ॥

(उधर) सिंहपुर में उस सिंहबाहु राजा की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सुमित्र राजा बना ॥ ६ ॥

उसको मद्रराज की पुत्री (रानी) से तीन पुत्र थे । तभी लङ्का के दूतों ने सिंहपुर जाकर राजा विजय का पत्र राजा को दिया ॥ ७ ॥

पत्र पढ़कर राजा सुमित्र ने अपने तीनों पुत्रों को बुलाया और कहा—"पुत्रों ! मैं तो अब वृद्ध हो चला हूँ । अच्छा हो, तुम तीनों में से कोई एक लङ्का द्वीप चला जाय ॥ ८ ॥

[W.G.71] लङ्कं नेकगुणं कन्तं मम भातूसु सन्तकं ।
तस्सच्चयेन तत्थेव रज्जं कारेतु सोभनं" ॥ ९ ॥

कनिट्ठको पण्डुवासुदेवो राजकुमारको ।
"गमिस्सामी" ति चिन्तेत्वा ञत्वा सोत्थिं गतिम्हि च ॥ १० ॥

पितरा समनुञ्ञातो द्वत्तिंसामच्चदारके ।
आदाय आरुही नावं परिब्बाजकलिङ्गवा ॥ ११ ॥

महाकन्दरनज्जा ते मुखद्वारम्हि ओतरुं ।
ते परिब्बाजके दिस्वा जनो सक्कारि साधुकं ॥ १२ ॥

पुच्छित्वा नगरं एत्थ उपयन्ता कमेन ते ।
उपतिस्सगामं सम्पत्ता देवतापरिपालिता ॥ १३ ॥

अमच्चानुमतो मच्चो पुच्छि नेमत्तिकं तहिं ।
खत्तियागमनं, तस्स सो ब्याकासि परं पि च ॥ १४ ॥

"सत्तमे दिवसे येव आगमिस्सति खत्तियो ।
बुद्धसासनमेतस्स वंसजो पट्ठपेस्सति" ॥ १५ ॥

सत्तमे दिवसे येव ते परिब्बाजके तहिं ।
पत्ते दिस्वान पुच्छित्वा अमच्चा ते विजानिय ॥ १६ ॥

तं पण्डुवासुदेवं ते लङ्कारज्जेन अप्पयुं ।
महेसिया अभावा सो न ताव अभिसेचयि ॥ १७ ॥

[W.G.72] अमितोदनसक्कस्स पण्डुसक्को सुतो अहु ।
ञत्वा विनासं सक्यानं सो आदाय सकं जनं ॥ १८ ॥

गन्त्वा अञ्ञापदेसेन गङ्गापारं, तहिं पुरं ।
मापेत्वा तत्थ कारेसि रज्जं, सत्त सुते लभि ॥ १९ ॥

"लङ्का द्वीप अनेकगुणसम्पन्न है । मेरे भाइयों के अधीन है । उनके मरने के बाद तुम में से जो वहाँ जायगा वही वहाँ राज्य करेगा" ॥ ९ ॥

पाण्डुवासुदेव का लङ्कागमन–तब उनें से सब से छोटा राजकुमार पाण्डुवासुदेव "मैं जाउँगा" कहकर ज्यौतिषियों से शुभ यात्रा का मुहूर्त पूछ कर ॥ १० ॥

पिता की आज्ञा लेकर बत्तीस (३२) आमात्यपुत्रों को साथ लेकर परिव्राजक वेष में नाव पर चढ़ा ॥ ११ ॥

वे लोग महाकन्दर नदी के मुहाने (मुखद्वार) पर जा कर नाव से उतरे । वहाँ लोगों ने उन्हें परिव्राजक जानकर उनका अत्यधिक स्वागत-सत्कार किया ॥ १२ ॥

देवता ओं द्वारा रक्षित वे लोग नगर का मार्ग पूछते-पूछते क्रमशः उपतिष्य-ग्राम पहुँचे ॥ १३ ॥

दूसरे अमात्यों की सम्मति से एक अमात्य ने ज्यौतियों से पूछा–"अम्बुद्वीपसे क्षत्रियकुमार का आगमन कब तक सम्भव है ?" उन्होंने बताया–॥ १४ ॥

"आज से सातवें दिन क्षत्रियकुमार यहाँ पहुँच जायगा । वहा यहाँ आकर राज्यशासन करेगा और उसका वंशज बुद्ध धर्म की अत्यधिक उन्नति करेगा" ॥ १५ ॥

यो सातवें ही दिन वह क्षत्रियकुमार परिव्राजक वेषमें वहाँ अपने साथियों के साथ पहुँच गया । परिचय पूछ कर अमात्यों ने उनको पहचान लिया ॥ १६ ॥

उस पाण्डुवासुदेव को अमात्यों ने लङ्का का राज्यभार सौंप दिया । परन्तु उसका तत्काल राज्याभिषेक समारोह नहीं कर पाये, क्योंकि उनकी कोई राजमहषी नहीं थी ॥ १७ ॥

अन्तःकथा–(कपिलवस्तु के) अमितोदन शाक्य को पाण्डुशाक्य नामक पुत्र था । शाक्यों का विनाश देखकर वह अपने अनुयायी शाक्यों को लेकर ॥ १८ ॥

किसी अन्य उपाय से गङ्गापार जाकर वहाँ एक नया नगर बसाकर उस पर राज्य करने लगा । उसे समय आने पर सात सन्तानें हुईं ॥ १९ ॥

निट्ठिका आसि भद्दकच्चाननामिका ।
सुवण्णमयइत्थी च सुरूपा अभिपत्थिता ॥ २० ॥

तदत्थं सत्त राजानो पण्णाकारे महारहे ।
पेसेसुं राजिनो तस्स, भीतो राजूहि सो पन ॥ २१ ॥

ञत्वान सोत्थिगमनं अभिसेकफलं पि च ।
सह द्वत्तिंस इत्थीहि नावां आरोपियासु तं ॥ २२ ॥

गङ्गाय खिपि "दण्गनेचु रगू मे झीचकं" इति ।
गहेतुं ते न सक्खिंसु, नावा सा पन सीघगा ॥ २३ ॥

दुतिये दिवसे येव गोणगामकपट्टनं ।
पत्वा पब्बजिताकारा सब्बा ता तत्थ ओतरुं ॥ २४ ॥

पुच्छित्वा नगरं एत्थ ता कमेनोपयन्तियो ।
उपतिस्सगामं सम्पत्ता देवतापरिपालिता ॥ २५ ॥

नेमित्तिकस्स वचनं सुत्वा तत्थागता तु ता ।
दिस्वा अम्च्चो पुच्छितेवा ञत्वा ररञ्ञोसमप्पयि ॥ २६ ॥

तं पण्डुवासुदेवं ते अमच्चा सुद्धबुद्धिनो ।
रज्जे समभिसिञ्चिंसु पुण्णसब्बमनोरथं ॥ २७ ॥

[W.G.73] सुभद्दकच्चानमनोमरूपिणं
महेसिभाव अभिसेचियत्तनो ।
सहागता ताय पदाय अत्तना
सहागतानं वसि भूमिपो सुखं[1] ॥ ति ॥ २८ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे
पण्डुवासुदेवाभिसेको नाम

अट्ठमो परिच्छेदो

***

1. इन्द्रवज्रा छन्द ।

उनमें से छठी कात्यायनी नाम की पुत्री थी, उसका शरीर सुवर्ण की तरह देदीप्यमान था। वह प्रशस्त रूपवती भी थी ॥ २० ॥

उसके साथ विवाह करने की इच्छा से सात राजाओं ने राजा के पास अनेक बहुमूल्य उपहार भेजे। परन्तु वह उन राजाओं से डर गया ॥ २१ ॥

ज्यौतिषियों से यह जान कर कि यात्रा मङ्गलमय होगी, तथा इस यात्रा से इसका कहीं राज्यभिषेक भी होगा, बत्तीस स्त्रियों के साथ उसको नाव पर बैठा दिया ॥ २२ ॥

और नाव को गङ्गा में छोड़ कर कहा–"जो समर्थ हो वह मेरी लड़की को पकड़ ले जाय।" परन्तु वे सात राजा उसे पकड़ न पाये; क्योंकि उसकी नाव की गति इनकी नाव से तीव्र (शीघ्र) थी ॥ २३ ॥

दूसरे दिन वे सभी परिव्राजक वेष में गोणग्रामक पट्टन (बन्दरगाह) में जा कर नाव से उतरीं ॥ २४ ॥

देवता से रक्षित वे सभी स्त्रियाँ लोगों से नगर का मार्ग पूछती हुई धीरे-धीरे (क्रमशः) उपतिष्यग्राम पहुँच ही गयीं ॥ २५ ॥

ज्यौतिषी के वचनों से आश्वस्त उन अमात्यों ने वहाँ आयी उन स्त्रियों को देखा तो उनसे सब समाचार जान कर उनको राजा के लिये समर्पित कर दिया ॥ २६ ॥

पाण्डुवासुदेव का राज्याभिषेक–तब अमात्यों ने उस विमलबुद्धि एवं पूर्णकाम राजा पाण्डुवासुदेव को राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त किया ॥ २७ ॥

इस तरह वह राजा विशिष्ट रूपवती सुभद्रकात्यायनी को अपनी पटरानी तथा साथ आयी अन्य कुमारियों से अपने साथियों का विवाहकरा कर लङ्काद्वीप पर सुखपूर्वक राज्य करता रहा ॥ २८ ॥

साधुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह वृद्धि हेतु
रचित इस महावंश ग्रन्थ मे

पाण्डुवासुदेवराज्याभिषेक वर्णन नामक

अष्टम परिच्छेद समाप्त

९.

नवमो परिच्छेदो

(अभयाभिसेको)

[W.G.74] महेसी जनयी पुत्ते दस एकं च धीतरं ।
सब्बजेट्ठोभयो नाम चित्ता नाम कनिट्ठिका ॥ १ ॥

पस्सित्वा तं वियाकंसु ब्राह्मणा मन्तपारगा ।
"रज्जहेतु सुतो अस्सा घातयिस्सति मातुले" ॥ २ ॥

"घातेस्साम कनिट्ठं" ति निच्छिते भातरो भयो ।
वारेसि, काले वासेसुं गेहे तं एकथूणिके ॥ ३ ॥

रञ्ञो च सिरिगब्भेन तस्स द्वारं अकारयुं ।
अन्तो ठपेसुं एकं च दासिं, नरसतं बहि ॥ ४ ॥

रूपेणुम्मादयि नरे दिट्ठिमत्ता व सा यतो ।
ततो 'उम्मादचित्ता' ति नामं सोपपदं लभि ॥ ५ ॥

सुत्वान लङ्कागमनं भद्दकच्चानदेविया ।
मातरा चोदिता पुत्ता ठपेत्वेकं च आगमुं ॥ ६ ॥

दिस्वान ते पण्डुवासुदेवं लङ्किन्दमागता ।
दिस्वान तं कनिट्ठं च रोदित्वा सह ताय च ॥ ७ ॥

रञ्ञा सुकतसक्कारा रञ्ञानुञ्ञाय चारिकं ।
चरिंसु लङ्कादीपम्हि, निवासं च यथारुचि ॥ ८ ॥

नवम परिच्छेद

(अभयाभिषेक-वर्णन)

अभय का जन्म—महिषी (भद्रकात्यायनी) ने दश पुत्र एवं एक पुत्री को जन्म दिया। उनमे सब से बड़े पुत्र का 'अभय' और सबसे छोटी पुत्री का नाम 'चित्ता' था ॥ १ ॥

उसे देखकर शास्त्रज्ञ विद्वान् ब्राह्मणों ने पहले ही बता दिया था कि "राज्य के लिये इसका पुत्र अपने मामाओं की हत्या करेगा" ॥ २ ॥

तब उन भाइयों ने निश्चय किया कि क्यों न छोटी बहन को ही मार डाला जाय ! पर ज्येष्ठ भ्राता अभय ने उनको ऐसा करने से ना कर दिया एवं उसके लिये एक ही स्तम्भ पर (भूमि से ऊपर) एक प्रासाद बनवाया, उसीमें उस को रख दिया ॥ ३ ॥

तथा उस प्रासाद का प्रवेश-द्वार राजा के शयन-कक्ष में बनवाया। वहाँ एक दासी तथा बाहर सौ (१००) रक्षक पहरे पर बैठा दिये ॥ ४ ॥

क्योंकि वह देखने मात्र से ही द्रष्टा को अपनी तरफ आकृष्ट कर उन्मत्त कर देती थी, अतः उसका नाम लोगों ने 'उन्मादचित्ता' रख दिया ॥ ५ ॥

भाइयों का आगमन—(अपनी बहन) भद्रकात्यायनी देवी के लङ्कागमन की बात सुन कर, माता से प्रेरणा ले कर पाण्डु शाक्य के, एक को छोड़कर, सभी (छह) पुत्र लङ्का चले आये ॥ ६ ॥

वहाँ आकर लङ्काधिपति पाण्डुवासुदेव से मिले। तथा अपनी छोटी बहन से मिल कर वे इतने दिन के वियोग का स्मरण कर बहुत रोये ॥ ७ ॥

राजा द्वारा उन का अत्यधिक सत्कार किया गया। कुछ समय बाद वे लङ्का में चारिका करते हुए स्वमनोनुकूल स्थान खोजकर वहाँ बस गये ॥ ८ ॥

रामेन वसितट्ठानं रामगोणं ति वुच्चति ।
उरुवेलानुराधानं निवासा च तथा तथा ॥ ९ ॥

[W.G.75] तत्थ विजितदीघायुरोहणानं निवासका ।
विजितगामो दीघायु रोहणं ति च वुच्चरे ॥ १० ॥

कारेसि अनुराधो सो वापिं दक्खिणतो ततो।
कारापेत्वा राजगेहं तत्थ वासं अकप्पयि ॥ ११ ॥

महाराजा पण्डुवासुदेवो जेट्ठसुतं सकं ।
अभयं उपरज्जम्हि काले समभिसेचयि ॥ १२ ॥

दीघायुस्स कुमारस्स तनयो दीघगामणी ।
सुत्वा उम्मादचित्तं तं तस्सं जातकुतूहलो ॥ १३ ॥

गन्त्वा पतिस्सगामं तं अपस्सि मनुजाधिपं ।
अदा सहोपराजेन राजूपट्ठानमस्स सो ॥ १४ ॥

गवक्खाभिमुखट्ठाने तं उपेच्च ठितं तु सा ।
दिस्वान गामणिं चित्ता रत्तचित्ताह दासिकं ॥ १५ ॥

"को एसो ?" ति ततो सुत्वा "मातुलस्स सुतो" इति ।
दासिं तत्थ नियोजेसि सन्धिं कत्वान सो ततो ॥ १६ ॥

गवक्खम्हि डसापेत्वा रत्तिं कक्कटयन्तकं ।
आरुय्ह छिन्दयित्वान कवाटं तेन पाविसि ॥ १७ ॥

ताय सद्धिं वसित्वान पच्चूसे येव निक्खमि ।
एवं निच्चं वसी तत्थ छिद्दाभावा अपाकटो ॥ १८ ॥

सा तेन अग्गही गब्भं, गब्भे परिणते ततो ।
मातु आरोचयी दासी, माता पुच्छिय धीतरं ॥ १९ ॥

रञ्ञो आरोचयी, राजा आमन्तेत्वा सुते ब्रवि ।
"पोसियो सो पि तुम्हेहि, देम तस्सेव तं" इति ॥ २० ॥

जहाँ राम ने वास किया वह 'रामगोण' कहलाया । 'उरुवेल' तथा 'अनुराध' के वासस्थान भी उन के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ९ ॥

और विजित, दीर्घायु एवं रोहण के वास स्थान भी (उन्हीं के नाम से) 'विजित ग्राम', 'दीर्घायु ग्राम' एवं 'रोहण ग्राम' ही कहलाये ॥ १० ।

अनुराध ने वहाँ एक विशाल वापी (पुष्करिणी) बनवायी, तथा उसके दक्षिण की तरफ बृहदाकार राजप्रासाद बनवाया और वह उसी में रहने लगा ॥ ११ ॥

महाराज पाण्डुवासुदेव ने समय आने पर अपने ज्येष्ठ पुत्र अभय को युवराज पद पर अभिषिक्त किया ॥ १२ ॥

उन्मादचित्ता का दीर्घग्रामणी से अनुराग–कुमार दीर्घायु को दीर्घग्रामणी नाम का पुत्र था । उसने जब उस उन्मादचित्ता के विषय में सुना तो वह उसके प्रति अनुरक्त हो बैठा ॥ १३ ॥

वह इसी प्रसङ्ग में उपतिष्य ग्राम पहुँचा और वहाँ राजा के दर्शन किये । राजा ने उसको युवराज (उपराज) के साथ किसी राज-कार्य में नियुक्त कर दिया ॥ १४ ॥

खिड़की (गवाक्ष) के सामने जाकर खड़े उसको देखकर वह (उन्मादचित्ता) भी उस पर अनुरक्त हो गयी । तथा उसने दासी से पूछा ॥ १५ ॥

"यह कौन है ?" यह तुम्हारे मामा का लड़का है ?" यह सुन कर उसने दासी को अपने काम पर लगा दिया । फिर उसने अपने प्रासाद में धीरे-धीरे एक सन्धिस्थान बनाया ॥ १६ ॥

फिर वह (ग्रामणी) दासी से मिल कर रात्रि में कर्कट (गोधा) यन्त्र के सहारे महल पर चढ़ कर किवाड़ों को काट कर अन्दर चला गया ॥ १७ ॥

वहाँ उसके साथ रात्रिपर्यन्त सहवास कर प्रातः काल ही वहाँ से निकला । अब यह उसका प्रतिदिन का कार्य हो गया; क्योंकि वहाँ कोई छिद्र तो था नहीं कि उससे उनका यह भेद खुल जाता ॥ १८ ॥

उन्मादचित्ता को पुत्रोत्पत्ति–यों, क्रमशः उसके साथ सहवास करते-करते, किसी समय उसको गर्भ ठहर गया । गर्भ के बढ़ने पर दासी ने उसकी माता को बताया । माता ने लड़की से सचाई पूछी ॥ १९ ॥

अन्त में माता ने राजा को सूचना दी । राजा ने पुत्रों को बुलाकर समझाया–"वह भी हमारे लिये रक्षणीय है । हम इसे उसी (ग्रामणी) को दे देंगे" ॥ २० ॥

[W.G.76] "पुत्तो चे मारयिस्साम तं" ति तस्स अदंसु तं ।
सा सूतिकाले सम्पत्ते सूतिगेहं च पाविसि ॥ २१ ॥

सङ्कित्वा गोपकं चित्तं कालवेलं च दासकं ।
"तस्मिं कम्मे निस्सया" ति गामणी परिचारके ॥ २२ ॥

ते पटिञ्ञं अदेन्ते ते राजपुत्ता अघातयुं ।
यक्खा हुत्वान रक्खिंसु उभो गब्भे कुमारकं ॥ २३ ॥

अञ्ञं उपविजञ्ञं सा सल्लक्खापेसि दासिया ।
चित्ता सा जनयी पुत्तं, सा इत्थी पन धीतरं ॥ २४ ॥

चित्ता सहस्सं दापेत्वा तस्सा पुत्तं सकं पि च ।
आनापेत्वा धीतरं तं निपज्जापेसि सन्तिके ॥ २५ ॥

"धीता लद्धा" ति सुत्वा न तुट्ठा राजसुता अहुं ।
माता च मातुमाता च उभो पन कुमारकं ॥ २६ ॥

मातामहस्स नामं च जेट्ठस्स मातुलस्स च ।
एकं कत्वा तंमकरुं पण्डुकाभयनामकं ॥ २७ ॥

लङ्कापालो पण्डुवासुदेवो रज्जं अकारयि ।
तिंस वस्सानि, जातम्हि मतो सो पण्डुकाभये ॥ २८ ॥

तस्मिं मतस्मिं मनुजाधिपस्मिं
सब्बे समागम्म नरिन्दपुत्ता ।
तस्साभयस्साभयदस्स भातु
राजभिसेकं अकरुं उळारं[2] ॥ ति ॥ २९ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

अभयाभिसेको नाम

नवमो परिच्छेदो

****

2. उपेन्द्रवज्रा छन्द ।

(परन्तु) पुत्रों ने कहा—"यदि लड़का होगा तो हम उसे मार देंगे" । वह प्रसव-काल आने पर प्रसूतिगृह में प्रविष्ट हुई ॥ २१ ॥

ग्रामणी के दो भृत्यों—चित्र, एवं कालवेल दास पर इस कर्म में लिप्त होनेका सन्देह करते हुए ॥ २२ ॥

उनके द्वारा सचाई न स्वीकार करने पर राजकुमारों ने उन दोनों को मरवा डाला । परन्तु मरणानन्तर उन दोनों ने यक्ष बनकर उस गर्भ की रक्षा की ॥ २३ ॥

उधर उस उन्मादचित्ता ने दासी के द्वारा ऐसी स्त्री का पता लगाया जिसे उसी दिन सन्तानोत्पत्ति होने वाली हो । उन्मादचित्ता ने पुत्र पैदा किया तथा उस स्त्री ने पुत्री ॥ २४ ॥

उन्मादचित्ता ने उसको एक हजार मुद्राएँ तथा अपना पुत्र देकर बदले में उसकी लड़की को मँगवा कर अपने पास लिटा लिया ॥ २५ ॥

"लड़की पैदा हुई है"—यह सुनकर राजकुमार प्रमुदित हुए । माता और नानी (मातृमाता) दोनों ने नाना एवं ज्येष्ठ राजकुमार (अभय)—दोनों के नाम एक में मिलाकर उस चित्ता के पुत्र का नाम 'पाण्डुकाभय' रखा ॥ २६-२७ ॥

यों, लङ्कापति पाण्डुवासुदेव ने तीस वर्ष तक निष्कण्टक राज्य किया । पाण्डुकाभय के जन्म लेने के बाद उसकी मृत्यु हुई ॥ २८ ॥

पाण्डुकाभय का राज्यभिषेक—राजा की मृत्यु होने पर सभी राजपुत्रों ने एकत्र होकर उस अभयप्रद अभयकुमार भाई का बड़े समारोह के साथ राज्याभिषेक किया ॥ २९ ॥

साधुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह

वृद्धिहेतु रचित इस महावंस ग्रन्थ में

अभयाभिषेक नामक

नवम परिच्छेद समाप्त

१०.

दसमो परिच्छेदो

(पण्डुकाभयाभिसेको)

[W.G.77] उम्मादचित्तायाणत्ता दासी आदाय दारकं ।
समुग्गे पक्खिपित्वान द्वारमण्डलकं अगा ॥ १ ॥

राजपुत्ता च मिगवं गता तुम्बरकन्दरे ।
दिस्वा दासिं "कुहिं यासि, किमेतं ?" ति च पुच्छिसुं ॥ २ ॥

द्वारमण्डलकं यामि, धीतु मे गुड़पूवकं" ।
इच्चाह, "ओरोपेही" ति राजपुत्ता तमब्रुवं ॥ ३ ॥

चित्तो च कालवेलो च तस्स रक्खाय निग्गता ।
महन्तं सूकरं तेसं तङ्खणे येव दस्सयुं ॥ ४ ॥

ते तं समनुबन्धिंसु सा तं आदाय तत्रगा ।
दारकं च सहस्सं च आयुत्तस्स अदा रहो ॥ ५ ॥

तस्मिं येव दिने तस्स भारिया जनयी सुतं ।
"यमके जनयी पुत्ते भरिया मे" ति पोसि तं ॥ ६ ॥

सो सत्तवस्सिको चापि तं विजानिय मातुला ।
हन्तुं सरसि कीळन्ते दारके च पयोजयुं ॥ ७ ॥

जलट्ठं रुक्खसुसिरं जलच्छादितछिद्दकं ।
निमुज्जमानो छिद्देन पविसित्वा चिरट्ठितो ॥ ८ ॥

दशम परिच्छेद

(पाण्डुकाभयाभिषेक-वर्णन)

दासी द्वारा पुत्र की रक्षा–उन्मादचित्ता के कहने से दासी उस बालक को टोकरी में रख कर राजमहल के प्रधान द्वार पर आयी ॥ १ ॥

उस समय, राजरपुत्र भी तुम्बरकन्दर वन में आखेट हेतु निकल रहे थे, उन्होंने द्वार से निकलती हुई दासी को देखा और पूछा–"कहाँ जा रही हो ? तथा इस (टोकरी) में क्या है ?" ॥ २ ॥

"मैं द्वारमण्डलक जा रही हूँ तथा इस टोकरी में बेटी के लिये गुड़ एवं पूए हैं" यह कहा । राजपुत्रों ने कहा–'इसे उतारो ।" ॥ ३ ॥

उसी समय चित्त और कालवेल (यक्ष) उसकी रक्षा हेतु आ पहुँचे और उन्होंने एक मायानिर्मित सूअर उन राजपुत्रों के सामने प्रकट कर दिया ॥ ४ ॥

देखते ही, राजकुमार उसके पीछे लग गये और वह दासी उस टोकरी को ले कर चल दी । उसने एकान्त पाकर वह बालक तथा एक हजार मुद्राएँ आयुक्त को दे दी ॥ ५ ॥

उसी दिन उसकी भार्या को भी पुत्र उत्पन्न हुआ था । अतः उसने घोषित कर दिया कि उसकी भार्या को युगल सन्तति पैदा हुई है" । यों, उन दोनों का ही वह पालन-पोषण करने लगा ॥ ६ ॥

पुत्र की हत्या का प्रथम षड्यन्त्र–वह जब सात वर्ष का हुआ तो उसके विषय में उसके मामाओं को सचाई का पता चल गया । उन्होंने तालाब पर खेलते हुए उसको मार डालने की योजना बनायी । तथा हत्यारों को उसके पीछे लगा दिया ॥ ७ ॥

परन्तु वह बालक जल में डुबकी गला कर जल में खड़े एक वृक्ष की जलस्थित जड़ के खोखले स्थान (छिद्र) में घुस कर बहुत देर तक बैठा रहता था ॥ ८ ॥

[W.G.78] ततो तत्थेव निक्खम्म कुमारो सेसदारके ।
उपेच्च पुच्छियन्तो पि वञ्चेतञ्ञवचोहि सो ॥ ९ ॥

मनुस्सेहागताहेसो निवासेत्वान वत्थकं ।
कुमारो वारिमोगय्ह सुसिरम्हि ठितो अहु ॥१० ॥

वत्थकानि गणेत्वा ते मारेत्वा सेसदारके ।
गन्त्वा आरोचयुं–"सब्बे दारका मारिता" ॥ इति ॥११ ॥

गतेसु तेसु सो गन्त्वा आयुत्तकघरं सकं ।
वसं अस्सासितो तेन अहु द्वादसवस्सिको ॥ १२ ॥

पुन सुत्वान जीवन्तं कुमारं तस्स मातुला ।
तत्थ गोपालके सब्बे मारेतुं सन्नियोजयुं ॥ १३ ॥

तस्मिं अहनि गोपाला लद्धा एकं चतुप्पदं ।
अग्गिं आहरितुं गामं पेसेसुं तं कुमारकं ॥ १४ ॥

सो गन्त्वा घरमायुत्तपुत्तकं येव पेसयि ।
"पादा रुजन्ति मे, नेहि अग्गिं गोपालसन्तिकं ॥ १५ ॥

तत्थ अङ्गारमंसं च खादिस्ससि तुवं" इति ।
नेसि सो तं वचो सुत्वा अग्गिं गोपालसन्तिकं ॥ १६ ॥

तस्मिं खणे पेसिता ते परिक्खिपिय मारयुं ।
सब्बे गोपे, मारयित्वा मातुलानं निवेदयुं ॥ १७ ॥

[W.G.79] ततो सोळसवस्सं तं विजानिंसु च मातुला ।
माता सहस्सं चादासि तस्स रक्खं च आदिसि ॥ १८ ॥

आयुत्तो मातुसन्देसं सब्बं तस्स निवेदयि ।
दत्वा दासं सहस्सं च पेसेसि पण्डुलन्तिकं ॥ १९ ॥

बाहर निकलने पर उन साथी बालकों द्वारा पूछे जाने पर कुछ का कुछ (अन्यथा) बता देता था ।। ९ ।।

वह हत्याकारी मनुष्यों के आने वाले दिन वस्त्र पहने ही पहने जल में प्रविष्ट होकर इस खोखले छिद्र में जा कर छिप गया ।। १० ।।

उन हत्याकारी मनुष्यों ने किनारे पर रखे वस्त्रों की गणना कर तदनुसार शेष बालकों की हत्या कर, महल में जाकर राजपुत्रों को बता दिया-"हमने सभी बालकों को मार दिया है ।" ।। ११ ।।

उन हत्याकारियों के चले जाने पर, वह अपने आयुक्तक के घर गया । वहाँ उस आयुक्तक से आश्वासन पाकर बारह वर्ष की आयु तक सुखपूर्वक रहा ।। १२ ।।

पुनः हत्या का षड्यन्त्र-फिर उस बालक को जीवित सुन कर उसके मामा लोगों ने सब ग्वालबालों को मार डालने के लिये पुनः हत्याकारी नियुक्त किये ।। १३ ।।

उस दिन उन ग्वालबालकों को एक पशु मिल गया । उसका मांस भूनने के लिये कुमार को अग्नि लाने के लिये ग्राम में भेजा ।। १४ ।।

घर जाकर उसने अपने पोषक के लड़के को यह कहकर भेज दिया कि "मेरा पैर दुखता है, तूँ वहाँ अग्नि लेकर चला जा, वहाँ तुझे भुना हुआ मांस भी खाने को मिलेगा" ।। १५ ।।

वह पोषक का बालक उसकी बात का विश्वास कर अग्नि लेकर वहाँ चला गया ।। १६ ।।

उसी समय हत्याहेतु भेजे गये हत्याकारियों ने उन सभी बालकों को मार कर राजपुत्रों (मामाओं) से जाकर निवेदन किया कि "हमने सभी ग्वालबालों को मार दिया है" ।। १७ ।।

अध्ययनहेतु प्रेषण-कुमार के सोलह वर्ष की आयु का होने पर उसके मामाओं को उसके जीवित होने का फिर पता लगा । अतः उसकी माता ने आयुक्तक को एक हजार मुद्राएँ अतिरिक्त दीं तथा उससे उसकी रक्षा का प्रबन्ध कराया ।। १८ ।।

तब उस पोषक ने कुमार को माता की कही सब बातें समझा कर तथा एक हजार मुद्रा देकर एक नौकर के साथ पण्डुलग्राम भेज दिया ।। १९ ।।

पण्डुलब्राह्मणो नाम भोगवा वेदपारगो ।
दक्खिणस्मिं दिसाभागे वसि पण्डुलगामके ॥ २० ॥

कुमारो तत्थ गन्त्वान पस्सि पण्डुलब्राह्मणं ।
"त्वं पण्डुकाभयो तात?" इति पुच्छिय व्याकते ॥ २१ ॥

तस्स कत्वान सक्कारं आह–"राजा भविस्ससि ।
समसत्ततिवस्सानि रज्जं तं कारयिस्ससि ॥ २२ ॥

सिप्पं उग्गण्ह, ताता !" ति सिप्पग्गहमकारयि ।
चन्देन चस्स पुत्तेन सब्बं सिप्पं समापितं ॥ २३ ॥

अदा सतसहस्सं सो योधसङ्गहकारणा ।
योधेसु सङ्गहीतेसु तेन पञ्चसतेसु सो ॥ २४ ॥

"सियुं याय गहीतानि पण्णानि कनकानि, तं ।
महेसिं कुरु चन्दं च मम पुत्तं पुरोहितं" ॥ २५ ॥

इति वत्वा धनं दत्वा सयोधं नीहरी ततो ।
सो नाम सावयित्वान ततो निक्खम्म पुञ्ञवा ॥ २६ ॥

लद्धा पणे नागरके कासपब्बतसन्तिके ।
सत्तसतानि पुरिसे सब्बेसं भोजनानि च ॥ २७ ॥

ततो नरसहस्सेन द्विसतेन कुमारको ।
गिरिकण्डपब्बतं नाम अगमा परिवारितो ॥ २८ ॥

[W.G.80] गिरिकण्डसिवो नाम पण्डुकाभयमातुलो ।
तपण्डुवासुदेवेन दिन्नं भञ्जति देसकं ॥ २९ ॥

तदा करीससतमत्तं सो लावयति खत्तियो ।
तस्स धीता रूपवती पाली नामासि खत्तिया ॥ ३० ॥

उस पण्डुलग्राम के दक्षिण भाग में एक वेदज्ञ एवं ऐश्वर्यसम्पन्न पण्डुल नामक ब्राह्मण रहता था ॥ २० ॥

कुमार इस पण्डुलब्राह्मण के पास गया। उसे देखते ही ब्राह्मण ने पूछा– "तुम्हारा नाम पण्डुकाभय है?" उसने स्वीकार किया ॥ २१ ॥

बाह्मण ने उसका सत्कार कर के कहा–"तुम एक दिन राजा बनोगे और सत्तर वर्ष तक राज्य करोगे ॥ २२ ॥

अतः तुम शिल्प (विद्या) सीखो।" यों कह कर ब्राह्मण ने उसे विद्याभ्यास कराना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे उसने और उस ब्राह्मण के पुत्र चन्द्र ने भी समग्र विद्याएँ पूर्ण कर लीं ॥ २३ ॥

ब्राह्मण ने कुमार को सेना एकत्र करने हेतु एक लाख मुद्राएँ दीं उसने उन मुद्राओं से पाँच सौ योद्धा एकत्र किये ॥ २४ ॥

तब ब्राह्मण ने उससे कहा–"जिस के कर-स्पर्श से वृक्ष के पत्ते सुवर्णपत्र बन जायँ उस कन्या को तुम अपनी राजमहिषी बनाना, और मेरे पुत्र (चन्द्र) को अपना पुरोहित (राज-पण्डित) बनाना" ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर तथा और धन देकर ब्राह्मण ने उसे योद्धाओं सहित विदा किया। पुण्यशाली पाण्डुकाभय भी ब्राह्मण को अपना नामश्रावणपूर्वक अभिवादन करते हुए वहाँ से चल दिया ॥ २६ ॥

कासपर्वत के समीप पण नगर के सात सौ नागरिक तथा उनके लिये खाद्यसामग्री ले कर ॥ २७ ॥

समग्र एक हजार दो सौ (१,२००) लोगो को साथ लेकर कुमार गिरिकण्ड पर्वत पर पहुँचा ॥ २८ ॥

पाण्डुकाभय का विवाह–वहाँ गिरिकण्डसिव नामक पाण्डुकाभय का मामा पाण्डुवासुदेव द्वारा प्रदत्त भूमिक्षेत्र (जागीर) का उपभोग कर रहा था ॥ २९ ॥

उस समय वह गिरिकण्डसिव क्षत्रिय सौ करीब (४अम्मण=२ करीष) खेती कटवा रहा था। उसकी पाली नामक एक अत्यन्त रूपवती क्षत्रिय कन्या थी ॥ ३० ॥

सा महापरिवारेन यानं आरुय्ह सोभनं ।
पितु भत्तं गाहयित्वा लावकानं च गच्छति ॥ ३१ ॥

कुमारस्स मनुस्सा तं दिस्वा तत्थ कुमारिकं ।
आरोचेसुं कुमारस्स, कुमारो सहसागतो ॥ ३२ ॥

द्वेभागं परिसं कत्वा सकं यानं अपेसयि ।
तदन्तिकं सपरिसो "कत्थ यासी ?" ति पुच्छितं ॥ ३३ ॥

ताय वुत्ते स सब्बस्मिं तस्सा सारत्तमानसो ।
अत्तनो संविभागत्तं भत्तेनायाचि खत्तियो ॥ ३४ ॥

सा समोरुय्ह यानम्हा अदा सोवण्णपतिया ।
भत्तं निग्रोधमूलस्मिं राजपुत्तस्स खत्तिया ॥ ३५ ॥

गण्हि निग्रोधपण्णानि भोजेतुं सेसके जने ।
सोवण्णभाजनानासुं तानि पण्णानि तङ्खणे ॥ ३६ ॥

तानि दिस्वा राजपुत्तो सरित्वा दिजभासितं ।
"महेसीभावयोग्गा मे कञ्ञा लद्धा" ति तुस्सि सो ॥ ३७ ॥

[W.G.81] सब्बे भोजापयी ते सा तं न खीयित्थ भोजनं ।
एकस्स पटिविंसो व गहीतो तत्थ दिस्सथ ॥ ३८ ॥

एवं पुञ्ञगुणूपेता सुकुमारी कुमारिका ।
सुवण्णपाली नामेन ततो पभुति आसि सा ॥ ३९ ॥

तं कुमारिं गहेत्वान यानं आरुय्ह खत्तियो ।
महाबलपरिब्बळहो अनुस्सङ्की परक्कमि ॥ ४० ॥

तं सुत्वान पिता तस्सा नरे सब्बे अपेसयि ।
ते गन्त्वा कलहं कत्वा तज्जिता तेहि आगमुं ॥ ४१ ॥

वह बहुत से लोगों के साथ सुन्दर यान पर चढ़कर अपने पिता तथा खेत पर काम करने वाले अन्य श्रमिकों के लिये भोजन ले कर जा रही थी ॥ ३१ ॥

कुमार के आदमियों ने उस यान पर चढ़ी कन्या को देखकर उसके विषय में कुमार को सूचना दी । कुमार शीघ्र ही वहाँ पहुँचा ॥ ३२ ॥

अपने योद्धाओं को दो भागों में बाँट कर उन अनुयायियों को अपने पीछे लगाकर अपना यान उस कन्या के यान के सामने ले जा कर उससे पूछा—"कहाँ जा रही हो?" ॥ ३३ ॥

कन्या ने सब बात सत्य-सत्य बता दीं । उस पर मुग्ध हुए कुमार ने उससे अपने खाने के लिये कुछ भात माँगा ॥ ३४ ॥

उस क्षत्रिय–कन्या ने यान से उतरकर राजकुमार को न्यग्रोध वृक्ष की छाया में बैठा कर सुवर्णपात्र में भोजन परोसा ॥ ३५ ॥

तथा शेष जनों को वृक्ष के पत्तों पर भोजन परोसने के लिये वह वृक्ष के पत्ते लायी । पत्तों पर उसका हाथ लगते ही वे सुवर्णपत्र बन गये ॥ ३६ ॥

यह देखकर राजपुत्र को पण्डित का कहा हुआ स्मरण हो आया और वह सन्तुष्ट हुआ कि मुझे अपनी राजमहिषी बनाने योग्य कन्या मिल गयी ॥ ३७ ॥

उस कन्या ने सब को यथेच्छ भोजन कराया, फिर भी उस का अवशिष्ट भोजन कम न हुआ । केवल एक आदमी का अंश (भाग) ही लिया दिखायी दे रहा था ॥ ३८ ॥

ऐसी पुण्य-गुणमयी रूपवती सुकुमार कन्या का नाम उस दिन से 'सुवर्णपाली' जाना जाने लगा ॥ ३९ ॥

वह राजकुमार उस कुमारी को अपने रथ पर चढ़ाकर, अपनी सेना के साथ, निःशङ्क हो कर वहाँ से चल दिया ॥ ४० ॥

कन्या का अपहरण सुनकर कन्या के पिता ने उसके पीछे अपने सभी आदमियों को उसे छुड़ाकर लाने के लिये भेजा। वे उस कुमार के सामने कलह (युद्ध) करके भी (पराजित होने के कारण) लज्जित ही हुए ॥ ४१ ॥

'कलहनगरं' नाम गामो तत्थ कतो अहु ।
तं सुत्वा भातरो तस्सा पञ्च युद्धायुपागमुं ॥ ४२ ॥

सब्बे ते पण्डुलसुतो चन्दो येव अघातयि ।
'लोहितवाहखण्डो' ति तेसं युद्धमही अहु ॥ ४३ ॥

महता बलकायेन ततो सो पण्डुकाभयो ।
गङ्गाय पारिमे तीरे दोळापब्बतकं अगा ॥ ४४ ॥

तत्र चत्तारि वस्सानि वसि, तं तत्थ मातुला ।
सुत्वा ठपेत्वा राजानं तं युद्धत्थं उपागमुं ॥ ४५ ॥

खन्धावारं निवेसेत्वा धूमरक्खागसन्तिके ।
भागिनेय्येन युज्झंसु भागिनेय्यो तु मातुले ॥ ४६ ॥

अनुबन्धि ओरगङ्गं पलापेत्वा निवत्तिय ।
तेसं च खन्धावारम्हि दुवे वस्सानि सो वसि ॥ ४७ ॥

गन्त्वापतिस्सगामं ते तं अत्थं राजिनो ब्रवुं ।
राजा लेखं कुमारस्स सरहस्सं स पाहिणि ॥ ४८ ॥

[W.G.82] "भुञ्जस्सु पारगं त्वं मा गा ओरं ततो" इति ।
तं सुत्वा तस्स कुज्झिंसु भातरो नव राजिनो ॥ ४९ ॥

"उपत्थम्भो त्वमेवासि चिरं तस्स इदानि तु ।
रट्ठं ददासि, तस्मा त्वं मारेस्सामा"ति अब्रवुं ॥ ५० ॥

सो तेसं रज्जमप्पेसि, ते तिस्सं नाम भातरं ।
सब्बे व सहिताकंसु रज्जस्स परिणायकं ॥ ५१ ॥

एसो वीसति वस्सानि अभयो भयदायको ।
तत्थोपतिस्सगामम्हि राजा रज्जमकारयि ॥ ५२ ॥

तब से, जहाँ यह कलह (युद्ध) हुआ था, उस ग्रामका नाम ही 'कलहनगर' हो गया । उधर उस कन्या का अपहरण सुनकर उसके पाँच भाई भी युद्धहेतु सन्नद्ध हो कर आये ॥ ४२ ॥

उन सब को पण्डुलब्राह्मण के पुत्र चन्द्र ने ही मार गिराया । तथा वह युद्धस्थल 'लोहितवाहखण्ड' नाम से जाना गया ॥ ४३ ॥

दोला पर्वत पर निवास–फिर वह पाण्डुकाभय अपने विशाल सैन्यसमूह के साथ गङ्गा के उस पार दोला पर्वत पर गया ॥ ४४ ॥

वह वहाँ चार वर्ष तक रहा । उस के मामा लोग, उसको वहाँ रहता हुआ सुनकर, उससे युद्ध करने के लिये आये ॥ ४५ ॥

उन्होंने धूमरक्षक पर्वत पर अपनी छावनी डालकर, अपने भागिनेय से युद्ध किया । परन्तु भागिनेय (पाण्डुकाभय) ने उन मामाओं का ॥ ४६ ॥

गङ्गा के दूसरे किनारे तक पीछा किया, अन्त में उन्हें भगाकर वह उन्हीं की छावनी (स्कन्धावार) में दो वर्ष तक रहा ॥ ४७ ॥

उधर मामाओं ने उपतिष्यग्राम पहुँच कर युद्ध की समग्र घटना राजा को सुनायी । राजा ने चुपके से (=सरहस्सं) कुमार को लिख भेजा ॥ ४८ ॥

"तुम गङ्गापार के प्रदेश का राज्य भोगो, गङ्गा के इस पार न आना ।" नौ (९) भाइयों ने जब यह सुना तो वे बहुत क्रुद्ध हुए ॥ ४९ ॥

और वे बोले–"तुम ही प्रारम्भ से उसकी सहायता कर रहे हो । अब तुमने उसको राज्य भी दे दिया । अब तो हम तुम्हें नहीं छोड़ेंगे । हम तुम्हें मार डालेंगे" ॥ ५० ॥

राजा ने उसको अपना समग्र राज्य सौंप दिया । उन्होंने मिलकर तिष्य नामक अपने भाई को राज्य का सञ्चालक बना दिया ॥ ५१ ॥

इस राजा ने बीस (२०) वर्ष तक उस उपतिष्यग्राम में निर्भय रहकर (लङ्काद्वीप पर) निष्कण्टक राज्य किया था ॥ ५२ ॥

वसन्ती धूमरक्खागे सरे तुम्बरियङ्गणे ।
चरते वळवारूपा यक्खिणी चेतियनामिका ॥ ५३ ॥

एको दिस्वान सेतङ्गं रत्तपादं मनोरमं ।
आरोचेसि कुमारस्स–"वळवेत्थेदिसी" इति ॥ ५४ ॥

कुमारो रस्मिमादाय गहेतुं तं उपागमि ।
पच्छतो आगतं दिस्वा भीता तेजेन तस्स सा ॥ ५५ ॥

धावि नन्तरधायित्वा धावन्तिं अनुबन्धि सो ।
धावमाना सरं तं सा सत्तक्खत्तुं परिक्खिपि ॥ ५६ ॥

ओतरित्वा महागङ्गं उत्तरित्वा ततो पन ।
धूमरक्खं पब्बतं तं सत्तक्खत्तुं परिक्खिपि ॥ ५७ ॥

[W.G.83] तं सरं पन तिक्खत्तुं परिक्खिपि, तो पुन ।
गङ्गं कच्छकतित्थेन समोतरि, तहिं तु सो ॥ ५८ ॥

गहेसि तं वालधिस्मिं तालपत्तं च तोयगं ।
तस्स पुञ्ञानुभावेन सो अहोसि महा असि ॥ ५९ ॥

उच्चारेसि असिं तस्सा "मारेमी" ति, तमाह सा ।
"रज्जं गहेत्वा ते दज्जं, सामि, मा मं अमारयि" ॥ ६० ॥

गीवाय तं गहेत्वा सो विज्झित्वा असिकोटिया ।
नासाय रज्जुया बन्धि, सा अहोसि वसानुगा ॥ ६१ ॥

गन्त्वा तं धूमरक्खं सो तं आरुय्ह महाबलो ।
तत्थ चत्तारि वस्सानि धूमरक्खे नगे वसि ॥ ६२ ॥

ततो निक्खम्म सबलो आगम्मारिट्ठपब्बतं ।
युद्धकालं अपेक्खन्तो तत्थ सत्त समा वसि ॥ ६३ ॥

चैत्या यक्षिणी—उस धूमरक्ष पर्वत पर तुम्बरियङ्गण नामक सरोवर के किनारे चैत्या नामक यक्षिणी घोड़ी का रूप बना कर चरा करती थी ।। ५३ ।।

राजकुमार के एक आदमी ने उस घोड़ी को देखा और कुमार से जा कर कहा—"कुमार ! मैंने अभी एक ऐसी घोड़ी देखी है जिस का सम्पूर्ण शरीर श्वेत है, पैर लाल है, और देखने में सुन्दर है" ।। ५४ ।।

कुमार ने तत्काल एक रस्सी ले कर उसको पकड़ने का उपक्रम बनाया । परन्तु घोड़ी, पीछे से उस को आता हुआ देखकर, उसके तेज से भयभीत होकर, वहाँ से भाग चली ।। ५५ ।।

वह वहाँ से विना अदृश्य हुए भागती गयी तथा कुमार उसके पीछे-पीछे दौड़ता रहा । दौड़ते हुए उसने उस सरोवर के सात चक्कर लगाये ।। ५६ ।।

उसके बाद वह महागङ्गा में उतरी और फिर उसने धूमरक्षक पर्वत के सात चक्कर लगाये ।। ५७ ।।

फिर एक बार उसने सरोवर के तीन चक्कर लगाये । तब कच्छप तीर्थ (घाट) पर उतरी ।। ५८ ।।

वहाँ कुमार ने उसकी पूँछ के बालों को पकड़ा और जल में पड़ा हुआ एक ताड़पत्र उठाया, जो उसके पुण्य से तलवार बन गया ।। ५९ ।।

तब उसने तलवार हाथ में लेकर कहा—"मैं तुझे मारूँगा" । यक्षिणी ने कहा—"स्वामिन् ! मुझे न मारो, मैं तुम्हें राज्य लेकर दूंगी । अतः मुझे न मारो" ।। ६० ।।

तब उसने उस की ग्रीवा पकड़ कर तलवार से उसकी नामक बींध कर, उसमें रस्सी डालकर बाँध लिया, तब वह वश में हो गयी ।। ६१ ।।

तब वह महाबली उस पर चढ़कर धूमरक्ष पर्वत पर पहुँचा । वहाँ वह चार वर्ष तक रहा ।। ६२ ।।

फिर, सेनासहित वहाँ से निकलकर अरिष्ट पर्वत पर आकर युद्ध के उचित समय की प्रतीक्षा करता हुआ वहाँ सात वर्ष रहा ।। ६३ ।।

द्वे मातुले ठपेत्वान तस्स सेसट्ठमातुला ।
युद्ध सज्जा अरिट्ठं तं उपसङ्कम्म पब्बतं ॥ ६४ ॥

खन्धावारं नगरके निवासेत्वा चमूपतिं ।
दत्वा परिक्खिपापेसुं समन्तारिट्ठपब्बतं ॥ ६५ ॥

यक्खिनिया मन्तयित्वा सो तस्सा वचनयुत्तिया ।
दत्वा राजपरिक्खारं पण्णकारायुधानि च ॥ ६६ ॥

"गण्हथ सब्बानेतानि, खमापेस्सामि वो अहं ।"
इति वत्वान पेसेसि कुमारो पुरतो बलं ॥ ६७ ॥

"गण्हिस्साम पविट्ठं" ति विस्सत्थेसु तु तेसु सो ।
आरुय्ह यक्खिवळवं महाबलपुरक्खतो ॥ ६८ ॥

[W.G.84] युद्धाय पाविसि, यक्खी महारावं अरावि सा ।
अन्तोबहि बलं चस्स उक्कुट्ठिं महितं अका ॥ ६९ ॥

कुमारपुरिसा सब्बे परसेनानरे बहू ।
घातेत्वा मातुले चट्ठ सीसरासिं अकंसु ते ॥ ७० ॥

सेनापति पलायित्वा गुम्बट्ठानं स पाविसि ।
'सेनापतिगुम्बको' ति तेन एस पवुच्चति ॥ ७१ ॥

उपरिट्ठमातुलसिरं सीसरासिं स पस्सिय ।
"लाबुरासीव" इच्चाह तेनाहु लाबुगामको ॥ ७२ ॥

एवं विजितसङ्गामो ततो सो पण्डुकाभयो ।
अय्यकस्सानुराधस्स वसनट्ठानमागमि ॥ ७३ ॥

अत्तनो राजगेहं सो तस्स दत्वान अय्यको ।
अञ्ञत्थवासं कप्पेसि, सो तु तस्मिं घरे वसि ॥ ७४ ॥

मातुलों से युद्ध—दो मामाओं को छोड़कर उसके आठ मामा युद्ध के लिये सन्नद्ध हो कर उस अरिष्ट पर्वत पर आये ।। ६४ ।।

वहाँ छावनी बनाकर उसका सञ्चालन सेनापति सौंप कर स्वयं उस अरिष्ट पर्वत का घेरा डाल कर बैठ गये ।। ६५ ।।

चैत्या यक्षिणी से मन्त्रणा कर उसके कथनानुसार अपनी युद्धसेना को राजकीय परिष्कार (वस्त्राभूषण आदि) एवं उपहारयोग्य शस्त्र देकर यह कहकर भेजा—"यह आप स्वीकार करें, मैं अपने को आपसे क्षमा कराऊँगा" ।। ६६-६७ ।।

"जब आयगा, तब पकड़ लेंगे"—यह विश्वास कर उनके आश्वस्त हो जाने पर कुमार बलवती सेना लेकर उस यक्षिणी घोड़ी पर चढ़कर युद्ध के लिये चल पड़ा ।। ६८ ।।

भयङ्कर युद्ध प्रारम्भ हुआ । यक्षिणी घोड़ी ने भयङ्कर निनाद किया । (हिनहिनायी ।) साथ ही उसकी सेना ने भी भीतर और बाहर भयङ्कर निनाद किया ।। ६९ ।।

कुमार के योद्धाओं ने शत्रुसेना का संहार करते हुए उसके आठों मामाओं के सिर काटकर एकत्र संगृहीत कर लिये ।। ७० ।

सेनापति वहाँ से भाग कर घोर जंगल में छिप गया । इसीलिये आज तक वह स्थान 'सेनापतिगुम्बक' कहलाता है ।। ७१ ।।

कटे सैनिकों के शिरों पर रखे मामाओं के मस्तक देखकर उसने उनका परिहास करते (खिल्ली उड़ाते) हुए कहा—"यह तो लाबू (तुम्बे) की ढेर है" । तभी से यह स्थान 'लाबुग्राम' कहलाता है ।। ७२ ।।

अनुराधपुर का निर्माण—वह पाण्डुकाभय उस युद्ध को जीत कर अपने नाना अनुराध के वासस्थान पर आया ।। ७३ ।।

उसके नाना ने अपना राजनिवास उसको देकर अपने लिये दूसरा घर बनवा लिया, और वहीं रहने लगा ।। ७४ ।।

पुच्छापेत्वान नेमित्तं वत्थुविज्जाविदुं तथा ।
नगरं पवरं तस्मिं गामे येव अमापयि ॥ ७५ ॥

निवासट्ठानुराधानं अनुराधपुरं अहु ।
नक्खत्तेनानुराधेन पतिट्ठापिततताय च ॥ ७६ ॥

आनापेत्वा मातुलानं छत्तं जातस्सरे इध ।
धोवापेत्वा धारयित्वा तंसरे येव वारिना ॥ ७७ ॥

[W.G.85] अत्तनो अभिसेकं सो कारयि पण्डुकाभयो ।
सुवर्णपालिदेविं तं महेसित्तेभिसेचयि ॥ ७८ ॥

अदा चन्दकुमारस्स पोरोहिच्चं यथाविधि ।
ठानन्तरानि सेसानं भच्चानं च यथारहं ॥ ७९ ॥

मातुया उपकारत्ता अत्तनो च महीपतिं ।
अघातेत्वा व जेट्ठं तं मातुलं अभयं पन ॥ ८० ॥

रत्तिरज्जं अदा तस्स, अहु नगरगुत्तिको ।
तदुपादाय नगरे अहुं नगरगुत्तिका ॥ ८१ ॥

ससुरं तं अघातेत्वा गिरिकण्डसिवं पि च ।
गिरिकण्डदेसं तस्सेव मातुलस्स अदासि सो ॥ ८२ ॥

सरं तं च खणापेत्वा कारापेसि बहूदकं ।
जये जलस्स गाहेन 'जयवापी' ति आहुतं ॥ ८३ ॥

कालवेलं निवेसेसि यक्खं पुरपुरत्थिमे ।
यक्खं तु चित्तराजानं हेट्ठा अभयवापिया ॥ ८४ ॥

पुब्बोपकारिं दासिं तं निब्बत्तं यक्खयोनिया ।
पुरस्स दक्खिणद्वारे सो कतञ्ञू निवेसयि ॥ ८५ ॥

ज्यौतिषियों एवं भवननिर्माणकलाविदों से पूछकर उसी ग्राम (अनुराधग्राम) में ही एक श्रेष्ठ नगर बसाया ॥ ७५ ॥

दो अनुराधों (एक मन्त्री, तथा एक मामा) का वासस्थान होने से तथा अनुराध नक्षत्र में वसाया जाने से उस नगर का नाम 'अनुराधपुर' पड़ गया ॥ ७६ ॥

फिर मामाओं का राज्य-छत्र मँगवा कर, उसे यहाँ के पवित्र सरोवर के जल में धुलवा कर, धारण किया ॥ ७७ ॥

राज्याभिषेक–तब पाण्डुकाभय ने उस अनुराधपुर में अपना राज्याभिषेक किया, तथा सुवर्णपालि देवी को अपनी राजमहिषी बनवाया ॥ ७८ ॥

अधिकारियों का कार्य-विभाजन–साथ ही चन्द्रकुमार को अपना 'राजपुरोहित' पद दिया । इसी तरह दूसरे अमात्यों को यथायोग्य उच्च पदों पर बैठाया ॥ ७९ ॥

माता तथा अपना उपकारक होने से अभय नामक अपने ज्येष्ठ मामा को नहीं मारा ॥ ८० ॥

उसको रात्रिकाल का राज्य देकर उसे नगर-रक्षक (नगरगुप्ति=कोतवाल) बनाया । तभी से बड़े नगरों में नगर-रक्षक की प्रथा चल पड़ी ॥ ८१ ॥

उधर अपने श्वसुर गिरिकण्डशिव को भी न मार कर, उस मामा को वह गिरिकण्डप्रदेश राज्य के लिये सौंप दिया ॥ ८२ ॥

अनुराधपुर का नव निर्माण–अनुराधपुर के उस सरोवर को नये सिरे से गहरा खुदवा कर उसे गम्भीर जलाशय बना दिया । उसमें राज्याभिषेक के अवसर पर जल लेने से वह 'जयवापी' कहलाया ॥ ८३ ॥

उसने कालवेल दास यक्ष को नगर के पूर्व भाग में रखा तथा चित्तराज यक्ष को अभयवापी के नीचे ॥ ८४ ॥

उस कृतज्ञ ने पूर्व काल में उपकारिका दासी यक्षिणी को नगर के दक्षिण द्वार पर स्थान दिया ॥ ८५ ॥

अन्तो नरिन्दवत्थुस्स बलवामुखयक्खिनिं ।
निवेसेसि, बलिं तेसं अञ्ञेसं चानुवस्सकं ॥ ८६ ॥

दापेसि, छणकाले तु चित्तराजेन सो सह ।
समासने निसीदित्वा दिब्बमानुसनाटकं ॥ ८७ ॥

कारेन्तोभिरमी राजा रतिखिड्डासमप्पितो ।
द्वारगामे च चतुरो भयवापिं च कारयि ॥ ८८ ॥

[W.G.86] महासुसानाघातनं पच्छिमराजिनी तथा ।
वेस्सवणस्स निग्रोधं व्याधिदेवस्स तालकं ॥ ८९ ॥

योनसभागवत्थुं च महेज्जाघरमेव च ।
एतानि पच्छिमद्वारदिसाभागे निवेसयि ॥ ९० ॥

पञ्चसतानि चण्डालपुरिसे पुरसोधके ।
दुवे सतानि चण्डालपुरिसे वच्चसोधके ॥ ९१ ॥

दियड्ढसतचण्डाले मतनीहारके पि च ।
सुसानगोपचण्डाले तत्तके येव आदिसि ॥ ९२ ॥

तेसं गामं निवेसेसि सुसानपच्छिमुत्तरे ।
यथाविहितकम्मानि तानि निच्चं अकंसु ते ॥ ९३ ॥

तस्स चण्डालगामस्स पुब्बुत्तरदिसाय तु ।
नीचसुसानकं नाम चण्डालानं अकारयि ॥ ९४ ॥

तस्सुत्तरे सुसानस्स पासाणपब्बतन्तरे ।
आवासपालि व्याधानं तदा आसि निवेसिता ॥ ९५ ॥

तदुत्तरे दिसाभागे याव गामणिवापिया ।
तापसानं अनेकेसं अस्समो असि कारितो ॥ ९६ ॥

उस वडवामुख यक्षिणी को उसने राजमहल में स्थान दिया । उनको तथा अन्य को राजा प्रतिवर्ष बलि चढ़ाता था ।। ८६ ।।

उत्सवकाल में वह राजा चित्रराज यक्ष के साथ समान आसन पर बैठकर देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा अभिनीत नाटक देखता था ।। ८७ ।।

यों रति-क्रीड़ा में लीन होकर आनन्दोपभोग करने लगा । उसने चार द्वार-ग्राम तथा अभयवापी बनवायी ।। ८८ ।।

उसने महाश्मसान, पश्चिम रानी (?) वैश्रवणवट, व्याधिदेव का ताड़ ।। ८९ ।।

यवनों के लिये पृथक् मोहल्ला (वस्ती), बलिग्रह–ये स्थान नगर के पश्चिम द्वार की तरफ बनवाये ।। ९० ।।

नगर को परिशुद्ध (साफ सुथरा) रखने के लिये पाँच सौ (५००) चाण्डाल पुरुषों को तथा नगर का मैला (गूथ=टट्टी) साफ करने के लिये दो सौ चाण्डाल पुरुषों को नियुक्त किया ।। ९१ ।।

डेढ़ सौ (१५०) चाण्डाल, नगर के मृत शव (मुर्दा) ढोने के लिये, तथा उतने ही श्मशानरक्षक चाण्डाल भी नियुक्त किये ।। ९२ ।।

श्मशान के पश्चिम-उत्तर में उनका भी ग्राम बसाया । वे सभी दास (भृत्य) उन्हें सौंपे गये सभी कार्य प्रतिदिन यथाविधि करते थे ।। ९३ ।।

उस चाण्डालग्राम की पूर्व-उत्तर दिशा में नीच जातियों का श्मशान भी चाण्डालों के लिये बनवाया ।। ९४ ।।

उस श्मशान के उत्तर में पाषाण पर्वत के बीच में उसने आखेटकों (शिकारियों) के लिये गृहपंक्ति (वसति=कालोनी) बनवायी ।। ९५ ।।

उसके उत्तर दिशाभाग में ग्रामणीवापी तक अनेक तपस्वियों के आश्रम बनवाये ।। ९६ ।।

[W.G.87] तस्सेव च सुसानस्स पुरत्थिमदिसाय तु ।
जोतियस्स निगण्ठस्स धरं कारेसि भूपति ॥ ९७ ॥

तस्मिंयेव च देसस्मिं निगण्ठो गिरिनामको ।
नानापासण्डिका चेव वसिंसु समणा बहू ॥ ९८ ॥

तत्थेव च देवकुलं अकारेसि महीपति ।
कुम्भण्डस्स निगण्ठस्स तन्नामिकमहोसि तं ॥ ९९ ॥

ततो तु पच्छिमे भागे व्याधपालिपुरत्थिमे ।
मिच्छादिट्ठिकुलानं तु वसि पञ्चसतं तहिं ॥ १०० ॥

पारं जोतियगेहम्हा ओरं गामणिवापिया ।
सो परिब्बाजकारामं कारापेसितथेव च ॥ १०१ ॥

आजीवकानं गेहं च ब्राह्मणवत्थुमेव च ।
सिविकासोत्थिसालं च अकारेसि तहिं तहिं ॥ १०२ ॥

दसवस्साभिसित्तो सो गामसीमा नियेसयि ।
लङ्कादीपम्हि सकले लङ्किन्दो पण्डुकव्हयो ॥ १०३ ॥

सो कालवेलचित्तेहि दिस्समानेहि भूपति ।
सहानुभोसि सम्पत्तिं यक्खभूतसहायवा ॥ १०४ ॥

पण्डुकाभयरञ्ञो च अभयस्स च अन्तरे ।
राजसुञ्ञानि वस्सानि अहेसुं दस सत्त च ॥ १०५ ॥

[W.G.88] सो पण्डुकाभयमहीपति सत्ततिंस,
वस्सो धिगम्म धितिमा धरणीपतित्तं ।
रम्मे अनूनमनुराधपुरे समिद्धे,
वस्सानि सत्तति अकारयि रज्जमेत्था[3] ॥ ति ॥ १०६ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसं

पण्डुकाभयाभिसेको नाम

दसमो परिच्छेदो

****

---

3. वसन्ततिलका छन्द ।

राजा ने उसी श्मशान के पूर्व भाग में जोतिय निगण्ठ (जैन) का घर बनवाया ।। ९७ ।।

उसी प्रदेश में गिरि नामक निगण्ठ का घर बनवाया तथा नाना पाषण्डी श्रमणों के भी आश्रम बनवाये ।। ९७-९८ ।।

वहीं राजा ने देवमन्दिर मन्दिर बनवाया तथा कुम्भण्ड निगण्ठ के लिये उसी नाम का घर बनवाया ।। ९९ ।।

उसके पश्चिम भाग में व्याध वस्ती के पूर्व तरफ मिथ्यादृष्टि-मतानुयायी श्रमणों के लिये पाँच सौ घर बनवाये ।। १०० ।।

जोतियनिगण्ठ घर से आगे तथा ग्रामणी वापी के पहले उसने एक विशाल परिव्राजकाराम बनवाया ।। १०१ ।।

इसी तरफ आजीवकाराम तथा ब्राह्मणवसति का भी उसने निर्माण कराया । तथा जहाँ तहाँ प्रसूतिकागृहों का भी निर्माण कराया ।। १०२ ।।

उस लङ्कापति राजा पाण्डुकाभय ने सम्पूर्ण लङ्काद्वीप में ग्राम-सीमाएँ निर्धारित कर दीं ।। १०३ ।।

वह भूपति कालवेल तथा चित्त नामक दृश्यमान यक्षों के साथ समग्र सुख सम्पत्ति का उपभोग करने लगा, जबकि उसके कितने ही अन्य अदृश्य यक्ष, भूत आदि सहायक थे ।। १०४ ।।

यों, पाण्डुकाभय तथा अभय राजा के बीच लङ्का का राजविहीन अन्तराल सत्रह (१७) वर्ष का बीता ।। १०५ ।।

उस पाण्डुकाभय महीपति ने सैंतीस (३७) वर्ष की आयु में अनुराधपुर का राज्य सम्हाला तथा पूरे सत्तर (७०) वर्ष तक अनुराधपुर पर राज्य करते हुए समग्र ऐश्वर्य, एवं सुख सम्पत्ति का उपभोग किया ।। १०६ ।।

साधुजनों नें धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह

वर्धन हेतु रचित महावंश ग्रन्थ में

पाण्डुकाभय का अभिषेकवर्णन नामक

दशम परिच्छेद समाप्त

❋❋❋❋

११.

एकादसमो परिच्छेदो

(देवानम्पियतिस्साभिसेको)

[W.G.89] तस्सच्चये तस्स सुतो मुटसीवो ति विस्सुतो ।
सुवण्णपालिया पुत्तो पत्तो रज्जं अनाकुलं ॥ १ ॥

महामेघवनुय्यानं नामानुगगुणोदितं ।
फलपुप्फतरूपेतं सो राजा कारयी सुभं ॥ २ ॥

उय्यानट्ठानगहणे महामेघो अकालजो ।
पावस्सि, तेन उय्यानं महामेघवनं अहु ॥ ३ ॥

सट्ठि वस्सानि मुटसिवो राजा रज्जमकारयि ।
अनुराधपुरे रम्मे लङ्काभूवदने सुभे ॥ ४ ॥

तस्स पुत्ता दसाहेसुं अञ्ञमञ्ञहितेसिनो ।
दुवे धीता चानुकूला कुलानुच्छविका अहुं ॥ ५ ॥

देवानाम्पियतिस्सो ति विस्सुतो दुतियो सुतो ।
तेसु भातिसु सब्बेसु पुञ्ञ-पञ्ञाधिको अहु ॥ ६ ॥

देवानम्पियतिस्सो सो राजासि पितुअच्चये ।
तस्साभिसेकेन समं बहूनच्छरियानहुं ॥ ७ ॥

[W.G.90] लङ्कादीपम्हि सकले निधयो रतनानि च ।
अन्तोठितानि उग्गन्त्वा पथवीतलमारुहुं ॥ ८ ॥

एकादश परिच्छेद

(देवानाम्प्रिय तिष्य का राज्याभिषेक)

राजा मुटशिव– उस राजा (पाण्डुकाभय) के मरणान्तर सुवर्णपालि के पुत्र विख्यात मुटशिव ने उसका निर्भय राज्य सम्हाला ॥ १ ॥

उस ने फल-फूल वाले वृक्षों से युक्त, नाम के अनुरूप गुणों से युक्त महामेघ-वनोद्यान बनवाया ॥ २ ॥

क्योंकि उस उद्यान को प्रारम्भ करते समय असमय वर्षा प्रारम्भ हो गयी थी अतः उस उद्यान का नाम 'महामेघवन' रखा गया ॥ ३ ॥

इस मुटशिव राजा ने अनुराधपुर में रहते हुए लङ्कादीप पर साठ वर्ष तक निष्कण्टक राज्य किया ॥ ४ ॥

उसके परस्पर हितैषी दश पुत्र थे, तथा कुल के शोभानुरूप सुन्दर दो पुत्रियाँ थीं ॥ ५ ॥

राजा (मुटशिव) के द्वितीय पुत्र देवानाम्प्रिय तिष्य अपने भाइयों में पुण्य एवं प्रज्ञा में सर्वाधिक थे ॥ ६ ॥

अद्भुत चमत्कार– पिता के मरने के बाद वह देवानाम्प्रिय तिष्य राजा बना । उसके राजा बनते समय अनेक चमत्कार (अद्भुत घटनाएँ) हुए ॥ ७ ॥

जैसे–१. समग्र लङ्काद्वीप में पृथ्वी के मध्य स्थित गुप्त कोष (खजाने) एवं रत्न पृथ्वी पर दिखायी देने लगे ॥ ८ ॥

लङ्कादीपसमीपम्हि भिन्ननावागतानि च ।
तत्र जातानि च थलं रतनानि समारुहुं ॥ ९ ॥

छातपब्बतपादम्हि तिस्सो च वेलुयट्ठियो ।
जाता रथपतोदेन समाना परिमाणतो ॥ १० ॥

तासु एका लतायट्ठि रजताभा, तहिं लता ।
सुवण्णवण्णा रुचिरा दिस्सन्ते ता मनोरमा ॥ ११ ॥

एका कुसुमयट्ठी तु, कुसमानि तहिं पन ।
नानानि नानावण्णानि दिस्सन्तेतिफुटानि च ॥ १२ ॥

एका सकुणयट्ठी तु तहिं पक्खी मिगा बहू ।
नाना च नानावण्णा च सजीवा विय दिस्सरे ॥ १३ ॥

हय गज रथामलका वलयङ्गुलिवेठका ।
ककुधफलपाकटिका इच्चेता अट्ठजातियो ॥ १४ ॥

मुत्ता समुद्दा उग्गन्त्वा तीरे वट्टि विय ट्ठिता ।
देवानम्पियतिस्सस्स सब्बं पुञ्ञविजम्भितं ॥ १५ ॥

इन्दनीलं वेळुरियं लोहितङ्गं मणी चिमे ।
रतनानि च नेकानि मुत्ता ता ता च यट्ठियो ॥ १६ ॥

सत्ताहब्भन्तरे येव रञ्ञो सन्तिकमाहरुं ।
तानि दिस्वा पतीतो सो राजा इति विचिन्तयि ॥ १७ ॥

[W.G.91] "रतनानि अनग्घानि धम्मासोको इमानि मे ।
सहायोरहते नाञ्ञो तस्स दस्सं इमानतो" ॥ १८ ॥

देवानम्पियतिस्सो च धम्मासोको च द्वे इमे ।
अदिट्ठसहायस्सु हि चिरप्पभुति भूपती ॥ १९ ॥

२. लङ्काद्वीप के पास समुद्र में डूबने वाली नावों के रत्न, समुद्र के तल से सभी स्थल पर आ गये ॥ ९ ॥

३. छात पर्वत के मूल में चाबुक जितनी लम्बी बाँस की तीन छड़ी पैदा हुईं ॥ १० ॥

(क) जिनमें एक चान्दी के समान आभावाली लतायष्टि थी, जिसमें सुवर्ण के समान सुन्दर आभा प्रस्फुटित होती रहती थी ॥ ११ ॥

(ख) एक पुष्पयष्टि थी, जिसमें नाना प्रकार के फूल प्रत्येक समय खिले रहते थे ॥ १२ ॥

(ग) एक शकुनियष्टि थी, जिस पर नाना प्रकार के पशु-पक्षियों के चित्र सजीव-से दिखायी देते थे ॥ १३ ॥

४. घोड़े, हाथी, रथ, आँवले की आकृति वाले, अङ्गूठी, कङ्कण, ककुधफल एवं पाकर वृक्ष के आकार वाले मोतियों की ये आठ जातियाँ ॥ १४ ॥

५. उस राजा देवनाम्प्रिय तिष्य के पुण्यप्रताप से, समुद्र से निकल कर पृथ्वी पर विशाल राशि के रूप में आकर एकत्र हो गयीं ॥ १५ ॥

६. इन्द्रनील, वैदूर्य, लोहिताङ्क आदि मणि, तथा अनेकविध रत्न, मुक्ता, तथा समुद्री प्राणियों की अनेक बहुमूल्य हड्डियाँ ॥ १६ ॥

एक सप्ताह के अन्दर ही राजा के पास पहुँचा दी गयीं । उन्हें देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ । उसने सोचा– ॥ १७ ॥

"ये बहुमूल्य महार्ध रत्न मेरे मित्र धर्माशोक के ही योग्य हैं, अन्य किसी के योग्य नहीं । अतः क्यों न मैं इन सबको उनके पास ही भिजवा दूं" ॥ १८ ॥

राजा देवनाम्प्रिय तिष्य एवं सम्राट् धर्माशोक–दोनों ने ही यद्यपि एक-दूसरे को कभी नहीं देखा था, फिर भी वे चिरकाल से परस्पर मित्रवत् बने हुए थे ॥ १९ ॥

भागिनेय्यं महारिट्ठं अमच्चं पमुखं ततो ।
दिजं अमच्चं गणकं राजा ते चतुरो जने ॥ २० ॥

दूते कत्वान पाहेसि बलोघपरिवारिते ।
गाहापेत्वा अनग्घानि रतनानि इमानि सो ॥ २१ ॥

मणिजाती च तिस्सो ता तिस्सो च रथयट्ठियो ।
सङ्खं च दक्खिणावट्टं मुत्ताजाती च अट्ठ ता ॥ २२ ॥

आरुय्ह जम्बुकोलम्हि नावं सत्तदिनेन ते ।
सुखेन तित्थं लद्धान सत्ताहेन ततो पुन ॥ २३ ॥

पाटलिपुत्तं गन्त्वान धम्मासोकस्स राजिनो ।
अदंसु पण्णाकारे ते, दिस्वा तानि पसीदि सो ॥ २४ ॥

"रतनानीदिसानेत्थ नत्थि मे" इति चिन्तिय ।
अदा सेनापतिट्ठानं तुट्ठोरिट्ठस्स भूपति ॥ २५ ॥

पोरोहिच्चं ब्राह्मणस्स, दण्डनायकतं पन ।
अदासि तस्सामच्चस्स सेट्ठित्तं गणकस्स तु ॥ २६ ॥

तेसं अनप्पके भोगे दत्वा वासघरानि च ।
सहामच्चेहि मन्तेन्ते पस्सित्वा पटिपाभतं ॥ २७ ॥

[W.G.92] बालवीजनिमुण्हीसं खग्गं छत्तं च पादुकं ।
मोलिं वटंसं पामङ्गभिङ्गारं हरिचन्दनं ॥ २८ ॥

अधोविमं वत्थकोटिं महग्घं हत्थपुञ्छनं ।
नागाहटं अञ्जनं च अरुणाभं च मत्तिकं ॥ २९ ॥

अनोतत्तोदकाजं च गङ्गासलिलमेव च ।
सङ्खं च नन्दियावट्टं वड्ढमानं कुमारिकं ॥ ३० ॥

सम्राट् अशोक को उपहार–राजा ने अपने प्रधानमन्त्री, भागिनेय महारिष्ट को पुरोहित, मन्त्री एवं गणक इन चार जनों को ॥ २० ॥

दूत बनाकर विशाल सेना के साथ, ये अमूल्य रत्न तथा तीन जातियों की मणि, तीनों रथयष्टियाँ, दक्षिणावर्त शङ्ख और पूर्वोक्त आठ जातियों वाले मोती दे कर वहाँ भेजा ॥ २१-२२ ॥

वे लोग जम्बुकोल बन्दरगाह से नाव पर चढ़ कर सात दिन में सुखपूर्वक भारतीय समुद्र तट पर उतर गये ॥ २३ ॥

फिर उन्होंने पाटलिपुत्र जाकर सम्राट् धर्माशोक के सन्मुख वह अमूल्य भेंट समर्पित की । उन्हें देखकर सम्राट् अत्यधिक प्रसन्न हुआ ॥ २४ ॥

सम्राट् का प्रत्युपहार–"ऐसे रत्न आदि तो मेरे कोषागार में भी नहीं हैं"–यह सोचकर राजा ने अरिष्ट को अपने यहाँ (सम्मानित) 'सेनापति' का पद दिया ॥ २५ ॥

ब्राह्मण को 'पौरोहित्य', उसके अमात्य को अपने यहाँ 'दण्डनायक' (विनयाधिकारी), तथा गणक को (सम्मानित) 'श्रेष्ठी' का पद दिया ॥ २६ ॥

इन आगुन्तकों को बहुत सी भोग्य सामग्री तथा रहने के लिये वास-भवन देकर, सम्राट ने अमात्यों से परामर्श कर बदले की भेंट (प्रतिप्राभृत) ॥ २७ ॥

जैसे– चमर (बालबीजनी) उष्णीष (पगड़ी), तलवार, छत्र, पादुका, मौलि, कर्णाभूषण (वटंस), रत्नमाला (पामङ्ग=कण्ठहार), जलपात्र, हरिचन्दन ॥ २८ ॥

निर्मल वस्त्र, बहुमूल्य हाथ पोंछने के रुमाल, नागों द्वारा लाया नेत्राञ्जन, लाल मिट्टी (रोरी) ॥ २९ ॥

अनवतप्त दह से लायी जल की बहँगी, गङ्गाजल, नन्दीवृत्त शङ्ख, वर्धमाना कुमारी ॥ ३० ॥

हेमभाजनभण्डं च सिविकं च महारहं ।
हरीतकं आमलकं महग्घं अमतोसधं ॥ ३१ ॥

सुकाहटानं सालीनं सट्ठिं वाहसतानि च ।
अभिसेकोपकरणं परिवारविसेसितं ॥ ३२ ॥

दत्वा काले सहायस्स पण्णाकारं नरिस्सरो ।
दूते पाहेसि सद्धम्मपण्णाकारं इमं पि च ॥ ३३ ॥

"अहं बुद्धं च धम्मं च सङ्घं च सरणं गतो ।
उपासकत्तं वेदेसिं सक्यपुत्तस्स सासने ॥ ३४ ॥

त्वं पिमानि रतनानि उत्तमानि नरुत्तम ।
चित्तं पसादयित्वान सद्धाय सरणं भज" ॥ ३५ ॥

"करोथ मे सहायस्स अभिसेकं पुनो" इति ।
वत्वा सहायामच्चे ते सक्करित्वा च पेसयि ॥ ३६ ॥

[W.G.93] पञ्च मासे वसित्वान ते मच्चातीव सक्कता ।
वेसाखसुक्कपक्खादिदिने दूता च निग्गता ॥ ३७ ॥

तामलित्तियमारुय्ह नावं ते जम्बुकोलके ।
ओरुय्ह भूपं पस्सिंसु पत्ता द्वादसियं इध ॥ ३८ ॥

अदंसु पण्णाकारे ते दूता लङ्काधिपस्स ते ।
तेसं महन्तं सक्कारं लङ्कापति अकारयि ॥ ३९ ॥

ते मग्गसिरमासस्स आदिचन्दोदये दिने ।
अभिसित्तं च लङ्किन्दं अमच्चा सामिभत्तिनो ॥ ४० ॥

सुवर्ण पात्र, अमूल्य पालकी, हर्रे, आँवला, बहूमूल्य अमृतौषध (गिलोय), मानसरोवर से तोतों द्वारा लाये गये शालिधान के साठ सौ बाह (बोरे), अभिषेक की सामग्री, परिवारविशेष सहित ॥ ३१-३२ ॥

सम्राट् का पत्र–राजा ने यह सद्धर्म का प्रशंसा-बोधक पत्र भी दूतों के साथ भेजा ॥ ३३ ॥

"नरश्रेष्ठ ! मैं तो बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ की शरण में चला गया हूँ । मैने भगवान् बुद्ध के शासन (धर्म) का उपासकत्व स्वीकार कर लिया है ॥ ३४ ॥

"राजन् ! आप भी इन रत्नों के प्रति अपने चित्त में श्रद्धा उत्पन्न कर इनकी शरण में चले जाँय" ॥ ३५ ॥

अभिषेक में सहयोग–तथा अपने दूतों को यह भी आदेश दिया कि हमारी तरफ से राजा के पुनः अभिषेक की रीति (दुबारा) पूर्ण करना । यों उसके दूतों का सत्कार करते हुए वापस लौटाया ॥ ३६ ॥

पाँच मास तक पाटलिपुत्र में रहते हुए वे दूत अतीव सत्कृत हो कर पुनः वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि को वहाँ (पाटलिपुत्र) से चले ॥ ३७ ॥

ताम्रलिप्ति से नाव में चढ़कर जम्बुकोल बन्दरगाह में उतर कर द्वादशी के दिन उन दूतों ने अपने राजा के दर्शन किये ॥ ३८ ॥

उन दूतों ने लङ्काधिपति की सेवा में जाकर उन्हें सम्राट् धर्माशोक का पत्र तथा भेंट समर्पित की । लङ्काधिपति ने भी उनका यथाविधि सत्कार किया ॥ ३९ ॥

उन स्वामिभक्त अमात्य दूतों ने सम्राट् धर्माशोक का सन्देश सुनाकर मार्गशीर्ष (अगहन) मास की शुक्ल पक्ष की प्रतिपद के दिन (लङ्काद्वीप के हित में लगे) लङ्काधिपति को (प्रथमाभिषिक्त होने पर भी) पुनः अभिषिक्त किया ॥ ४० ॥

धम्मासोकस्स वचनं वत्वा सामिहिते रता ।
पुनो पि अभिसिञ्चिंसु लङ्काहितसुखे रतं ॥ ४१ ॥

वेसाखे नरपति पुण्णमायमेवं
देवानम्पियवचनोपगूळहमानो ।
लङ्कायं पविततपीतिउस्सवायं
अत्तानं जनसुखदो भिसेचयी सो ॥ ति ॥ ४२ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

देवानम्पियतिस्साभिसेको नाम

एकादसमो परिच्छेदो

****

उन स्वामिभक्त अमात्य दूतों ने सम्राट् धर्माशोक का सन्देश सुनाकर मार्गशीर्ष (अगहन) मास की शुक्ल पक्ष की प्रतिपक्ष के दिन (लङ्काद्वीप के हित में लगे) लङ्काधिपति को (प्रथमाभिषिक्त होने पर भी) पुनः अभिषिक्त किया ॥ ४ ॥

यों उस "देवानाम्प्रिय" उपनाम वाले लङ्काधिपति ने अपना यह महत्त्वपूर्ण जन-सुखदायी प्रीतिप्रामोद्य एवं उत्साह से पूर्ण लङ्का में अभिषेक कराया था ॥ ४२ ॥

साधुजनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह

उत्पाद हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

देवानाम्प्रिय तिष्य का राज्याभिषेक नामक

एकादश परिच्छेद समाप्त

***

१२

द्वादसमो परिच्छेदो

(नानादेसपसादो नाम)

[W.G.94] थेरो मोग्गलिपुत्तो सो जिनसासनजोतको ।
निट्ठापेत्वान सङ्गीतिं पेक्खमानो अनागतं ॥ १ ॥

सासनस्स पतिट्ठानं पच्चन्तेसु अपेक्खिय ।
पेसेसि कत्तिके मासे ते ते थेरे तहिं तहिं ॥ २ ॥

थेरं कस्मीरगन्धारं मज्झन्तिकं अपेसयि ।
अपेसयि महादेवत्थेरं महिसमण्डलं ॥ ३ ॥

वनवासं अपेसेसि थेरं रीक्खतनामकं ।
तथापरन्तकं योनं धम्मरक्खितनामकं ॥ ४ ॥

महारट्ठं महाधम्मरक्खितत्थेरनामकं ।
महारक्खितथेरं तु योनालोकं अपेसयि ॥ ५ ॥

पेसेसि मज्झिमं थेरं हिमवन्तपदेसकं ।
सुवण्णभूमिं थेरे द्वे सोणं उत्तरमेव च ॥ ६ ॥

महामहिन्दथेरं तं थेरं इट्ठियमुत्तियं ।
सम्बलं भद्दसालं च सके सद्धिविहारिके ॥ ७ ॥

"लङ्कादीपे मनुञ्ञम्हि मनुञ्ञं जिनसासनं ।
पतिट्ठापेथ तुम्हे" ति पञ्च थेरे अपेसयि ॥ ८ ॥

द्वादश परिच्छेद

(अनेक देशों में शासन के प्रति श्रद्धोत्पाद)

धर्मप्रचारहेतु भिक्षुओं का सम्प्रेषण– बुद्धशासन के प्रकाशक उन मोग्गलिपुत्र तिष्यस्थविर ने धर्म-सङ्गीति पूर्ण कर शासन की उन्नति के विषय पर दृष्टि रखते हुए ॥ १ ॥

पड़ौसी (समीप के) देशों की जनता में शासन के प्रति श्रद्धा को सुदृढ़ करने हेतु कार्तिक मास के प्रारम्भ में उन उन स्थविरों को वहाँ-वहाँ भेजना प्रारम्भ किया ॥ २ ॥

सर्वप्रथम माध्यमिक (मज्झन्तिक) स्थविर को धर्मप्रचारहेतु गान्धार तथा कश्मीर प्रदेश में भेजा तथा महिषमण्डल (खानदेश जिला) में महादेव स्थविर को भेजा ॥ ३ ॥

रक्षित नामक स्थविर को वनवास (मैसूर) तथा यवन धर्मरक्षित को अपरन्तक (महाराष्ट्र के सूरत आदि जिलों में) ॥ ४ ॥

तथा अवशिष्ट महाराष्ट्र में महाधर्मरक्षित स्थविर को भेजा और महारक्षित स्थविर को यवन प्रदेश में भेजा ॥ ५ ॥

मध्यम स्थविर को हिमालय प्रदेश में, सोण तथा उत्तर स्थविर को सुवर्णभूमि में धर्मप्रचारार्थ भेजा ॥ ६ ॥

तथा अपने शिष्य महामहेन्द्र स्थविर को इट्टिय, उत्तिय, सम्बल तथा भद्रशाल के साथ यह कहकर लङ्काद्वीप भेजा–॥ ७ ॥

"सुन्दर लङ्काद्वीप में इस श्रेष्ठ बुद्ध धर्म की प्रतिष्ठापना हेतु तुम्हें श्रम करना हैं" । यों, कहकर इन पाँचों स्थविरों को भेजा ॥ ८ ॥

[W.G.95] तदा कस्मीरगन्धारे पक्कं सस्सं महिद्धिको ।
अरवालो नागराजा वस्सं करकसञ्ञितं ॥ ९ ॥

वस्सापेत्वा समुद्दस्मिं सब्बं खिपति दारुणो ।
तत्र मज्झन्तिकत्थेरो खिप्पं गन्त्वा विहायसा ॥ १० ॥

अरवालदहे वारिपिट्ठे चङ्कमणादिके ।
अकासि, दिस्वा तं नागा रुट्ठा रञ्ञो निवेदयुं ॥ ११ ॥

नागराजाथ रुट्ठो सो विविधा भिंसका करि ।
वाता महन्ता वायन्ति, मेघो गज्जति वस्सति ॥ १२ ॥

फलन्तासनियो विज्जू निच्छरन्ति ततो ततो ।
महीरुहा पब्बतानं कूटानि पपतन्ति च ॥ १३ ॥

विरूपरूपा नागा च भिंसापेन्ति समन्ततो ।
सयं धूपति जलति अक्कोसन्तो अनेकधा ॥ १४ ॥

सब्बं तं इद्धिया थेरो पटिबाहिय भिंसनं ।
अवोच नागराजं तं दस्सेन्तो बलमुत्तमं ॥ १५ ॥

"सदेवको पि चे लोको आगन्त्वा तासयेय्य मं ।
न मे पटिबलो अस्स यं एत्थ भयभेरवं ॥ १६ ॥

[W.G.96] सचे पि त्वं महिं सब्बं ससमुद्दं सपब्बतं ।
उक्खिपित्वा, महानागा, खिपेय्यासि ममोपरि ॥ १७ ॥

नेव मे सक्कुणेय्यासि जनेतुं भयभेरवं ।
अञ्ञदत्थु तवेवेस विघातो उरगाधिप" ॥ १८ ॥

तं सुत्वा निम्मदस्सस्स थेरो धम्मं अदेसयि ।
ततो सरणसीलेसु नागराजा पतिट्ठहि ॥ १९ ॥

कश्मीर-गन्धार में धर्म-प्रचार– उस समय गान्धार (पेशावर, रावलपिण्डी जिले, वर्त्तमान पाकिस्तान) में अरवाल नामक क्रूर (निर्दय) नागराज रहता था ॥ ९ ॥

वह करक (ओला) वृष्टि कर समग्र कृषि-उत्पाद को समुद्र में फेंक देता था । वहाँ मध्यमक स्थविर ने आकाशमार्ग से शीघ्र ही जाकर ॥ १० ॥

अरवाल सरोवर में जल पर चंक्रमण प्रारम्भ किया । उसे देखकर क्रुद्ध नागों ने शीघ्रता से जाकर अपने राजा को बताया ॥ ११ ॥

नागराज ने क्रुद्ध होकर स्थविर को अनेक प्रकार के भय दिखाये । जैसे– पहले भयङ्कर तूफ़ानी हवाएँ चलायीं, फिर भयङ्कर मेघ-गर्जना, तथा प्रलयङ्कर वर्षा करने लगा ॥ १२ ॥

ज़हा-तहाँ विजलियाँ कड़कने लगीं । पर्वतस्थ विशाल शिलाखण्ड तथा वृक्ष उखड़-उखड़ कर गिरने लगे ॥ १३ ॥

स्थविर ने इस भीषण काण्ड को अपने ऋद्धिबल से दूर करते हुए नागराज को अपने बल का प्रदर्शन करते हुए कहा– ॥ १५ ॥

"नागराज! यह जो तुम मुझे भीषण (भैरव) भय दिखाकर डराना चाह रहे हो, तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ है; क्योंकि देवताओं सहित इस लोक में किसमें ऐसा सामर्थ्य है जो मुक्षे त्रास दे सके! ॥ १६ ॥

"यदि तूँ इस समुद्र एवं पर्वतों सहित समग्र पृथ्वी को भी मुझ पर फेंक दे तो भी तूँ मुझमें भयोत्पाद नहीं कर सकता । अपितु, नागराज ! इसमें तुम्हारा ही अहित होगा" ॥ १७-१८ ॥

यह सुनकर उस नागराज का दर्प (गर्व) विखण्डित हो गया । तब स्थविर ने उसको धर्म-देशना की । तथा उसके प्रभाव से उसमें त्रिरत्न के प्रति प्रेम एवं पञ्चशील के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करायी ॥ १९ ॥

तथेव चतुरासीति सहस्सानि भुजङ्गमा ।
हिमवन्ते च गन्धब्बा यक्खा कुम्भण्डका बहू ॥ २० ॥

पण्डको नाम यक्खो तु सिद्धिं हारितयक्खिया ।
पञ्चसतेहि पुत्तेहि फलं पापुणि आदिकं ॥ २१ ॥

"मा दानि कोधं जनयित्थ इतो उद्धं यथा पुरे ।
सस्सघातं च मा कत्थ, सुखकामा हि पाणिनो ॥ २२ ॥

करोथ मेत्तं सत्तेसु वसन्तु मनुजा सुखं" ।
इति तेनानुसिट्ठा ते तथेव पटिपज्जिसुं ॥ २३ ॥

ततो रतनपल्लङ्के थेरं सो उरगाधिपो ।
निसीदापिय अट्ठासि वीजमानो तदन्तिको ॥ २४ ॥

तदा कस्मीरगन्धारवासिनो मनुजागता ।
नागराजस्स पूजत्थं मन्त्वा थेरं महिद्धिकं ॥ २५ ॥

थेरं एवाभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदिसुं ।
तेसं धम्मं अदेसेसि थेरो आसीविसोपमं ॥ २६ ॥

असीतिया सहस्सानं धम्माभिसमयो अहु ।
सतसहस्सं पुरिसा पब्बजुं थेरसन्तिके ॥ २७ ॥

[W.G.97] ततो पभुति कस्मीरगन्धारा ते इदानि पि ।
आसुं कासायपज्जोता वत्थुत्तयपरायना ॥ २८ ॥

गन्त्वा महादेवथेरो देसं महिसमण्डलं ।
सुत्तन्तं देवदूतं तं कथेसि जनमज्झगे ॥ २९ ॥

चत्तासील सहस्सानि धम्मचक्खुं विसोधयुं ।
चत्तालीस सहस्सानि पब्बजिंसु तदन्तिके ॥ ३० ॥

उसी तरह चौरासी हजार (८४,000) सर्प (भुजङ्ग) तथा हिमालयवासी यक्ष एवं अनेक कुम्भाण्डक ॥ २० ॥

और हारित यक्षिणी के साथ पण्डकनामक यक्ष को भी उसके पाँच सौ (५00) पुत्रों के साथ महास्थविर द्वारा कृत धर्मोपदेश के प्रभाव से स्रोतआपत्ति फल प्राप्त हुआ ॥ २१ ॥

फिर उस महास्थविर ने नागराज को हितोपदेश किया– "पहले की तरह आगे कभी इस तरह क्रोध न करना । कृषि-उत्पाद नष्ट न करना । प्राणी सुखाकांक्षी होते हैं ॥ २२ ॥

अतः उन क्रोध न कर उनके प्रति मैत्री भावना से रहो, ताकि मनुष्य सुख से रह सकें" । यो उनको उपदेश किया । वे नागराज भी उपदेशानुसार आचरण करने लगे ॥ २३ ॥

तब उस नागराज ने स्थविर को रत्नजटित पर्यङ्क पर बैठाकर वह स्वयं उन्हें चँवर ढुलाते हुए खड़ा रहा ॥ २४ ॥

तब कश्मीर एवं गन्धार के निवासी मनुष्य उस नागराज की पूजा के लिये आये, तथा महास्थविर को अत्यधिक ऋद्धिसम्पन्न मानकर ॥ २५ ॥

स्थविर को प्रणाम कर एक तरफ बैठ गये । स्थविर ने उनको **'आशीविषोपम सूत्र'** का उपदेश दिया ॥ २६ ॥

उस सूत्र के प्रभाव से अस्सी हजार (८0,000) मनुष्यों ने धर्मज्ञानचक्षु प्राप्त किया, तथा एक लाख पुरुषों ने स्थविर से प्रव्रज्या ग्रहण की ॥ २७ ॥

उसी समय से आज तक यह कश्मीर-गान्धार प्रदेश काषाय वस्त्रों से (भिक्षुओं के बाहुल्य के कारण) जगमगा रहा है । तथा वहाँ की जनता रत्नत्रय के प्रति श्रद्धालु है ॥ २८ ॥

माहिषमण्डल में धर्मप्रचार–उधर महादेव स्थविर ने माहिषमण्डल (खान देश–नर्मदा नदी का दक्षिणी प्रदेश) जाकर वहाँ की जनता को **देवदूत सूत्र** (म० वि० ३,३,१0) का उपदेश किया ॥ २९ ॥

जिसके प्रभाव से चालीस हजार (४0,000) जनता में धर्मज्ञानचक्षु का प्रादुर्भाव हुआ । और चालीस हजार पुरुषों ने ही उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की ॥ ३0 ॥

गन्त्वान रक्खितत्थेरो वनवासं नभे ठितो ।
संयुत्तं अनमतग्गं कथेसि जनमज्झगो ॥ ३१ ॥

सट्ठि नरसहस्सानं धम्माभिसमयो अहु ।
सत्ततिंससहस्समत्ता पब्बजिंसु तदन्तिके ॥ ३२ ॥

विहारानं पञ्चसतं तस्मिं देसे पतिट्ठहि ।
पतिट्ठापेसि तत्थेवं थेरो सो जिनसासनं ॥ ३३ ॥

गन्त्वापरन्तिकं थेरो योनको धम्मरक्खितो ।
अग्गिक्खन्धोपमं सुत्तं कथेत्वा जनमज्झगो ॥ ३४ ॥

(सो) सत्ततिंससहस्सानि पाणे तत्थ समागते ।
धम्मामतं अपायेसि धम्माधम्मेसु कोविदो ॥ ३५ ॥

पुरिसानं सहस्सा च इत्थियो च ततोधिका ।
खत्तियानं कुलायेव निक्खमित्वान पब्बजुं ॥ ३६ ॥

महारट्ठं इसी गन्त्वा सो महाधम्मरक्खितो ।
महानारदकस्सपव्हजातकं कथयी तहिं ॥ ३७ ॥

मग्गफलं पापुणिंसु चतुरासीतिसहस्सका ।
तेरसं तु सहस्सानि पब्बजिंसु तदन्तिके ॥ ३८ ॥

[W.G.98] गन्त्वान योनविसयं सो महारक्खितो इसि ।
कालकारामसुत्तन्तं कथेसि जनमज्झगो ॥ ३९ ॥

पाणसतसहस्सानि सहस्सानि च सत्तति ।
मग्गफलं पापुणिंसु दससहस्सानि पब्बजुं ॥ ४० ॥

गन्त्वा चतूहि थेरेहि देसेसि मज्झिमो इसि ।
हिमवन्तपदेसस्मिं धम्मचक्कप्पवत्तनं ॥ ४१ ॥

वनवास में धर्मप्रचार–रक्षित स्थविर ने वनवास (वर्तमान मैसूर, कर्नाटक) देश में जाकर **अनमतग्गसंयुक्त** (संयु० नि० ३,१,१०,७) के माध्यम से धर्मोपदेश किया ॥ ३१ ॥

जिसके प्रभाव से साठ हजार (६०,०००) भिक्षुओं को धर्मदृष्टि प्राप्त हुई तथा सैंतीस हजार (३७,०००) लोग प्रव्रजित हुए ॥ ३२ ॥

इस प्रदेश में ३७ विहारों की स्थापना की गयी । यों, उस स्थविर ने उस प्रदेश में धर्मशासन का मूल (नींव) सुदृढ़ किया ॥ ३३ ॥

अपरान्तक देश में धर्मप्रचार–यवनक धर्मरक्षित स्थविर ने अपरान्तक देश (महाराष्ट्र में सूरत जिला का भाग) में जाकर **अग्निस्कन्धोपमसूत्र** (सं. नि. निदान सं. ६-२) के आधार पर जनता को धर्मोपदेश किया ॥ ३४ ॥

उस धर्माधर्मतत्त्वज्ञ स्थविर ने उस धर्मोपदेश में सम्मिलित सैंतीस हजार (३७,०००) जनता को धर्मामृत पान कराया । तथा क्षत्रियकुलोत्पन्न हजारों स्त्री-पुरुष प्रत्याशियों ने स्थविर से धर्म में प्रव्रज्या ग्रहण की ॥ ३५-३६ ॥

महाराष्ट्र में धर्म-प्रचार–महाधर्मरक्षित स्थविर (ऋषि) ने महाराष्ट्र देश में जाकर **महानारदकाश्यप जातक** (संख्या ५४४) के माध्यम से धर्मोपदेश किया ॥ ३७ ॥

तब उस धर्मोपदेश के प्रभाव से चौरासी हजार (८४,०००) जनसमूह ने मार्गफल प्राप्त किया और तेरह हजार (१३,०००) ने प्रव्रज्या ग्रहण की ॥ ३८ ॥

यवन प्रदेश में धर्म प्रचार–महारक्षित स्थविर ने यवनों के प्रदेश में जाकर धर्मप्रचार किया । वहाँ उन्होंने धर्मश्रवणाभिलाषी जनता को **कालकाराम सूत्र** (अ० नि० ४,४,३,४) का उपदेश किया ॥ ३९ ॥

उससे प्रभावित हो, एक लाख सत्तर हजार (१,७०,०००) लोगों ने मार्गफल प्राप्त किया तथा दश सहस्र प्रत्याशियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की ॥ ४० ॥

हिमालय प्रदेश में धर्म-प्रचार–मध्यम नामक स्थविर (ऋषि) ने चार स्थविरों–[1] (१. काश्यपगोत्र, २. मूलदेव, ३. सहदेव तथा ४. दुन्दुभिस्वर स्थविरों) के साथ हिमालय प्रदेश में जाकर **धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्र** (वि० पि०, म० व०) के आधार पर धर्मोपदेश किया ॥ ४१ ॥

---

1. द्र.–दीपवंस, ४.१० ।

मग्गफलं पापुणिंसु असीति पाणकोटियो ।
विसुं ते पञ्च रट्ठानि पञ्च थेरा पसादयुं ॥ ४२ ॥

पुरिसा सतसहस्सानि एकेकस्सेव सन्तिके ।
पब्बजिंसु पसादेन सम्मासम्बुद्धसासने ॥ ४३ ॥

सद्धिं उत्तरथेरेन सोणत्थेरो महिद्धिको ।
सुवण्णभूमिं अगमा, तस्मिं तु समये पन ॥ ४४ ॥

जाते जाते राजगेहे दारके रुद्दरक्खसी ।
समुद्दतो निक्खमित्वा भक्खयित्वा गच्छति ॥ ४५ ॥

तस्मिं खणे राजगेहे जातो होति कुमारको ।
थेरे मनुस्सा पस्सित्वा "रक्खसीनं सहायका" ॥ ४६ ॥

इति चिन्तिय मारेतुं सायुधा उपसङ्कमुं ।
"किमेतं" ति च पुच्छित्वा थेरा ते एवमाहु ते ॥ ४७ ॥

"समणा मयं सीलवन्ता न रक्खसीसहायका" ।
रक्खसी सा सपरिसा निक्खन्ता होति सागरा ॥ ४८ ॥

[W.G.99] तं दिस्वान महारावं विरविंसु महाजना ।
दिगुणे रक्खसे थेरो मापयित्वा भयानके ॥ ४९ ॥

तं रक्खसिं सपरिसं परिक्खिपि समन्ततो ।
"इदं इमेहि लद्धं" ति मन्त्वा भीता पलायि सा ॥ ५० ॥

तस्स देसस्स आरक्खं ठपेत्वान समन्ततो ।
तस्मिं समागमे थेरो ब्रह्मजालं अदेसयि ॥ ५१ ॥

सरणेसु च सीलेसु अट्ठंसु बहवो जना ।
सट्ठिया तु सहस्सानं धम्माभिसमयो अहु ॥ ५२ ॥

वहाँ अस्सी करोड़ (८०,००,००,०००) प्राणियों को मार्ग-लाभ हुआ। इन पाँचों स्थविरों ने पृथक् पृथक् पाँच राष्ट्रों की जनता को धर्मोन्मुख होने में श्रद्धा बढ़ायी ।। ४२ ।।

इतना ही नहीं, एक एक स्थविर से एक एक लाख लोगों ने सम्यक्सम्बुद्ध के शासन में प्रव्रज्या ग्रहण की ।। ४३ ।।

सुवर्णभूमि (बर्मा) में धर्म-प्रचार–अत्यधिक ऋद्धिसम्पन्न शोण स्थविर उत्तर स्थविर के साथ धर्मप्रचारहेतु सुवर्णभूमि पहुँचे ।। ४४ ।।

उस समय एक क्रूर राक्षसी समुद्र से निकलकर वहाँ के राजकुल में उत्पन्न हुए प्रत्येक बालक को खाकर पुनः समुद्र में चली जाती थी ।। ४५ ।।

स्थविर जिस दिन सुवर्ण भूमि पहुँचे उसी दिन राजकुल में कोई सन्तानोत्पत्ति हुई थी। तब उन स्थविरों को देखकर जनता ने सोचा–"ये स्थविर उस राक्षसी के सहायक हैं" ।। ४६ ।।

यह सोचकर वहाँ की जनता शस्त्रसज्जित होकर उन स्थविरों को मारने के लिय दौड़ी। यह देखकर स्थविरों ने उनसे पूछा–"क्या बात है, क्या चाहते हो ?" तब जनता की बात सुनकर स्थविरों ने कहा– ।। ४७ ।।

"अरे ! हम तो शीलवान् (सदाचारी) श्रमण (साधु-सन्त) हैं, हम उस राक्षसी के सहायक नहीं हैं।" इसी बीच वह राक्षसी अपने सहायकों के साथ समुद्र से निकली ।। ४८ ।।

उसे देखकर वहाँ उपस्थित जनता ने चीखना-चिल्लाना प्रारम्भ किया। स्थविर ने अपने ऋद्धिबल के प्रभाव से उन राक्षसों से भी भयङ्कर द्विगुण राक्षस उत्पन्न कर ।। ४९ ।।

सहायकों सहित उस राक्षसी को चारों तरफ से घेर लिया। राक्षसी ने समझा कि "यह देश इन्हें मिल गया है"। यह मानकर वह भयभीत होकर वहाँ से पलायित हो गयी ।। ५० ।।

फिर स्थविरों ने उस प्रदेश को बुद्धमन्त्रों से अभिमन्त्रित करते हुए सुरक्षित कर उस जनसमूह को **ब्रह्मजालसूत्र** (दी० नि० १-१) का उपदेश किया ।। ५१ ।।

उस उपदेश के प्रभाव से बहुत से मनुष्य राक्षस त्रिशरण एवं पञ्चशील में श्रद्धालु हुए। साठ हजार पुरुषों को धर्मज्ञान हुआ ।। ५२ ।।

अड्ढुड्ढानि सहस्सानि पब्बजुं कुलदारका ।
पब्बजिंसु दियड्ढं तु सहस्सं कुलधीतरो ॥ ५३ ॥

ततो पभुति सञ्ञाते राजगेहे कुमारके ।
तत्थ करिंसु राजानो सोणुत्तरसनामके ॥ ५४ ॥

महादयस्सापि जिनस्स कड्ढनं,
विहाय पत्तं अमतं सुखं पि ते ।
करिंसु लोकस्स हितं तहिं तहिं,
भवेय्य को लोकहिते पमादवा[2] ॥ ति ॥ ५५ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

नानादेसप्पसादो नाम

द्वादसमो परिच्छेदो

***

2. इन्द्रवज्रा छन्द ।

साढे तीन हजार (=अड्ढुड्ढ) कुलपुत्र प्रव्रजित हुए तथा डेढ़ हजार (१५,००) कुलपुत्रियाँ भी प्रव्रजित हुईं ।। ५३ ।।

उसी समय से उस राजकुल में उत्पन्न बालकों का नाम शोणोत्तर ('शोण' इस उपपद के साथ) रखा जाने लगा ।। ५४ ।।

महादयालु बुद्ध के आकर्षण तथा हस्तामलकवत् सम्मुख उपस्थित अमृत (निर्माण) सुख का भी त्याग कर ये स्थविर लोकहित में जहाँ-तहाँ चारिका कर रहे हैं, तो फिर कौन साधारण जन लोकहित-साधन में प्रसाद (श्रद्धा) करेगा ! ।। ५५ ।।

सज्जनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह वृद्धि हेतु
रचित इस महावंश ग्रन्थ में

नाना देशों में श्रद्धोत्पाद नामक

वारहवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

१३.

तेरसमो परिच्छेदो

(महिन्दागमनो नाम)

[W.G.100]

महामहिन्दथेरो सो तदा द्वादसवस्सिको ।
उपज्झायेन आणत्तो सङ्घेन च महामति ॥ १ ॥

लङ्कादीपं पसादेतुं कालं पेक्खं विचिन्तयि ।
"वुड्ढो मुटसिवो राजा, राजा होतु सुतो" इति ॥ २ ॥

तदन्तरे ञातिगानं दट्ठुं कत्वान न मानसं ।
उपज्झायं च सङ्घं च वन्दित्वा, पुच्छ भूपतिं ॥ ३ ॥

आदाय चतुरो थेरे सङ्घमित्ताय अत्रजं ।
सुमनं सामणेरं च छळभिञ्ञं महिद्धिकं ॥ ४ ॥

ञातीनं सङ्गहं कातुं अगमा दक्खिणागिरिं ।
तथा तस्स चरन्तस्स छम्मासा समतिक्कमुं ॥ ५ ॥

कमेन वेदिसगिरिं नगरं मातु देविया ।
सम्पत्तो मातरं पस्सि देवी दिस्वा पियं सुतं ॥ ६ ॥

भोजयित्वा सपरिसं अत्तनायेव कारितं ।
विहारं वेदिसगिरिं थेरं आरोपयी सुभं ॥ ७ ॥

अवन्तिरट्ठं भुञ्जन्तो पितरा दिन्नमत्तनो ।
असोककुमारो हि उज्जेनीगमना पुरा ॥ ८ ॥

त्रयोदश परिच्छेद

(महेन्द्र स्थविर का आगमन)

महेन्द्र को आदेश—महामति महेन्द्र स्थविर को उस समय प्रव्रजित हुए बारह वर्ष बीत चुके थे जब भिक्षुसङ्घ तथा उनके उपाध्याय (मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर) ने उनको ॥ १ ॥

लङ्काद्वीप में रहनेवाली जनता में बुद्ध-धर्म में श्रद्धोत्पाद-हेतु वहाँ जाने की आज्ञा दी । तब उन्होंने उचित समय की प्रतीक्षा करते हुए सोचा—"इस समय वृद्ध मुटशिव वहाँ का राजा है, उसका पुत्र (देवानाम्प्रिय तिष्य) राजा बन जाय, तभी वहाँ जाना उचित होगा" ॥ २ ॥

दक्षिणागिरि को प्रस्थान—इसी बीच सम्बन्धिजनों (ज्ञातियों) को देखने का इच्छा से वैसा चित्त बना कर, एतदर्थ सङ्घ एवं उपाध्याय से आज्ञा ले कर, उन्हें प्रणाम कर, राजा से भी इस विषय में अनुमति ली ॥ ३ ॥

तब वे, चार स्थविर तथा सङ्घमित्रा के पुत्र षड्भिज्ञ एवं ऋद्धिसम्पन्न सुमन श्रामणेर को साथ लेकर ॥ ४ ॥

सम्बन्धिजनों से मिलने के लिये दक्षिणागिरि पहुँचे । वहाँ उन्होंने चारिका करते हुए छह मास बिताये ॥ ५ ॥

यों वे क्रमशः अपनी माता 'देवी' के पास विदिशागिरि नगर में पहुँचे । वहाँ उन्होंने माता का दर्शन किया । देवी ने अपने प्रिय को देखकर ॥ ६ ॥

मण्डलीसहित उस को अपने हाथ से बनाया भोजन कराकर उस पवित्र विदिशागृहविहार में ठहराया ॥ ७ ॥

अन्तःकथा—पिता द्वारा प्रदत्त अवन्तिदेश का शासन करते हुए अशोक राजकुमार उज्जयिनी-गमन से पूर्व ॥ ८ ॥

[W.G.101] वेदिसे नगरे वासं उपगन्त्वा तहिं सुभं ।
देविं नाम लभित्वान कुमारिं सेट्ठिधीतरं ॥ ९ ॥

संवासं ताय कप्पेसि, गब्भं गण्हिय तेन सा ।
उज्जेनियं कुमारं तं महिन्दं जनयी सुभं ॥ १० ॥

वस्सद्वयं अतिक्कम्म सङ्घमित्तं च धीतरं ।
तस्मिं काले वसति सा वेदिसे नगरे तहिं ॥ ११ ॥

थेरो तत्थ निसीदित्वा कालञ्ञू इति चिन्तयि ।
"पितरा मे समाणत्तं अभिसेकमहुस्सवं ॥ १२ ॥

देवानाम्पियतिस्सो सो महाराजानुभोतु च ।
वत्थुत्तयगुणे चापि सुत्वा जानातु दूततो ॥ १३ ॥

आरोहतु मिस्सकनगं जेट्ठमासस्सुपोसथे ।
तदहेव गमिस्साम लङ्कादीपवरं मयं" ॥ १४ ॥

महिन्दो उपसङ्कम्म महिन्दत्थेरमुत्तमं ।
"याहि लङ्कं पसादेतुं सम्बुद्धेनापि व्याकतो ॥ १५ ॥

"मयं पि तित्थुपत्थम्भा भविस्सामा" ति अब्रवि ।
देविया भगिनीधीतु पुत्तो भण्डुकनामको ॥ १६ ॥

थेरेन देविया धम्मं सुत्वा देसितमेव तु ।
अनागामिफलं पत्वा वसि थेरस्स सन्तिके ॥ १७ ॥

तत्थ मासं वसित्वान जेट्ठमासस्सुपोसथे ।
थेरो चतूहि थेरेहि सुमनेनाथ भण्डुना ॥ १८ ॥

विदिशानगर में कुछ समय ठहरे थे । उस समय किसी श्रेष्ठी की 'देवी' नाम की कन्या से ॥ ९ ॥

उनका सहवास हो गया । उससे वह गर्भवती हो गयी । उज्जयिनी जाने पर उस देवी ने शुभलक्षणसम्पन्न महेन्द्रकुमार को जन्म दिया ॥ १० ॥

दो वर्ष बाद उसने पुत्री सङ्घमित्रा को जन्म दिया । उसी समय से वह देवी विदिशानगरी में रहती है ॥ ११ ॥

देशकालज्ञ स्थविर ने उस विहार में बैठकर सोचा-"मेरे पिता ने जिस महोत्सव में सम्मिलित होने की आज्ञा दी है ॥ १२ ॥

उसे पहले देवानाम्प्रिय तिष्य को कर लेने दिया जाय तथा दूतों द्वारा बुद्ध के सद्गुण सुनकर उसे त्रिरत्न के प्रति श्रद्धोत्पाद हो जाय ॥ १३ ॥

फिर जब वह ज्येष्ठ मास के उपोसथ के दिन मिश्रक पर्वत पर जाय तभी हमें उस समय लङ्काद्वीप में पहुँचना चाहिये" ॥ १४ ॥

देवराज इन्द्र का परामर्श–तब देवराज इन्द्र (महेन्द्र) ने आकर उन श्रेष्ठ महेन्द्र स्थविर को समझाया-"आप लङ्कापुरी जावें । आपके विषय में वहाँ जाने की भगवान् ने भी भविष्यवाणी की थी ॥ १५ ॥

हम भी वहाँ आप के सहायक रहेंगे ।" देवी की बहन का भण्डुक नामक पुत्र था । वह भी ॥ १६ ॥

स्थविर द्वारा देवी को दिये जा रहे धर्मोपदेश को सुन कर अनागामिफल प्राप्त कर स्थविर के समीप ही रहने लगा ॥ १७ ॥

मिश्रक पर्वत पर आगमन– वहाँ एक मास ठहर कर ऋद्धिसम्पन्न महेन्द्र स्थविर, चारों स्थविरों, सुमन एवं गृहस्थ भण्डुक को साथ लेकर ॥ १८ ॥

सद्धिं तेन गहट्ठेन नरतानात्तिहेतुना ।
तस्मा विहारा आकासं उग्गन्त्वा सो महिद्धिको ॥ १९ ॥

गणेनेव इधागम्म रम्मे मिस्सकपब्बते ।
अट्ठासि सीलकूटम्हि रुचिरम्बत्थले वरे ॥ २० ॥

लङ्कापसादनगुणेन वियाकतो सो,
लङ्काहिताय मुनिना सयितेन अन्ते ।

लङ्काय सत्थुसदिसो हितहेतु तस्सा,
लङ्कामरूहि महितोभिनिसीदि तत्था[3] ॥ ति ॥ २१ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

महिन्दागमनो नाम

तेरसमो परिच्छेदो

❋❋❋

3. वसन्ततिलका छन्द ।

मनुष्यत्व से कुछ विशिष्ट दिखाने के लिये उस विहार से ही आकाश में उड़कर वे सीधे ॥ १९ ॥

अपनी मण्डली (गण) के साथ रमणीक मिश्रक पर्वत पर आकर सुन्दर अम्बस्थल में शीलकूट नामक शिखर पर उतरे ॥ २० ॥

परिनिर्वाणमञ्च शय्या पर लेटे हुए मुनि (भगवान् बुद्ध) ने जिसके लिये भगवान् भविष्यवाणी कही थी वही महापुरुष आज शास्ता के सदृश होता हुआ, लङ्कावासी देवताओं द्वारा पूजित होकर लङ्का द्वीप के हितसम्पादन हेतु वहाँ आकर विराजे ॥ २१ ॥

सुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह वृद्धि हेतु
रचित इस महावंशग्रन्थ में

लङ्का में महेन्द्रगमन नामक

तेरहवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

१४.

चुद्दसमो परिच्छेदो

(थेरस्स नगरप्पवेसो)

[W.G.103] देवानम्पियतिस्सो सो राजा सलिकीळितं ।
दत्वा नगरवासीनं मिगवं कीळितं अगा ॥ १ ॥

चत्तालीससहस्सेहि नरेहि परिवरितो ।
धावन्तो पदसा येव अगमा मिस्सकं नगं ॥ २ ॥

थेरे दस्सेतुमिच्छन्तो देवो तस्मिं महीधरे ।
गुम्बं भक्खयमानो व अट्ठा गोकण्णरूपवा ॥ ३ ॥

राजा दिस्वा पमत्तं तं" न युत्तं विज्झितुं" इति ।
जियासद्दं अका, धावि गोकण्णो पब्बतन्तरं ॥ ४ ॥

राजानुधावि, सो धावं थेरानं सन्तिकं गतो ।
थेरे दिट्ठे नरिन्देन सयं अन्तरधायि सो ॥ ५ ॥

थेरो "बहुसु दिट्ठेसु अतिभायिस्सती" ति सो ।
अत्तानमेव दस्सेसि, पस्सित्वा तं महीपति ॥ ६ ॥

भीतो अट्ठासि, तं थेरो "एहि, तिस्सा" ति अब्रवि ।
'तिस्सो' ति वचनेनेव राजा 'यक्खो' ति चिन्तयि ॥ ७ ॥

'समणा मयं, महाराज धम्मराजस्स सावका ।
तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता" ॥ ८ ॥

चतुर्दश परिच्छेद

(स्थविर महेन्द्र का नगर में प्रवेश)

राजा तिष्य का आखेटहेतु गमन– वह राजा देवानाम्प्रिय तिष्य नगरवासियों को जलक्रीड़ा में लगाकर स्वयं मृगया (आखेट) खेलन के लिये (वन की तरफ) चल दिया ॥ १ ॥

चालीस हजार अङ्गरक्षकों से घिरा हुआ वह राजा पैदल ही दौड़ता हुआ मिश्रक (पर्वत के) वन में प्रविष्ट हो गया ॥ २ ॥

उसको स्थविर के दर्शन कराने की इच्छा से देव (इन्द्र) उस पर्वत पर घास चरते हुए गोकर्ण (मृग) का रूप धर कर राजा को दिखायी दिया ॥ ३ ॥

राजा ने उस मृग को देखकर और यह सोचकर कि "अकस्मात् किसी पर आक्रमण करना उचित नहीं", पहले धनुष की डोरी की टङ्कार की, उसे सुनकर वह मृग पर्वत की तरफ दौड़ा ॥ ४ ॥

राजा को स्थविर के दर्शन– राजा भी उसके पीछे दौड़ने लगा । वह मृग दौड़ता हुआ स्थविरों के पास पहुँच गया । तथा राजा द्वारा स्थविर को देख लेने के बाद वह (मृग) वहीं अन्तर्हित हो गया ॥ ५ ॥

स्थविर ने सोचा–"बहुत भिक्षुओं को एक साथ देखकर यह राजा डर न जाय" अतः स्थविर ने पहले स्वयं को ही राजा के सम्मुख प्रकट किया । राजा ने उनको देखा ॥ ६ ॥

वह डरकर खड़ा हो गया । उसको देखकर स्थविर ने कहा– "महाराज ! हम तो श्रमण (साधु सन्त) हैं, धर्मराज (बुद्ध) के शिष्य हैं । तुम पर अनुग्रह करने के लिये हम इस लङ्काद्वीप में आये हैं" ॥ ७-८ ॥

इच्चाह थेरो, तं सुत्वा राजा वीतभयो अहु ।
सरित्वा सखिसन्देसं 'समणा' इति निच्छितो ॥ ९ ॥

धनुं सरं च निक्खिप्प उपसङ्कम्म तं इसिं ।
सम्मोदमानो थेरेन सो निसीदि तदन्तिके ॥ १० ॥

[W.G.104] तदा तस्स मनुस्सा ते आगम्म परिवारयुं ।
तदा सेसे च देसेसि महाथेरो सहागते ॥ ११ ॥

ते पि दिस्वा ब्रवी राजा "कदा मे आगता"? इति ।
"मया सद्धिं" ति थेरेन वुत्ते पुच्छि इदं पुन ॥ १२ ॥

"सन्ति ईदिसका अञ्ञे जम्बुदीपे यती?" इति ।
आह "कासायपज्जोतो जम्बुदीपो, तहिं पन ॥ १३ ॥

तेविज्जा इद्धिप्पत्ता च चेतोपरियकोविदा ।
दिब्बसोता च अरहन्तो बहू बुद्धस्स सावका" ॥ १४ ॥

पुच्छि "केनागतत्था?" ति, "न थलेन न वारिना ।
आगतम्हा" ति वुत्ते सो विजानि नभसागमं ॥ १५ ॥

वीमसं सो महापञ्ञो सण्हं पञ्हं अपुच्छि तं ।
पुट्ठो पुट्ठो वियाकासि तं तं पञ्हं महीपति ॥ १६ ॥

"रुक्खोयं, राज, किन्नामो?" "अम्बो नाम अयं तरु" ।
"इमं मुञ्चिय अत्थम्बो?" "सन्ति अम्बतरू बहू"॥ १७ ॥

"इमं च अम्बं ते चम्बे मुञ्चियत्थि महीरुहा?"।
"सन्ति, भन्ते! बहू रुक्खा, अनम्बा पन ते तरू" ॥ १८ ॥

"अञ्ञे अम्बे अनम्बे च मुञ्चियत्थि महीरुहा?" ।
"अयं, भन्ते! अम्बरुक्खो", "पण्डितोसि नरिस्सर" ॥ १९ ॥

स्थविर ने जब यह कहा तो राजा का भय जाता रहा । उसे अपने मित्र (धर्माशोक) का सन्देश भी स्मरण हो आया । तो उसने स्थविर को निश्चित रूप से श्रमण मान लिया ॥ ९ ॥

तब उसने धनुष-बाण फेंककर इस ऋषि (स्थविर) के पास जा कर यथायोग्य कुशल-समाचार पूछा और उसके पास बैठ गया ॥ १० ॥

उसके अङ्गरक्षक भी राजा के पीछे आकर बैठ गये । तब स्थविर ने भी अपने सहानुयायियों को प्रकट किया ॥ ११ ॥

राजा का स्थविर से संवाद–अकस्मात् उन्हें देखकर राजा ने पूछा–"ये कब आये?" स्थविर ने कहा–"मेरे साथ ही" । फिर राजा ने पूछा–॥ १२ ॥

"क्या जम्बुद्वीप में ऐसे यति अन्य भी हैं ?" (स्थविर ने) कहा–"समग्र जम्बुद्वीप ऐसे काषायवस्त्रों से प्रकाशमान है ॥ १३ ॥

वहाँ कितने ही त्रैविद्य (तीनों विद्याओं को= १. पूर्वजन्म, २. च्युति-प्रतिसन्धि एवं ३. आस्रवक्षय को जानने वाले) ऋद्धिबलसम्पन्न, परचित्तविजाननसमर्थ दिव्यश्रोत्र एवं अर्हत् बुद्धशिष्य हैं" ॥ १४ ॥

फिर पूछा–"कैसे आये हैं ?" स्थविर ने कहा–"न स्थल से आयें हैं, न जल से ।" ऐसा कहे जाने पर राज़ा समझ गया कि ये आकाशमार्ग से आये हैं ॥ १५ ॥

राजा से सूक्ष्म प्रश्न–महाबुद्धिमान् स्थविर ने राजा की बुद्धिपरीक्षा के लिये कई सूक्ष्म प्रश्न पूछे । राजा ने, पूछे जाने पर, यथामति वैसे-वैसे उत्तर दिया ॥ १६ ॥

स्थविर ने पूछा–"राजन् ! इस वृक्ष का क्या नाम है ?" "इस वृक्ष का नाम है–आम" । इसको छोड़कर दूसरा भी आम है ?" "हाँ, बहुत से आम हैं" ॥ १७ ॥

"क्या इस आम या उन दूसरे आमों को छोड़कर अन्य भी कोई वृक्ष हैं ?" "हाँ, दूसरे भी बहुत से वृक्ष हैं, परन्तु वे आम्रवृक्ष नहीं हैं" ॥ १८ ॥

"दूसरे आमों को एवं आम्ररहितों (अनाम्रों) को छोड़कर कोई अन्य वृक्ष है ?" "भन्ते ! वह तो यही आम्रवृक्ष है ।" यह सुनकर स्थविर ने कहा–"राजन् ! तुम बुद्धिमान् (पण्डित) हो" ॥ १९ ॥

"सन्ति ते ञातका राजा?" "सन्ति; भन्ते! बहू जना" ।
"सन्ति अञ्ञातका राजा?", "सन्ति ते ञातितो बहू" ॥ २० ॥

[W.G.105] "ञातके ते च अञ्ञे च मुञ्चियञ्ञो पि अत्थि नु?" ।
"अहमेव, भन्ते!" "साधु, त्वं पण्डितोसि नरिस्सर" ॥ २१ ॥

पण्डितो ति विदित्वान चूळहत्थिपदोपमं ।
सुत्तन्तं देसयित्थेरो महीपस्स महामति ॥ २२ ॥

देसनापरियोसाने सद्धिं तेहि नरेहि सो ।
चत्तालीससहस्सेहि सरणेसु पतिट्ठहि ॥ २३ ॥

भत्ताभिहारं सायन्हे रञ्ञो अभिहरुं तदा ।
"न भुञ्जिस्सन्ति मे दानि" इति जानं पि भूपति ॥ २४ ॥

"पुच्छितुं येव युत्तं" ति भत्तेनापुच्छि ते इसी ।
"न भुञ्जाम इदानीं" ति वुत्तो कालं च पुच्छि सो ॥ २५ ॥

काले वुत्ते ब्रवी एवं : "गच्छाम नगरं" इति ।
"तुवं गच्छ, महाराज! वसिस्साम मयं इध" ॥ २६ ॥

"एवं सति कुमारोयं अम्हेहि सह गच्छतु" ।
"अयं हि आगतफलो, राज, विञ्ञातसासनो ॥ २७ ॥

अपेक्खमानो पब्बज्जं वसतु म्हाक सन्तिके ।
इदानि पब्बजेस्साम इमं, त्वं गच्छ, भूमिप!" ॥ २८ ॥

"पातो रथं पेसयिस्सं तुम्हे तत्थ ठिता पुरं ।
याथा" ति थेरे वन्दित्वा भण्डुं नेत्वेकमन्तिकं ॥ २९ ॥

पुच्छि थेराधिकारं सो रञ्ञो सब्बं अभासि सो ।
थेरं ञत्वातितुट्ठो सो "लाभा मे" इति चिन्तयि ॥ ३० ॥

(स्थविर ने फिर दूसरा प्रश्न किया–) राजन् ! तुम्हारे कोई सगे-सम्बन्धी हैं" ? "हाँ, भन्ते ! बहुत लोग हैं" । "क्या तुम्हारे सगे-सम्बन्धियों से भिन्न भी कोई हैं ?" "हाँ, भन्ते ! वे तो इनसे भी अधिक हैं" ।। २० ।।

"राजन् ! इन सम्बन्धियों तथा असम्बन्धियों से रहित भी कोई हैं" ? "वह तो, भन्ते ! मैं ही हूँ ।" (तब स्थविर ने कहा–) "राजन् ! तुम बहुत अधिक बुद्धिमान् हो" ।। २१ ।।

स्थविर ने राजा को बुद्धिमान् जानकर **चूलहत्थिपदोपम सुत्त** (म॰ नि॰) का उपदेश किया ।। २२ ।।

धर्मोपदेश के तत्काल बाद ही वह राजा चवालीस हजार (४४,०००) जनसमूह के साथ बुद्ध-धर्म-सङ्घ के प्रति श्रद्धालु हो गया ।। २३ ।।

राजा का भोजन के लिये पूछना– सायङ्काल, जब राजा के लिये भोजन आया, उसने स्थविर से यह जानते हुए भी कि इस समय ये नहीं खाते, तो भी पूछना उचित समझ कर भोजन के लिये पूछा । स्थविर ने कहा–"इस समय हम नहीं खाते" ।। २४ ।।

तब पुनः राजा ने स्थविर से भोजन का उचित काल पूछा ।। २५ ।।

स्थविर द्वारा समय बताने पर राजा ने कहा–"अब हम सब नगर चलते हैं ।" स्थविर ने कहा–"आप लोग जाइये, हम तो यहीं रहेंगे" ।। २६ ।।

तब राजा ने कहा– 'ऐसी बात है तो यह कुमार ही हमारे साथ चले ।" स्थविर ने कहा–"राजन् ! यह बालक अनागामिफल प्राप्त एवं धर्म का ज्ञाता है ।। २७ ।।

"भिक्षु भाव प्राप्त करने के लिये हमारे पास रहता है । इसको आज ही प्रव्रजित करेंगे । अतः राजन् ! आप जाइये" ।। २८ ।।

राजा ने यह कहकर–"प्रातः रथ भेजूँगा, आप उस में बैठकर नगर में पधारिये", स्थविर को प्रणाम कर भण्डुक को एक तरफ ले जा कर ।। २९ ।।

स्थविर के लङ्का में आने का उद्देश्य पूछा, भण्डुक ने सब कुछ बता दिया । राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ कि इसमें तो हमारा लाभ-सौभाग्य ही है ।। ३० ।।

[W.G.106] भण्डुस्स गिहिभावेन गतासङ्को नरिस्सरो ।
अञ्ञासि नरभावं सो "पब्बाजेम इमं" इति ॥ ३१ ॥

थेरो तङ्गामसीमायं तस्मिं येव गणे अका ।
भण्डुकस्स कुमारस्स पब्बज्जं उपसम्पदं ॥ ३२ ॥

तस्मि येव खणे सो च अरहत्तं अपापुणि ।
सुमनं सामणेरं तं थेरो आमन्तयी ततो ॥ ३३ ॥

"धम्मस्सवणकालं त्वं घोसेही" ति, अपुच्छि सो ।
"सावेन्तो कित्तकं ठानं, भन्ते! घोसेमहं ?" इति ॥ ३४ ॥

"सकलं तम्बपण्णिं" ति वुत्ते थेरेन इद्धिया ।
सावेन्तो सकलं लङ्कं धम्मकालं अघोसयि ॥ ३५ ॥

राजा नागचतुक्के सो सोण्डियस्स निसीदय ।
भुञ्जन्तो तं रवं सुत्वा थेरन्तिकमपेसयि ॥ ३६ ॥

"उपद्दवो नु अत्थी?" ति, आह :"नत्थि उपद्दवो ।
सोतुं सम्बुद्धवचनं कालो घोसापितो" इति ॥ ३७ ॥

सामणेररवं सुत्वा भुम्मा देवा अघोसयुं ।
एवं कमेन सो सद्दो ब्रह्मलोकं समारुहि ॥ ३८ ॥

तेन घोसेन देवानं सन्निपातो महा अहु ।
समचित्तसुत्तं देसेसि थेरो तस्मिं समागमे ॥ ३९ ॥

असङ्खियानं देवानं धम्माभिसमयो अहु ।
बहू नागा सुपण्णा च सरणेसु पतिट्ठहुं ॥ ४० ॥

यथेदं सारिपुत्तस्स सुत्तं थेरस्स भासितो ।
तथा महिन्दथेरस्स अहु देवसमागमो ॥ ४१ ॥

भण्डुक को प्रव्रज्या–भण्डुक के गृहस्थ होने के कारण ही राजा निःशङ्क हो पाया । "इसे भी प्रव्रजित कर दिया जाय" यह सोचकर ॥ ३१ ॥

स्थविर ने उसी ग्राम की सीमा में तथा उसी गण (पाँच भिक्षुओं का गण) में उस भण्डुक कुमार की प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा कर दी ॥ ३२ ॥

ज्यों ही उस भण्डुक की प्रव्रज्या उपसम्पदा हुई उसी क्षण उसे अर्हत्त्व प्राप्त हो गया । तब स्थविर ने श्रामणेर को बुलाया ॥ ३३ ॥

धर्मश्रवण की घोषणा–और उससे कहा–"तूँ धर्मश्रवण-काल की घोषणा कर दे ।" सुमन ने पूछा–"भन्ते ! घोषणा करते हुए कितने स्थान में सुनायी देने वाली घोषणा की जाय ।" स्थविर के द्वारा कहा–"समग्र ताम्रपर्णी में ।" कहे जाने पर ऋद्धिबल से समग्र लङ्का में वह धर्मश्रवणकाल घोषित हो गया ॥ ३५ ॥

सोण्डी के पास नागचतुष्क में बैठ कर राजा ने भोजन करते समय यह घोषणा सुनी तो उसने तत्काल भेरी-शब्द सुन कर स्थविर के पास यह जानने के लिये आदमी भेज कर ॥ ३६ ॥

पुछवाया कि कोई उपद्रव तो नहीं हो गया ? स्थविर ने कहा–"नहीं, यह तो धर्मश्रवण-काल की घोषणा है" ॥ ३७ ॥

इस तरह वह शब्द लङ्काद्वीप तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु ब्रह्मलोक तक पहुँच गया ॥ ३८ ॥

वह घोषणा सुनकर देवता बहुत अधिक सङ्ख्या में एकत्र हो गये । उस धर्मसमागम में स्थविर ने **समचित्तसुत्त** (अ॰ नि॰ २.४.६) का उपदेश किया ॥ ३९ ॥

इस के प्रताप से असङ्ख्य देवों को धर्मज्ञान हुआ । बहुत से नाग एवं सुपर्ण त्रिशरण में प्रतिष्ठित हुए ॥ ४० ॥

कभी सारिपुत्र स्थविर द्वारा इस सूत्र का उपदेश करते समय जैसा देवसमागम हुआ था, वैसा ही देवसमागम इस महेन्द्र स्थविर द्वारा किये गये धर्मोपदेश के समय भी हुआ ॥ ४१ ॥

राजा पभाते पाहेसि रथं सारथि सो गतो ।
"आरोहथ रथं, याम नगरं" इति ते ब्रवि ॥ ४२ ॥

[W.G.107] "नारोहाम रथं, गच्छ, गच्छाम तव पच्छतो" ।
इति वत्वान पेसेत्वा सारथिं सुमनोरथा ॥ ४३ ॥

वेहासं अब्भुग्गन्त्वा ते नगरस्स पुरत्थतो ।
पठमत्थपठानम्हि ओतरिंस महिद्धिका ॥ ४४ ॥

थेरेहि पठमोत्तिण्णठानम्हि कतचेतियं ।
अज्जापि वुच्चते तेन एवं पठमचेतियं ॥ ४५ ॥

रञ्ञा थेरगुणं सुत्वा रञ्ञो अन्तेपुरित्थियो ।
थेरदस्सनमिच्छंसु यस्मा तस्मा महीपति ॥ ४६ ॥

अन्तो व राजवत्थुस्स रम्मं कारेसि मण्डपं ।
सेतेहि वत्थपुप्फेहि छादितं समलङ्कतं ॥ ४७ ॥

उच्चासेय्याविरमणं सुतत्ता थेरसन्तिके ।
कङ्खि "उच्चासने थेरो निसीदेय्य नु खो?" ति च ॥ ४८ ॥

तदन्तरे सारथि सो थेरे दिस्वा तहिं ठिते ।
चीवरं पारुपन्ते ते अतिविम्हितमानसो ॥ ४९ ॥

गन्त्वा रञ्ञो निवेदेसि, सुत्वा सब्बं महीपति ।
"निसज्जं न करिस्सन्ति, पीठकेसू" ति निच्छितो ॥ ५० ॥

"सुसाधु भुम्मत्थरणं पञ्ञायेथा" ति भासिय ।
गन्त्वा पटिपथं थेरे सक्कच्चं अभिवादिय ॥ ५१ ॥

महामहिन्दथेरस्स हत्थतो पत्तमादिय ।
सक्कारपूजाविधिना पुरं थेरं पवेसयि ॥ ५२ ॥

स्थविर का नगर में आगमन–राजा ने प्रभात में सारथि के द्वारा रथ भिजवाया। वह गया और उसने रथ पर चढ़ नगर चलने की स्थविर से प्रार्थना की ॥ ४२ ॥

परन्तु स्थविर ने कहा–"हम रथ पर नहीं बैठते, तुम चलो, हम तुम्हारे पीछे-पीछे आ रहे हैं।" ऐसा कह कर, सारथि को भेज कर, पवित्र सङ्कल्प वाले ॥ ४३ ॥

वे ऋद्धिसम्पन्न स्थविर अपनी मण्डली के साथ आकाशमार्ग से चलकर नगर के पूर्व भाग में प्रथम स्तूप के स्थान पर उतरे ॥ ४४ ॥

स्थविर लोग सब से पूर्व इसी स्थान पर उतरे थे, इसीलिये उस स्थान पर बना चैत्य आज भी 'प्रथम चैत्य' कहलाता है ॥ ४५ ॥

राजा के मुख से स्थविर का गुणगान सुनकर अन्तःपुर की स्त्रियाँ भी स्थविर के दर्शन करना चाहती थीं, इसलिये राजा ने ॥ ४६ ॥

राजप्रासाद के अन्दर ही श्वेत वस्त्रों से आच्छादित एवं फूलों से अलङ्कृत एक सुन्दर मण्डप बनवाया ॥ ४७ ॥

स्थविर के श्रीमुख से उसने भिक्षुओं का उच्चासन पर बैठना निषिद्ध सुन रखा था। अतः उसने सोचा कि वे उच्च आसन पर बैठेंगे कि नहीं ? ॥ ४८ ॥

इसी बीच वहाँ ठहरे चीवर पहनते स्थविरों को सारथि ने देखा तो वह आश्चर्यचकित हुआ ॥ ४९ ॥

उसने जाकर राजा से यह आश्चर्यजनक घटना राजा को सुनायी। राजा ने सब कुछ सुनकर कहा–"वे ऊँचे आसन पर नहीं बैठेंगे, अतः दूसरा निश्चय किया जाता है ॥ ५० ॥

"ठीक है, तो भूमि पर ही अच्छी विछायी की जाय।" यह आज्ञा देकर वह स्थविरों के सम्मुख गया तथा उनका सत्कार अभिवादन किया ॥ ५१ ॥

तथा महामहेन्द्र स्थविर के हाथ से पात्र लेकर, सत्कार-पूजाविधि से स्थविर को नगर में प्रवेश कराया ॥ ५२ ॥

दिस्वा आसनपञ्ञत्तिं नेमित्ता व्याकरुं इति ।
"गहिता पथवीमेहि दीपे हेस्सन्ति इस्सरा" ॥ ५३ ॥

[W.G.108] नरिन्दो पूजयन्तो ते थेरे अन्तेपुरं नयि ।
तत्थ ते दुस्सपीठेसु निसीदिंसु यथारहं ॥ ५४ ॥

ते यागुखज्जभोज्जेहि सङ्घं राजा अतप्पयि ।
निट्ठिते भत्तकिच्चम्हि सयं उपनिसीदिय ॥ ५५ ॥

कनिट्ठस्सोपराजस्स महानागस्स जायिकं ।
वसन्तिं राजगेहे व पक्कोसापेसि चानुलं ॥ ५६ ॥

आगम्म अनुला देवी पञ्च इत्थिसतेहि सा ।
थेरे वन्दिय पूजेत्वा एकमन्तं उपाविसि ॥ ५७ ॥

पेतवत्थुं विमानं च सच्चसंयुत्तमेव च ।
देसेसि थेरो, ता इत्थी पठमं फलमज्झगुं ॥ ५८ ॥

हिय्यो दिट्ठमनुस्सेहि सुत्वा थेरगुणे बहू ।
थेरदस्सनमिच्छन्ता समागन्त्वान नागरा ॥ ५९ ॥

राजद्वारे महासद्दं अकरुं, तं महीपति ।
सुत्वा पुच्छिय जानित्वा आह तेसं हितत्थिको ॥ ६० ॥

"सब्बेसं इध सम्बाधो, सालं मङ्गलहत्थिनो
सोधेन्तु, तत्थ दक्खिन्ति थेरे मे नागरा" इति ॥ ६१ ॥

सोधेत्वा हत्थिसालं तं वितानादीहि सज्जुकं ।
अलङ्करित्वा सयनानि पञ्ञापेसुं यथारहं ॥ ६२ ॥

स थेरो तत्थ गन्त्वान महाथेरो निसीदिय ।
सो देवदूतसुत्तन्तं कथेसि कथिको महा ॥ ६३ ॥

आसनों के विछाने की पद्धति देखकर ज्योतिषियों ने कहा–"इन्होंने पृथ्वी ले ली, अब ये द्वीप के स्वामी हो जायँगें ।। ५३ ।।

राजा ने स्थविरों का अधिक अधिक पूजा-सत्कार कर उन्हें अपने अन्तःपुर में ले गया । वहाँ वे स्थवि बिछे हुए दुशालों पर यथायोग्य बैठे ।। ५४ ।।

उनको राजा ने स्वयं अपने हाथ से खाद्य-भोज्य सामग्री परोसी । और उन्हें भोजन कराकर सन्तृप्त किया । भोजन-कार्य समाप्त होने पर राजा भी उनके पास बैठ गया ।। ५५ ।।

उसने अपने छोटे भाई अतएव युवराज़ महानाग की पत्नी अनुला को बुलाया, जो कि वहीं राजमहल में ही रहती थी ।। ५६ ।।

अनुला देवी ने पाँच सौ स्त्रियों के साथ आकर उन स्थविरों की पूजा-वन्दना की और एक तरफ बैठ गयी ।। ५७ ।।

तब स्थविर ने **विमानवत्थु** तथा **पेतवत्थु** एवं **सच्चसंयुत्त** की देशना की । उसे सुनकर उन स्त्रियों का प्रथम (स्रोतआपत्ति) फल की प्राप्ति हुई ।। ५८ ।।

पहले दिन स्थविर को देखे हुए लोगों के मुख़ से स्थविर की प्रशंसा सुनकर स्थविर के दर्शनों की अत्युत्कट इच्छा से आये नागरिकों ने प्रासाद के प्रधान द्वार पर आकर ।। ५९ ।।

दर्शनहेतु कोलाहल करना प्रारम्भ किया । राजा ने वह कोलाहल सुनकर द्वारपाल से कोलाहल का कारण जानकर उनकी हितकामना से नागरिकों से कहा–।। ६० ।।

"इतने लोगों को यहाँ एकत्र होने से बहुत भीड़ हो जायगी, तो क्यों न हस्तिशाल की शुद्धि (सफाई) करा ली जाय, वहीं धर्मसभा का आयोजन कर स्थविरों के दर्शन किये जायँ !" ।। ६१ ।।

यों, हस्तिशाल की शुद्धि कराकर वहाँ तम्बू तनवा कर सर्वथा अलंकृत कर यथायोग्य आसन बिछवाये ।। ६२ ।।

तब अन्य स्थविरों के साथ महास्थविर महेन्द्र वहाँ जाकर विराजमान हुए । और वहाँ उस कुशल वक्ता ने देवदूत सुत्त (म० नि० ३.३.१०) के आधार पर प्रभावकारी धर्मदेशना की ।। ६३ ।।

तं सुत्वान पसीदिंसु नागरा ते समागता ।
तेसु पाणसहस्सं तु पठमं फलमज्झगा ॥ ६४ ॥

लङ्कादीपे सो सत्थुकप्पो अकप्पो,
लङ्काधिट्ठाने द्वीसु ठानेसु थेरो ।
धम्मं भासित्वा दीपभासाय एवं,
सद्धम्मोतारं कारयी दीपदीपो " ति ॥ ६५ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

नगरप्पवेसनं नाम

चुद्दसमो परिच्छेदो

❄❄❄

जिसे सुनकर एक हजार (१०००) जिज्ञासु जनों को स्रोतआपत्तिफल प्राप्त हुआ ।। ६४ ।।

बुद्ध के समान अनुपम, लङ्काद्वीप के लिये ज्योतिर्भूत स्थविर ने लङ्काद्वीप में दो स्थानों पर इस द्वीप की ही भाषा में उपदेश करते हुए सद्धर्म की स्थापना की ।। ६५ ।।

सुजनों का धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह
संवर्धनहेतु रचित इस महावंस ग्रन्थ में

स्थविर महेन्द्र का नगरप्रवेश-वर्णनात्मक

चतुर्दश परिच्छेद समाप्त

❊❊❊

१५.

पण्णरसमो परिच्छेदो

(महाविहारपटिग्गहणो नाम)

[W.G.110] "हत्थिसाला पि सम्बाधा" इति तत्थ समागता ।
ते नन्दनवने रम्मे दक्खिणद्वारतो बहि ॥ १ ॥

राजुय्याने घनच्छाये सीतले नीलसद्दले ।
पञ्ञापेसुं आसनानि थेरानं सादरा नरा ॥ २ ॥

निक्खम्म दक्खिणद्वारा थेरो तत्थ निसदि च ।
महाकुलीना चागम्म इत्थियो बहुका तहिं ॥ ३ ॥

थेरं उपनिसीदिंसु उय्यानं परियन्तियो ।
बालपण्डितसुत्तन्तं तासं थेरो अदेसयि ॥ ४ ॥

सहस्सइत्थियो तासु पठमं फलमज्झगुं ।
एवं तत्थेव उय्याने सायन्हसमयो अहु ॥ ५ ॥

ततो थेरा निक्खमिंसु "याम तं पब्बतं" इति ।
तं रञ्ञो पटिवेदेसुं, सीघं राजा उपागमि ॥ ६ ॥

उपागम्म ब्रवी थेरं : "सायं, दूरो च पब्बतो ।
इधेव नन्दनुय्याने निवासो फासुको" इति ॥ ७ ॥

[W.G.111] "पुरस्स अच्चासन्नत्ता असारुप्पं" ति भासिते ।
"महामेघवनुय्यानं नातिदूरातिसन्तिके ॥ ८ ॥

पञ्चदश परिच्छेद

(महाविहार-प्रतिग्रहण)

नन्दन वन में स्थविर का आवास– हस्तिशाला में भी स्थान की सङ्कीर्णता ही रही, अतः वहाँ आये लोगों ने नगर के दक्षिण द्वार के बाहर ॥ १ ॥

हरे-भरे, शीतल, सघन, रमणीय नन्दवन नामक राजोद्यान में स्थविरों के लिये आसन बिछवाये ॥ २ ॥

स्थविर जन दक्षिण द्वार से निकल कर वहाँ जाकर विराजमान हुए । वहाँ उनके दर्शन हेतु बहुत से कुलपुत्र एवं कुलीन बधुएँ आयीं ॥ ३ ॥

वे सभी उद्यान में आकर स्थविरों के चारों तरफ शान्त भाव से बैठे । स्थविर ने उनको उस समय मज्झिमनिकाय के **बालपण्डित सूत्र** के आधार पर धर्मदेशना की ॥ ४ ॥

उसके पुण्य प्रभाव से वहां बैठी स्त्रियों में से एक हजार को प्रथम स्रोतआपत्ति फल प्राप्त हुआ । इसी प्रकार सायङ्काल भी (धर्मोपदेश) हुआ ॥ ५ ॥

स्थविर का महामेघवन में विश्राम–तब वे स्थविर यह कह कर उठ खड़े हुए कि अब हम पर्वत पर पुनः जायँगें । यह बात राजा को बतायी गयी । राजा दौड़-दौड़े आये, तथा उनसे निवेदन किया ॥ ६ ॥

"भन्ते ! सायङ्काल हो गया, पर्वत भी दूर है, आप यहीं नन्दनवन में विश्राम करें तो वह सुखदायक होगा" ॥ ७ ॥

श्रमणों द्वारा– "इस नन्दन वन की नगर से अत्यधिक समीपता के कारण वह हमें सुखदायक नहीं होगा"– यह कहने पर उनसे निवेदन किया गया–"तब यह महामेघवन उद्यान न तो अधिक दूर है न अधिक समीप ॥ ८ ॥

रम्मं छायूदकूपेतं निवासो तत्थ रोचतु ।
निवत्तितब्बं, भन्ते!" ति थेरो तत्थ निवत्तयि ॥ ९ ॥

तस्मिं निवत्तठानम्हि कादम्बनदियन्तिके ।
निवत्तचेतियं नाम कतं वुच्चति चेतियं ॥ १० ॥

तं नन्दनं दक्खिणेन सयं थेरं रथेसभो ।
महामेघवनुय्यानं पाचीनद्वारकं नयि ॥ ११ ॥

तत्थ राजघरे रम्मे मञ्चपीठानि साधुकं ।
साधूनि सन्थरापेत्वा "वसन्तेत्थ सुखं" इति ॥ १२ ॥

राजा थेरे भिवदित्वा अमच्चपरिवारितो ।
पुरं पाविसि, थेरा तु तं रत्तिं तत्थ ते वसुं ॥ १३ ॥

पब्बते येव पुप्फानि गहेत्वा धरणीपति ।
थेरे उपेच्च वन्दित्वा पूजेत्वा कुसुमेहि च ॥ १४ ॥

पुच्छि "कच्चि सुखं वुत्थं उय्यानं फासुकं?" ति च ।
"सुखं वुत्थं, महाराज! उय्यानं यतिफासुकं" ॥ १५ ॥

"आरामो कप्पते, भन्ते! सङ्घस्स?" अपुच्छि सो ।
"कप्पते" इति वत्वान कप्पाकप्पेसु कोविदो ॥ १६ ॥

थेरो वेळुवनारामपटिग्गहणमब्रवि ।
तं सुत्वा अतिहट्ठो सो, तुट्ठहट्ठो महाजनो ॥ १७ ॥

[W.G.112] थेरानं वन्दनत्थाय देवी तु अनुला गता ।
सद्धिं पञ्चसतित्थीहि दुतियं फलमज्झगा ॥ १८ ॥

सा सपञ्चसता देवी अनुलाह महीपतिं ।
"पब्बजिस्साम देवा" ति, राजा थेरमवोच सो ॥ १९ ॥

वह उद्यान सघन छाया वाला है, वहाँ जल का भी साधन है । भन्ते ! आप वहीं विश्रामहेतु विराजें, वही ठहरें" ॥ ९ ॥

कादम्ब नदी पर बने उस विश्राम-स्थल पर बने चैत्य को लोग आज भी 'निवृत्तचैत्य' कहते हैं ॥ १० ॥

तब राजा स्वयं उन महास्थविरों को नन्दन वन के दक्षिण द्वार से निकाल कर महामेघवन उद्यान के प्राचीन द्वार तक ले गया ॥ ११ ॥

वहाँ रमणीय राजप्रासाद में सुखमय आसन बिछा कर निवेदन किया-"आप यहाँ विश्राम करें" ॥ १२ ॥

यों स्थविरों को प्रणाम कर अमात्यों से घिरा हुआ राजा पुनः नगर को लौट आया । उधर स्थविर उस रात्रि को वहीं विश्राम करने लगे ॥ १३ ॥

राजा द्वारा महामेघवनोद्यान का दान– प्रातः काल ही राजा पब्बत पर से ही फूल लेकर स्थविरों की वन्दनाहेतु उनके पास पहुँचा । सर्वप्रथम उनको पुष्प समर्पित किये ॥ १४ ॥

फिर पूछा-आप लोग रात्रि में सुखपूर्वक रहे ? आराम में आप श्रमणों को कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?" "हाँ, राजन्, ! सुखपूर्वक ही रहे । यह उद्यान तो श्रमणों के अनुकूल है" । ॥ १५ ॥

"फिर पूछा-"भन्ते ! यह (मेघवन) आराम सङ्घ को ग्रहण करना उचित रहेगा ?" "हाँ, उचित ही रहेगा"- ऐसा कह कर उस उचित-अनुचित के जानने वाले ॥ १६ ॥

इस स्थविर ने भगवान् द्वारा वेणुवनाराम स्वीकार करने का उदाहरण दिया । उसे सुनकर राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ । साथ ही विशिष्ट नागरिक भी ॥ १७ ॥

अनुला देवी की प्रव्रज्या-याच्ञा–इसी बीच स्थविरों की वन्दना के लिये अनुला देवी पाँच सौ स्त्रियों के साथ वहाँ आयी । (स्थविरों के दर्शनमात्र से) उसे द्वितीय (सकृदागामि-) फल प्राप्त हो गया ॥ १८ ॥

तब पाँच सौ स्त्रियों के साथ देवी अनुला ने राजा से कहा-"हम प्रव्रज्या लेना चाहती हैं ।" राजा ने स्थविर से निवेदन किया- ॥ १९ ॥

"पब्बजेथ इमायो" ति, थेरो आह महीपतिं ।
"न कप्पति, महाराज! पब्बाजेतुं थियो हि नो ॥ २० ॥

अत्थि पाटलिपुत्तस्मिं भिक्खुनी मे कनिट्ठिका ।
सङ्घमित्ता ति नामेन विस्सुता, सा बहुस्सुता ॥ २१ ॥

'नरिन्द! समणिन्दस्स महाबोधिदुमिन्दतो ।
दक्खिणं साखमादाय तथा भिक्खुनियो वरा ॥ २२ ॥

आगच्छतू' ति पेसेहि रञ्ञो नो पितुसन्तिकं ।
पब्बाजेस्सति सा थेरी आगता इत्थियो इमा" ॥ २३ ॥

"साधू" ति वत्वा गण्हित्वा राजा भिङ्गारमुत्तमं ।
"महामेघवनुय्यानं दम्मि सङ्घस्सिमं" इति ॥ २४ ॥

महिन्दथेरस्स करे दक्खिणोदकमाकरि ।
महिया पतिते तोये अकम्पित्थ महामही ॥ २५ ॥

"कस्मा कम्पति भूमी?" ति भूमिपालो अपुच्छि तं ।
"पतिट्ठितत्ता दीपम्हि सासनस्सा" ति सो ब्रवि ॥ २६ ।

थेरस्स उपनामेसि जातिपुप्फानि जातिमा ।
थेरो राजघरं गन्त्वा तस्स दक्खिणतो ठितो ॥ २७ ॥

रुक्खम्हि पिचुले अट्ठ पुप्फमुट्ठी समोकरि ।
तत्थापि पथवी कम्पि पुट्ठो तस्साह कारणं ॥ २८ ॥

[W.G.113] "अहोसि तिण्णं बुद्धानं काले पि इध मालको ।
नरिन्दो सङ्घकम्मत्थं भविस्सति इदानि पि" ॥ २९ ॥

राजगेहा उत्तरतो चारुपोक्खरणिं अगा ।
तत्तकानेव पुप्फानि थेरो तत्थापि ओकिरि ॥ ३० ॥

"भन्ते ! इन्हें प्रव्रज्या दे दीजिये ।" तब स्थविर ने भूपति से कहा–"नहीं, हमें यह उचित नहीं, स्त्रियों को प्रव्रज्या देने का अधिकार स्त्रियों को ही है ॥ २० ॥

सङ्घमित्रा थेरी का आह्वान–"हाँ, पाटलिपुत्र में मेरी छोटी बहन भिक्षुणी है, वह सङ्घमित्ता नाम से विख्यात है, वह विद्वान् (बहुज्ञ, बहुश्रुत) भी है ॥ २१ ॥

"राजन् ! (आप ऐसा करें कि) आप मेरे पिता महाराज अशोक के पास सन्देश भेजें कि वे महास्थविर बुद्ध के बोधिवृक्ष की दक्षिण स्कन्ध से एक शाखा श्रेष्ठ भिक्षुणी (सङ्घमित्ता) के साथ तत्काल भेजें । वह स्थविरा सङ्घमित्ता आकर ही इन स्त्रियों को प्रव्रज्या दे पायेंगी" ॥ २२-२३ ॥

राजा ने–"अच्छा, भन्ते" कहकर तथा जलपात्र से जल लेकर सङ्कल्प करते हुए कि "मैं यह मेघवनोद्यान आज से सङ्घ को समर्पित करता हू"– ॥ २४ ॥

यह कह कर राजा ने स्थविर महेन्द्र के दक्षिण हाथ में वह सङ्कल्पित जल डाल दिया । उस जल के पृथ्वी पर गिरते ही पृथ्वी काँप उठी ॥ २५ ॥

राजा ने स्थविर से पूछा–"यह पृथ्वी क्यों काँप रही है ?" स्थविर ने उत्तर दिया–"द्वीप में धर्म-शासन की प्रतिष्ठा से हुए हर्ष के कारण" ॥ २६ ॥

स्थविर द्वारा पूर्व बुद्धों की पूजा–तब राजा ने स्थविर को जूही के फूल समर्पित किये । स्थविर ने राजमहल में जाकर उस महल के दक्षिण तरफ खड़े ॥ २७ ॥

पिचुल वृक्ष पर आठ मुट्ठी भर फूल फेंके । उस अवसर पर पृथ्वी में फिर कम्पन हुआ । राजा ने उसका कारण पूछा तो स्थविर ने उत्तर दिया ॥ २८ ॥

"पूर्व में हुए तीन बुद्धों (ककुसन्ध, कोणागमन एवं काश्यप) के समय में भी यहाँ (इस स्थान पर) एक **मालक** (चारों तरफ घिरी दिवारों के बीच बना स्थान, जहाँ बैठ कर भिक्षु धार्मिक कृत्य करते हैं) बनाया गया था । उसी सङ्घकृत्य के लिये वह यहाँ फिर बनेगा–इसी हर्ष के कारण पृथ्वी में कम्पन हुआ" ॥ २९ ॥

फिर स्थविर राजप्रासाद से उत्तर में बनी रमणीय पुष्करिणी पर गये, वहाँ भी उन्होंने आठ मुट्ठी फूल फेंके ॥ ३० ॥

तत्थापि पठवी कम्पि, पुट्ठो तस्साह कारणं ।
"जन्ताघरपोक्खरणी अयं हेस्सति, भूमिप! ॥ ३१ ॥

तस्सेव राजगेहस्स गन्त्वान द्वारकोट्ठकं ।
तत्तकेहेव पुप्फेहि तं ठानं पूजयी इसि ॥ ३२ ॥

"तदापि पठवी कम्पि, हट्ठलोमो अतीव सो ।
राजा तं कारणं पुच्छि, थेरो तस्साह कारणं ॥ ३३ ॥

इमम्हि कप्पे बुद्धानं तिण्णन्नं बुद्धरुक्खतो ।
आनेत्वा दक्खिणा साखा रोपिता इध, भूमिप! ॥ ३४ ॥

तथागतस्स अम्हाकं बोधिसाखा पि दक्खिणा ।
इमस्मिंयेव ठानम्हि पतिट्ठिस्सति, भूमिप!" ॥ ३५ ॥

ततो गमा महाथेरो महामुचलमालकं ।
तत्तकानेव पुप्फानि तस्मिं ठाने समोकिरि ॥ ३६ ॥

तत्थापि पठवी कम्पि, पुट्ठो तस्साह कारणं ।
"सङ्घस्सुपोथागारं इध हेस्सति, भूमिप!" ॥ ३७ ॥

पञ्हम्बमालकट्ठानं ततो गमा महामति ।
सुपक्कं अम्बपक्कं च वण्ण-गन्ध-रसुत्तमं ॥ ३८ ॥

[W.G.114] महन्तं उपनामेसि रञ्ञो उय्यानपालको ।
ते थेरस्सुपनामेसि राजा अतिमनोरमं ॥ ३९ ॥

थेरो निसीदनाकारं दस्सेसि जनताहितो ।
अत्थरापेसि तत्थेव राजा अत्थरणं वरं ॥ ४० ॥

अदा तत्थ निसिन्नस्स थेरस्सम्बं महीपति ।
थेरो तं परिभुञ्जित्वा रोपनत्थाय राजिनो ॥ ४१ ॥

इस समय भी पृथ्वी काँपी । राजा ने इसका भी कारण पूछा । स्थविर बोले– "राजन् ! यह पुष्करिणी उष्ण जल का स्नानागार बनेगी" ।। ३१ ।।

फिर स्थविर ने राजमहल के द्वार-कोष्ठक पर जाकर वहाँ भी उतने ही फूलों से पूजा की ।। ३२ ।।

वहाँ भी हुए पृथ्वी-कम्पन का, अतीव प्रसन्न राजा द्वारा, कारण पूछने पर स्थविर ने बताया– ।। ३३ ।।

"राजन् ! इसी कल्प में तीन बुद्धों के वृक्षों की दक्षिण शाखाएँ भी यहाँ रोपी गयी थीं ।। ३४ ।।

"अब हमारे इन बुद्ध के वृक्ष की दक्षिण शाखा भी लाकर यहीं रोपी जायगी" ।। ३५ ।।

तब महास्थविर वहाँ से महामुचुल मालक गये । वहाँ भी उतने ही पुष्प चढ़ाये ।। ३६ ।।

पुष्प-पूजा के तत्काल बाद यहाँ भी पृथ्वी-कम्पन हुआ । कारण पूछने पर स्थविर ने बताया–"राजन् ! यहाँ सङ्घ का उपोसथागार बनेगा" ।। ३७ ।।

वहाँ से महास्थविर प्रश्नाम्रमालक स्थान पर गये । वहाँ के माली ने राजा को एक उत्तम वर्ण रस-गन्ध युक्त, पका हुआ आम्रफल दिया । राजा ने वह स्थविर को भेंट चढ़ाना चाहा ।। ३८-३९ ।।

तब जनहितैषी स्थविर ने वहाँ बैठने का संकेत किया । संकेत समझ कर राजा ने वहाँ उचित आसन बिछवा दिया ।। ४० ।।

तब राजा ने वह आम्रफल स्थविर को समर्पित किया । स्थविर ने उस आम को चूसकर उसकी गुठली राजा को वहाँ रोपने के लिये दे दी ।। ४१ ।।

अम्बट्ठिकं अदा, राजा तं सयं तत्थ रोपयि ।
हत्थे तस्सोपरि थेरो धोवि तस्स विरूळिहया ॥ ४२ ॥

तङ्खणं येव बीजम्हा तम्हा निक्खम्म अङ्कुरो ।
कमेनातिमहारुक्खो पत्तफलधरो अहु ॥ ४३ ॥

तं पाटिहारियं दिस्वा परिसायं सराजिका ।
नमस्समाना अट्ठासि थेरे हट्ठतनूरुहा ॥ ४४ ॥

थेरो तदा पुप्फमुट्ठी अट्ठ तत्थ समोकिरि ।
तथापि पठवी कम्पि, पुट्ठो तस्साह कारणं ॥ ४५ ॥

"सङ्घस्सुप्पन्नलाभानं अनेकेसं नराधिप ।
सङ्गम्म भाजनट्ठानं इदं ठानं भविस्सति" ॥ ४६ ॥

ततो गन्त्वा चतुस्सालाठानं तत्थ समोकिरि ।
तत्तकानेव पुप्फानि, कम्पि तत्थापि मेदिनी ॥ ४७ ॥

[W.G.115] तङ्कम्पकारणं पुच्छि राजा, थेरो वियाकरि ।
"तिण्णन्नं पुब्बबुद्धानं राजुय्यानपटिग्गहे ॥ ४८ ॥

दानवत्थूनाहटानि दीपवासीहि सब्बतो ।
इध ठपेत्वा भोजेसुं ससङ्घं सुगते तयो ॥ ४९ ॥

इदानि पन एत्थेव चतुसाला भविस्सति ।
सङ्घस्स इध भत्तग्गं भविस्सति नराधिप" ॥ ५० ॥

महाथूपट्ठितट्ठानं ठानाठानविदू ततो ।
अगमासि महाथेरो महिन्दो दीपवड्ढनो ॥ ५१ ॥

तदा अन्तो परिक्खेपे राजुय्यानस्स खुद्दिका ।
ककुधव्हा अहू वापि, तस्सोपरि जलन्तिके ॥ ५२ ॥

राजा ने उस गुठली को अपने हाथ से जमीन में रोप दिया । उसके शीघ्र ही अङ्कुरित होने के लिये स्थविर ने स्थविर ने उसी स्थान पर हाथ धो लिये, ताकि उसके आस-पास जलसिञ्चन हो जाय ।। ४२ ।।

स्थविर के ऋद्धिबल-प्रभाव से उस गुठली से तत्काल अङ्कुर निकल आया । यों वह क्रमशः बहुत विशाल फलयुक्त आम्र वृक्ष हो गया ।। ४३ ।।

स्थविर के उस चमत्कार को देख कर वहाँ उपस्थित जनसमूह एवं राजा रोमाञ्चयुक्त होते हुए अत्यन्त प्रमुदित होकर उन्हें बारम्बार प्रणाम करने लगे ।। ४४ ।।

तब स्थविर ने अपने हाथों से पुष्पवृष्टि की, पुष्पवृष्टि होते ही पृथ्वी काँपने लगी । राजा ने इसका भी कारण पूछा ।। ४५ ।।

"राजन् ! सङ्घ को जनता से जो अनेक परिष्कार मिलेंगे, उन्हें यहाँ एकत्र कर इसी स्थान से उनको सङ्घ में वितरित किया जायगा" ।। ४६ ।।

फिर स्थविर ने चतुःशाला स्थान पर जा कर वहाँ भी पुष्प-वर्षा की । यहाँ भी पृथ्वी-कम्पन हुआ, राजा ने इसका भी कारण पूछा ।। ४७ ।।

स्थविर ने बताया–"राजन् ! तीनों पूर्व बुद्धों द्वारा राजोद्यान ग्रहण करते समय लङ्कावासी नागरिकों द्वारा ।। ४८ ।।

"चारों ओर से लायी गयी भोज्य सामग्री को यहीं रखकर सङ्घ को भोजन कराया जाता था ।। ४९ ।।

"अब भी यहाँ वैसी ही भोजनशाला (चतुश्शाला=चार दालान वाली) बनेगी" ।। ५० ।।

तब उचित अनुचित स्थानों के ज्ञाता, लङ्काद्वीप के उन्नायक, महामति स्थविर महास्तूप-स्थान पर गये ।। ५१ ।।

राजोद्यान के अन्तर्भाग में ककुध नाम की एक क्षुद्र (लघु) बावड़ी (वापी) थी उसके किनारे जल के समीप ।। ५२ ।।

थूपारहं जलट्ठानं अहु, थेरे तहिं गते ।
रञ्ञो चम्पकपुप्फानं पुटकानट्ठ आहरुं ॥ ५३ ॥

तानि चम्पकपुप्फानि राजा थेरस्सुपानयि ।
थेरो चम्पकपुप्फेहि तेहि पूजेसि तं थलं ॥ ५४ ॥

तत्थापि पठवी कम्पि, राजा तं कम्पकारणं ।
पुच्छि, थेरो नुपुब्बेन आह तं कम्पकारणं ॥ ५५ ॥

"इदं ठानं महाराज ! चतुबुद्धनिसेवितं ।
थूपारहं हितत्थाय सुखत्थाय च पाणिनं ॥ ५६ ॥

इमम्हि कप्पे पठमं ककुसन्धो जिनो अहु ।
सब्बधम्मविदू सत्था सब्बलोकानुकम्पको ॥ ५७ ॥

[W.G.116] महातित्थव्हयं आसि महामेघवनं इदं ।
नगरं अभयं नाम पुरत्थिमदिसायहु ॥ ५८ ॥

कदम्बनदिया पारे तत्थ राजाभयो अहु ।
नामेह ओजदीपो ति अयं दीपो तदा अहु ॥ ५९ ॥

रक्खसेहि, जनस्सेट्ठ ! रोगो पज्जरको अहु ।
ककुसन्धो दसबलो दिस्वान तं उपद्दवं ॥ ६० ॥

तं हन्त्वा सत्तविनयं पवत्तिं सासनस्स च ।
कातुं इमस्मिं दीपस्मिं करुणाबलचोदितो ॥ ६१ ॥

चत्तालीससहस्सेहि तादीहि परिवारितो ।
नभसागम्म अट्ठासि देवकूटम्हि पब्बते ॥ ६२ ॥

सम्बुद्धस्सानुभावेन रोगो पज्जरको इध ।
उपसन्तो, महाराज! दीपम्हि सकले तदा ॥ ६३ ॥

जल की सुविधायुक्त स्तूपयोग्य भूमि थी । स्थविर वहाँ पहुँचे । राजा से वहाँ आठ मुट्ठी चम्पा के फूल माँगे ॥ ५३ ॥

राजा ने फूल स्थविर को समर्पित किये । स्थविर ने उन फूलों से उस स्थल की पूजा की ॥ ५४ ॥

वहाँ भी पृथ्वी के काँपने पर, राजा द्वारा पूछने पर स्थविर ने उसका भी आनुपूर्वी कारण यों बताया ॥ ५५ ॥

"महाराज! चार बुद्धों के निवास से पवित्र हुआ यह स्थान प्राणियों के लिये अत्यधिक सुखदायक तथा हितकर है, अतः स्तूपनिर्माण के योग्य है" ॥ ५६ ॥

अन्तःकथा–ककुसन्ध बुद्ध– १. इसी कल्प में ककुसन्ध नामक बुद्ध सर्वधर्मज्ञ तथा सर्वलोकानु- कम्पक के हुए थे ॥ ५७ ॥

उसके समय में यह महामेघवनोद्यान उनकी लीला-भूमि रहा था । इसकी पूर्व दिशा में अभयनगर बसा हुआ था ॥ ५८ ॥

यहाँ कदम्ब नदी के पार राजा अभय का वास-स्थान था । उस समय इस द्वीप का नाम 'ओजद्वीप' था ॥ ५९ ॥

हे जनश्रेष्ठ ! उस समय राक्षसों ने क्रोध करते हुए इस नगर में 'पज्जरक' रोग (महामारी) फैला दिया । तब दशबल ककुसन्ध भगवान्, उस महामारी को जान कर ॥ ६0 ॥

प्राणियों के कष्टनिवारणहेतु तथा इस द्वीप में धर्मसंस्थापन हेतु, करुणाबल से प्रेरित होकर ॥ ६१ ॥

चालीस हजार (४0,000) क्षीणास्रव भिक्षुओं के साथ इस द्वीप में, देवकूट पर्वत पर आकर विराजमान हुए ॥ ६२ ॥

उस भगवान् की कृपा (आनुभाव) से यहाँ समग्र द्वीप में फैला हुआ वह पज्जरक रोग शान्त हुआ ॥ ६३ ॥

तत्थ ठितो अधिट्ठासि, नरिस्सर! मुनिस्सरो ।
"सब्बे मं अज्ज पस्सन्तु ओजदीपम्हि मानुसा ॥ ६४ ॥

आगन्तुकामा सब्बे व मनुस्सा मम सन्तिकें ।
आगच्छन्तु अकिच्छेन खिप्पं चा"ति महामुनि ॥ ६५ ॥

ओभासन्तं मुनिन्दं तं ओभासन्तं च पब्बतं ।
राजा च नागरा चेव दिस्वा खिप्पं उपागमुं ॥ ६६ ॥

देवताबलिदानत्थं मनुस्सा च तहिं गता ।
'देवता' इति मञ्ञिसु ससङ्घं लोकनायकं ॥ ६७ ॥

राजा सो मुनिराजं तं अतिहट्ठो भिवादिय ।
निमन्तयित्वा भत्तेन आनेत्वा पुरसन्तिकं ॥ ६८ ॥

"ससङ्घस्स मुनिन्दस्स निसज्जारहमुत्तमं ।
रमणीयं इदं ठानं असम्बाधं" ति चिन्तिय ॥ ६९ ॥

[W.G.117] कारिते मण्डपे रम्मे पल्लङ्केसु वरेसु तं ।
निसीदापेसि सम्बुद्धं ससङ्घं इध भूपति ॥ ७० ॥

निसिन्नमिध पस्सन्ता ससङ्घं लोकनायकं ।
दीपे मनुस्सा आनेसुं पण्णाकारे समन्ततो ॥ ७१ ॥

अत्तनो खज्ज-भोज्जेहि तेहि तेहाभतेहि च ।
सन्तप्पेसि ससङ्घं तं राजा सो लोकनायकं ॥ ७२ ॥

इधेव पच्छाभत्तं तं निसिन्नस्स जिनस्स सो ।
महातित्थकमुय्यानं राजादा दक्खिणं वरं ॥ ७३ ॥

अकालपुप्फालङ्कारे महातित्थवने तदा ।
पटिग्गहीते बुद्धेन अकम्पित्थ महामही ॥ ७४ ॥

वहाँ विराज कर भगवान् ने मन में अधिष्ठान (सत्य सङ्कल्प) लिया–"आज सभी ओजद्वीपवासी मेरे दर्शन हेतु आवें ॥ ६४ ॥

"जो आना चाहें वे सब, बिना किसी श्रम के,शीघ्र ही चले आवें" ॥ ६५ ॥

तब उस मुनिराज तथा उस पर्वत को अतिशय तेजोमय देखकर राजा तथा नगरवासी शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचे ॥ ६६ ॥

लोग देवता को पूजा चढ़ाने वहाँ आये थे, क्योंकि वहाँ सङ्घसहित बैठे लोकनायक (बुद्ध) को उन्होंने 'देवता' समझा था ॥ ६७ ॥

राजा ने मुनिराज को अतीव हर्ष के साथ प्रणाम किया तथा भोजन के लिये निमन्त्रित कर उनको नगर के समीप लाकर ठहराया ॥ ६८ ॥

और "इन मुनिराज के लिये सङ्घ के साथ रहने में यह स्थान अत्यधिक सुखप्रद होगा; क्योंकि यह रमणीय भी है और निर्बाध (शान्त) भी है"–यह सोचकर ॥ ६९ ॥

उस स्थान पर रमणीय मण्डप तथा आसन (पर्यङ्क) बिछा कर राजा ने सङ्घसहित मुनीन्द्र को ठहराया ॥ ७० ॥

लोकनायक को यहाँ विराजमान देख-सुनकर द्वीपवासी मनुष्य चारों तरफ से नाना प्रकार की भेंट (पण्णाकार) लाने लगे ॥ ७१ ॥

यहाँ-वहाँ से लायी गयी अपनी-अपनी खाद्य-भोज्य सामग्री से उन्होंने सङ्घसहित भगवान् को सन्तुष्ट एवं सन्तृप्त किया ॥ ७२ ॥

भोजन समाप्त कर सुखपूर्वक विराजमान भगवान् को राजा ने श्रेष्ठ महातीर्थक उद्यान भेंट कर दिया ॥ ७३ ॥

असमय (ऋतु के विना) में खिले फूलों से शोभित उस महातीर्थवन को भगवान् द्वारा ग्रहण करते ही यह पृथ्वी काँप उठी ॥ ७४ ॥

एत्थेव सो निसीदित्वा धम्मं देसेति नायको ।
चत्तालीस सहस्सानि पत्ता मग्गफलं नरा ॥ ७५ ॥

दिवाविहारं कत्वान महातित्थवने जिनो ।
सायन्हसमये गन्त्वा बोधिट्ठानारहं महिं ॥ ७६ ॥

निसिन्नो तत्थ अप्पेत्वा समाधिं वुट्ठितो ततो ।
इति चिन्तेसि सम्बुद्धो हितत्थं दीपवासिनं ॥ ७७ ॥

"आदाय दक्खिणं साखं बोधितो मे सिरीसतो ।
आगच्छतु रुचानन्दा भिक्खुणी सहभिक्खुणी" ॥ ७८ ॥

तस्स तं चित्तमञ्ञाय सा थेरी तदनन्तरं ।
गहेत्वा तत्थ राजानं उपसङ्कम्म तं तरुं ॥ ७९ ॥

लेखं दक्खिणसाखाय दीपेत्वान महिद्धिका ।
मनोसिलाय छिन्नं तं ठितं हेमकटाहके ॥ ८० ॥

इद्धिया बोधिमादाय सा पञ्चसतभिक्खुणी ।
इधानेत्वा, महाराज, देवतापरिवारिता ॥ ८१ ॥

[W.G.118] ससुवण्णकटाहं तं सम्बुद्धेन पसारिते ।
ठपेसि दक्खिणे हत्थे, तं गहेत्वा तथागतो ॥ ८२ ॥

पतिट्ठपेतुं पादासि बोधिं रञ्ञोभयस्स, तं ।
महातित्थम्हि उय्याने पतिट्ठापेसि भूपति ॥ ८३ ॥

ततो गन्त्वान सम्बुद्धो इतो उत्तरतो पन ।
सिरीसामालके रम्मे निसीदित्वा तथागतो ॥ ८४ ॥

जनस्स धम्मं देसेसि धम्माभिसमयो तहिं ।
वीसतिया सहस्सानं पाणानं आसि, भूमिप! ॥ ८५ ॥

यहाँ बैठकर उस लोकनायक ने जो धर्मोपदेश किया उसके प्रभाव से चालीस हजार लोगों को स्रोत आपत्तिमार्ग फल प्राप्त हो गया ॥ ७५ ॥

बुद्ध ने महातीर्थवन में साधनाभ्यास करते हुए दिन भर बिता कर सायङ्काल बोधिवृक्ष के लिये उपयुक्त स्थान खोज कर समाधिस्थ हो गये, वहाँ उन्होंने द्वीपवासियों के हित में सोचा ॥ ७६-७७ ॥

"मेरे शिरीष बोधिवृक्ष की दक्षिण शाखा लेकर रुचानन्दा भिक्षुणी यहाँ आ जाय" ॥ ७८ ॥

ऋद्धिबलसम्पन्न उस रुचानन्द भिक्षुणी ने, भगवान् के मन की बात स्वचित्त से जानकर, राजा क्षेम को साथ ले जाकर, उस बोधिवृक्ष के पास जाकर ॥ ७९ ॥

उसकी दक्षिण शाखा को मैनशिल के चिह्न से काटकर सुवर्णकटाह में रख कर ॥ ८० ॥

ऋद्धिबल से उसने पाँच सौ भिक्षुणियों के साथ वह बोधिवृक्ष यहाँ लाकर सम्बुद्ध द्वारा फैलाये ॥ ८१ ॥

दाहिने हाथ पर उसे सुवर्णकटाहसहित रख दिया । तथागत ने उस बोधिवृक्ष को लेकर ॥ ८२ ॥

अभय राजा को इसलिये दिया कि वह उसे वहीं प्रतिष्ठित कर दे । राजा ने उसको लाकर महातीर्थ उद्यान में प्रतिष्ठित कर दिया ॥ ८३ ॥

तब तथागत सम्बुद्ध ने यहाँ से उत्तर चल कर, रमणीय शिरीषमालक में विराजमान होकर ॥ ८४ ॥

धर्मजिज्ञासु श्रोताओं को धर्मोपदेश किया । उस धर्मोपदेश के प्रताप से बीस हजार (२०.०००) प्राणियों को मार्ग-फल की प्राप्ति हुई ॥ ८५ ॥

ततो पि उत्तरं गन्त्वा भूपाराममहिं जिनो ।
निसिन्नो तत्थ अप्पेत्वा समाधिं वुट्टितो ततो ॥ ८६ ॥

धम्मं देसेसि सम्बुद्धो परिसाय, तहिं पन ।
दस पाणसहस्सानि पत्तमग्गफलान्हुं ॥ ८७ ॥

अत्तनो धम्मकरकं मनुस्सानं नमस्सितुं ।
दत्वा सपरिवारं तं ठपेत्वा इध भिक्खुनिं ॥ ८८ ॥

सह भिक्खुसहस्सेन महादेवं च सावकं ।
ठपेत्वा इध सम्बुद्धो ततो पाचीनतो पन ॥ ८९ ॥

ठितो रतनमालम्हि जनं समनुसासिय ।
ससङ्घो नभमुग्गन्त्वा जम्बुदीपं जिनो अगा ॥ ९० ॥ (क)

इमम्हि कप्पे दुतियं कोणागमननायको ।
अहु सब्बविदू सत्था सब्बलोकानुकम्पको ॥ ९१ ॥

महानोमव्हयं आसि महामेघवनं इदं ।
वड्ढमानपुरं नाम दक्खिणाय दिसायहु ॥ ९२ ॥

समिद्धो नामनामेन तत्थ राजा तदा अहु ।
नामेन वरदीपो ति अयं दीपो तदा अहु ॥ ९३ ॥

[W.G.119] दुब्बुट्ठुपद्दवो एत्थ वरदीपे तदा अहु ।
जिनो स कोणागमनो दिस्वान तं उपद्दवं ॥ ९४ ॥

तं हन्त्वा सत्तविनयं पवत्तिं सासनस्स च ।
कातुं इमस्मिं दीपस्मिं करुणाबलचोदितो ॥ ९५ ॥

तिंस भिक्खुसहस्सेहि तादीहि परिवारितो ।
नभसागम्म अट्ठासि नगे सुमनकूटके ॥ ९६ ॥

फिर भगवान् उससे भी उत्तर स्तूपाराम में जाकर वहाँ समाधिस्थ हुए । वहाँ भी समाधिसे उठकर ॥ ८६ ॥

उन्होंने जनता को धर्मोपदेश किया । वहाँ भी दस हजार (१०,०००) प्राणियों को स्रोतआपत्ति मार्ग-फल की प्राप्ति हुई ॥ ८७ ॥

वहाँ के मनुष्यों को पूजा के लिये अपना जलपात्र (धम्मकरक, कमण्डलु) देकर तथा धर्मोपदेश हेतु पाँच सौ भिक्षुणियों सहित रुचानन्दा भिक्षुणी को वहीं ठहरा कर ॥ ८८ ॥

तथा एक हजार भिक्षुओं को एवं अपने प्रधान श्रावक महादेव को वहीं छोड़ कर, सम्बुद्ध ने ॥ ८९ ॥

रतनमालक में ठहर कर जनता को धर्मोपदेश करने के बाद सङ्घसहित, आकाशमार्ग से जम्बुद्वीप की तरफ प्रयाण किया ॥ ९० ॥ (क)

२. कोणागमन बुद्ध : इसी कल्प में कोणागमन नामक बुद्ध हुए, जो सर्वज्ञ एवं सर्वलोक हितानुकम्पी थे ॥ ९१ ॥

उस समय यही महामेघवन 'महानोम' कहलाता था । इसकी दक्षिण दिशा में वर्धमानपुर बसा हुआ था ॥ ९२ ॥

उस समय यहाँ समृद्ध नामक राजा राज्य करता था । और यह द्वीप 'वरदीप' नाम से विख्यात था ॥ ९३ ॥

उस समय इस द्वीप पर दुर्वृष्टि नामक उपद्रव (महामारी) हुआ । उन कोणागमन बुद्ध ने उस उपद्रव को जान-समझ कर ॥ ९४ ॥

वे उस की शान्ति के लिये, प्राणियों के कष्ट निवारण हेतु तथा धर्मस्थापन के लिए ॥ ९५ ॥

करुणापूर्ण हृदय से तीस हजार अर्हतों सहित आकाशमार्ग से यहाँ आकर सुमनकूट पर्वत पर उतरे ॥ ९६ ॥

सम्बुद्धस्सानुभावेन दुब्बुट्ठि सा खयं अगा ।
सासनन्तरधानत्ता सुवुट्ठि च तदा अहु ॥ ९७ ॥

तत्थ ठितो अधिट्ठासि, नरिस्सर, मुनिस्सरो ।
"सब्बे मं अज्ज पस्सन्तु वरदीपम्हि मानुसा ॥ ९८ ॥

आगन्तुकामा सब्बे व मनुस्सा मम सन्तिकं ।
आगच्छन्तु अकिच्छेन खिप्पं चा" ति महामुनि ॥ ९९ ॥

ओभासन्तं मुनिन्दं तं ओभासन्तं च पब्बतं ।
राजा च नागरा चेव दिस्वा खिप्पं उपगमुं ॥ १०० ॥

देवताबलिदानत्थं मनुस्सा च तहिं गता ।
'देवता' इति मञ्ञिसु ससङ्घं लोकनायकं ॥ १०१ ॥

राजा सो मुनिराजं तं अतिहट्ठोभिवादिय ।
निमन्तयित्वा भत्तेन आनेत्वा पुरसन्तिकं ॥ १०२ ॥

"ससङ्घस्स मुनिन्दस्स निसज्जारहमुत्तमं ।
रमणीयमिदं ठानं असम्बाधं" ति चिन्तिय ॥ १०३ ॥

कारिते मण्डपे रम्मे पल्लङ्केसु वरेसु तं ।
निसीदापेसि सम्बुद्धं ससङ्घं इध भूपति ॥ १०४ ॥

निसिन्नं इध पस्सन्ता ससङ्घं लोकनायकं ।
दीपे मनुस्सा आनेसुं पण्णाकारे समन्ततो ॥ १०५ ॥

[W.G.120] अत्तनो खज्ज-भोज्जेहि तेहि तेहाभतेहि च ।
सन्तप्पेसि ससङ्घं तं राजा सो लोकनायकं ॥ १०६ ॥

इधेव पच्छाभत्तं तं निसिन्नस्स जिनस्स सो ।
महानोमकमुय्यानं राजादा दक्खिणं वरं ॥ १०७ ॥

उन भगवान् की कृपा से (उनके आते ही) वह दुर्वृष्टि उपद्रव सर्वथा शान्त हो गया। और जब तक लङ्का द्वीप में धर्मशासन बना रहा तब तक वृष्टि अच्छी तरह होती रही ॥ ९७ ॥

वहाँ विराज कर उस नरश्रेष्ठ मुनीश्वर ने अधिष्ठान किया–"इस द्वीप के वासी सभी जन आज मेरे दर्शनहेतु यहाँ आवें ॥ ९८ ॥

"जो भी मेरे पास आना चाहें वे विना किसी बाधा के मुझ तक शीघ्र ही पहुँचे" ॥ ९९ ॥

तब तेजोमय मुनीन्द्र एवं तेजःसम्पन्न पर्वत को देखकर वहाँ के नागरिक तथा राजा शीघ्र ही वहाँ आये ॥ १०० ॥

उन्होंने सङ्घसहित लोकनायक बुद्ध को कोई देवता समझ कर उन्हें बलिप्रदान करने हेतु वे वहाँ पहुँचे ॥ १०१ ॥

राजा उस मुनिराज को सहर्ष अभिवादन कर भोजन के लिये आमन्त्रित कर उन्हें नगर के समीप ले आया ॥ १०२ ॥

तथा "ससङ्घ मुनीन्द्र को ठहराने का उचित, रमणीय एवं निर्विघ्न स्थान यह होगा"–यह विचार कर ॥ १०३ ॥

राजा ने वहाँ सुन्दर तम्बू (मण्डप) तनवा कर उसमें अच्छे अच्छे आसन विछवा कर सङ्घसहित भगवान् को यहाँ ठहराया ॥ १०४ ॥

भगवान् को ससङ्घ यहाँ ठहरा हुआ जान कर द्वीपवासी मनुष्य चारों तरफ से अनेक तरह की भेंट लाने लगे ॥ १०५ ॥

यहाँ-वहाँ से लायी गयी अपनी अपनी खाद्य भोज्य सामग्री राजा ने उस लोकनायक को अपने हाथ से परोस कर सन्तुष्ट एवं सन्तृप्त किया ॥ १०६ ॥

भोजन के बाद सुखासीन सम्बुद्ध को राजा ने वह श्रेष्ठ महानोमवन दक्षिणा में दे दिया ॥ १०७ ॥

अकालपुप्फालङ्कारे महानोमवने तदा ।
पटिग्गहीते बुद्धेन अकम्पित्थ महामही ॥ १०८ ॥

एत्थेव सो निसीदित्वा धम्मं देसेसि नायको ।
तदा तिंससहस्सानि पत्ता मग्गफलं नरा ॥ १०९ ॥

दिवाविहारं कत्वान महानोमवने जिनो ।
सायन्हमसये गन्त्वा पुब्बबोधिट्ठितं महिं ॥ ११० ॥

निसिन्नो तत्थ अप्पेत्वा समाधिं वुट्ठितो ततो ।
इति चिन्तेसि सम्बुद्धो हितत्थं दीपवासिनं ॥ १११ ॥

"आदाय दक्खिणं साखं ममोदुम्बरबोधितो ।
आयातु कण्टकानन्दा भिक्खुणी सहभिक्खुणी" ॥ ११२ ॥

तस्स तं चित्तमञ्ञाय सा थेरी तदनन्तरं ।
गहेत्वा तत्थ राजानं उपसङ्कम्म तं तरुं ॥ ११३ ॥

लेखं दक्खिणसाखाय दापेत्वान महिद्धिका ।
मनोसिलाय छिन्नं तं ठितं हेमकटाहके ॥ ११४ ॥

इद्धिया बोधिमादाय सा पञ्चसतभिक्खुनी ।
इधागन्त्वा, महाराज, देवतापरिवारिता ॥ ११५ ॥

ससुवण्णकटाहं तं सम्बुद्धेन पसारिते ।
ठपेसि दक्खिणे हत्थे, तं गहेत्वा तथागतो ॥ ११६ ॥

पतिट्ठपेतुं सो रञ्ञो दा समिद्धस्स तं तहिं ।
महानोमम्हि उय्याने पतिट्ठापेसि भूपति ॥ ११७ ॥

[W.G.121] ततो गन्त्वान सम्बुद्धो सिरीसमालकुत्तरे ।
जनस्स धम्मं देसेसि निसिन्नो नागमालके ॥ ११८ ॥

उस समय विना ऋतु के फूले पुष्पों से शोभित उस वन का भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिग्रहण करते ही पृथ्वी काँप उठी ॥ १०८ ॥

यहाँ विराजते हुए बुद्ध ने जनता को धर्मोपदेश किया । उस उपदेश के प्रभाव से तीस हजार (३०,०००) जनता को स्रोतआपत्तिमार्ग-फल प्राप्त हुआ ॥ १०९ ॥

भगवान् समग्र दिन महानोम वन में साधना करते हुए, सायङ्काल, जहाँ पहले बोधिवृक्ष था, उसी स्थान पर समाधिस्थ हुए ॥ ११० ॥

फिर समाधि से उठकर उन्होंने द्वीपवासियों के हित में सोचा– ॥ १११ ॥

"मेरे उदुम्बर (गूलर) बोधि वृक्ष की दक्षिण शाखा लेकर कण्टकानन्दा नामक की भिक्षुणी अपनी सहचारिणी भिक्षुणियों के साथ यहाँ आ जाय" ॥ ११२ ॥

उस स्थविर भिक्षुणी ने भगवान् के चित्त की बात स्वचित्त से जानकर राजा को लेकर उस बोधि वृक्ष के पास जाकर ॥ ११३ ॥

उसकी दक्षिण शाखा पर मैनशिल से रेखा खींच कर उसे काट कर सुवर्ण कटाह में रखकर ॥ ११४ ॥

महाराज ! स्वऋद्धिबल से अपनी सहचारिणी भिक्षुणियों के साथ उस शाखा को लेकर देवताओं से रक्षित उस भिक्षुणी ने यहाँ आकर ॥ ११५ ॥

सुवर्ण कटाह सहित उस शाखा को भगवान् के पसारे हुए दक्षिण हाथ पर रख दिया । भगवान् ने उस को लेकर ॥ ११६ ॥

राजा समृद्ध को वहाँ आरोपणहेतु सौंप दिया । राजा ने भी उसको महानोम उद्यान में आरोपित कर दिया ॥ ११७ ॥

तब सम्बुद्ध ने शिरीषमालक के उत्तर नागमालक पर बैठकर जनता को धर्मोपदेश किया ॥ ११८ ॥

तं धम्मदेसनं सुत्वा धम्माभिसमयो तहिं ।
बीसतिया सहस्सानं पाणानं आसि भूपति ॥ ११९ ॥

पुब्बबुद्धनिसिन्नं तं ठानं गन्त्वा पनुत्तरं ।
निसिन्नो तत्थ अप्पेत्वा समाधिं वुट्ठितो ततो ॥ १२० ॥

धम्मं देसेसि सम्बुद्धो परिसाय, तहिं पन ।
दस पाणसहस्सानि पत्तमग्गफलान्हुं ॥ १२१ ॥

कायबन्धनधातुं सो मनुस्सेहि नमस्सितुं ।
दत्वा, सपरिवारं तं ठपेत्वा इध भिक्खुनिं ॥ १२२ ॥

सह भिक्खुसहस्सेन महासुम्बं च सावकं ।
ठपेत्वा इध सम्बुद्धो ओरं रतनमालतो ॥ १२३ ॥

ठत्वा सुदस्सने माले जनं समनुसासिय ।
ससङ्घो नभमुग्गन्त्वा जम्बुदीपं जनो अगा ॥ १२४ ॥ (ख)

इमम्हि कप्पे ततियं कस्सपो गोत्ततो जिनो ।
अहु सब्बविदू सत्था सब्बलोकानुकम्पको ॥ १२५ ॥

महामेघवनं आसि महासागरनामकं ।
विसालं नाम नगरं पच्छिमाय दिसायहु ॥ १२६ ॥

जयन्तो नाम नामेन तत्थ राजा तदा अहु ।
नामेन 'मण्डदीपो' ति अयं दीपो तदा अहु ॥ १२७ ॥

तदा जयन्तरञ्ञो च रञ्ञो कनिट्ठभातु च ।
युद्धं उपट्ठितं आसि भिंसनं सत्तहिंसनं ॥ १२८ ॥

[W.G.122] कस्सपो सो दसबलो तेन युद्धेन पाणिनं ।
महन्तं ब्यसनं दिस्वा महाकारुणिको मुनि १२९ ॥

उस धर्मोपदेश को सुनकर वहाँ बीस हजार (२०,०००) प्राणियों को धर्माभिसमय (धर्मज्ञान) हुआ ॥ ११९ ॥

यहाँ से उत्तर की तरफ भगवान् उस स्थान पर गये, जहाँ कभी पूर्वबुद्ध भी विराजमान हुए थे, वहाँ समाधिस्थ हुए । समाधि से उठाकर ॥ १२० ॥

सम्बुद्ध ने जनसमूह को धर्म-देशना की । उसके प्रभाव से दश हजार प्राणियों ने स्रोतआपत्तिमार्ग फल प्राप्त किया ॥ १२१ ॥

तथा वहाँ की जनता को पूजा-अर्चना के लिये अपना कायबन्धन देकर तथा उस कण्टकनन्दा भिक्षुणी को अन्य भिक्षुणियों तथा अपने श्रावक महासुम्ब एवं एक सहस्र भिक्षुओं के साथ वहीं (धर्मप्रचार हेतु) छोड़कर रत्नमाल से उतर कर ॥ १२२-१२३ ॥

सुदर्शनमाल पर ठहर कर वहाँ की जनता को धर्मानुशासन करते हुए सङ्घ सहित पुनः आकाशमार्ग से जम्बुद्वीप में चले आये ॥ १२४ ॥ (ख)

३. काश्यप बुद्ध : इसी कल्प में तीसरे बुद्ध हुए जो गोत्र से काश्यप कहलाते थे, जो सर्वज्ञ भी थे और सर्वलोकहितैषी भी थे ॥ १२५ ॥

उस समय इस महामेघवन का नाम महासागर था, और पश्चिम दिशा में विशाल नामक नगर था ॥ १२६ ॥

उस नगर के राजा का नाम था जयन्त । और इस द्वीप का नाम था मण्डद्वीप ॥ १२७ ॥

उस समय किसी कारण राजा जयन्त का उसके छोटे भाई से भयङ्कर युद्ध छिड़ गया । वह ऐसा भयङ्कर युद्ध था कि जिसमें बहुत से प्राणियों की हत्या हो रही थी ॥ १२८ ॥

उन महाकारुणिक काश्यप बुद्ध ने उस युद्ध में प्राणि-हिंसा का भयङ्कर सङ्कट देख कर ॥ १२९ ॥

तं हन्त्वा सत्तविनयं पवत्तिं सासनस्स च ।
कातुं इमस्मिं दीपस्मिं करुणाबलचोदितो ॥ १३० ॥

वीसतिया सहस्सेहि तादीहि परिवत्तितो ।
नभसागम्म अट्ठासि सुभकूटम्हि पब्बते ॥ १३१ ॥

तत्थ ट्ठितो अधिट्ठासि, नरिस्सर, मुनिस्सरो ।
"सब्बे मं अज्ज पस्सन्तु मण्डदीपम्हि मानुसा ॥ १३२ ॥

आगन्तुकामा सब्बे व मनुस्सा मम सन्तिकं ।
आगच्छन्तु अकिच्छेन खिप्पं चा" ति महामुनि ॥ १३३ ॥

ओभासन्तं मुनिन्दं तं ओभासेन्तं च पब्बतं ।
राजा च नागरा चेव दिस्वा खिप्पमुपागमं ॥ १३४ ॥

अत्तनो अत्तनो पत्तविजयाय जना बहू ।
देवता बलिदानत्थं तं पब्बतमुपागता ॥ १३५ ॥

'देवता' इति मञ्ञिसु ससङ्घं लोकनायकं ।
राजा च सो कुमारो च युद्धं उज्झिसु विम्हिता ॥ १३६ ॥

राजा सो मुनिराजं तं अतिहट्ठोभिवादिय ।
निमन्तयित्वा भत्तेन आनेत्वा पुरसन्तिकं ॥ १३७ ॥

"ससङ्घस्स मुनिन्दस्स निसज्जारहमुत्तमं ।
रमणीयमिदं ठानं असम्बाधं" ति चिन्तिय ॥ १३८ ॥

कारिते मण्डपे रम्मे पल्लङ्केसु वरेसु तं ।
निसीदापेसि सम्बुद्धं ससङ्घमिध भूपति ॥ १३९ ॥

निसिन्नं इध पस्सन्ता ससङ्घं लोकनायकं ।
दीपे मनुस्सा आनेसुं पण्णाकारे समन्ततो ॥ १४० ॥

वे प्राणियों के कष्ट-निवारण हेतु तथा धर्मसंस्थापन हेतु एवं करुणा भाव से प्रेरित होते हुए इस द्वीप में ॥ १३० ॥

बीस हजार (२०,०००) क्षीणास्रव भिक्षुओं से घिरे हुए सुमनकूट पर्वत पर आकाशमार्ग से आकर विराजे ॥ १३१ ॥

वहाँ विराज कर उन्होंने अपने चित्त में अधिष्ठान किया–"इस मण्डद्वीप वासी सभी मनुष्य आज मेरे दर्शन हेतु यहाँ आवें ॥ १३२ ॥

"जो भी मनुष्य मेरे दर्शन की इच्छा से यहाँ आना चाहते हो वे निर्विघ्न रूप से शीघ्र ही मेरे पास आवें" ॥ १३३ ॥

तब उन तेजोमय मुनीन्द्र (बुद्ध) एवं तेजःसम्पन्न पर्वत को देखकर वहाँ के राजा एवं नागरिक शीघ्रता से वहाँ पहुँचे ॥ १३४ ॥

अपनी अपनी विजय-प्राप्ति की कामना के लिये बहुत से लोग देवता को बलि चढ़ाने हेतु उस पर्वत पर आये ॥ १३५ ॥

उन सङ्घसहित लोकनायक को देवता समझकर राजा और कुमार ने विस्मित भाव से युद्ध छोड़ दिया ॥ १३६ ॥

अतिप्रसन्न हो कर राजा ने मुनिराज को प्रणाम कर सङ्घसहित उन्हें भोजन के लिये निमन्त्रित कर नगर के समीप ठहराया ॥ १३७ ॥

"सङ्घसहित मुनीन्द्र के वास के लिये यह (दक्षिणोद्यान) उत्तम स्थान है, यह रमणीय भी है तथा शान्त भी।"– ऐसा सोच कर ॥ १३८ ॥

वहाँ रम्य मण्डप (तम्बू) बनवाकर अच्छे अच्छे आसन बिछाकर राजा ने ससङ्घ बुद्ध को यहाँ ठहराया ॥ १३९

भगवान् को यहाँ विराजमान हुआ देखकर द्वीपवासी जन चारों तरफ से यथायोग्य भेंट लाये ॥ १४० ॥

अत्तनो खज्जभोज्जेहि तेहि तेहाभतेहि च ।
सन्तप्पेसि ससङ्घं तं राजा सो लोकनायकं ॥ १४१ ॥

[W.G.123] इधेव पच्छाभत्तं तं निसिन्नस्स जिनस्स तु ।
महासागरमुय्यानं राजा दा दक्खिणं वरं ॥ १४२ ॥

अकालपुप्फालङ्कारे महासागरकानने ।
परिग्गहीते बुद्धेन अकम्पित्थ महामही ॥ १४३ ॥

एत्थेव सो निसीदेत्वा धम्मं देसेसि नायको ।
तदा वीससहस्सानि पत्ता मग्गफलं नरा ॥ १४४ ॥

दिवाविहारं कत्वान महासागरकानने ।
सायन्हे सुगतो गन्त्वा पुब्बबोधिट्ठितं महिं ॥ १४५ ॥

निसिन्नो तत्थ अप्पेत्वा समाधिं वुट्ठितो ततो ।
इति चिन्तेसि सम्बुद्धो हितत्थं दीपवासिनं ॥ १४६ ॥

"आदाय दक्खिणं साखं मम निग्रोधबोधितो ।
सुधम्मा भिक्खुणी एतु इदानि सहभिक्खुनी" ॥ १४७ ॥

तस्स तं चित्तमञ्ञाय सा थेरी तदनन्तरं ।
गहेत्वा तत्थ राजानं उपसङ्कम्म तं तरुं ॥ १४८ ॥

लेखं दक्खिणसाखाय दापेत्वान महिद्धिका ।
मनोसिलाय छिन्नं तं ठितं हेमकटाहके ॥ १४९ ॥

इद्धिया बोधिमादाय सा पञ्चसतभिक्खुणी ।
इधानेत्वा, महाराज! देवतापरिवारिता ॥ १५० ॥

ससुवण्णकटाहं तं सम्बुद्धेन पसारिते ।
ठपेसि दक्खिणे हत्थे, तं गहेत्वा तथागतो ॥ १५१ ॥

तथा लाये गये खाद्य-भोज्य पदार्थों से राजा ने सङ्घसहित लोकनायक को अपने हाथ से परोस कर सन्तुष्ट एवं सन्तृप्त किया ॥ १४१ ॥

भोजन करने के बाद सुखासीन भगवान् को राजा ने यह श्रेष्ठ दक्षिणोद्यान (महासागरकाननोद्यान) वास के लिये दान कर दिया ॥ १४२ ॥

भगवान् द्वारा विना ऋतु के खिले पुष्पों से सुशोभित महासागरकाननोद्यान के ग्रहण करते ही, यह पृथ्वी उठी ॥ १४३ ॥

बाद में यहीं बैठ कर दर्शनार्थ आयी जनता को धर्मोपदेश किया । उस उपदेश के प्रभाव से बीस हजार (२०,०००) जनता को स्रोतआपत्ति-मार्गफल प्राप्त हुआ ॥ १४४ ॥

वे दिवाविहार करते हुए, सायङ्काल महासागरकाननोद्यान में पूर्वबोधिवृक्ष के स्थान पर समाधिस्थ हुए ॥ १४५ ॥

बाद में समाधि से उठकर भगवान् ने द्वीपवासियों के हित में यों विचार किया– ॥ १४६ ॥

"मेरे न्यग्रोध बोधिवृक्ष की दक्षिण शाखा लेकर सुधर्मा भिक्षुणी अपनी सहचर भिक्षुणियों के साथ यहाँ आ जाय" ॥ १४७ ॥

उसके बाद, उन भगवान् के चित्त का चिन्तन सुधर्मा भिक्षुणी ने स्वचित्त से जान कर राजा को साथ लेकर उस बोधिवृक्ष के पास गयी ॥ १४८ ॥

वहाँ उस महर्धिसम्पन्ना ने दक्षिण शाखा पर मैनशिल से रेखा खींच कर काट कर उसे सुवर्णकटाह में रख कर ॥ १४९ ॥

महाराज! अपने ऋद्धिबल से पाँच सौ भिक्षुणियों के साथ उस न्यग्रोध बोधिशाखा को यहाँ लाकर, देवताओं से रक्षित ॥ १५० ॥

उस सुवर्ण कटाह को भगवान् के पसारे दक्षिण हाथ पर रख दिया । तथागत ने उसको लेकर ॥ १५१ ॥

पतिट्ठपेतुं रञ्ञो दा जयन्तस्स, स तं तहिं ।
महासागर-उय्याने पतिट्ठापेसि भूपति ॥ १५२ ॥

ततो गन्त्वान सम्बुद्धो नागमालकउत्तरे ।
जनस्स धम्मं देसेसि निसिन्नो सोकमालके ॥ १५३ ॥

तं धम्मदेसनं सुत्वा धम्माभिसमयो अहुं ।
अहु पाणसहस्सानं चतुन्नं, मनुजाधिप ! ॥ १५४ ॥

[W.G.124] पुब्बबुद्धनिसिन्नं तं ठानं गन्त्वा पनुत्तरं ।
निसिन्नो तत्थ अप्पेत्वा समाधिं वुट्ठितो ततो ॥ १५५ ॥

धम्मं देसेसि सम्बुद्धो परिसाय, तहिं पन ।
दस पाणसहस्सानि पत्तमग्गफलानहुं ॥ १५६ ॥

जलसाटिकधातुं सो मनुस्सेहि नमस्सितुं ।
दत्वा सपरिवारं तं ठपेत्वा इध भिक्खुणिं ॥ १५७ ॥

सह भिक्खुसहस्सं च सब्बनन्दं च सावकं ।
ठपेत्वा नदितो ओरं सो सुदस्सनमालतो ॥ १५८ ॥

सोमनस्से मालकस्मिं जनं समनुसासिय ।
ससङ्घो नभमुग्गन्त्वा जम्बुदीपं जिनो अगा ॥ १५९ ॥ (ग)

अहु इमस्मिं कप्पस्मिं चतुत्थं गोतमो जिनो ।
सब्बधम्मविदू सत्था सब्बलोकानुकम्पको ॥ १६० ॥

पठमं सो इधागन्त्वा यक्खनिद्धमनं अका ।
दुतियं पुनरागम्म नागानं दमनं अका ॥ १६१ ॥

कल्याणियं मणिअक्खिनागेनाभिनिमन्तितो ।
ततियं पुनरागम्म ससङ्घो तत्थ भुञ्जिय ॥ १६२ ॥

जयन्त राजा को उद्यान में रोपणहेतु दे दिया । राजा ने उसको उस महासागर-उद्यान में प्रतिरोपित कर दिया ॥ १५२ ॥

तब सम्बुद्ध ने नागमालक के उत्तर में अशोकमालक पर बैठकर समागत जनता को धर्मोदेश किया ॥ १५३ ॥

राजन् ! उस धर्मोपदेश को सुनकर चार हजार (४,000) जनता को धर्मज्ञान हुआ ॥ १५४ ॥

वे यहाँ से भी आगे उत्तर तरफ, उस स्थान पर जहाँ पूर्व बुद्ध भी विराजमान हुए थे, जाकर समाधिस्थ हुए । उससे उठकर ॥ १५५ ॥

सम्बुद्ध ने जनता को धर्मोपदेश किया । उस धर्मोपदेश के आधार पर दस हजार प्राणियों ने स्रोतआपत्ति-मार्गफल प्राप्त किया ॥ १५६ ॥

वहाँ उन्होंने अपना स्नानवस्त्र (जलशाटिका) मनुष्यों को पूजा-अर्चना के लिये देकर सहचारिणियों सहित भिक्षुणी सुधर्मा को ॥ १५७ ॥

तथा एक हजार शिष्यों सहित अपने शिष्य सर्वनन्द को भी वहीं छोड़कर सुदर्शनमाल से उतर कर सौमनस्य मालक पर मनुष्यों को धर्म में अनुशासित कर सङ्घसहित आकाशमार्ग से पुनः जम्बुद्वीप चले गये ॥ १५९ ॥ (ग)

४. गौतम बुद्ध : इसी कल्प में हुए हमारे गौतम बुद्ध, जो कि सर्वधर्मज्ञ थे, साथ ही सर्वलोकहितैषी शास्ता थे, वे भी यहाँ पधारे थे ॥ १६० ॥

उन्होंने प्रथम बार आकर यक्षों का दमन किया, द्वितीय बार आकर नागों का दमन किया ॥ १६१ ॥

कल्याणीवासी मणिअक्षिक नाग द्वारा अभिनिमन्त्रित हो कर सङ्घसहित यहाँ बैठकर भोजन किया ॥ १६२ ॥

पुब्बबुद्धट्ठितिट्ठानं थूपट्ठानमिदं पि च ।
परिभोगधातुट्ठानं निसज्जायोपभुञ्जिय ॥ १६३ ॥

पुब्बबुद्धठितट्ठाना ओरं गन्त्वा महामुनि ।
लङ्कादीपे लोकदीपो मनुस्साभावतो तदा ॥ १६४ ॥

[W.G.125] दीपट्ठदेवसङ्घं च नागे च अनुसासिय ।
ससङ्घो नभमुग्गन्त्वा जम्बुदीपं जिनो अगा ॥ १६५ ॥ (घ)

एवं ठानमिदं राजा चतुबुद्धनिसेवितं ।
तस्मिं ठाने, महाराज ! थूपो हेस्सति नागते ॥ १६६ ॥

बुद्धसारीरधातूनं दोणधातुनिधानवा ।
वीसरतनसतुच्चो 'हेममाली' ति विस्सुतो" ॥ १६७ ॥

"अहमेव कारापेस्सामि" इच्चाह पथविस्सरो ।
"इधमञ्ञानि किच्चानि बहूनि तव, भूमिप! ॥ १७८ ॥

तानि कारेहि नत्ता ते कारेस्सति इमं पन ।
महानागस्स ते भातु उपराजस्स अत्रजो ॥ १६९ ॥

यट्ठालायकतिस्सो ति राजा हेस्सति नागते ।
राजा गोठाभयो नाम तस्स पुत्तो भविस्सति ॥ १७० ॥

तस्स पुत्तो काकवण्णतिस्सो नाम भविस्सति ।
तस्स रञ्ञो सुतो राजा महाराजा भविस्सति ॥ १७१ ॥

'दुट्ठगामणि' सद्देन पाकटो भयनामको ।
कारेस्सति इध थूपं महातेजिद्धिविक्कमो" ॥ १७२ ॥

इच्चाह थेरो, थेरस्स वचनेनिध, भूपति ।
उस्सापेसि सिलाथम्भं तं पवत्तिं लिखापिय ॥ १७३ ॥

तथा पूर्वबुद्ध के बोधिस्थान, इस स्तूप-स्थान एवं परिभोगधातुस्थान पर विराजे, इनका (समाधि आदि साधनाओं में) उपयोग किया ॥ १६३ ॥

पूर्वबुद्ध-स्थितिस्थान से आगे जाकर लोकप्रकाशक महामुनि ने लङ्काद्वीप में, मनुष्यों का अभाव होने से नागों और देवताओं को धर्मोपदेश किया ॥ १६४ ॥

फिर सङ्घसहित महामुनि आकाशमार्ग से चल कर जम्बुद्वीप पुनः लौट आये ॥ १६५ ॥ (घ)

अन्तःकथा समाप्त ॥

इस तरह, राजन् ! यह स्थान पूर्व के चार बुद्धों द्वारा उपभुक्त (सेवित) हैं । उस काल की तरह भविष्यत्काल में भी स्तूप बनेगा ॥ १६६ ॥

इसी स्थान पर भविष्य में बुद्धशरीर की द्रोण भर धातु (अस्थिभस्म) से पूर्ण, एक सौ बीस (१२०) रत्न (हाथ) ऊँचा 'हेममाली' नामक स्तूप बनेगा" ॥ १६७ ॥

तब उस पृथ्वीपति ने प्रमुदित होकर कहा–"तब तो मैं ही इस स्तूप को बनवाऊँगा" ॥

"राजन् ! तुम्हारे लिये यहाँ अन्य बहुत से कार्य करने अवशिष्ट है ॥ १६८ ॥

"उन्हें तुम पूर्ण करो । इसे तुम्हारा नाती पुत्र बनवायगा । जो तेरे भाई महानाग का पुत्र होगा ॥ १६९ ॥

उस आगे होने वाले उस राजा का नाम होगा यट्ठालायक । और उस का पुत्र होगा गोठाभय ॥ १७० ॥

उसके पुत्र का नाम होगा–काकवर्ण तिष्य । उसका जो पुत्र राजा बनेगा वह 'महाराज' कहलायेगा ॥ १७१ ॥

वह 'दुष्टग्रामणी अभय' नाम से लोक में प्रसिद्ध होगा । वही महान् तेज, ऋद्धिबल एवं पराक्रम से पूर्ण राजा इस स्तूप का निर्माण करायगा" ॥ १७२ ॥

स्थविर ने यह कहा । राजा ने स्थविर के इस वचन को प्रमाण मान कर यह सब (वंशावलि) यहाँ एक शिलास्तम्भ बनवाकर उस पर उत्कीर्ण करा दी ॥ १७३ ॥

महामेघवनं रम्मं तिस्सारामं महामति ।
महामहिन्दथेरो सो पटिग्गय्ह महिद्धिको ॥ १७४ ॥

[W.G.126] अकम्पो कम्पयित्वान महिं ठानेसु अट्ठसु ।
पिण्डाय पविसित्वान नगरं सागरूपमं ॥ १७५ ॥

रञ्ञो घरे भत्तकिच्चं कत्वा निक्खम्म मन्दिरा ।
निसज्ज नन्दनवने अग्गिक्खन्धोपमं तहिं ॥ १७६ ॥

सुत्तं जनस्स देसेत्वा सहस्समानुसे तहिं ।
पापयित्वा मग्गफलं महामेघवने वसि ॥ १७७ ॥

ततिये दिवसे थेरो राजगेहम्हि भुञ्जिय ।
निसज्ज नन्दनवने देसियासिविसूपमं ॥ १७८ ॥

पापयित्वाभिसमयं सहस्सपुरिसे ततो ।
तिस्सारामं अगा थेरो राजा च सुतदेसनो ॥ १७९ ॥

थेरं उपनिसीदित्वा, सो पुच्छि "जिनसासनं ।
पतिट्ठितं नु खो, भन्ते?" ति "न ताव, मनुजाधिप" ॥ १८० ॥

उपोसथादिकम्मत्थं जिनाणाय जनाधिप! ।
सीमाय इत बद्धाय पतिट्ठिस्सिति सासनं" ॥ १८१ ॥

इच्चब्रवि महाथेरो, तं राजा इदमब्रवि ।
"सम्बुद्धाणाय अन्तेहि वसिस्सामि जुतिन्धर! ॥ १८२ ॥

तस्मा कत्वा पुरं अन्तो सीमं बन्धथ सज्जुकं" ।
इच्च ब्रवि, महाराजा, थेरो तमिदमब्रवि ॥ १८३ ॥

"एवं सति तुवं येव पजान पथविस्सर! ।
सीमाय गमनट्ठानं बन्धिस्साम मयं हि तं" ॥ १८४ ॥

जब ऋद्धिसम्पन्न महाबुद्धि महेन्द्र स्थविर ने रम्य महामेघवन में बने तिष्याराम का प्रतिग्रहण किया ॥ १७४ ॥

तब यह महापृथ्वी आठ स्थानों से काँपने लगी । (१) तब महामुनि ने भिक्षाचार हेतु उस विशाल सागरतुल्य नगर में प्रवेश किया ॥ १७५ ॥

चलते-चलते, राजा के महल में प्रवेश कर, भिक्षाकर्म कर, महल से निकल कर, नन्दनवन में बैठकर **अग्निस्कन्धोपमसूत्र** (सं० नि० निदा०, सं० २) का उपदेश किया ॥ १७६ ॥

स्थविर ने ज्यों ही उस सूत्र का उपदेश किया त्यों ही, वहाँ उपस्थित जनता में से एक हजार (१000) प्राणियों को मार्ग फल प्राप्त हुआ, फिर वे महामेघवन में जाकर ठहरे ॥ १७७ ॥

तीसरे दिन, स्थविर ने राजगृह में प्रवेश कर वहाँ भोजन करने के बाद, नन्दन वन में बैठकर **आशीविषोपम सूत्र** (   ) का उपदेश किया ॥ १७८ ॥

उसके प्रताप से वहाँ बैठी जनता में से एक हजार प्रणियों को धर्मचक्षु उद्भूत हुआ तब स्थविर तिष्याराम पहुँचे । वहाँ बैठे राजा ने धर्मोपदेश सुनने के बाद ॥ १७९ ॥

स्थविर से पूछा—"भन्ते ! अब तो (लङ्का द्वीप में) बुद्धशासन स्थिर हो गया ? (क्या अभी हमारा और कोई कर्तव्य अवशिष्ट है?)" । स्थविर ने कहा—"नहीं, राजन् ! बुद्धवचन के अनुसार उपोसथादि कर्म की पूर्ति हेतु सीमा बाँध दिये जाने पर ही शासन में स्थिरता आ पायेगी" ॥ १८0-१८१ ॥

स्थविर द्वारा ऐसा कहे जाने पर, राजा ने उनसे पुनः निवेदन किया—"हे द्युतिधर! मैं बुद्धादेश को पूर्ति में सर्वथा सहायक रहूँगा ॥ १८२ ॥

सीमाबन्धन—अतः आप नगर को सीमा में रख कर शीघ्र ही सीमा बन्धन कर दें ।" राजा ने यह कहा । इसके उत्तर में स्थविर बोले— ॥ १८३ ॥

"तब तो, राजन् ! तुम ही प्रमाण हो । तुम जो सीमा-बाँध दोगे उसे हम स्वीकृति दे देंगे" ॥ १८४ ॥

"साधू" ति वत्वा भूमिन्दो देविन्दो विय नन्दना ।
महामेघवनुय्यानारामा पाविसि मन्दिरं ॥ १८५ ॥ (३)

चतुत्थे दिवसे थेरो रञ्ञो गेहम्हि भुञ्जिय ।
निसज्ज नन्दनवने देसेस्सनमतग्गियं ॥ १८६ ॥

[W.G.127] पायेत्वामतपानं सो सहस्समानुसे तहिं ।
महामेघवनारामं महाथेरो उपागमि ॥ १८७ ॥

पातो भरिं चरापेत्वा भण्डयित्वा पुरं वरं ।
विहारगामिमग्गं च विहारं च समन्ततो ॥ १८८ ॥

रथेसभो रथट्ठो सो सब्बालङ्कारभूसितो ।
सहामच्चो सहोरोधो सयोग्यबलवाहनो ॥ १८९ ॥

महता परिवारेन सकाराममुपागमि ।
तत्थ थेरे उपागन्त्वा वन्दित्वा वन्दनारहे ॥ १९० ॥

पटितित्थकं कारयन्तो कादम्बनदिया व सो ।
सीतवट्टिं कुरुमानो नदिं पत्वा समापयि ॥ १९१ ॥

रञ्ञा दिन्नाय सीताय निमित्ते परिकित्तिय ।
द्वत्तिंसमालकत्थं च थूपारामत्थमेव च ॥ १९२ ॥

निमित्ते कित्तयित्वान महाथेरो महामति ।
सीमन्तरनिमित्ते च कित्तयित्वा यथाविधि ॥ १९३ ॥

अबन्धि सब्बसीमायो तस्मिंयेव दिने वसि ।
महामही अकम्पित्थ सीमाबन्धे समापिते ॥ १९४ ॥ (४)

पञ्चमे दिवसे थेरो रञ्ञो गेहम्हि भुञ्जिय ।
निसज्ज नन्दनवने सुत्तन्तं खज्जनीयकं ॥ १९५ ॥

"ठीक है, भन्ते! कहकर राजा मेघवन से निकल कर उसी तरह अपने प्रासाद में चला गया, मानो देवेन्द्र शक्र नन्दनवन से निकल कर अपने प्रासाद में गये हों ।। १८५ ।। (३)

चौथे दिन स्थविर ने राजा प्रसाद में भिक्षाकर्म कर, नन्दनवन में विराज कर **अनमतग्गियसूत्र** (सं. नि. ३.१.१०.७) का धार्मिक जनता को उपदेश किया ।। १८६ ।।

वहाँ एक हजार जिज्ञासुओं को धर्मामृतपान करा कर स्थविर महा-मेघवनाराम पहुँचे ।। १८६ ।।

वहाँ प्रातःकाल ही ढिंढोरा पिटवा कर नगर को उत्तमता से सजा कर, विहार की तरफ जाने वाले मार्गों तथा विहार को भी चारों ओर से साफ करवा कर ।। १८८ ।।

वह नरश्रेष्ठ भूपति स्वयं भी अलंकृत होकर अमात्यों और अन्तःपुर की रानियों सहित रथों पर बैठकर सेना से घिरा हुआ ।। १८९ ।।

विशाल जनसमूह के साथ अपने उद्यान में पहुँचा । वहाँ उसने वन्दनीय स्थविरों की वन्दना कर ।। १९० ।।

कादम्बिनी नदी के किनारे से सीमा-रेखा खिंचवाना प्रारम्भ कर पुनः अन्त में उसको नदी-तट पर ही लाकर समाप्त किया ।। १९१ ।।

यों राजा के दिये चिह्नों पर ही सीमा की स्थापना कर बत्तीस मालक तथा स्तूपारामा की भी सीमा बाँधते हुए (स्थविरों ने) सभी सीमाएँ बाँध दीं ।। १९२ ।।

फिर उस महामति, जितेन्द्रिय स्थविर ने यथाविधि आन्तरिक सीमा निर्धारित कर, उसी दिन समग्र सीमाएँ निर्धारित कर दीं ।। १९३ ।।

इस अद्भुत कृत्य के पूर्ण होने पर यह महापृथ्वी काँप उठी ।। १९४ ।।

पाँचवे दिन स्थविर ने राजप्रसाद में भोजन करने के बाद नन्दनवन में विराजते हुए **खज्जनीयसुत्त** (सं. नि. ३.१.८७) का उपदेश किया ।। १९५ ।।

महाजनस्स देसेत्वा सहस्सं मानुसे तहिं ।
पायेत्वा अमतं पानं महामेघवने वसि ॥ १९६ ॥ (५)

छट्ठे पि दिवसे थेरो रञ्ञो गेहम्हि भञ्जिय ।
निसज्ज नन्दनवने सुत्तं गोमयपिण्डिकं ॥ १९७ ॥

[W.G.128] देसयित्वा देसनञ्ञू सहस्सं येव मानसे ।
पापयित्वाभिसमयं महामेघवने वसि ॥ १९८ ॥ (६)

सत्तमे दिवसे थेरो राजगेहम्हि भुञ्जिय ।
निसज्ज नन्दनवने धम्मचक्कप्पवत्तनं ॥ १९९ ॥

सुत्तन्तं देसयित्वान सहस्सं येव मानुसे ।
पापयित्वाभिसमयं महामेघवने वसि ॥ २०० ॥

एवं हि अड्ढनवमसहस्सानि जुतिन्धरो ।
कारयित्वाभिसमयं दिवसे हेव सत्तहि ॥ २०१ ॥ (७)

तं महानन्दनवनं वुच्चते तेन तादिना ।
सासनज्जोतिट्ठानं इति 'जोतिवनं' इति ॥ २०२ ॥

तिस्सारामम्हि कारेसि राजा थेरस्स आदितो ।
पासादं सीघमुक्काय सुक्खापेत्वान मत्तिका ॥ २०३ ॥

पासादो कालकाभासो आसि सो, तेन तं तहिं ।
'कालपासादपरिवेणं' इति सङ्खमुपागतं ॥ २०४ ॥

ततो महाबोधिघरं लोहपासादमेव च ।
सलाकग्गं च कारेसि भत्तसालं च साधुकं ॥ २०५ ॥

बहूनि-परिवेणानि साधु पोक्खरणी पि च ।
रत्तिट्ठान-दिवाट्ठानप्पभुतीनि च कारयि ॥ २०६ ॥

यह धर्मोपदेश सुनती हुई प्रजा में से एक प्राणि को धर्म ज्ञान द्वारा करा कर स्थविर महामेघवन में प्रविष्ट हुए ॥ १९६ ॥ (५)

छठे दिन भी स्थविर ने राजप्रसाद में भोजन कर नन्दनवन में विराज कर गोमयपिण्ड सुत्त (सं. नि. ३.१.१०.४) का उपदेश किया ॥ १९७ ॥

धर्मोपदेश में कुशल उस स्थविर ने एक हजार प्राणियों को उस उपदेश से धर्मामृत-पान करा कर महामेघवन में प्रवेश किया ॥ १९८ ॥ (६)

सातवें दिन भी स्थविर ने राजप्रासाद में ही भिक्षा कर नन्दनवन में बैठकर धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्र के उपदेश से ॥ १९८ ॥

एक हजार प्राणियों को धर्मामृत-पान करा कर महामेघवन में प्रविष्ट हुए ॥ २०० ॥

इस प्रकार सात ही दिन में महास्थविर ने साढ़े आठ हजार (८५००) जिज्ञासुओं को धर्मामृतपान कराया ॥ २०१ ॥ (७)

ज्योतिवन—उस महानन्दन वन को स्थविर 'शासनद्योतितस्थान' कहते थे, अतः उसका नाम ही 'ज्योतिवन' पड़ गया ॥ २०२ ॥

राजा ने स्थविर के लिये आरम्भ में ही तिष्याराम में शीघ्रतापूर्वक मिट्टी खुदवा कर एक आवास बनवाया ॥ २०३ ॥

यह आवास (काली मिट्टी के कारण) कुछ कालापन (कृष्णत्व) लिये हुए था अतः यह कालप्रासादपरिवेण कहलाया[1] ॥ २०४ ॥

फिर महाबोधिगृह, लौहप्रासाद, शलाकागृह (शलाका बाँटने का स्थान) एवं विस्तृत भोजनशाला बनावायी ॥ २०५ ॥

यों, राजा ने और भी बहुत से बड़े-बड़े परिवेणों, विशाल पुष्करिणियाँ, अभ्यागतों के लिए रात्रि में ठहरने का स्थान (रैन, बसेरा दिवास्थान) आदि बहुत से आवास बनवाये ॥ २०६ ॥

---

1. 'परिवेण' उस स्थान को कहते हैं, जहाँ चारों तरफ प्रकोष्ठ (कमरे) बनवा कर बीच में खुला-चौड़ा क्षेत्र (मैदान) छोड़ा गया हो ।

[W.G.129] तस्स चङ्कमितट्ठाने दीपदीदीस्स साधुनो ।
वुच्चते परिवेणं तं 'दीघचङ्कभन' इति ॥ २०८ ॥

अग्गफलसमापत्तिं समापज्जि यहिं तु सो ।
'फलग्गपरिवेणं' ति एतं तेन पवुच्चति ॥ २०९ ॥

अपस्साय अपस्सेनं थेरो यत्थ निसीदि' सो ।
'थेरापस्सयपरिवेणं' एतं तेन पवुच्चति ॥ २१० ॥

बहू मरुगणा यत्थ उपासिंसु उपेच्च तं ।
तेनेव तं 'मरुगणपरिवेणं' ति वुच्चति ॥ २११ ॥

सेनापति तस्स रञ्ञो थेरस्स दीघसन्दनो ।
कारेसि चूळपासादं महाथम्भेहि अट्ठहि ॥ २१२ ॥

दीघसन्दसेनापतिपरिवेणं ति तं तहिं ।
वुच्चते परिवेणं तं पमुखं पमुखाकरं ॥ २१३ ॥

देवानम्पियवचनोपगूळहनामो,
लङ्कायं पठममिमं महाविहारं ।
राजा सो सुमति महामहिन्दथेरं,
आगम्मामलमतिमेत्थ कारयित्था ॥ ति ॥ २१४ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

महाविहारपटिग्गहणो नाम

पण्णरसमो परिच्छेदो

❋❋❋

राजा ने उस निष्पाप स्थविर की स्नानपुष्करिणी के समीप भी एक आवास बनवाया, जो 'सुस्नातपरिवेण' कहलाया ॥ २०७ ॥

द्वीपज्योतिर्भूत उस स्थविर के लिये जो चंक्रमण स्थान बनवाया वह 'दीर्घसंक्रमण' कहलाया ॥ २०८ ॥

जहाँ स्थविर ने अर्हतों को समाधि-भावना के लिये स्थान बताया था, वहाँ आगे चल कर 'फलाग्रपरिवेण' बना ॥ २०९ ॥

जिस स्थान पर वे स्थविर कभी किसी वस्तु का सहारा लेकर विराजे थे, वह स्थविरों के लिये 'उपाश्रय परिवेण' बनवाया ॥ २१० ॥

जहाँ बहुत से मरुद्गणों (देवगणों) ने एकत्र होकर स्थविर से धर्मोपदेश सुना था वहाँ बना आवास 'मरुद्गणपरिवेण' कहलाया ॥ २११ ॥

दीर्घस्यन्दन द्वारा निर्मापित विहार—उस राजा के दीर्घस्यन्दन नामक सेनापति ने स्थविर के लिये आठ ऊँचे स्तम्भों पर एक छोटा प्रासाद बनवाया ॥ २१२ ॥

तभी से वह वहाँ 'दीर्घस्यन्दनसेनापति परिवेण' कहलाया, जहाँ प्रधान पुरुष आकर ठहरते थे ॥ २१३ ॥

'देवानाम्प्रिय' इस उपनाम वाले उस सुबुद्धि राजा तिष्य ने लङ्काद्वीप में विमलमति महामहेन्द्र स्थविर के लिये यह प्रथम महाविहार महामेघवनाराम बनवाया ॥ २१४ ॥

सुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह
संवर्धन हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

महाविहार-प्रतिग्रहण नामक

पञ्चदश परिच्छेद समाप्त ॥

१६.

सोळसमो परिच्छेदो

(चेतियपब्बतविहारपटिग्गहणं)

[W.G.130] पूरे चरित्वा पिण्डाय करित्वा जनसङ्गहं ।
राजगेहम्हि भुञ्जन्तो करोन्तो राजसङ्गहं ॥ १ ॥

छब्बीस दिवसे थेरो महामेघवने वसि ।
आसाळहसुक्कपक्खस्स तेरसे दिवसे पन ॥ २ ॥

राजगेहम्हि भुञ्जित्वा महारञ्ञो महामति ।
महप्पमादसुत्तन्तं देसयित्वा ततो व सो ॥ ३ ॥

विहारकरणं इच्छं तत्थ चेतियपब्बते ।
निक्खम्म पुरिमद्वारा अगा चेतियपब्बतं ॥ ४ ॥

थेरं तत्थ गतं सुत्वा रथमारुय्ह भूपति ।
देवियो द्वे च आदाय थेरस्सानुपदं अगा ॥ ५ ॥

थेरा नागचतुक्कम्हि नहात्वा रहदे तहिं ।
पब्बतारोहणत्थाय अट्ठंसु पटिपाटिया ॥ ६ ॥

राजा रथा तदोरुय्ह अट्ठा थेरे भिवादिय ।
"उण्हे किलन्तो किं राज! आगतोसी" ति आहु ते ॥ ७ ॥

[W.G.131] "तुम्हाकं गमनासङ्की आगतोम्ही" ति भासिते ।
"इधेव वस्सं वसितुं आगतम्हा" ति भासिय ॥ ८ ॥

षोडश परिच्छेद

(चैत्यपर्वतविहारप्रतिग्रहण)

स्थविर की राजपरिवार पर अनुकम्पा—नगर में पिण्डपातहेतु विचरण करते एवं जनता पर करुणापूर्ण दृष्टिपात करते हुए राजगृह में भोजन कर राजपरिवार पर दया करते हुए ॥ १ ॥

स्थविर ने आषाढशुक्ल त्रयोदशी के दिन से निरन्तर छब्बीस (२६) दिन तक महामेघवनोद्यान में वास किया ॥ २ ॥

राजगृह में भोजन कर महामति स्थविर ने राजा को महाप्रमादसूत्र (सं० नि० १ ३.२.८. ५१.६.६) का उपदेश किया । ॥ ३ ॥

चैत्यपर्वत को प्रस्थान—तदनन्तर उन्होंने साधनाहेतु चैत्यपर्वत पर जाने की इच्छा की तथा वे नगर के पूर्व द्वार से निकल कर उस पर्वत पर चले गये ॥ ४ ॥

स्थविर का चैत्य पर्वत पर जाना सुनकर राजा भी अपनी दोनों रानियों के साथ रथ पर चढ़ कर स्थविर के पीछे ही पीछे वहाँ (चैत्य पर्वत पर) पहुँचे ॥ ५ ॥

(उधर) स्थविर नागचतुष्क सरोवर में स्नान कर चैत्य पर्वत जाने के लिये पंक्तिबद्ध हो कर खड़े हुए ॥ ६ ॥

राजा भी रथ से उतर कर स्थविरों को प्रणाम कर एक तरफ खड़े हो गये । तब स्थविरों ने कहा– "राजन्! आपने इस भयङ्कर गर्मी में यहाँ आने का क्यों कष्ट किया ? ॥ ७ ॥

राजा द्वारा– "आप हमें छोड़ कर वापस चले जा रहे हैं– इसी आशङ्का से त्रस्त होकर मैं यहाँ भागा हुआ चला आ रहा हूँ"– यह कहे जाने पर, स्थविरों ने राजा को आश्वासन दिया–" हम तो यहाँ वर्षावास कहने के लिये आये हैं ॥" ८ ॥

वस्सूपनायिकं थेरो खन्धकं खन्धकोविदो ।
कथेसि रञ्ञो, तं सुत्वा भागिनेय्यो च राजिनो ॥ ९ ॥

महारिट्ठो महामच्चो पञ्चपञ्ञासभातुहि ।
सद्धिं जेट्ठकनिट्ठेहि राजानमभितो ठितो ॥ १० ॥

याचित्वा तदहूयेव पब्बजुं थेरसन्तिके ।
पत्तारहत्तं सब्बे पि ते खुरग्गे महामती ॥ ११ ॥

कण्टकचेतियट्ठानं परितो तदहे व सो ।
कम्मानि आरभापेत्वा लेणानि अट्ठसट्ठियो ॥ १२ ॥

आगमासि पुरं राजा थेरा तत्थेव ते वसुं ।
काले पिण्डाय नगरं पविसन्तानुकम्पका ॥ १३ ॥

निट्ठिते लेणकम्मम्हि आसाळहपुण्णमासियं ।
गन्त्वा अदासि थेरानं राजा विहारदक्खिणं ॥ १४ ॥

द्वत्तिंसमालकानं च विहारस्स च तस्स खो ।
सीमं सीमातिगो थेरो बन्धित्वा तदहेव सो ॥ १५ ॥

तेसं पब्बज्जापेक्खानं अकासि उपसम्पदं ।
सब्बेसं सब्बपठमं बद्धे तुम्बरुमालके ॥ १६ ॥

एते द्वासट्ठि अरहन्तो सब्बे चेतियपब्बते ।
तत्थ वस्सं उपगन्त्वा अकंसु राजसङ्गहं ॥ १७ ॥

देवमनुस्सगणा गणिनं तं
तं च गणं गणवित्थतकित्तिं ।
[W.G.132] यातुमुपेच्च च मानयमाना
पुञ्ञचयं विपुलं अकरिंसू[1] ॥ ति ॥ १८ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

चेतियपब्बतविहारपटिग्गहणं नाम

सोळसमो परिच्छेदो

***

1. दोधक छन्द ।

तथा स्कन्धक (विनयपिटक के महावग्ग, चुल्लवग्ग) के विशेषज्ञ महास्थविर ने राजा को उक्त वर्षावास का विशेष ज्ञान कराने के लिये वस्सूपनायिकास्कन्ध की देशना की। उस देशना को सुनकर राजा का भगिनी-पुत्र ॥ ९ ॥

अपने छोटे-छोटे पचास भाइयों के साथ महारिष्ट नामक अमात्य राजा के सम्मुख आकर खड़ा हुआ ॥ १० ॥

तथा उनसे स्वीकृति लेकर उसी समय प्रव्रजित हो गया। यों वे सभी, बुद्धिमान् होने के कारण, देशना का तत्त्व भली भाँति समझते हुए तत्काल ही अर्हत्त्व को प्राप्त हो गये ॥ ११ ॥

उस कण्टकचैत्य स्थान पर उसी दिन साधनाहेतु अड़सठ (६८) गुफाओं का निर्माण प्रारम्भ कराया ॥ १२ ॥

राजा नगर में लौट आये और स्थविर उन्हीं गुफाओं में रहने लगे। वे केवल जनता पर दया करने हेतु केवल भिक्षा के लिये ही नगर में आते थे ॥ १३ ॥

चैत्यपर्वत विहार का दान– गुफाओं का निर्माण समाप्त होने पर राजा ने आषाढ़ पूर्णिमा के दिन राजा ने वहाँ जाकर स्थविरों को विहारों का दान कर दिया ॥ १४ ॥

उसी दिन भवसागर की सीमा पारकर चुके उन महास्थविरों ने उन बत्तीस (३२) मालकों एवं विहारों की सीमा बाँध दी ॥ १५ ॥

तथा उन सभी प्रव्रजितों को उपसम्पदा दी एवं उस नवनिर्मित तुम्बरुमालक में वासहेतु भी उन बासठ (६२) प्रव्रजितों को आज्ञा प्रदान की ॥ १६ ॥

इन बासठ (६२) प्रव्रजितों ने राजा पर अनुग्रह करने हेतु उस वर्षावास में चैत्यपर्वत पर ही वास किया ॥ १७ ॥

इसी बीच, उस सङ्घपति (मण्डलीश्वर), तथा अपने गुणों से जगद्विख्यात हो चुके प्रव्रजित सङ्घ के पास देवताओं एवं मनुष्यों के समूह ने आकर उनकी पूजा करते हुए तथा उनसे धर्मोपदेश सुनते हुए अत्यधिक विपुल पुण्य-सञ्चय किया ॥ १८ ॥

सुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह वृद्धिहेतु
रचित इस महावंश ग्रन्थ में
चैत्यपर्वतविहारप्रतिग्रहण नामक
सोलहवाँ परिच्छेद समाप्त

***

१७.

सत्तरसमो परिच्छेदो

(धात्वागमनं नाम)

[W.G.133] वुत्थवस्सो पवारेत्वा कत्तिकपुण्णमासियं ।
अवोचेदं महाराजं महाथेरो महामति ॥ १ ॥

"चिरदिट्ठो हि सम्बुद्धो सत्था नो, मनुजाधिप ।
अनाथवासं वसिम्ह नत्थि नो पूजियं इध" ॥ २ ॥

"भासित्थ ननु, भन्ते! मे 'सम्बुद्धो निब्बुतो'" इति ।
आह! "धातुसु दिट्ठेसु दिट्ठो होति जिनो" इति ॥ ३ ॥

"विदितो वो अधिप्पायो थूपस्स करणे मया ।
कारेस्सामि अहं थूपं, तुम्हे जानाथ धातुयो" ॥ ४ ॥

"मन्तेहि सुमनेना" ति थेरो राजानमब्रवि ।
राजाह सामणेरं तं "कुतो लच्छाम धातुयो?" ॥ ५ ॥

"विभूसयित्वा नगरं मग्गं च मनुजाधिप ! ।
उपोसथी सपरिसो हत्थिं आरुय्ह मङ्गलं ॥ ६ ॥

सेतच्छत्तं धारयन्तो तालावचरसंहितो ।
महानागवनुय्यानं सायन्हसमये वज ॥ ७ ॥

धातुभेदञ्ञुनो, राज, धातुयो तत्थ लच्छसि" ।
इच्चाह सामणेरो सो सुमनो तं सुमानसं ॥ ८ ॥

सप्तदश परिच्छेद

(बुद्धशरीरधातुओं का आगमन)

स्थविर द्वारा बुद्धदर्शन की कामना–वर्षावास की समाप्ति के बाद कार्तिकपूर्णिमा के दिन उपोसथ द्वारा प्रवारणा (अपराधस्वीकृति) कृत्य पूर्ण कर, अतिबुद्धिमान् महास्थविर ने राजा से कहा– ॥ १ ॥

"राजन्! हमें अपने शास्ता (भगवान् बुद्ध) के दर्शन किये हुए बहुत समय बीत गया । हम यहाँ उनके विना अनाथों की तरह रह रहे हैं; क्योंकि यहाँ हमारा कोई पूज्य मार्गदर्शक नहीं है" ॥ २ ॥

"भन्ते! आप तो कहते थे–'सम्बुद्ध का महापरिनिर्वाण हो चुका हैं (तो अब उनके दर्शन कहाँ होंगे?") –राजा ने पूछा । स्थविर ने कहा– "हमारे धार्मिक विश्वास में उनकी शरीरधातुओं का दर्शन होने पर भी उन्हीं का दर्शन माना जाता है" ॥ ३ ॥

राजा ने कहा–"भन्ते! मेरे स्तूपनिर्माण के विचार से आप अवगत हैं । मैं स्तूप बनवा दे रहा हूँ । धातुओं के विषय में आप जानें" ॥ ४ ॥

तब स्थविर ने राजा को कहा–"आप इस विषय में सुमन श्रामणेर से मन्त्रणा करें ।" राजा ने सुमन श्रामणेर से पूछा–"हमें ये पवित्र धातुएँ कहाँ मिल सकती हैं ?" ॥ ५ ॥

सुमन ने उत्तर दिया–"राजन् आप ऐसा करें– नगर को भली भाँति सजा कर उसके मार्ग भी साफ सुथरे करा कर, परिवारसहित उपोसथ व्रत का पालन करते हुए मङ्गल हाथी पर आरूढ़ होकर ॥ ६ ॥

"श्वेतच्छत्र धारण कर नृत्य गीत-वाद्य (तालावचर) के साथ आप सायङ्काल महामेघवनोद्यान में जाइये ॥ ७ ॥

"राजन्! धातु-भेद (पञ्चस्कन्धनिरोध) के ज्ञाता भगवान् बुद्ध की धातुएँ, जिन्हें तुम चाह रहे हो, वहाँ मिलेगी" ॥ ८ ॥

[W.G.134] थेरो थ राजकुलतो गन्त्वा चेतियपब्बतं ।
आमन्तयि सामणेरं सुमनं सुमनोगतिं ॥ ९ ॥

"एहि त्वं, भद्र सुमन! गन्त्वा पुप्फपुरं वरं ।
अय्यकं ते, महाराज, एवं नो वचनं वद ॥ १० ॥

'सहायो ते, महाराज! महाराजा मरुप्पियो ।
पसन्नो बुद्धसमये थूपं कारेतुमिच्छति ॥ ११ ॥

मुनिनो धातुयो देहि पत्तं भुत्तं च सत्थुना ।
सरीरधातुयो सन्ति बहवो हि तवन्तिके' ॥ १२ ॥

पत्तपूरा गहेत्वा ता गन्त्वा देवपुरं वरं ।
सक्कं देवानमिन्दं एवं नो वचनं वद ॥ १३ ॥

'तिलोकदक्खिणेय्यस्स दाठाधातु च दक्खिणा ।
तवन्तिकम्हि, देविन्द! दक्खिणक्खिकधातु च ॥ १४ ॥

दाठं त्वमेव पूजेहि अक्खिकं देहि सत्थुनो ।
लङ्कादीपस्स किच्चेसु मा पमज्जि सुराधिप" ॥ १५ ॥

"एवं, भन्ते ति वत्या सो सामणेरो महिद्धिको ।
तङ्खणं येव आगम्म धम्मासोकस्स सन्तिकं ॥ १६ ॥

सालमूलम्हि ठपितं महाबोधिं तहि सुभं ।
कत्तिकच्छणपूजाहि पूजियन्तं च अद्दस ॥ १७ ॥

थेरस्स वचनं वत्वा राजतो लद्धधातुयो ।
पत्तपूरा गहेत्वान हिमवन्तमुपागमि ॥ १८ ॥

[W.G.135] हिमवन्ते ठपेत्वान सधातुं पत्तमुत्तमं ।
देविन्दसन्तिकं गन्त्वा थेरस्स वचनं भणि ॥ १९ ॥

सुमन का धातुसञ्चय हेतु पाटलिपुत्रगमन-- उधर, स्थविर ने भी राजकुल से चलकर चैत्य पर्वत पर जाकर शुद्धहृदय (सुमानस) सुमन श्रामणेर को बुलाया ॥ ९ ॥

तथा आदेश दिया– "भद्र सुमन! तुम पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) जाओ, वहाँ अपने नाना (अय्यक) अशोक महाराज से हमारी तरफ से यह कहना– ॥ १० ॥

"महाराज! आपका साथी राजा देवानाम्प्रिय बुद्ध धर्म में श्रद्धालु होकर यहाँ धातुस्तूप बनवाना चाहते हैं ॥ ११ ॥

"अब क्योंकि आपके पास महामुनि (भगवान्) के शरीर की बहुत सी धातुएँ है, अतः उनमें कुछ धातुएँ यहाँ के लिये देने की कृपा करें, साथ ही वह भिक्षापात्र भी जिसमें महामुनि भिक्षा किया करते थे" ॥ १२ ॥

वहाँ से पात्र भर धातुएँ लेने के बाद तुम देवलोक चले जाना । और वहाँ देवराज इन्द्र से भी कहना ॥ १३ ॥

"देवेन्द्र! आपके पास त्रिलोक-पूज्य भगवान् बुद्ध की दक्षिण दाढ़ एवं दक्षिण ग्रीवा (हंसली) की धातु हैं ॥ १४ ॥

इनमें आप दक्षिण दाढ़ को पूजाहेतु अपने पास रख ले एवं दक्षिण ग्रीवा की धातु हमें दे दें । हे सुरेन्द्र ! लङ्काद्वीप के इस शुभकार्य में आप की तरफ से कोई प्रमाद (भूल) नहीं होनी चाहिये" ॥ १५ ॥

'जैसा आदेश है, भन्ते! वही करूँगा"– कहकर वह ऋद्धिबलसम्पन्न श्रामणेर सुमन उसी समय (आकाशमार्ग से) सम्राट् धर्माशोक के पास पहुँचा ॥ १६ ॥

वहाँ उसने सम्राट्ट को शालवृक्ष के मूल में पवित्र महाबोधि को रखकर कार्तिक-महोत्सव की पूजा करते हुए देखा ॥ १७ ॥

(सुमन द्वारा) स्थविर की बात कहने के बाद राजा से धातुएँ प्राप्त कर उन्हें पात्र में रखकर सुमन ने हिमालय की तरफ प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

देवेन्द्र से धातु-याचना– हिमालय में उस पात्र एवं धातुओं को रखकर सुमन श्रामणेर देवन्द्र शक्र के पास देवलोक में पहुँचे और उनसे स्थविर का सन्देश कहा ॥ १९ ॥

चूळामणिचेतियम्हा गहेत्वा दक्खिणक्खिकं ।
सामणेरस्स पादासि सक्को देवानमिस्सरो ॥ २० ॥

तं धातु धातुपत्तं च आदाय सुमनो ततो ।
आगम्म चेतियगिरिं थेरस्सादासि तं यति ॥ २१ ॥

महानागवनुय्यानं वुत्तेन विधिनागमा ।
सायन्हसमये राजा राजसेनापुरक्खतो ॥ २२ ॥

ठपेसि धातुयो सब्बा थेरो तत्थेव पब्बते ।
मिस्सकं पब्बतं तस्मा आहु चेतियपब्बतं ॥ २३ ॥

ठपेत्वा धातुपत्तं तं थेरो चेतियपब्बते ।
गहेत्वा अक्खकं धातुं सङ्केतं सगणो गमा ॥ २४ ॥

"सचायं मुनिनो धातु छत्तं नमतु मे स्वयं ।
जन्नुकेहि करी ठातु धातुचङ्गोटको अयं ॥ २५ ॥

सिरस्मिं मे पतिट्ठातु आगम्म सह धातुया ।"
इति राजा विचिन्तेसि चिन्तितं तं तथा अहु ॥ २६ ॥

अमतेनाभिसित्तो व अहु हट्ठो ति भूपति ।
सीसतो थ गहेत्वान हत्थिक्खन्धे ठपेसि तं ॥ २७ ॥

हट्ठो हत्थी कोञ्चनादं अका, कम्पित्थ मेदिनी ।
ततो नागो निवत्तित्वा सथेरबलवाहनो ॥ २८ ॥

पुरत्थिमेन द्वारेन पविसित्वा पुरं सुभं ।
दक्खिणेन च द्वारेन निक्खमित्वा ततो पुन ॥ २९ ॥

थूपारामे चेतियस्स ठानतो पच्छतो कतं ।
महेज्जावत्थुं गन्त्वान बोधिट्ठाने निवत्तिय ॥ ३० ॥

तब देवेन्द्र शक्र ने चूड़ामणि चैत्य से दक्षिण ग्रीवा की अस्थि निकाल कर श्रामणेर सुमन को प्रदान की ॥ २० ॥

तब उस यति (जितेन्द्रिय) सुमन श्रामणेर ने वह पात्र, एवं दक्षिण ग्रीवा की पवित्र अस्थि चैत्य पर्वत पर ले जाकर महास्थविर को सौंप दी ॥ २१ ॥

सायङ्काल होने पर राजा भी विशाल सेना से घिरा हुआ चैत्य पर्वतपर स्थविर की सेवा में पहुँचा ॥ २२ ॥

धातुओं का स्तूप में निधान–स्थविर ने वे सभी पवित्र धातुएँ उस पर्वत पर ही रखी थी । इसीलिये उस मिश्रक पर्वत का नाम तभी से 'चैत्य पर्वत' होगा ॥ २३ ॥

उस धातुराशि को पर्वत पर रखकर केवल दक्षिणाक्षक धातु को लेकर स्थविर सङ्घसहित एक निश्चित स्थान पर गये ॥ २४ ॥

उधर राजा ने मन में सोचा– "यदि ये धातुएँ वस्तुतः भगवान् के शरीर की हैं तो इन के प्रभाव से मेरा छत्र स्वयं झुक जाय. ॥ २५ ॥

हाथी घुटनों के बल बैठ जाय । धातुसहित यह पिटक (छाबड़ी) स्वयं मेरे सिर पर आ जाय" । राजा जैसा सोच रहे थे महामुनि के प्रभाव से वही हो गया ॥ २६ ॥

यह चमत्कार देख कर राजा ऐसा सन्तुष्ट हुआ, मानो किसी ने उस पर अमृत की वर्षा कर दी हो । और उसने उस धातुपिटक को सिर से उतार कर हाथी की पीठ पर रख दिया ॥ १७ ॥

उधर हाथी ने भी प्रमुदित होकर क्रौञ्चनाद किया । पृथ्वी काँप उठी । फिर वह हाथी लौट कर स्थविरों, सेनाओं एवं यानों सहित ॥ २८ ॥

उस सुन्दर नगर में पूर्वद्वार से प्रविष्ट होकर दक्षिण द्वार से बाहर निकला ॥ २९ ॥

फिर स्तूपाराम के पश्चिम पार्श्व में बने हुए महेज्या वस्तु (बलिकर्मस्थान) पर जा कर फिर वहां से बोधिस्थान में लौट कर ॥ ३० ॥

[W.G.136] पुरत्थावदनो अट्ठा थूपट्ठानं तदा हि तं ।
कदम्बपुप्फमादायि[1] वल्लीहि[1] विततं अहु ॥ ३१ ॥

मनुस्सदेवो देवेहि तं ठानं रक्खितं सुचिं ।
सोधापेत्वा भूसयित्वा तङ्खणं येव साधुकं ॥ ३२ ॥

धातूनं रोपणत्थाय आरभि हत्थिखन्धतो ।
नागो न इच्छितं, राजा थेरं पुच्छित्थ तम्मनं ॥ ३३ ॥

"अत्तनो खन्धसमके ठाने ठपनमिच्छति ।
धातुओरोपनं तेन तेन निट्ठं" ति सो ब्रवि ॥ ३४ ॥

आणापेत्वा खणं येव सुक्खातोभयवापितो ।
सुक्खकद्दमखण्डेहि चिनापेत्वान तंसमं ॥ ३५ ॥

अलङ्करित्वा बहुधा राजा तं ठानमुत्तमं ।
ओरोपेत्वा हत्थिखन्धा धातुं तत्थ ठपेसि तं ॥ ३६ ॥

धातारक्खं संविधाय ठपेत्वा तत्थ हत्थिनं ।
धातुथूपस्स करणे राजा तुरतिमानसो ॥ ३७ ॥

[W.G.137] बहू मनुस्से योजेत्वा इट्ठिकाकरणे लहुं ।
धातुकिच्चं विचिन्तेन्तो सामच्चो पाविसी पुरं ॥ ३८ ॥

महामहिन्दथेरो तु महामेवनं सुभं ।
सगणो अभिगन्त्वान तत्थ वासं अकप्पयि ॥ ३९ ॥

रत्तिं नागो नुपरियाति तं ठानं सो सधातुकं ।
बोधिट्ठानम्हि सालाय दिवा ठाति सधातुको ॥ ४० ॥

वत्थुस्स तस्सोपरितो थूपं थेरमतानुगो ।
जङ्घामत्तं चिनापेत्वा कतिपाहेन भूपति ॥ ४१ ॥

1-1 कदम्बपुप्फआदारिवल्लीहि इति मुद्दितो पाठो ।

पूर्वमुख होकर खड़ा हो गया। उस समय वह स्तूपस्थान कदम्ब के फूलों और पुष्पित लताओं से आवृत था ॥ ३१ ॥

राजा ने देवताओं द्वारा रक्षित उस स्थान को मार्जनी (झाड़ू) से साफ करा कर अलङ्कृत कराया ॥ ३२ ॥

जब उन पवित्र अस्थियों को हाथी के कन्धे से उतारना चाहा तो हाथी ने उतारने नहीं दिया। तब राजा ने स्थविर से इसका कारण पूछा– ॥ ३३ ॥

स्थविर ने बताया– राजन् ! यह हाथी अपने कन्धे के बराबर ऊँचे स्थान पर इस धातुपिटक को उतारना चाहता है । इसी लिये अभी यह निषेध कर रहा है" ॥ ३४ ॥

उसी समय राजा ने सूखी अभयवापी के सूखे मिट्टी के ढेलों से उस स्थान को हाथी के बराबर ऊँचा स्थान बनवाकर ॥ ३५ ॥

तथा अच्छी तरह अलंकृत करवा कर हाथी के कन्धे से उतार उस धातुपिटक को उस स्थान पर रखा ॥ ३६ ॥

वहाँ हाथी को उन पवित्र अस्थियों की रक्षा में नियुक्त कर, धातुस्तूप के निर्माण के लिये राजा ने शीघ्रता की ॥ ३७ ॥

और बहुत से श्रमिकों को शीघ्रता से ईंट बनने के लिये लगाकर, इस धातुकृत्य की निर्विघ्न सम्पन्नता पर विचार करते हुए राजा अमात्यों के साथ नगर में प्रविष्ट हुआ ॥ ३८ ॥

उधर सङ्घसहित महामहेन्द्र स्थविर भी उस मङ्गलमय महामेघवनोद्यान में जाकर विराजमान हुए ॥ ३९ ॥

हाथी द्वारा धातुरक्षा–इस अन्तराल में वह हाथी रात्रिपर्यन्त उस धातुस्थान के चारों तरफ निरन्तर घूमता रहता था। और दिन में बोधिस्थान के समीप शाला में धातुओं के पास खड़ा रहता था ॥ ४० ॥

स्थविर के मतानुगामी राजा ने उस चबूतरे पर कुछ ही दिनों में जङ्घापरिमाण ऊँचा स्तूप बनवा कर ॥ ४१ ॥

तत्थ धातुपतिट्ठानं घोसापेत्वा उपागमि ।
ततो ततो समन्ता च समागमि महाजनो ॥ ४२ ॥

तस्मिं समागमे धातु हत्थिक्खन्धा नभुग्गता ।
सत्ततालप्पमाणम्हि दिस्सन्ति नभसि ट्ठिता ॥ ४३ ॥

विम्हापयन्ती जनतं यमकं पाटिहारियं ।
गण्डम्बमूले बुद्धो वा अकरि लोमहंसनं ॥ ४४ ॥

ततो निक्खन्तजालाहि जलधाराहि चासकिं ।
सब्बा ओभासितासित्ता सब्बा लङ्कामही अहु ॥ ४५ ॥

परिनिब्बनमञ्चम्हि निपन्नेन जिनेन हि ।
कतं महाअधिट्ठानपञ्चकं पञ्चचक्खुना ॥ ४६ ॥

"गय्हमाना महाबोधिसाखासोकेन दक्खिणा ।
छिज्जित्वान सयंयेव पतिट्ठातु कटाहके ॥ ४७ ॥

[W.G.138] पतिट्ठहित्वा सा साखा छब्बण्णरस्मियो सुभा ।
रञ्जयन्ती दिसा सब्बा फलपत्तेहि मुञ्चतु ॥ ४८ ॥

ससुवण्णकटाहा सा उग्गन्त्वान मनोरमा ।
अदिस्समाना सत्ताहं हिमगब्भम्हि तिट्ठतु ॥ ४९ ॥

थूपारामे पतिट्ठन्तं मम दक्खिणअक्खिकं ।
करोतु नभमुग्गन्त्वा यमकं पाटिहारियं ॥ ५० ॥

लङ्कालङ्कारभूतम्हि हेममालिकचेतिये ।
पतिट्ठहन्तियो धातू दोणमत्ता ममामला ॥ ५१ ॥

बुद्धवेसधरा हुत्वा उग्गन्त्वा नभसिट्ठिता ।
पतिट्ठन्तु करित्वान यमकं पाटिहारियं" ॥ ५२ ॥

तथा धातु-स्थापनोत्सव की घोषणा करवा कर राजा वहाँ से चला आया । यह घोषणा सुनकर जनसमूह जहाँ तहाँ से एकत्र हो होकर आने लगा ॥ ४२ ॥

उस समागम (उत्सव) के अवसर पर वे धातुएँ हाथी के कन्धे से उठ कर सात ताल ऊपर उठकर आकाश में स्थित हुईं ॥ ४३ ॥

इस यमक प्रातिहार्य ने जनता को चमत्कृत (आश्चर्यान्वित) कर दिया जैसे कभी भगवान् बुद्ध ने स्वयं गण्डाम्रवृक्ष के मूल में यमकप्रातिहार्य से चमत्कृत कर दिया था ॥ ४४ ॥

इस धातु से निःसृत तेजोज्वाला एवं जलधारा से समग्र लङ्काद्वीप प्रकाशित तथा सिञ्चित हो गया ॥ ४५ ॥

भगवान् के पाँच सङ्कल्प—महापरिनिर्वाणशय्या पर लेटे पांच दिव्य चक्षुओं वाले भगवान् बुद्ध ने पाँच सङ्कल्प किये थे— ॥ ४६ ॥

१. "बोधिवृक्ष दक्षिणा शाखा वृक्ष से स्वयं ही पृथक् हो कर सम्राट् अशोक द्वारा ग्रहण की जा कर स्वयं सुवर्णकटाह में प्रतिष्ठापित हो ॥ ४७ ॥

२. प्रतिष्ठित होकर वह शाखा अपने पत्र-पुष्प से निकलने वाली प्रत्येक ज्योति से समग्र दिशाओं को प्रकाशित करे ॥ ४८ ॥

३. फिर वह मनोहर शाखा सुवर्णकटाहसहित आकाश में जाकर एक सप्ताह पर्यन्त हिमगर्भभूमि में अदृश्य होकर स्थित रहे ॥ ४९ ॥

४. उधर स्तूपाराम में स्थापित मेरी दक्षिणाक्षक धातु आकाश में उड़कर यमक प्रातिहार्य करे ॥ ५० ॥

५. मेरी द्रोणपरिमाण पवित्र शरीर धातु, लङ्का के शोभास्वरूप हेममालक चैत्य में स्थापित होने के बाद बुद्धरूप धारण कर आकाश में जावे और वहाँ ठहर कर यमक प्रातिहार्य करें" ॥ ५१-५२ ॥

अधिट्ठानानि पञ्चेवं अधिट्ठासि तथागतो ।
अकासि तस्मा सा धातू तदा तं पाटिहारियं ॥ ५३ ॥

आकासा ओतरित्वा सा अट्ठा भूपस्स मुद्धनि ।
अतीव तुट्ठो तं राजा पतिट्ठापेसि चेतिये ॥ ५४ ॥

पतिट्ठिताय तस्सा च धातुया चेतिये तदा ।
अहु महाभूमिचालो अब्भुतो लोमहंसनो ॥ ५५ ॥

एवं अचिन्तिया बुद्धा बुद्धधम्मा अचिन्तिया ।
अचिन्तिये पसन्नानं विपाको होति अचिन्तियो ॥ ५६ ॥

तं पाटिहारियं दिस्वा पसीदिंसु जिने जना ।
मत्ताभयो राजपुत्तो कनिट्ठो राजिनो पन ॥ ५७ ॥

मुनिस्सरे पसीदित्वा याचित्वान नरिस्सरं ।
पुरुसानं सहस्सेन सह पब्बजि सासने ॥ ५८ ॥

[W.G.139] चेटाविगामतो चापि द्वारमण्डलतो पि च ।
विहारबीजतो चापि तता गल्लकपीठतो ॥ ५९ ॥

तथोपतिस्सगामा च पञ्च पञ्चसतानि च ।
पब्बजुं दारका हट्ठा जातसद्धा तथागते ॥ ६० ॥

एवं पुरा बाहिरा च सब्बे पब्बजिता तदा ।
तिंस भिक्खुसहस्सानि अहेसुं जिनसासने ॥ ६१ ॥

थूपारामे थूपवरं निट्ठापेत्वा महीपति ।
रतनादीहि नेकेहि सदा पूजं अकारयि ॥ ६२ ॥

राजोरोधा खत्तिया च अमच्चा नागरा तथा ।
सब्बे जानपदा चेव पूजा कंसु विसुं विसुं ॥ ६३ ॥

कुछ चमत्कार–क्योंकि भगवान् ने उस समय ये पाँच सङ्कल्प किये थे, अतः ये पाँचो ही चमत्कार इन धातुओं के माध्यम से यहाँ की जनता को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ॥ ५३ ॥

आकाश से पुनः नीचे आकर वह दक्षिणाक्षक धातु राजा के शिर पर जा कर विराजी । इससे अतीव सन्तुष्ट होते हुए राजा ने उन धातुओं को चैत्य में प्रतिष्ठित किया ॥ ५४ ॥

उस धातु के चैत्य में प्रतिष्ठित होते ही पृथ्वी हर्ष से काँप उठी । यह भी रोमहर्षक चमत्कार उस समय हुआ ॥ ५५ ॥

इस प्रकार बुद्धों का माहात्म्य है । उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म भी अचिन्त्य हैं । इन 'अचिन्त्यों में श्रद्धा रखने वालों का कर्मफल भी अचिन्त्य ही होता है ॥ ५६ ॥

प्रव्रज्या–ग्रहण–उस चमत्कार को देखकर वहां उपस्थित जनसमूह बुद्ध के प्रति अत्यधिक श्रद्धालु हो गया । उसी समय राजा का मत्तामय नामक कनिष्ठ पुत्र ॥ ५७ ॥

मुनीश्वर भगवान् बुद्ध के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु बनकर, राजा से आज्ञा लेकर, एक (१000) पुरुषों के साथ बुद्धशासन में प्रव्रजित हो गया ॥ ५८ ॥

इसी तरह चेतावी ग्राम, द्वारमण्डल, विहारबीज, गल्लक पीठ ॥ ५९ ॥

तथा उपतिष्य ग्राम से पाँच-पाँच सौ युवकों ने बुद्ध के प्रति श्रद्धातिरेक के कारण प्रव्रज्या ग्रहण की ॥ ६0 ॥

इस प्रकार नगर के बाहर या भीतर रहने वाले तीस हजार (३0,000) पुरुषों ने भिक्षुभाव ग्रहण किया ॥ ६१ ॥

स्तूपपूजा–स्तूपाराम में सुन्दर स्तूप बन जाने पर, राजा विविध रत्नादिक से उसकी निरन्तर पूजा करवाता रहा ॥ ६२ ॥

इसी तरह राजा के अन्तःपुर (रानियों) ने, अमात्यों ने, क्षत्रियों एवं अन्य नागरिकों ने भी यथानुरूप उस स्तूप की पूजा की ॥ ६३ ॥

थूपपुब्बङ्गमं राजा विहारं एत्थ कारयि ।
'थूपारामो' ति तेनेस विहारो विस्सुतो अहु ॥ ६४ ॥

सकधातुसरीरकेन चेवं
परिनिब्बानगतो पि लोकनाथो ।
जनताय हितं सुखं च सम्मा
बहुधाकासि ठिते जने कथा का![1] ति ॥ ६५ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

धात्वागमनं नाम

सत्तरसमो परिच्छेदो

***

1. प्रहर्षिणी छन्द ।

विहार निर्माण– राजा ने स्तूप की पूर्व दिशा में एक अन्य विहार भी बनवाया जो कि स्तूपारामविहार कहवाया ।। ६४ ।।

इस प्रकार जब परिनिर्वाणप्राप्त लोकनाथ (भगवान् बुद्ध) ने स्वशरीर की धातुओं से ही जनता को अत्यधिक हित सुख प्राप्त कराया, तो उनके जीवनकाल में हुए शुभ कृत्यों का तो वर्णन ही कितना किया जाय ! ।। ६५ ।।

सुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह संवर्धनहेतु
रचित इस महावंश ग्रन्थ में

धात्वागमन नामक

सत्रहवाँ परिच्छेद समाप्त

****

१८.

अट्ठारसमो परिच्छेदो

(महाबोधिगहणो नाम)

[W.G.140] महाबोधिं च थेरिं च आनापेतुं महीपति ।
थेरेन वुत्तवचनं सरमानो सके पुरे ॥ १ ॥

अन्तोवस्सेकादिवसं निसिन्नो थेरसन्तिके ।
सहामच्चेहि मन्तेत्वा भागिनेय्यं सकं सयं ॥ २ ॥

अरिट्ठनामकामच्चं तस्मिं कम्मे नियोजयं ।
मन्त्वा आमन्तयित्वा तं इदं वचनमब्रवि ॥ ३ ॥

"तात! सक्खसि गन्त्वा त्वं धम्मासोकस्स सन्तिकं ।
महाबोधिं सङ्घमित्तं थेरिं आनयितुं इध" ॥ ४ ॥

"सक्खिस्सामि अहं, देव, आनेतुं ता ततो इध ।
इधागमो पब्बजितुं सचे इच्छामि, मानद!" ॥ ५ ॥

"एवं होतू" ति वत्यान राजा तं तत्थ पेसयि ।
सो थेरस्स च रञ्ञो च सासनं गय्ह वन्दिय ॥ ६ ॥

[W.G.141] अस्सयुजसुक्कपक्खे निक्खन्तो दुतियेहनि ।
सोनुयुत्तो जम्बुकोले नावं आरुय्ह पट्टने ॥ ७ ॥

महोदधिं तरित्वान थेराधिट्ठानयोगतो ।
निक्खन्तदिवसे येव रम्मं पुप्फपुरं गतो ॥ ८ ॥

अष्टादश परिच्छेद

(महाबोधि-ग्रहण वर्णन)

सङ्घमित्रा थेरी का लङ्का द्वीप में आह्वान–एक दिन नगर के राजप्रसाद में बैठे भूपति ने स्थविर के उस आदेश का स्मरण किया जिसमें उन्होंने जम्बूद्वीप से सङ्घमित्र थेरी एवं महाबोधि की शाखा लाने की बात कही थी ॥ १ ॥

अन्त में उसी वर्ष, एक दिन स्थविर के पास बैठे हुए राजा ने अपने अमात्यों से परामर्श कर अपने भगिनीपुत्र अरिष्ट अमात्य को इस कार्य की पूर्ति के लिये नियुक्त करने का विचार किया ॥ २ ॥

विचार कर उसे बुलाकर उससे पूछा– ॥ ३ ॥

"तात! क्या तुम सङ्घमित्रा थेरी एवं महाबोधि शाखा लाने के लिये जम्बुद्वीप में (सम्राट्) धर्मशोक के पास जा सकते हो?" ॥ ४ ॥

(अमात्यने उत्तर दिया–) "हे मानद! उन दोनों को वहाँ से यहाँ लाने हेतु मैं जम्बुद्वीप जा सकता हूँ, यदि आप मुझे वहाँ से लौटते ही प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्रदान करें" ॥ ५ ॥

"अच्छा, ऐसा ही होगा!"– राजा ने ऐसा कह कर उसको जम्बुद्वीप भेजा । अमात्य ने भी स्थविर एवं राजा से आदेश लेकर, प्रणाम कर ॥ ६ ॥

आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन नगर से चल कर वह जम्बुकोल बन्दरगाह जाकर, वहाँ नाव पर चढ़कर ॥ ७ ॥

समुद्र पारकर स्थविर के सत्य सङ्कल्प के बल पर उसी दिन पाटलिपुत्र पहुँच गया ॥ ८ ॥

अनुलादेवी सा सद्धिं पञ्चकञ्ञासतेहि च ।
अन्तेपुरिकइत्थीनं तथा पञ्चसतेहि च ॥ ९ ॥

दससीलं समादाय कासायवसना सुचि ।
पब्बज्जापेक्खिनी सेखा पेक्खन्ती थेरियागमं ॥ १० ॥

नगरस्सेकदेसम्हि रम्मे भिक्खुणुपस्सये ।
कारापिते नरिन्देन वासं कप्पेसि सुब्बता ॥ ११ ॥

उपासिकाहि ताहेस वुत्थो भिक्खुणुपस्सयो ।
'उपासिकाविहारो' ति तेन लङ्काय विस्सुतो ॥ १२ ॥

"भागिनेय्यो महारिट्ठो धम्मासोकस्स राजिनो ।
अप्पेत्वा राजसन्देसं थेरसन्देसमब्रवि ॥ १३ ॥

"भातुजाया सहायस्स रञ्ञो ते राजकुञ्जर !
आकङ्खमाना पब्बज्जं निच्चं वसति संयुता ॥ १४ ॥

सङ्घमित्तं भिक्खुणिं तं पब्बजेतुं विसज्जिय ।
ताय सद्धिं महाबोधिदक्खिणसाखमेव च ॥ १५ ॥

थेरिया च तमेवत्थं अब्रवि थेरभासितं ।
गन्त्वा पितुसमीपं सा थेरी थेरमतं ब्रवि ॥ १६ ॥

[W.G.142] आह राजा "तुवं, अम्म! अपस्सन्तो कथं अहं ।
सोकं विनोदयिस्सामि पुत्तनत्तुवियोगजं ?" ॥ १७ ॥

आह सा "मे, महाराज! भातुनो वचनं गरु ।
पब्बाजनीया च बहू, गन्तब्बं तत्थ तेन मे" ॥ १८ ॥

"सत्थाघातं अनरहा महाबोधिमहीरुहा ।
कथं नु साखं गण्हिस्सं" इति राजा विचिन्तयि ॥ १९ ॥

अनुला देवी– उधर देवी भी अन्तःपुर की पाँच सौ (५००) कन्याओं तथा इतनी ही स्त्रियों के साथ ॥ ९ ॥

दश शीलों का पालन करती, काषाय वस्त्र धारण कर मन, वचन एवं कर्म से पवित्र रहती हुई प्रव्रज्या प्राप्ति हेतु थेरी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी ॥ १० ॥

और नगरके एक तरफ राजा द्वारा निर्मापित एक भिक्षुणी-उपाश्रय में रहने लगी ॥ ११ ॥

यह भिक्षुणी-उपाश्रय उपासिकाओं के वास के कारण (अन्त में) 'उपासिका-विहार' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया ॥ १२ ॥

भगिनीपुत्र महारिष्ट अमात्य ने सम्राट धर्माशोक को अपने राजा का सन्देश सुनाकर, स्थविर का सन्देश यों दिया– ॥ १३ ॥

"राजश्रेष्ठ! आपके प्रिय मित्र (देवानाम्प्रियतिष्य) के भाई की स्त्री प्रव्रज्या की इच्छा से निरन्तर संयमपूर्वक रहती हुई प्रव्रज्या की इच्छा किये बैठी है ॥ १४ ॥

अतः आप उसको प्रव्रजित करने के लिये सङ्घमित्रा भिक्षुणी को भेजने की व्यवस्था करें । साथ ही महाबोधि की दक्षिण शाखा में भेजें ॥ १५ ॥

इसी तरह सङ्घमित्रा थेरी को भी स्थविर का सन्देश दिया । तब सङ्घमित्रा ने जाकर पिता को स्थविर का सन्देश सुनाया ॥ १६ ॥

राजा (पिता) ने कहा–"अम्मा ! तुम्हें भी बिना देखे मैं अपने पुत्र एवं नाती का शोक कैसे दूर कर पाऊँगा ?" ॥ १७ ॥

उत्तर में थेरी ने कहा–"मेरे भाई का सन्देश बहुत महत्त्वपूर्ण है । वहाँ बहुतों को धर्म में प्रव्रजित करना है । अतः मेरा वहाँ जाना बहुत आवश्यक हो गया है ॥ १८ ॥

तब राजा ने सोचा–"महाबोधि पर शस्त्र चलाना तो उचित नहीं है । उसके विना उसकी शाखा कैसे गृहीत की जा सकती है ? ॥ १९ ॥

अमच्चस्स महादेवनामकस्स मतेन सो ।
भिक्खुसङ्घं निमन्तेत्वा भोजेत्वा पुच्छि भूपति ॥ २० ॥

"भन्ते! लङ्कं महाबोधि पेसेतब्बं नु खो?" इति ।
थेरो मोग्गलिपुत्तो सो "पेसेतब्बं" ति भासिय ॥ २१ ॥

कतं महाअधिट्ठानपञ्चकं पञ्चचक्खुना ।
अभासि रञ्ञो, तं सुत्वा तुस्सित्वा धरणीपति ॥ २२ ॥

सत्तयोजिनिकं मग्गं सो महाबोधिगामिनं ।
सोधापेत्वान सक्कच्चं भूसापेसि अनेकधा ॥ २३ ॥

सुवण्णं नीहरापेसि कटाहकरणाय च ।
विस्सकम्मो च आगन्त्वा स तुलाधाररूपवा ॥ २४ ॥

"कटाहं किम्पमाणं नु करोमी" ति अपुच्छि तं ।
"ञत्वा पमाणं त्वंयेव करोहि" इति भासिते ॥ २५ ॥

सुवण्णानि गहेत्वान हत्थेन परिमज्जिय ।
कटाहं तङ्खणंयेव निम्मिनित्वान पक्कमि ॥ २६ ॥

[W.G.143] नवहत्थपरिक्खेपं पञ्चहत्थं गभीरतो ।
तिहत्थविक्खम्भयुत्तं अट्ठङ्गुलघनं सुभं ॥ २७ ॥

युवस्स हत्थिनो सोण्डप्पमाणमुखवट्टिकं ।
गाहापेत्वान तं राजा नालसुरियसमप्पभं ॥ २८ ॥

सत्तयोजनदीघाय वित्थताय तियोजनं ।
सेनाय चतुरङ्गिणिया महाभिक्खुगणेन च ॥ २९ ॥

उपागम्म महाबोधिं नानालङ्कारभूसितं ।
नानारतनविचित्तं विविधद्धजमालिनिं ॥ ३० ॥

तब महादेव अमात्य के परामर्श से राजा ने भिक्षुसङ्घ को निमन्त्रित कर उसे भोजन करा कर उससे पूछा– ॥ २० ॥

महाबोधि को लङ्का भेजने की स्वीकृति–"भन, क्या लङ्काद्वीप में महाबोधि की शाखा भेजी जानी चाहिये ?" स्थविर मोग्गलिपुत्र तिष्य ने उत्तर दिया–"हाँ, भेजी जानी चाहिये ॥" २१ ॥

और उन्होंने राजा को भगवान् के (पूर्वोक्त) अधिष्ठानपञ्चक (पाँच सत्यसङ्कल्प) सुनाये । उन्हें सुनने के बाद सन्तुष्ट होते हुए राजा ने ॥ २२ ॥

महाबोधि तक जाने वाले सात योजन लम्बे मार्ग को साफ-सुथरा कराया, एवं नाना प्रकार से सजाया ॥ २३ ॥

कटाह–निर्माण–फिर कटाह (कड़ाही) बनाने के लिये (जिसमें कि शाखा को रखा जायगा) सुवर्ण मँगवाया । उसी समय विश्वकर्मा सुवर्णकार के रूप में वहाँ प्रकट हुए ॥ २४ ॥

उसने पूछा–"यह कटाह कितना लम्बा-चौड़ा बनाऊँ ?" आप ही इस का माप सोच-समझ कर बना दीजिये ॥ २५ ॥

तब विश्वकर्मा ने वह सोना लेकर उसे हाथ से ही मोड़-तोड़ कर कटाह का रूप दे दिया । और वहाँ से चला गया ॥ २६ ॥

वह कटाह नौ हाथ चौड़ा, पाँच हात गहरा, तीन हाथ विष्कम्भ (आर-पार) वाला तथा आठ अंगुल चौड़ी चादर बाला था ॥ २७ ॥

उसके मुख की रचना युवा हाथी के सूँड जितनी मोटी थी । ऐसे उगते सूर्य की चमकवाले उस कटाह को राजा ने अपने हाथ में लिया ॥ २८ ॥

और सात योजन लम्बी एवं तीन योजन चौड़ी चतुरङ्गिणी सेना तथा महान् भिक्षुसङ्घ को साथ लेकर ॥ २९ ॥

नाना अलङ्कार, अनेकविध रत्न, तथा विविध ध्वजाओं से सजे हुए महाबोधि वृक्ष के पास जा कर ॥ ३० ॥

नानाकुसुमसङ्किण्णं नानातुरियघोसितं ।
परिवारयित्वा सेनाय परिक्खिपिय साणिया ॥ ३१ ॥

महाथेरसहस्सेन पमुखेन महागणे ।
रज्जं पत्ताभिसेकानं सहस्सेनाधिकेन च ॥ ३२ ॥

परिवारयित्वा अत्तानं महाबोधिं च साधुकं ।
उल्लोकयि महाबोधिं पग्गहेत्वान अञ्जलिं ॥ ३३ ॥

तस्सा दक्खिणसाखाय चतुहत्थप्पमाणकं ।
ठानं खन्धं ठपयित्वान साखा अन्तरधायिसुं ॥ ३४ ॥

तं पाटिहारियं दिस्वा पतीतो पथवीपति ।
"पूजमहं महाबोधिं रज्जेना" ति उदीरयि ॥ ३५ ॥

[W.G.144] अभिसिञ्चि महाबोधिं महारज्जेन भूपति ।
पुप्फादीहि महाबोधिं पूजेत्वा तिप्पदक्खिणं ॥ ३६ ॥

कत्वा अट्ठसु ठानेसु वन्दित्वान कतञ्जलि ।
सुवण्णखचिते पीठे नानारतनमण्डिते ॥ ३७ ॥

स्वारोहे याव साखुच्चे तं सुवण्णकटाहकं ।
ठपापेत्वान आरुय्ह गहेतुं साखमुत्तमं ॥ ३८ ॥

आदियित्वान सोवण्णतूलिकाय मनोसिलं ।
लेखं दत्वान साखाय सच्चकिरियं अका इति ॥ ३९ ॥

"लङ्काद्वीपं यदि इतो गन्तब्बं उरुबोधिया ।
निब्बेमतिको बुद्धस्स सासनम्हि सचे अहं ॥ ४० ॥

सयं येव महाबोधिसाखायं दक्खिणा सुभा ।
छिज्जित्वान पतिट्ठातु इध हेमकटाहके" ॥ ४१ ॥

जहाँ कि नाना प्रकार की पुष्पवृष्टि हो रही थी, विविध गाजे-बाजों की मनोहर ध्वनियाँ सुनाई पड़ रही थी । सेना तथा तम्बू-कनात से उस क्षेत्र को आवृत करा कर ॥ ३१ ॥

जहाँ अपने-अपने सङ्घ के प्रमुख भिक्षुओं के साथ आये स्थविरों तथा नाना राज्यों से आये एक हजार प्राप्ताभिषेक राजाओं से घिरे हुए सम्राट धर्माशोक ने हाथ जोड़कर महाबोधि के दर्शन किये ॥ ३२-३३ ॥

तब उस महाबोधि की दक्षिण शाखा की अन्य लघु शाखाएँ चार हाथ स्कन्ध छोड़ कर अन्तर्धान हो गयी ॥ ३४ ॥

महाबोधिबूजा–इस चमत्कार को देखकर श्रद्धालु राजा ने घोषणा की–"मैं इस महाबोधि की अपने समस्त राज्य (के समर्पण) से पूजा करता हूँ"–ऐसा कह कर महीपति ने अपने समस्त राज्य को भेंट चढ़ा कर उस महाबोधि का अभिषेक किया तथा तीन प्रदक्षिणा कर और पत्र-पुष्प चढ़ा कर पूजा करते हुए ॥ ३५-३६ ॥

आठ स्थानों से वन्दना (साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम) करते हुए हाथ जोड़ कर सुवर्णनिर्मित एवं नाना रत्नमण्डित ॥ ३७ ॥

पीठ पर उस सुवर्ण कटाह को रखवा कर फिर शाखा जितने ऊँचे स्थान पर उस सुवर्ण-कटाह को रखवा कर, उस आसन पर चढ़कर शाखा को ग्रहण करने के लिये ॥ ३८ ॥

राजा ने सोने की सलाई और मैनशिल से रेखा खींच कर यह शपथ (सत्यक्रिया) की– ॥ ३९ ॥

"यदि इस बोधिवृक्ष की शाखा को यहाँ से लङ्काद्वीप जाना है, यदि मैं बुद्ध शासन में असन्दिग्धरूप से दृढ विश्वस्त हूँ ॥ ४० ॥

"तो यह पवित्र दक्षिण शाखा स्वयं ही वृक्ष से पृथक् हो कर इस सुवर्णकटाह में आकर आरोपित (प्रतिष्ठित) हो जाय" ॥ ४१ ॥

लेखाठाने महाबोधि छिज्जित्वा सयमेव सा ।
गन्धकद्दमपूरस्स कटाहस्सोपरि ट्ठिता ॥ ४२ ॥

मूललेखाय उपरि तियङ्गुलतियङ्गुले ।
दस मनोसिलालेखा परिक्खिपि नरिस्सरो ॥ ४३ ॥

[W.G.145] आदिया थूलमूलानि खुद्दकानितराहि तु ।
निक्खमित्वा दस दस जालीभूतानि ओतरुं ॥ ४४ ॥

तं पाटिहारियं दिस्वा राजातीव पमोदितो ।
तत्थेवाकासि उक्कुट्ठिं समन्ता परिसा पि च ॥ ४५ ॥

भिक्खुसङ्घो साधुकारं तुट्ठचित्तो पवेदयि ।
चेलुक्खेपसहस्सानि पवत्तिंसु समन्ततो ॥ ४६ ॥

एवं सतेन मूलानं तत्थ सा गन्धकद्दमे ।
पतिट्ठासि महाबोधि पसीदेन्ती महाजनं ॥ ४७ ॥

तस्सा खन्धो दसहत्थो, पञ्च साखा मनोरमा ।
चतुहत्था चतुहत्था, दसड्ढफलमण्डिता ॥ ४८ ॥

सहस्सं तु पसाखानं साखानं तासमासि च ।
एवं आसि महाबोधि मनोहरसिरीधरा ॥ ४९ ॥

कटाहम्हि महाबोधिपतिट्ठितखणे मही ।
अकम्पि, पाटिहीरानि अहेसुं विविधानि च ॥ ५० ॥

सयं नादेहि तुरियानं देवेसु मानुसेसु च ।
साधुकारनिनादेहि देवब्रह्मगणस्स च ॥ ५१ ॥

मेघानं मिगपक्खीनं यक्खादीनं रवेहि च ।
रवेहि च महीकम्पे एककोलाहलं अहु ॥ ५२ ॥

तब रेखा के स्थान से वह महाबोधि शाखा स्वयं ही पृथक् हो कर उस सुगन्धित द्रव्य की चूर्णमय गीली मिट्टी (कर्दम) से भरे सुवर्म कटाह में आयी ॥ ४२ ॥

तब राजा ने उस मूल (प्रधान) रेखा से ऊपर तीन तीन अङ्गुल पर मैनशिल से दश रेखाएँ और खींची ॥ ४३ ॥

ऐसा करते ही, प्रधान शाखा से दश एवं छोटी रेखाओं से दश शाखाएँ निकल कर उस सुवर्णकटाह पर जाल की तरह फैल गयीं ॥ ४४ ॥

इस चमत्कार को देख कर भी राजा बहुत प्रमुदित हुआ । और अपने साथियों के साथ जय-जयकार का उद्घोष (उक्कुट्ठि) किया ॥ ४५ ॥

भिक्षुसङ्घ भी प्रहृष्ट हो कर साधुवाद कह उठा तथा वहाँ प्रहृष्ट जनता द्वारा हजारों वस्त्रपताकाएँ फहरायी गयीं ॥ ४६ ॥

यों वह महाबोधि की दक्षिण शाखा एक (१००) सौ सङ्ख्या में विस्तृत हो कर उस सुवर्णकटाह में फैल गयी, इसे देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ । ॥ ४७ ॥

उस का दश हाथ लम्बा स्कन्ध (तना), चार चार हाथ लम्बी पाँच पाँच फलवाली पाँच सुन्दर शाखाएँ ॥ ४८ ॥

इसी तरह हजारों प्रशाखाओं तथा छोटी शाखाओं से शोभित वह महाबोधि अतीव रमणीय लग रही थी ॥ ४९ ॥

ज्यों ही वह महाबोधि शाखा उस सुवर्ण-कटाह में प्रतिष्ठित हुई, यह महापृथ्वी हर्षोत्फुल्ल हो, काँप उठी तथा उसी समय इसी तरह के अन्य अनेक चमत्कार भी हुए ॥ ५० ॥

वाद्ययन्त्रों से स्वयं ही मनोहर ध्वनियाँ निकलने लगीं । देवता और मनुष्यों तथा ब्रह्माओं के साधुवाद के साथ ही ॥ ५१ ॥

मृग, पक्षी एवं यक्षादि के निनाद से, तथा पृथ्वी के कम्पन एवं मेघों की गड़गड़ाहट से महान् मङ्गलमय कोलाहल होने लगा ॥ ५२ ॥

बोधिया फलपत्तेहि छब्बण्णरस्मियो सुभा ।
निक्खमित्वा चक्कवाळं सकलं सोभयिंसु च ॥ ५३ ॥

सकटाहा महाबोधि उग्गन्त्वान ततो नभं ।
अट्ठासि हिमगब्भम्हि सत्ताहानि अदस्सना ॥ ५४ ॥

राजा ओरुय्ह पीठम्हा तं सत्ताहं तहिं वसं ।
निच्चं महाबोधिपूजं अकासि च अनेकधा ॥ ५५ ॥

[W.G.146] अतीते तम्हि सत्ताहे सब्बे हिमबलाहका ।
पविसिंसु महाबोधिं सब्ब ता रस्मियो पि च ॥ ५६ ॥

सुद्धे नभसि दस्सित्थ सा कटाहे पतिट्ठिता ।
महाजनस्स सब्बस्स महाबोधि मनोरमा ॥ ५७ ॥

पवत्तम्हि महाबोधि विविधे पाटिहारिये ।
विम्हापयन्ती जनतं पठवीतलमोरुहि ॥ ५८ ॥

पाटिहीरेहि नेकेहि तेहि सो पीणितो पुन ।
महाराजा महाबोधिं महारज्जेन पूजयि ॥ ५९ ॥

महाबोधिं महारज्जे अभिसिञ्चिय पूजयं ।
नानापूजाहि सत्ताहं पुन तत्थेव सो वसि ॥ ६० ॥

अस्सयुजसुक्कपक्खे पण्णरसउपोसथे ।
अग्गहेसि महाबोधिं द्विसत्ताहच्चये ततो ॥ ६१ ॥

अस्सयुजकाळपक्खे चातुद्दसउपोसथे ।
रथे सुभे ठपेत्वान महाबोधिं रथेसभो ॥ ६२ ॥

पूजयं तं दिनं येव उपनेत्वा सकं पुरं ।
अलङ्करित्वा बहुधा करेत्वा मण्डपं सुभं ॥ ६३ ॥

उस समय उस महाबोधि के सुन्दर फल एवं पत्रों से छह वर्णों की रंग-विरंगी किरणें निकल कर समस्त ब्रह्माण्ड को चमत्कृत करने लगीं ॥ ५३ ॥

फिर वह महाबोधि कटाह सहित आकाश में आकर कोहरे (हिमगर्भ) में जाकर सप्ताहपर्यन्त छिपी रही ॥ ५४ ॥

यह देखकर राजा मञ्च (पीठ) से उतार कर सप्ताहपर्यन्त वहीं ठहरे रहे। तथा उस महाबोधि की अनेक विधियों से पूजा करते हुए अपना समय बिताने लगे ॥ ५५ ॥

सप्ताह बीतने पर वह समग्र कोहरा (हिमगर्भ) तथा वे किरणें उसी महाबोधि में प्रविष्ट हो गयी ॥ ५६ ॥

तब निर्मल आकाश में वह सुवर्णकटाह में प्रतिष्ठित महाबोधि सभी लोगों को स्पष्ट दिखायी देने लगी ॥ ५७ ॥

यों वह महाबोधि प्राणियों को अनेकविध चमत्कार दिखाती हुई तथा विस्मित करती हुई पृथ्वी तल पर उतर आयी ॥ ५८ ॥

उस समय भी राजा ने उन चमत्कारों को देखकर अतीव प्रमुदित होते हुए उसको अपना राज्य समर्पित करते हुए उस महाबोधि की पूजा की ॥ ५९ ॥

इस तरह, राजा ने अपने राज्य पर महाबोधि को अभिषिक्त कर अनेक प्रकार से इसकी पूजा करते हुए सप्ताहपर्यन्त वहीं (बोधि वृक्ष के समीप ही) वास किया ॥ ६0 ॥

यों, आश्विन मास के शुक्लपक्ष की पूर्णिमा के उपोसथ के अवसर पर राजा ने उस महाबोधि (शाखा) को ग्रहण किया था ॥ ६१ ॥

फिर दो सप्ताह व्यतीत होने पर कार्तिक मास (?) के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दिन उपोसथ के अवसर पर मङ्गलमय रथ पर महाबोधि को प्रतिष्ठित कर राजा उसे अपने नगर में ले आये ॥ ६२ ॥

वहाँ शुभ मण्डप बनवा कर उसे नाना प्रकार से अलंकृत कर वहाँ दिन भर उस महाबोधि की पूजा की ॥ ६३ ॥

कत्तिकसुक्कपक्खस्स दिने पाटिपदे तहिं ।
महाबोधिं महासालमूले पाचीनके सुभे ॥ ६४ ॥

ठपापेत्वान कारेसि पूजा नेका दिने दिने ।
गाहतो सत्तरसमे दिवसे तु नवङ्कुरा ॥ ६५ ॥

सकिंयेव अजायिंसु तस्सा, तेन नराधिपो ।
तुट्ठचित्तो महाबोधिं पुन रज्जेन पूजयि ॥ ६६ ॥

[W.G.128] महारज्जे भिसिञ्चत्वा महाबोधिं महिस्सरो ।
कारेसि च महाबोधिपूजं नानप्पकारकं ॥ ६७ ॥

इति कुसुमपुरे सरे सरंसा
बहुविधचारुधजाकुला विसाला ।
सुरुचिरपवरोरुबोधिपूजा
मरुनरचित्तविकासिनी अहोसी ॥ ति ॥ ६८ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

महाबोधिगहणो नाम

अट्ठारसमो परिच्छेदो

***

फिर कार्तिक शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन प्राचीन पवित्र महासाल के मूल में उस महाबोधि को रखकर ॥ ६४ ॥

उस की कई दिन तक पूजा की । तब सत्तरहवें (१७) दिन उस में नये अङ्कुर निकले ॥ ६५ ॥

ये नव अङ्कुर उस शाखा में स्वयं ही निकले । इससे सन्तुष्ट हो कर राजा ने फिर उस महाबोधि को अपने राज्य से अभिषिक्त कर उस की पूजा की ॥ ६६ ॥

यों, वह पाटलिपुत्ररूप रम्य सरोवर में किरणों वाले सूर्य के समान महाबोधि की पूजा, अनेकविध मनोरम ध्वजाओं से सुसज्जित, विशाल, सुन्दर, श्रेष्ठ देव-मनुष्यगणों के चित्तों के लिये आह्लादकारी हुई ॥ ६८ ॥

सज्जनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह
संवर्धन हेतु रचित इस महावंस ग्रन्थ में

महाबोधिग्रहण नामक

अट्ठारहवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

१९.

एकूनवीसतिमो परिच्छेदो

(महाबोधिआगमनं नाम)

[W.G.148] महाबोधिरक्खणत्थं अट्ठारस रथेसभो ।
देवकुलानि दत्वान अट्ठामच्चकुलानि च ॥ १ ॥

अट्ठ ब्राह्मणकुलानि अट्ठ सेट्ठिकुलानि च ।
गोपकानं तरच्छानं कुलिङ्गानं कुलानि च ॥ २ ॥

तत्थेव पेसकारानं कुम्भकारानमेव च ।
सब्बेसं चापि सेनीनं नागयक्खानमेव च ॥ ३ ॥

हेमसज्जुघटे चेव दत्वा अट्ठट्ठ मानदो ।
आरोपेत्वा महाबोधिं नावं गङ्गाय भूपति ॥ ४ ॥

सङ्घमित्तं महाथेरिं सहेकादसभिक्खुणिं ।
तत्थेवारोपयित्वान अरिट्ठप्पमुखे पि च ॥ ५ ॥

नगरा निक्खमित्वान विञ्झाटविं अतिच्च सो ।
तामलित्तिं अनुप्पत्तो सत्ताहेनेव भूपति ॥ ६ ॥

अच्चुळाराहि पूजाहि देवा नागा नरा पि च ।
महाबोधिं पूजयन्ता सत्ताहेनेवुपागमुं ॥ ७ ॥

[W.G.149] महासमुद्दतीरम्हि महाबोधिं महीपति ।
ठपापेत्वान पूजेसि महारज्जेन सो पुन ॥ ८ ॥

उन्नीसवाँ परिच्छेद

(बोधि आगमनप्रसङ्ग)

महाबोधि की रक्षा—महाराज अशोक ने महाबोधि की रक्षा के लिये अट्ठारह क्षत्रिय (देव) परिवार, आठ अमात्य परिवार ॥ १ ॥

आठ ब्राह्मण परिवार, आठ श्रेष्ठिपरिवार, आठ आठ गोप, बढ़ई, कुलिङ्गों, (कुबिन्द) ॥ २ ॥

जुलाहों, शिल्पियों तथा कुम्हार, सुवर्णकार, नाग, यक्ष परिवारों के साथ ॥ ३ ॥

आठ-आठ सोने चाँदी से भरे घड़े साथ देकर तथा उस महाबोधि शाखा को नाव पर चढ़ाया ॥ ४ ॥

साथ ही, इसी तरह ग्यारह (११) भिक्षुणियों के साथ महाथेरी सङ्घमित्रा को अरिष्ट आदि के साथ उसी नाव पर चढ़ा दिया ॥ ५ ॥

स्वयं सम्राट् नगर से निकल कर स्थलमार्ग से विन्ध्याटवी पार कर एक ही सप्ताह में ताम्रलिप्ती पहुँच गये ॥ ६ ॥

मार्ग में भी सम्राट् देवताओं, मनुष्यों, नागों के साथ मिल कर महाबोधि की विशेष पूजा करते रहे ॥ ७ ॥

महीपति ने महासमुद्र तट पर पहुँच कर भी महाबोधि को स्थापित कर उसको अपना महान् साम्राज्य समर्पित करते हुए पूजा की ॥ ८ ॥

महाबोधिं महारज्जे अभिसिञ्चयि कामदो ।
मग्गसिरसुक्कपक्खे दिने पाटिपदे ततो ॥ ९ ॥

उच्चारेतुं महाबोधिं तेहि येवट्ठअट्ठहि ।
सालमूलम्हि दिन्नेहि जातुग्गतकुलेहि सो ॥ १० ॥

उक्खिपित्वा महाबोधिं गलमत्तं जलं तहिं ।
ओगाहेत्वा स नावाय पतिट्ठापयि साधुकं ॥ ११ ॥

नावं आरोपयित्वा तं महाथेरिं सथेरिकं ।
महारिट्ठं महामच्चं इदं वचनमब्रवि ॥ १२ ॥

"अहं रज्जेन तिक्खत्तुं महाबोधिं अपूजयिं ।
एवमेवाभिपूजेतु राजा रज्जेन मे सखा" ॥ १३ ॥

इदं वत्वा महाराजा तीरे पञ्जलिके ठितो ।
गच्छमानं महाबोधिं पस्सं अस्सूनि वत्तयि ॥ १४ ॥

"मुञ्चमानो महाबोधिरुक्खो दसबलस्स सो ।
जालं सरसरंसिं वा गच्छति वत रे" इति ॥ १५ ॥

महाबोधिवियोगेन धम्मासोको ससोकवा ।
कन्दित्वा परिदेवित्वा अगमासि सकं पुरं ॥ १६ ॥

महाबोधिसमारूव्हा नावा पक्खन्दि तोयधिं ।
समन्ता योजने वीचि सन्निसीदि महण्णवे ॥ १७ ॥

[W.G.150] पुप्फिसु पञ्चवण्णानि पदुमानि समन्ततो ।
अन्तलिक्खे पवज्जिंसु अनेकतुरियानि च ॥ १८ ॥

देवताहि अनेकाहि पूजानेका पवत्तिता ।
गहेतुं च महाबोधिं नागाकंसु विकुब्बनं ॥ १९ ॥

सभी की कामना पूर्ण करने वाले सम्राट् अशोक ने अपने साम्राज्य पर महाबोधि को अभिषिक्त किया तथा मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन आदेश दिया– ॥ ९ ॥

"उन्हीं श्रेष्ठ कुलों के वही आठ आदमी, जो शालमूल के नीचे महाबोधि को ले जाने के लिये नियुक्त किये थे, अब पुनः इस महाबोधि को ससम्मान उठावें ॥ १० ॥

"और गले तक जल में ले जाकर नाव में सादर प्रतिष्ठित कर दें" ॥ ११ ॥

फिर भिक्षुणियों तथा अरिष्ट सहित उस सङ्घमित्रा थेरी को भी नाव पर चढ़ा कर उससे कहा– ॥ १२ ॥

"मैंने अपना राज्य समर्पित कर महाबोधि की तीन बार पूजा की है । इसी प्रकार मेरा मित्र देवानाम्प्रिय तिष्य भी पूजा करे ।" ॥ १३ ॥

यह कहकर महाराज तीर पर हाथ जोड़ कर महाबोधि को लङ्का की तरफ जाता हुआ देखकर आँसू बहाने लगे ॥ १४ ॥

और कहने लगे–"सुन्दर किरणें विखेरती हुई दशबल (बुद्ध) की यह महाबोधि शाखा लङ्का जाती हुई कितनी रम्य लग रही है ।" ॥ १५ ॥

यो, महाबोधि के गमनजन्य वियोग से दुःखी होते हुए सम्राट् पुनः अपने नगर लौट आये ॥ १६ ॥

महाबोधि की नौकायात्रा– उसी तरह नाव के चलते समय, जिस पर महाबोधि शाखा ले जायी जा रही थी, समुद्र की उत्ताल तरङ्गें नाव से एक एक योजन तक सर्वथा शान्त रहीं ॥ १७ ॥

चारों तरफ पाँचों प्रकार के पद्मों पर रंग-विरंगे फूल खिल उठे । और आकाश में नाना प्रकार दिव्य वाद्य बजने लगे ॥ १८ ॥

अनेक देवताओं ने नाना प्रकार से पूजा प्रारम्भ की । परन्तु इसी बीच नाग उस महाबोधि को अपहृत करने की योजना बनाने लगे ॥ १९ ॥

सङ्घमित्ता महाथेरी अभिञ्ञाबलपारगा ।
सुपण्णरूपा हुत्वान ते तासेसि महोरगे ॥ २० ॥

ते तासिता महाथेरिं याचित्वान महोरगा ।
नयित्वान महाबोधिं भुजङ्गभवनं ततो ॥ २१ ॥

सत्ताहं नागराजेन पूजाहि विविधाहि च ।
पूजयित्वान आनेत्वा नावाय ठपयिंसु ते ॥ २२ ॥

तदहेव महाबोधि जम्बुकोलं इधागमा ।
देवानम्पियतिस्सो तु राजा लोकहिते रतो ॥ २३ ॥

सुमनसामणेरम्हा पुब्बे सुततदागमो ।
मग्गसिरादिदिनतो पभुतीव सदादरो ॥ २४ ॥

उत्तरद्वारतो याव जम्बुकोलं महापथं ।
विभूसयित्वा सकलं महाबोधिगतासयो ॥ २५ ॥

समुद्दपण्णसालाय ठानं ठत्वा महण्णवे ।
आगच्छन्तं महाबोधिं महाथेरीद्धियाद्दस ॥ २६ ॥

[W.G.151] तस्मिं ठाने कता साला पकासेतुं तमब्भुतं ।
'समुद्दपण्णसाला' ति नामेनासीध पाकटा ॥ २७ ॥

महाथेरानुभावेन सद्धिं थेरेहि तेहि च ।
तदहेवागमा राजा जम्बुकोलं ससेनको ॥ २८ ॥

महाबोधागमे पीतिवेगेनुन्नो उदानयं ।
गलप्पमाणं सलिलं विगाहेत्वा सुविग्गहो ॥ २९ ॥

महाबोधिं सोळसहि कुलेहि सह मुद्धना ।
आदायोरोपयित्वान वेलाय मण्डपे सुभे ॥ ३० ॥

अभिज्ञाशक्तिसम्पन्न सङ्घमित्रा थेरी ने जब नागों की यह कुटिल चाल जानी तो उन्होंने अपने ऋद्धिबल के प्रभाव से गरुड़ का रूप धारण कर उन्हें भयभीत कर डाला ॥ २० ॥

यों महाथेरी से त्रस्त हुए उन नागों ने महाथेरी से क्षमा-याचना की । तथा उनसे एक सप्ताहमात्र नागलोक में ले जाकर महाबोधि को पूजा करने हेतु माँगा और वे उसे नागलोक ले गये ॥ २१ ॥

वहाँ उन्होंने सप्ताहपर्यन्त उस महाबोधि की नानाप्रकार से पूजा-अर्चना की । तदनन्तर वे उसे पुनः नाव में प्रतिष्ठित कर गये ॥ २२ ॥

उसी दिन वह महाबोधि यहाँ लङ्का में जम्बुकोल पहुँच गयी । उधर लोकहित में संलग्न राजा देवानाम्प्रिय तिष्य भी ॥ २३ ॥

सुमनश्रामणेर के श्रीमुख से महाबोधि का आगमन सुनकर मार्गशीर्षमास के प्रथम दिन से ही उसके प्रति श्रद्धासम्पन्न होकर ॥ २४ ॥

उत्तर द्वार से जम्बुकोल तक के सभी राजमार्गों को साफ-सुथरा करवा कर अलङ्कृत करवा चुके थे ॥ २५ ॥

समुद्र के किनारे पर बनी समुद्रपर्णशाला के स्थान पर खड़े होकर राजा ने स्थविरों के ऋद्धिबल के सहारे महाथेरी सङ्घमित्रा तथा महाबोधि को नाव से आते हुए देखा ॥ २६ ॥

इस अद्भुत प्रातिहार्य की स्मृति में राजा ने यह प्रसिद्ध समुद्र-पर्णशाला बनवायी ॥ २७ ॥

महास्थिविर के प्रताप (आनुभाव) से सेनासहित राजा तथा अन्य स्थविर उसी दिन जम्बुकोल पहुँच गये ॥ २८ ॥

महाबोधि को नाव से उतारना– उन (उपर्युक्त) सोलह कुलों से घिरी हुई महाबोधि शाखा को ससम्मान शिर पर रखकर किनारे (वेला) पर ला कर शुभ मण्डप में रखा ॥ ३० ॥

ठपयित्वान लङ्किन्दो लङ्कारज्जेन पूजयि।
सोळसन्नं समप्पेत्वा कुलानं रज्जमत्तनो ॥ ३१ ॥

सयं दोवारिकट्ठाने ठत्वान दिवसे तयो।
तत्थेव पूजं कारेसि विविधं मनुजाधिपो ॥ ३२ ॥

महाबोधिं दसमियं आरोपेत्वा रथे सुभे।
आनयन्तो मनुस्सिन्दो दुमिन्दं तं ठपापयि ॥ ३३ ॥

पाचीनस्स विहारस्स ठाने ठानविचक्खणो।
पातरासं पवत्तेसि ससङ्घस्स जनस्स सो ॥ ३४ ॥

[W.G.152] महामहिन्दथेरेत्थ कतं दसबलेन तं।
कथेसि नागदमनं रञ्ञो तस्स असेसतो ॥ ३५ ॥

थेरस्स सुत्वा कारेत्वा सञ्ञाणानि तहिं तहिं।
परिभुत्तेसु ठानेसु निसज्जादीहि सत्थुना ॥ ३६ ॥

तिवक्कस्स ब्राह्मणस्स गामद्वारे च भूपति।
ठपापेत्वा महाबोधिं ठानेसु तेसु तेसु च ॥ ३७ ॥

सुद्धबालुकसन्थारे नानापुप्फसमाकुले।
पग्गहीतधजे मग्गे पुप्फअग्घिकभूसिते ॥ ३८ ॥

महाबोधिं पूजयन्तो रत्तिन्दिवमतिन्दितो।
आनयित्वा चुद्दसियं अनुराधपुरन्तिकं ॥ ३९ ॥

वड्ढमानकछायाय पुरं साधु विभूसितं।
उत्तरेन दुवारेन पूजयन्तो पवेसिय ॥ ४० ॥

दक्खिणेन दुवारेन निक्खमित्वा पवेसिय।
महामेघवनुय्यानं चतुबुद्धनिसेवितं ॥ ४१ ॥

महाबोधिपूजा– फिर उस लङ्काधिपति ने उस महाबोधि को अपना लङ्का का समग्र राज्य अर्पित कर विशेष पूजा की । अपना राज्य उन सोलह (१६) कुमारों को सौंप कर और तीन दिन तक विविध पूजाओं में अपना चित्त लगाया ॥ ३१-३२ ॥

फिर दशमी के दिन महाबोधि को शुभ रथ पर प्रतिष्ठित कर, स्थान-अस्थान के विवेकज्ञ राजा ने उस को प्राचीन विहार के स्थान में रखा ॥ ३३ ॥

तथा उसी समय सङ्घसहित समग्र जनता को प्रातराश (कलेवा) कराया ॥ ३४ ॥

इसी स्थान पर दशबलद्वारा पूर्वसमय में कृत नागदमन का प्रसङ्ग भी महामहेन्द्र स्थविर ने राजा को विस्तार से सुनाया ॥ ३५ ॥

राजा ने बुद्ध के उपवेशन आदि से पूत हुए उन स्थानों पर उन चिह्नों की स्मृति-रक्षाहेतु भवनादि का निर्माण कराया ॥ ३६ ॥

पुनः राजा ने त्रिवक्र ब्राह्मण के ग्राम के द्वार पर महाबोधि को कुछ समय रखवा कर ॥ ३७ ॥

उन स्थानों पर साफ मिट्टी विछवा कर, मार्गों पर नाना प्रकार के फूलों की बन्दनवार बँधवा कर, रंग विरंगी पताकाएँ लगवाकर ॥ ३८ ॥

रात-दिन सावधान रहकर महाबोधि की पूजा करता हुआ, सम्राट् उसे चतुर्दशी के दिन अनुराधपुर के पास ला कर ॥ ३९ ॥

(सायङ्काल) छाया होने पर भलीभाँति सजे नगर के उत्तर द्वार से प्रविष्ट होकर पूजा-अर्चना करता हुआ ॥ ४० ॥

दक्षिण द्वार से निकल कर प्राचीन चारों बुद्धों द्वारा सेवित महामेघवनोद्यान में प्रवेश कर ॥ ४१ ॥

सुमनस्सेव वचसा पदेसं साधु सङ्खतं ।
पुब्बबोधिट्ठितट्ठानं उपनेत्वा मनोरमं ॥ ४२ ॥

कुलेहि सो सोळसहि राजालङ्कारधारिहि ।
ओरोपेत्वा महाबोधिं पतिट्ठापेतुमोस्सजि ॥ ४३ ॥

हत्थतो मुत्तमत्ता सा असीतिरतनं नभं ।
उग्गन्त्वान ठिता मुञ्चि छब्बण्णा रस्मियो सुभा ॥ ४४ ॥

[W.G.153] दीपे पत्थरियाहच्च ब्रह्मलोकं ठिता अहुं ।
सुरियत्थङ्गमा याव रस्मियो ता मनोरमा ॥ ४५ ॥

पुरिसा दस सहस्सानि पसन्ना पाटिहारिये ।
विपस्सित्वान अरहत्तं पत्वान इध पब्बजुं ॥ ४६ ॥

ओरोहित्वा महाबोधि सुरियत्थङ्गमे ततो ।
रोहिणिया पतिट्ठासि महियं, कम्पि मेदिनी ॥ ४७ ॥

मूलानि तानि उग्गन्त्वा कटाहमुखवट्टितो ।
विनन्धन्ता कटाहं तं ओतरिंसु महीतलं ॥ ४८ ॥

पतिट्ठितं महाबोधिं जना सब्बे समागता ।
गन्धमालादिपूजाहि पूजयिंसु समन्ततो ॥ ४९ ॥

महामेघो पविस्सित्थ, हिमगब्भा समन्ततो ।
महाबोधिं छादयिसुं सीतलानि घनानि च ॥ ५० ॥

सत्ताहानि महाबोधि तहिं येव अदस्सना ।
हिमगब्भे सन्निसीदि पसादजननी जने ॥ ५१ ॥

सत्ताहातिक्कमे मेघा सब्बे अपगमिंसु ते ।
महाबोधि च दस्सित्थ छब्बण्णरंसियो पि च ॥ ५२ ॥

वहाँ सुमन श्राणेर द्वारा निर्दिष्ट पवित्र स्थान में ले जा कर ॥ ४२ ॥

राज्य-सम्मान धारण किये सोलह कुलों के पुरुषों द्वारा उस महाबोधि को उठवा कर, प्रतिष्ठित करने के लिये रखा ॥ ४३ ॥

रखने के बाद, हाथ हटाते ही, वह आकाश में अस्सी हाथ ऊँची चली गयी । वहाँ ठहर कर उसने छह (६) वर्ण की रश्मियाँ (किरणें) छोड़ी ॥ ४४ ॥

ये किरणें द्वीप में चारो तरफ फैलती हुई ब्रह्मलोक तक पहुँच कर सायङ्काल प्रकाशित होती रहीं ॥ ४५ ॥

इस लोकोत्तर चमत्कार से प्रभावित हो कर उस समय दस हजार मनुष्यों दिव्य दृष्टि एवं अर्हत्त्व की ओर अभिमुख होकर प्रव्रजित हुए ॥ ४६ ॥

तब वह महाबोधि, सूर्य के रोहिणी उत्सव के समय पुनः पृथ्वी पर उतर आयी ॥ ४७ ॥

उस समय पृथ्वी में भयङ्कर कम्पन हुआ ।

महाबोधि का भूमिरोपण– फिर उस की जड़े कड़ाह के किनारों से बाहर निकलती हुई उस कड़ाह को चारों ओर से घेरती हुई, भूमि की तरफ बढ़ी ॥ ४८ ॥

यों उस महाबोधि को भूमि में सर्वथा परिनिष्ठित होते देखकर वहाँ एकत्र हुए श्रद्धालु जनों ने माला-फूल से महाबोधि की पूजा की ॥ ४९ ॥

उसी समय आकाश से वर्षा होने लगी । चारों तरफ शीतल कोहरे ने फैल कर महाबोधि को आवृत कर लिया ॥ ५० ॥

वह महाबोधि, जनता में श्रद्धोत्पाद के लिये, सप्ताहपर्यन्त अदृश्य होती हुई उसी कोहरे में छिपी रही ॥ ५१ ॥

सप्ताह व्यतीत होने पर आकाश पुनः निर्मल हो गया । कोहरा छट गया । उसी समय छह रंग की किरणों से युक्त वह महाबोधि वृक्ष सब को दिखायी देने लगा ॥ ५२ ॥

महामहिन्दथेरो च सङ्घमित्ता च भिक्खुनी ।
तत्थागच्छुं सपरिसा राजा सपरिसो पि च ॥ ५३ ॥

खत्तिया काजरग्गामे चन्दनग्गामखत्तिया ।
तिवक्कब्राह्मणो चेव दीपवासिजना पि च ॥ ५४ ॥

[W.G.154] देवानुभावेनागञ्छुं महाबोधिमहुस्सुका ।
महासमागमे तस्मिं पाटिहारियविम्हिते ॥ ५५ ॥

पक्कं पाचीनसाखाय पेक्खतं पक्कमक्खतं ।
थेरो पतितमादाय रोपेतुं राजिनो अदा ॥ ५६ ॥

पंसूनं गन्धमिस्सानं पुण्णे सोण्णकटाहके ।
महाआसनठाने तं ठपिते रोपयिस्सरो ॥ ५७ ॥

पेक्खतं येव सब्बेसं उग्गन्त्वा अट्ठ अङ्कुरा ।
जायिंसु, बोधितरुणा अट्ठंसु चतुहत्थका ॥ ५८ ॥

राजा ते बोधितरुणे दिस्वा विम्हितमानसो ।
सेतच्छत्तेन पूजेसि अभिसेकं अदासि च ॥ ५९ ॥

पतिट्ठापेसुमट्ठन्नं जम्बुकोलम्हि पट्टने ।
महाबोधिट्ठितट्ठाने नावायोरोहणे तदा ॥ ६० ॥

तिवक्कब्राह्मणग्गामे, थूपारामे तथेव च ।
इस्सरसमणारामे, पठमे चेतियङ्गणे ॥ ६१ ॥

चेतियपब्बतारामे, तथा काजरगामके ।
चन्दनगामके चापि एकेकं बोधिलट्ठिकं ॥ ६२ ॥

[W.G.155] सेसा चतुपक्कजाता द्वत्तिंसबोधिलट्ठियो ।
समन्ता योजनट्ठाने विहारेसु तहिं तहिं ॥ ६३ ॥

महेन्द्र स्थविर कदा आगमन—तब महामहेन्द्र स्थविर अपने सहयोगी स्थविरों सहित एवं सङ्घमित्रा भिक्षुणी तथा सङ्घसहित वहाँ पधारे । उधर राजा भी अपने अमात्यमण्डल सहित वहाँ आ पहुँचा ॥ ५३ ॥

काजरग्राम तथा चन्दनग्राम के क्षत्रिय, तिवक्क ब्राह्मण तथा द्वीपवासी नागरिक इस प्रातिहार्य से चकित होते हुए इस महाबोधि महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये देवताओं के प्रताप से एकत्र हुए ॥ ५४-५५ ॥

तब सबके देखते-देखते उस महाबोधि की प्राचीन शाखा से एक पका हुआ फल गिरा । स्थविर ने उसके प्रत्यारोपित करने के लिये राजा को दे दिया ॥ ५६ ॥

तब राजा ने उस फल को गन्धमिश्रित गीली मिट्टी से पूर्ण सुवर्ण-कटाह में रखकर महाआसन के स्थान पर रोपित कर दिया ॥ ५७ ॥

तरुण बोधिवृक्ष—सब के देखते ही देखते उस बीज में से आठ अङ्कुर निकले । और वे चार हाथ ऊँचे बोधिवृक्ष बन गये ॥ ५८ ॥

राजा ने उन छोटे वृक्षों को आश्चर्यचकित दृष्टि से देखते हुए उन पर श्वेत छत्र चढ़ाया और उनका अभिषेक किया ॥ ५९ ॥

तब उसने उन आठों में से एक को जम्बुकोलपट्टन में ले जाकर, शाखा जहाँ प्रारम्भ में नाव से उतार कर महाबोधि को रखा गया था, वहाँ प्रतिष्ठित किया ॥ ६० ॥

एक को त्रिवक्रब्राह्मण ग्राम में, एक को स्तूपाराम में, एक को ईश्वर श्रमणाराम में, एक को चैत्य पर्वताराम में, एक काजरग्राम में तथा एक को चन्दनग्राम में प्रतिष्ठित किया ॥ ६१-६२ ॥

बाकी बचे चार फलों से पैदा हुए बत्तीस (३२) तरुण बोधिवृक्षों को चारों ओर योजन-योजन की दूरी पर जहाँ-तहाँ अन्य विहारों में प्रतिष्ठित कर दिया ॥ ६३ ॥

महाबोधिस्थापनावर्णन समाप्त ॥

दीपवासिजनस्सेवं हितत्थाय पतिट्ठिते ।
महाबोधिदुमिन्दम्हि सम्मासम्बुद्धतेजसा ॥ ६४ ॥

अनुला सा सपरिसा सङ्घमित्ताय थेरिया ।
सन्तिके पब्बजित्वान अरहत्तमपापुणि ॥ ६५ ॥

अरिट्ठो सो पञ्चसतपरिवारो च खत्तियो ।
थेरन्तिके पब्बजित्वा अरहत्तमपापुणि ॥ ६६ ॥

यानि सेट्ठकुलानट्ठ महाबोधिं इधाहरुं ।
'बोधाहारकुलानी' ति तानि तेन पवुच्चरे ॥ ६७ ॥

'उपासिकाविहारो' ति ञाते भिक्खुणुपस्सये ।
ससङ्घा सङ्घमित्ता च महाथेरी तहिं वसि ॥ ६८ ॥

अगारत्तयपामोक्खे आगारे तत्थ कारयि ।
द्वादसे, तेसु एकस्मिं महागारे ठपापयि ॥ ६९ ॥

महाबोधिसमेताय नावाय कूपयट्ठिकं ।
एकस्मिं पियमेकस्मिं अरित्तं, तेहि ते विदू ॥ ७० ॥

जाते अञ्ञनिकाये पि अगारा द्वादसा पि ते ।
हत्थाळ्हकभिक्खुनीहि वळञ्जयिंसु सब्बदा ॥ ७१ ॥

रञ्ञो मङ्गलहत्थी सो विचरन्तो यथासुखं ।
पुरस्स एकपस्सम्हि कन्दरन्तम्हि सीतले ॥ ७२ ॥

कदम्बपुप्फगुम्बन्ते अट्ठासि गोचरं चरं ।
हत्थिं तत्थ रतं ञत्वा अकंसु तत्थ आळ्हकं ॥ ७३ ॥

[W.G.156] अथेकदिवसं हत्थी न गण्हि कबलानि च ।
दीपप्पसादकं थेरं राजा सो पुच्छि तं मनं ॥ ७४ ॥

अनुलादेवी का प्रव्रज्या—यों, लङ्कावासियों के हितसम्पादनार्थ सम्यक्सम्बुद्ध के प्रताप से वृक्षराज महाबोधि की स्थापना होने पर ॥ ६४ ॥

अपने साथ की स्त्रियों सहित अनुला देवी ने सङ्घमित्रा थेरी से प्रव्रज्या ग्रहण कर अर्हत्व पद पा लिया ॥ ६५ ॥

अरिष्ट की प्रव्रज्या—उधर अरिष्ट ने भी पाँच सौ क्षत्रियपरिवारों के साथ महामहेन्द्र स्थविर से प्रव्रज्या ग्रहण की ॥ ६६ ॥

वे श्रेष्ठकुल, जो यहाँ अपने संरक्षण में महाबोधि वृक्ष लाये थे, आज से 'बोधाहार कुल' नाम से समग्र लङ्काद्वीप में प्रसिद्ध हो गये ॥ ६७ ॥

'भिक्षुणीउपाश्रय' नाम से जाना जाने वाला विहार अब 'उपासिकाविहार' कहलाने लगा। जिसमें सङ्घमित्रा थेरी अपनी सहयोगिनी भिक्षुणियों के साथ रहने लगी ॥ ६८ ॥

वहाँ, राजा ने, बारह नये भवन बनवाये जिन में तीन मुख्य थे। उनमें से एक महाभवन में ॥ ६९ ॥

महाबोधि के साथ आयी विशाल नौका की कूपयष्टि (मस्तूल), एवं एक में प्रिय (पतवार) एक में अरित्र (पाल) रखवाया। आगे चलकर ये तीनों भवन इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हुए ॥ ७० ॥

बाद में भिक्षुणी-सङ्घ में अन्य नये निकाय बन जाने पर भी ये बारह भवन हत्थाळहकवासी भिक्षुणियों के अधीन ही रहे ॥ ७१ ॥

आळहक भवन—उधर राजा का मङ्गलहस्ती स्वेच्छया विचरण करता हुआ नगर के एक किनारे बनी किसी गुफा में जाकर बैठता था। उस के पास शीतल कदम्ब पुष्पों के झुरमुट (गुम्ब) में खड़ा होकर चरता रहता था ॥ ७२ ॥

यों उस हाथी को दिनरात वहीं सुखपूर्वक चरते, सोते, उठते-बैठते देखकर राजा ने उस के लिये वहाँ आढ़क (गज-बन्धन स्थान) बनवा दिया ॥ ७३ ॥

एक दिन उस हाथी ने कुछ भी नहीं खाया। राजा ने द्वीप पर अकारण कृपालु महास्थविर से इसका कारण पूछा ॥ ७४ ॥

"कदम्बपुप्फगुम्बस्मिं थूपस्स करणं करी ।
इच्छती" ति महाथेरो महाराजस्स अब्रवि ॥ ७५ ॥

सधातुकं तत्थ थूपं थूपस्स घरमेव च ।
खिप्पं राजा अकारेसि निच्चं जनहिते रतो ॥ ७६ ॥

सङ्घमित्ता महाथेरी सुञ्ञागाराभिलासिनी ।
आकिण्णत्ता विहारस्स वुस्समानस्स तस्स सा ॥ ७७ ॥

वुद्धत्थिनी सासनस्स भिक्खुणीनं हिताय च ।
भिक्खुणूपस्सयं अञ्ञं इच्छमाना विचक्खणा ॥ ७८ ॥

गन्त्वा चेतियगेहं तं पविवेकसुखं सुभं ।
दिवाविहारं कप्पेसि विहारकुसलामला ॥ ७९ ॥

थेरिया वन्दनत्थाय राजा भिक्खुणुपस्सयं ।
गन्त्वा, तत्थ गतं सुत्वा, गन्त्वा तं तत्थ वन्दिय ॥ ८० ॥

सम्मोदित्वा ताय सद्धिं तत्थागमनकारणं ।
तस्सा ञत्वा अधिप्पायं अधिप्पायविदू विदू ॥ ८१ ॥

समन्ता थूपगेहस्स रम्मं भिक्खुणुपस्सयं ।
देवानम्पियतिस्सो सो महाराजा अकारयि ॥ ८२ ॥

हत्थाळ्हकसमीपम्हि कतो भिक्खुणुपस्सयो ।
'हत्थाळ्हकविहारो' ति विस्सुतो आसि तेन सो ॥ ८३ ॥

महास्थविर राजा को बताया—"यह मङ्गलहस्ती इस कदम्बपुष्प के गुम्ब में स्तूप बना हुआ देखना चाहता है" ।। ७५ ।।

तब जनहित चिन्तक उस राजा ने धातुसहित स्तूप तथा उसका भवन बनवा दिया ।। ७६ ।।

नया भिक्षुणीविहार—उधर सङ्घमित्रा थेरी उपासिकाविहार में श्रद्धालुओं की भीड़ बढ़ती देखकर वहाँ रहने में उद्विग्नता अनुभव करती हुई एकान्त स्थान में रहने की इच्छा करने लगी ।। ७७ ।।

उस बुद्धिमती ने शासन (धर्म) की उन्नति तथा भिक्षुणियों के हित की कामना से एक दूसरा भिक्षुणी-विहार चाहते हुए ।। ७८ ।।

किसी अन्य चैत्यगृह में बैठ कर दिन में एकान्तसाधना (दिवाविहार) में रत रहने लगी ।। ७९ ।।

थेरी की वन्दनाहेतु कभी राजा उस भिक्षुण्युपाश्रय में जाकर, वहाँ उसे न पाकर, फिर उस एकान्त में बने चैत्यगृह में जाकर, वहाँ उसे प्रणाम किया ।। ८० ।।

कुशल-प्रश्नानन्तर थेरी से यहाँ आकर बैठने का कारण पूछा । यों, उसके मन की इच्छा जान कर ।। ८१ ।।

उस राजा देवानाम्प्रिय तिष्य ने उस स्तूपगृह के चारों तरफ सुन्दर भिक्षुणी-उपाश्रय बनवाया ।। ८२ ।।

क्योंकि यह विहार हस्त्याढक से समीप ही निर्मित हुआ था, अतः आगे चल कर यह लोगों में हस्त्याढकविहार नाम से प्रसिद्ध हो गया ।। ८३ ।।

[W.G.157] सुमित्ता सङ्घमित्ता महाथेरी महामति ।
तस्मिं हि वासं कप्पेसि रम्मे भिक्खुणुपस्सये ॥ ८४ ॥

एवं लङ्कालोकहितं सासनवुद्धिं
संसाधेन्तो एस महाबोधिदुमिन्दो ।
लङ्कादीपे रम्ममहामेघवनस्मिं
अट्ठा दीघं कालं अनेकब्भुतयुत्तो ॥ ति ॥ ८५ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

बोधि-आगमनो नाम

एकूनविंसतिमो परिच्छेदो

❋❋❋

सच्चरित्र सहयोगियों वाली वह बुद्धिमती सङ्घमित्रा सुखपूर्वक ध्यानसाधनारत रहने लगी ॥ ८४ ॥

यों लङ्कावासियों का हित एवं शासन की वृद्धि करता हुआ वह पवित्र महाबोधिवृक्ष लङ्काद्वीप के उस रमणीय महामेघवनोद्यान में चिरकाल तक अनेक आश्चर्यमय घटनाएँ दिखाता हुआ स्थिर रहा ॥ ८५ ॥

साधुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह वृद्धिहेतु
रचित महावंश ग्रन्थ में

बोधि-आहरण नामक

उन्नीसवाँ परिच्छेद समाप्त

२०.

वीसतिमो परिच्छेदो

(थेरपरिनिब्बाणं)

[W.G.158] अट्ठारसीम्हि वस्सम्हि धम्मासोकस्स राजिनो ।
महामेघवनारामे महाबोधि पतिट्ठहि ॥ १ ॥

ततो द्वादसमे वस्से महेसी तस्स राजिनो ।
पिया असन्धिमित्ता सा मता सम्बुद्धनामिका ॥ २ ॥

ततो चतुत्थे वस्सम्हि धम्मासोको महीपति ।
तिस्सरक्खं महेसित्ते ठपेसि विसमासयं ॥ ३ ॥

ततो तु ततिये वस्से सा बाला रूपमालिनी ।
"मया पि च अयं राजा महाबोधिं ममायति" ॥ ४ ॥

इति कोधवसं गन्त्वा अत्तनोनत्थकारिका ।
मण्डुकण्टकयोगेन महाबोधिं अघातयि ॥ ५ ॥

ततो चतुत्थे वस्सम्हि धम्मासोको महायसो ।
अनिच्चतावसं पत्तो, सत्ततिंस समा इमा ॥ ६ ॥

देवानम्पियतिस्सो तु राजा धम्मगुणे रतो ।
महाविहारे नवकम्मं तथा चेतियपब्बते ॥ ७ ॥

थूपारामे च नवकम्मं निट्ठापेत्वा यथारहं ।
दीपप्पसादकं थेरं पुच्छि पुच्छितकोविदं ॥ ८ ॥

बीसवाँ परिच्छेद

(स्थविर का परिनिर्वाण)

महाबोधि का विनाश–धर्माशोक सम्राट् के शासनकाल के अट्ठारहवे वर्ष में महामेघवनारामोद्यान में महाबोधि की प्रतिष्ठा हुई ॥ १ ॥

फिर उसके बारह वर्ष बाद राजा की प्रिय रानी बुद्ध में श्रद्धालु असन्धिमित्रा की मृत्यु हो गयी ॥ २ ॥

उसके बाद चौथे वर्ष सम्राट् अपना दूसरा विवाह कर दुष्टहृदया तिष्यरक्षानामक स्त्री को अपनी महारानी के पद पर अभिषिक्त किया ॥ ३ ॥

उसके तीसरे वर्ष उस रूपगर्विता युवती ने यह सोचकर कि "राजा तो मुझसे अधिक इस महाबोधि से प्यार करता है" ॥ ४ ॥

उसने उस महाबोधि को क्रोधाभिभूत हो कर अपना ही अनर्थ करते हुए मण्डूकण्टकविधि (द्र० जातक १८६) से नष्ट कर डाला ॥ ५ ॥

सम्राट् धर्माशोक का देहावसान–फिर चौथे वर्ष वह महायशस्वी धर्माशोक का संसार एवं शरीर के प्रति अनित्यभावना (मृत्यु) को प्राप्त हुआ । इस तरह इस राजा के ये सैंतीस (३७) वर्ष बीत गये ॥ ६ ॥

धातुस्तूप-निर्माण का सङ्कल्प–धार्मिक प्रवृत्तियों में निरन्तर संलग्न रहते हुए राजा देवानाम्प्रिय तिष्य ने चैत्य पर्वत पर महाविहार तथा स्तूपाराम का यथायोग्य जीर्णोद्धार (मरम्मत) करा कर प्रश्नों का उत्तर देने में चतुर तथा द्वीप की उन्नति में सहायक स्थविर से पूछा– ॥ ७-८ ॥

"कारापेस्सामहं, भन्ते! विहारे सुबहू इध ।
पतिट्ठपेतुं थूपेसु कथं लच्छामि धातुयो?"॥ ९ ॥

[W.G.159] "सम्बुद्धपत्तं पुरेत्वा सुमनेनाहटा इध ।
चेतियपब्बते, राज! ठपिता अत्थि धातुयो ॥ १० ॥

हत्थिक्खन्धे ठपेत्वा ता धातुयो इध आहर" ।
इति वुत्तो स थेरेन तथा आहरि धातुयो ॥ ११ ॥

विहारे कारयित्वान तथा योजन-योजने ।
धातुयो तत्थ थूपेसु निधापेसि यथारथहं ॥ १२ ॥

सम्बुद्धभुत्तपत्तं तु राजा वत्थुघरे सुभे ।
ठपयित्वान पूजेसि नानापूजाहि सब्बदा ॥ १३ ॥

पञ्चसतेहिस्सरेहि महाथेरस्स सन्तिके ।
पब्बजा वसितट्ठाने इस्सरसमणको अहु ॥ १४ ॥

पञ्चसतेहि वेस्सेहि महाथेरस्स सन्तिके ।
पब्बज्जा वसितट्ठाने तथा वेस्सगिरी अहु ॥ १५ ॥

या या महामहिन्देन थेरेन वसिता गुहा ।
सपब्बते विहारे सा सा महिन्दगुहा अहु ॥ १६ ॥

महाविहारं पठमं दुतियं चेतियव्हयं ।
थूपारामं तु ततियं थूपपुब्बङ्गमं सुभं ॥ १७ ॥

चतुत्थं तु महाबोधिपतिट्ठापनमेव ये ।
थूपट्ठानीयभूतस्स पञ्चमं पन साधुकं ॥ १८ ॥

[W.G.160] महाचेतियठानम्हि सिलायूपस्स चारुनो ।
सम्बुद्धगीवधातुस्स पतिट्ठापनमेव च ॥ १९ ॥

"भन्ते! मुझे इस लङ्काद्वीप में बहुत से विहार बनवाने हैं। यहाँ स्तूपों में रखने के लिये बुद्ध की शरीर-धातु कहाँ से प्राप्त करूँ ?" ॥ ९ ॥

"राजन् ! पहले कभी सुमन श्रामणेर सम्बुद्ध का भोजनपात्र भर कर बुद्धशरीरधातु लाये थे। उन्होंने उन को चैत्य पर्वत पर रखा था। उन्हीं में से कुछ लेकर कार्यसम्पादन करो ॥ १० ॥

हाथी पर रखकर तुम उन्हें यहाँ लाओ।" यों स्थविर द्वारा बताये जाने पर राजा ने उन धातुओं को एकत्र किया ॥ ११ ॥

इस तरह उसने योजन योजन की दूरी पर विहार बनवाकर उनमें बनाये गये स्तूपों में यथायोग्य बुद्धशरीर-धातुओं को रखा ॥ १२ ॥

(भगवान्) बुद्ध का वह भिक्षापात्र तो उसने अपने वस्तुगृह (प्रासाद) में रख कर उसकी नित्य विविध प्रकार से पूजा करता रहा ॥ १३ ॥

कुछ विशिष्ट महाविहारों के नाम–जिस स्थान पर पाँच सौ छोटे बड़े राजाओं (क्षत्रिय) महास्थविर से प्रव्रज्याप्राप्त्यनन्तर वास करते थे वह विहार 'ईश्वरश्रमणविहार' कहलाया ॥ १४ ॥

द्वारा पाँच सौ वैश्यों के साथ महास्थविर से प्रव्रज्या लेने के बाद साधना के लिये प्रयुक्त वासस्थान 'वैश्यगिरि विहार' कहालाया ॥ १५ ॥

चैत्यगिरि पर वने महाविहारों में स्थित जिस जिस गुफा में महामहेन्द्र ने साधनाहेतु वास किया था वे सभी गुफाएँ 'महेन्द्रगुहा' नाम से प्रसिद्ध हुई ॥ १६ ॥

प्रथम महाविहार, द्वितीयचैत्यविहार, तृतीय स्तूपाराम, जो स्तूपनिर्माण के बाद बना था ॥ १७ ॥

चतुर्थ महाबोधि की प्रतिष्ठा, पञ्चम स्तूपस्थानहेतु निदिष्ट सुन्दर शिला की स्थापना, तथा सम्बुद्ध की ग्रीवा धातु की स्थापना ॥ १८-१९ ॥

इस्सरसमणं छट्ठं तिस्सवापिं तु सत्तमं ।
अट्ठमं पठमं थूपं नवमं वेस्सरव्हयं ॥ २० ॥

उपासिकाव्हयं रम्मं तथा हत्थाव्हकव्हयं ।
भिक्खुणुपस्सये द्वेमे भिक्खुणीफासुकारणा ॥ २१ ॥

हत्थाव्हके ओसरित्वा भिक्खुणीनमुस्सये ।
गन्त्वान भिक्खुसङ्घेन भत्तग्गहणकारणा ॥ २२ ॥

महापालिनामकं भत्तसालं सूपचरं सुभं ।
सब्बोपकरणोपेतं सम्पन्नपरिचारकं ॥ २३ ॥

तथा भिक्खुसहस्सस्स सपरिक्खारमुत्तमं ।
पवारणाय दानं च अनुवस्सकमेव च ॥ २४ ॥

नागदीपे जम्बुकोलविहारं तम्हि पट्टने ।
तिस्समहाविहारं च पाचीनाराममेव च ॥ २५ ॥

[W.G.161] इति एतानि कम्मानि लङ्काजनहितत्थिको ।
देवानम्पियतिस्सो हि लङ्किन्दो पुञ्ञपञ्ञवा ॥ २६ ॥

पठमे येव वस्सम्हि कारापेसि गुणप्पियो ।
यावजीवं तु नेकानि पुञ्ञकम्मानि आचिनि ॥ २७ ॥

अयं दीपो अहू फीतो विजिते तस्स राजिनो ।
वस्सानि चत्तालीसं सो राजा रज्जमकारयि ॥ २८ ॥

तस्सच्चये तङ्कनिट्ठे उत्तिये इति विस्सुतो ।
राजपुत्तो अपुत्तं तं रज्जं कारेसि साधुकं ॥ २९ ॥

महामहिन्दथेरो तु जिनसासनमुत्तमं ।
परियत्तिं पटिपत्तिं च पटिवेधं च साधुकं ॥ ३० ॥

छठा ईश्वरश्रमणविहार, सातवाँ तिष्यवापी, आठवाँ प्रथम चैत्य, नवम वैश्यगिरिविहार ॥ २० ॥

भिक्षुणियों के सुरक्षाहेतु रम्य उपसिकाविहार, हस्त्याढक, दो भिक्षुण्यु-पाश्रय बनवाये ॥ २१ ॥

हस्त्याढक विहार बन चुकने के बाद, भिक्षुणी उपाश्रय में जा कर भिक्षुणीसङ्घ द्वारा भोजनकर्म हेतु 'महापालि' नामक भक्तशाला का निर्माण जो कि सब प्रकार के उपकरणों तथा साधनों से सम्पन्न थी ॥ २२-२३ ॥

तथा एक हजार (१,०००) भिक्षुओं को परिष्कार सहित प्रतिवर्ष प्रवारणा-दान कराने के लिये उत्तम स्थान ॥ २४ ॥

नागद्वीप में नाव से उतरने के स्थान पर जम्बुकोलविहार, तिष्यमहाविहार एवं प्राचीनाराम ॥ २५ ॥

ये सभी कार्य लङ्कावासियों के हितार्थ पुण्यवान् एवं प्रज्ञावान्, गुणवान्, लङ्केन्द्र देवानाम्प्रिय तिष्य ने ॥ २६ ॥

प्रथम वर्ष में ही पूर्ण कर लिये । तथा इसी तरह वह जीवनपर्यन्त शुभ पुण्य कार्य करता रहा ॥ २७ ॥

राजा का देहपात–उस राजा के राज्यकाल में यह द्वीप अतिसमृद्ध हो गया था । उसने चालीस वर्ष तक द्वीप पर शासन किया ॥ २८ ॥

क्योंकि राजा को कोई पुत्र नहीं था, अतः इसके बाद उसका छोटा भाई उत्तिय राजकुमार राजा बना । और उसने कुशलतापूर्वक राज्य किया ॥ २९ ॥

स्थविर का परिनिर्वाण–भगवान् के लोकप्रिय धर्म बुद्ध (वचन), तदनुसार आचरण तथा निर्वाण आदि फलों की प्राप्ति करते हुए ॥ ३० ॥

लङ्कादीपम्हि दीपेत्वा लङ्कादीपो महागणी ।
लङ्काय सत्थुकप्पो सो कत्वा लोकहितं बहुं ॥ ३१ ॥

तस्स उत्तियराजस्स जयवस्सम्हि अट्ठमे ।
चेतिये पब्बते वस्सं सट्ठिवस्सो वसं वसि ॥ ३२ ॥

अस्सयुजस्स मासस्स सुक्कपक्खट्ठमे दिने ।
परिनिब्बायि, तेनेतं दिनं तन्नामकं अहु ॥ ३३ ॥

तं सुत्वा उत्तियो राजा सोकसल्लसमप्पितो ।
गन्त्वा थेरं च वन्दित्वा कन्दित्वा बहुधा बहुं ॥ ३४ ॥

आसित्तगन्धतेलाय लहुं सोवण्णदोणिया ।
थेरदेहं खिपापेत्वा तं दोणिं साधु फुस्सितं ॥ ३५ ॥

[W.G.162] सोवण्णकूटागारम्हि ठपापेत्वा अलङ्कते ।
कूटागारे रोपयित्वा कारेन्तो साधु कीळनं ॥ ३६ ॥

महता च जनोघेन आगतेन ततो ततो ।
महता च बलोघेन कारेन्तो पूजनाविधिं ॥ ३७ ॥

अलङ्कतेन मग्गेन बहुधालङ्कते पुरं ।
आनयित्वान नगरे चारेत्वा राजवीथिया ॥ ३८ ॥

महाविहारं आनेत्वा एत्थ पञ्हम्बमालके ।
कूटागारं ठपापेत्वा सत्ताहं सो महीपति ॥ ३९ ॥

तोरणद्धजपुप्फेहि गन्धपुण्णघटेहि च ।
विहारं च समन्ता च मण्डितं योजनत्तयं ॥ ४० ॥

अहु राजानुभावेन, दीपं तु सकलं पन ।
आनुभावेन देवानं तथेवालङ्कतं अहु ॥ ४१ ॥

लङ्का में धर्मप्रकाश कर, उसका नानाविध हित-साधन कर लङ्का में बुद्धसदृश उस महास्थविर ने साठ वर्ष की अवस्था में ॥ ३१ ॥

जब कि उत्तिय को शासन करते आठ वर्ष हो चुके थे, चैत्यपर्वत पर वर्षावास करते हुए परिनिर्वाण प्राप्त किया ॥ ३२ ॥

आश्विनमास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी के दिन महास्थविर का परिनिर्वाण हुआ था । अतः तब से यह दिन उन्हीं के नाम पर विख्यात हो गया ॥ ३३ ॥

यह समाचार सुन कर शोकाकुल हुए राजा उत्तिय ने कर स्थविर के शरीर की वन्दना की, विलाप किया ॥ ३४ ॥

गन्ध तैल से पूर्ण सुवर्णद्रोणी में स्थविर का देह रखवा कर उस द्रोणी को भली प्रकार ढक कर ॥ ३५ ॥

सजे-सजाये सुवर्णकूटागार में वह देह रखवा कर अनेकविध नृत्य-गीत वाद्य के साथ ॥ ३६ ॥

यहाँ-वहाँ से आकर एकत्र हुए विशाल जनसमूह ने उसकी नाना प्रकार से पूजा-अर्जना करते हुए ॥ ३७ ॥

अनेक तरह से अलंकृत मार्ग से नगर में ले जाकर राजमार्गों पर शोभायात्रा के रूप से घुमा कर ॥ ३८ ॥

पुनः महाविहार में लाकर राजा ने प्रश्नाम्रमालक कूटागार में सप्ताहपर्यन्त रखा, तथा उसकी पूजा-अर्जना की ॥ ३९ ॥

तोरण, ध्वज तथा पुष्पों से, गन्धयुक्त पूर्णघटों से, विहार के आस-पास तीन तीन योजन तक ॥ ४० ॥

उस समय वह समग्र द्वीप, कुछ तो राजा के विशिष्ट शासनादेश से, कुछ देवताओं की कृपा से सब तरह से सजाया गया ॥ ४१ ॥

नानापूजा कारयित्वा तं सत्ताहं महीपति ।
पुरत्थिमदिसाभागे थेरानं बन्धमालके ॥ ४२ ॥

कारेत्वा गन्धचितकं महाथूपं पदक्खिणं ।
करोन्तो तत्थ नेत्वा तं कूटागारं मनोरमं ॥ ४३ ॥

चितकम्हि ठपापेत्वा सक्कारं अन्तिमं अका ।
चेतियं चेत्थ कारेसि गाहापेत्वान धातुयो ॥ ४४ ॥

उपड्ढधातुं गाहेत्वा चेतियपब्बते पि च ।
सब्बेसु च विहारेसु थूपे कारेसि खत्तियो ॥ ४५ ॥

[W.G.163] इसिनो देहनिक्खेपकतट्ठानं हि तस्स तं ।
वुच्चते बहुमानेन 'इसिभूमङ्गणं' इति ॥ ४६ ॥

ततो पभुति अरियानं समन्ता योजनत्तये ।
सरीरं आहरित्वान तम्हि देसम्हि डय्हति ॥ ४७ ॥

सङ्घमित्ता महाथेरी महाभिञ्ञा महामति ।
कत्वा सासनकिच्चानि तथा लोकहितं बहुं ॥ ४८ ॥

एकूनसट्ठिवस्सा सा उत्तियस्सेव राजिनो ।
वस्सम्हि नवमे खेमे हत्थाव्हकउपस्सये ॥ ४९ ॥

वसन्ती परिनिब्बायि, राजा तस्सापि कारयि ।
थेरस्स विय सत्ताहं पूजा सक्कारमुत्तमं ॥ ५० ॥

सब्बा अलङ्कता लङ्का थेरस्स विय आसि च ।
कूटागारगतं थेरीदेहं सत्तदिनच्चया ॥ ५१ ॥

निक्खामेत्वान नगरा थूपारामपुरत्थतो ।
चित्तसालसमीपम्हि महाबोधिपदस्सये ॥ ५२ ॥

यों एक सप्ताहपर्यन्त अनेक प्रकार से पूजा-अर्चनाएँ कर, स्थविरों के बन्धमालक की पूर्वदिशा में एक ऊँचे चबूतरे पर गन्ध-काष्ठों की चिता बनवा कर ॥ ४२-४३ ॥

चिता पर उस शरीर को रखकर, अन्तिम सत्कार कर दाहक्रिया की तथा बाद में उनके शरीर की, दाह से अवशिष्ट, धातुओं का स्तूप बनवाया ॥ ४४ ॥

उनमें से आधी शरीर-धातु चैत्यपर्वत पर भी ले जायी गयी । तथा सभी विहारों में उनकी स्मृति में स्तूप-निर्माण कराया ॥ ४५ ॥

उस ऋषि का वह देहपातस्थान आज भी समग्र लङ्काद्वीप में पूर्ण सम्मान के साथ 'ऋषिभूम्यङ्गण' नाम से जाना जाता है ॥ ४६ ॥

उसी दिन से उस स्थान से तीन-तीन योजन दूर तक रहने वाले आर्यों के मृत शरीर की भी वहीं चिता बनायी जाती है ॥ ४७ ॥

सङ्घमित्रा थेरी का परिनिर्वाण—महाभिज्ञासम्पन्न, बुद्धिमती महाथेरी सङ्घमित्रा भी शासन की स्थिरता एवं वृद्धि के लोकहितकारक सभी कार्य निष्पन्न करने के बाद ॥ ४८ ॥

उनसठ (५९) वर्ष की आयु में, उत्तिय राजा के शासनकाल में, जब कि उसे शासन करते (९) वर्ष हो चुके थे **हस्त्याढक-उपाश्रय में** ॥ ४९ ॥

रहती हुई परिनिवृत हो गयी । राजा ने उसकी भी, स्थविर की तरह ही, सप्ताह पर्यन्त देहोत्तर क्रिया के समय पूजा-सत्कार कर ॥ ५० ॥

समग्र लङ्काद्वीप को सजा कर सात दिन के बाद थेरी के नश्वर शरीर को नगर के बाहर, स्तूपाराम के पूर्व की तरफ, चित्रशाल के समीप महाबोधि के सामने, थेरी द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर ही ले जाकर उनकी दैहिक क्रिया पूर्ण की ॥ ५१-५२ ॥

थेरिया वुत्तठानम्हि अग्गिकिच्चमकारयि ।
थूपं च तत्थ कारेसि उत्तियो सो महामति ॥ ५३ ॥

पञ्चा पि ते महाथेरा थेरारिट्ठादयो पि च ।
तथानेकसहस्सानि भिक्खू खीणासवा पि च ॥ ५४ ॥

सङ्घमित्तापभुतियो ता च द्वादस थेरियो ।
खीणासवा भिक्खुणियो सहस्सानि बहूनि च ॥ ५५ ॥

बहुस्सुता महापञ्ञा विनयादिजिनागमं ।
जोतयित्वान कालेन पयातानिच्चतावसं ॥ ५६ ॥

[W.G.164] दस वस्सानि सो राजा रज्जं कारेसि उत्तियो ।
एवं अनिच्चता एसा सब्बलोकविनासिनी ॥ ५७ ॥

तं एतं अतिसाहसं अतिबलं नावारियं यो नरो,
जानन्तो पि अनिच्चतं भगवते निब्बिन्दते नेव च ।
निब्बिण्णो विरतिं रतिं न कुरुते पापेहि पुञ्ञेहि च,
तस्सेसा अतिमोहजालबलता जानं पि सम्मुय्हती[1] ॥ ति ॥ ५८ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

थेरपरिनि नाम

वीसतिमो परिच्छेदो

***

1. शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

बुद्धिमान् राजा उत्तिय ने वहीं उस थेरी का स्तूप भी बनवाया ।। ५३ ।।

इसी काल के आस-पास वे पाँच अरिष्ट आदि महास्थविर, तथा अनेकों हजार क्षीणास्रव भिक्षु ।। ५४ ।।

सङ्घमित्रा आदि बारह थेरियाँ तथा बहुत सी अन्य ऐसी ही क्षीणास्रव भिक्षुणियाँ ।। ५५ ।।

जो कि बहुश्रुत, महाप्राज्ञ, विनय आदि बुद्ध के शास्त्रों का प्रचार-प्रसार करती हुई अन्त में परिनिर्वाण को प्राप्त हो गयीं ।। ६५ ।।

उस उत्तिय राजा ने भी लङ्काद्वीप पर दस वर्ष तक शासन किया । अन्त में वह भी देह की अनित्यता (के कारण मृत्यु) के मुख में चला ही गया ।। ५७ ।।

जो मनुष्य संसार की इस अनित्यता को अतिसाहसी, अतिबलवान् तथा अनिवार्य मानता हुआ इस अनित्य संसार में लिप्त रहता है, इससे विरक्त नहीं होता, इससे ग्लानि नहीं करता, पाप से दूर नहीं होता, पुण्यकर्म में रति नहीं बढाता तो यह उसका भयङ्कर मोहजाल ही मानना पड़ेगा कि वह जानते-बूझते भी इसीमें उलझा रहता है ! ।। ५८ ।।

सुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह संवर्धनहेतु

रचित इस महावंश ग्रन्थ में

स्थविरपरिनिर्वाण नाम

बीसवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

२१.

एकवीसतिमो परिच्छेदो

(पञ्चराजको नाम)

[W.G. 165] उत्तियस्स कनिट्ठो तु महासिवो तददच्चये ।
दस वस्सानि कारेसि रज्जं सुजनसेवको ॥ १ ॥

भद्दसालम्हि सो थेरे पसीदित्वा मनोरमं ।
कारेसि पुरिमायं तु विहारं नगरङ्गणं ॥ २ ॥

महासिवकनिट्ठो तु सूरतिस्सो तदच्चये ।
दस वस्सानि कारेसि रज्जं पुञ्ञेसु सादरो ॥ ३ ॥

दक्खिणाय दिसायं सो विहारं नगरङ्गणं ।
पुरिमाय हत्थिक्खन्धव्हं गोण्णगिरिकमेव च ॥ ४ ॥

वङ्गुत्तरे पब्बतम्हि प्राचीनपब्बतव्हयं ।
रहेरकसमीपम्हि तथा कोलम्बहालकं ॥ ५ ॥

अरिट्ठपादे मकुलकं, पुरिमायच्छगल्लकं ।
गिरिनेलवाहनकं कण्डनगरुत्तराय तु ॥ ६ ॥

[W.G. 166] पञ्चसतानेवमादी विहारे पथवीपति ।
गङ्गाय ओरपारम्हि लङ्कादीपे तहिं तहिं ॥ ७ ॥

पुरे रज्जं च रज्जे च सट्ठि वस्सानि साधुकं ।
कारेसि रम्मे धम्मेन रतनत्तयगारवो ॥ ८ ॥

इक्कीसवाँ परिच्छेद

(पाँच राजाओं का वर्णन)

राजा महाशिव–राजा उत्तिय के देहपात के बाद, उसके कनिष्ठ भ्राता, सज्जनहितकारी राजा महाशिव ने दस वर्ष तक राज्य किया ॥ १ ॥

उसने भद्रशाल में पूर्व दिशा में नगराङ्गण नामक महाविहार का निर्माण करवाया ॥ २ ॥

राजा शूरतिष्य–राजा महाशिव के देहपात के बाद, उसके छोटे भाई शूरतिष्य ने भी, पुण्यकर्मों में मन लगाते हुए, दश वर्ष तक राज्य किया ॥ ३ ॥

उसने दक्षिण दिशा में नगराङ्गण नामक विहार, पूर्व दिशा में हस्तिस्कन्ध तथा गोगणगिरिक (गोण्णगिरिक) विहार ॥ ४ ॥

वङ्गोत्तर पर्वत पर प्राचीन पर्वत तथा रहेरक के समीप कोलम्बहालक (अनुराधपुर के उत्तरीय द्वार के समीप) ॥ ५ ॥

अरिष्ट पर्वत की तलहटी में मकुलक, उसके पूर्व में अच्छगल्लक एवं गिरिनेलवाहनक तथा उत्तर दिशा में कण्डनगरविहार ॥ ६ ॥

इस प्रकार राजा ने लङ्का द्वीप में गङ्गा नदी के दोनों ही तटों (आर-पार) पर जहाँ-तहाँ पाँच सौ महाविहार बनवाये ॥ ७ ॥

इस तरह त्रिरत्न के प्रति श्रद्धा रखते हुए उस राजा ने अपने अधीन राज्य पर साठ (६०) वर्ष तक धर्मपूर्वक भली भाँति राज्य किया ॥ ८ ॥

सुवण्णपिण्डतिस्सो ति नामं रज्जा पुरे अहु ।
सूरतिस्सो ति नामं तु तस्साहु रज्जपतितया ॥ ९ ॥

अस्सनाविकपुत्ता द्वे दामिका सेनगुत्तका ।
सूरतिस्समहीपालं तं गहेत्वा महब्बला ॥ १० ॥

दुवे द्वावीस वस्सानि रज्जं धम्मेन कारयुं ।
ते गहेत्वा असेलो तु मुटसिवस्स अत्रजो ॥ ११ ॥

सोदरियानं भातुकानं नवमो भातुको ततो ।
अनुराधपुरे रज्जं दस वस्सानि कारयि ॥ १२ ॥

चोळरट्ठा इधागम्म रज्जत्थं उजुजातिको ।
एळारो नाम दमिळो गहेत्वासेलभूपतिं ॥ १३ ॥

वस्सानि चत्तालीसं च चत्तारि च अकारयि ।
रज्जं वोहारसमये मज्झत्तो मित्तसत्तुसु ॥ १४ ॥

[W.G. 167] सयनस्स सिरोपस्से घण्टं सो दीघपस्सकं ।
लम्बापेसि विरावेतुं इच्छन्तेहि विनिच्छयं ॥ १५ ॥

एको पुत्तो च धीता च अहेसुं तस्स राजितो ।
रथेन तिस्सवापिं सो गच्छन्तो भूमिपालजो ॥ १६ ॥

तरुणं वच्छकं मग्गे निपन्नं सहधेनुकं ।
गीवं अक्कम्म चक्केन असञ्चिच्च अघातयि ॥ १७ ॥

गन्त्वान धेनु घण्टं तं घट्टेसि घट्टितासया ।
राजा तेनेव चक्केन सीसं पुत्तस्स छेदयि ॥ १८ ॥

दिजपोतं तालरुक्खे एको सप्पो अभक्खयि ।
तम्पोतमाता सकुणी गन्त्वा घण्टं अघट्टयि ॥ १९ ॥

राज्यारोहण से पूर्व उस राजा का नाम वस्तुतः सुवर्णपिण्डतिष्य था । उसका 'शूरतिष्य' नाम तो राज्यप्राप्ति के बाद ही प्रख्यात हुआ ॥ ९ ॥

दो अश्वनाविक राजा—अन्त में दो महाबलशाली द्रविड, अश्वनाविक (सारथि) के पुत्रों ने उस शूरतिष्य राजा को बन्दी बनांकर; वहाँ (लङ्काद्वीप पर) राज्य किया ॥ १० ॥

उन दोनों अश्वनाविक पुत्रों ने भी लङ्का पर बाईस (२२) वर्ष तक निरन्तर राज्य किया । परन्तु बाद में मुटशिव के पुत्र तथा नौ सहोदर भाइयों में नवम अशैल ने उन दोनों को बलपूर्वक बन्दी बनाकर अनुराधपुर पर दश वर्ष तक राज्य किया ॥ ११-१२ ॥

राजा एळार—फिर चोळ देश (दक्षिण भारत) से राज्य-प्राप्तिहेतु यहाँ लङ्काद्वीप में आये, मृदु स्वभाववाले एळार नामक द्रविड ने, उस अशैल भूपति को भी बन्दी बनाकर, स्वयं चवालीस (४४) वर्ष तक शासन किया । उसने अपने शासनकाल में मित्र एवं शत्रु दोनों के ही प्रति समान व्यवहार रखा ॥ १३-१४ ॥

उसने अपने शयनासन (पर्यङ्क) के पास एक विशालकाय एवं गम्भीर ध्वनि करनेवाला ऐसा घण्टा लगवा दिया था कि जिसे कोई भी न्याय चाहनेवाला (फरियादी) सङ्कटापन्न व्यक्ति किसी भी समय बजा सकता था । उस व्यक्ति को राजा द्वारा तत्काल न्याय मिलता था ॥ १५ ॥

राजा की न्यायव्यवस्था—उस राजा (एळार) को एक पुत्र तथा दो पुत्रियाँ थी । किसी दिन उस राजा के पुत्र ने रथ से तिष्यवापी की तरफ जाते हुए मार्ग में ॥ १६ ॥

अपनी माँ (गौ) के पास लेटे हुए छोटे (तरुण) बछड़े का, उस की ग्रीवा पर रथ का पहिया चढ़ाकर, अनजाने में शिर काट डाला । वह बछड़ा मर गया ॥ १७ ॥

तब उसकी माता (गौ) ने राजद्वार पर जा कर वह घण्टा बजाया । उस न्यायी राजा ने गौ के चित्त की बात जानकर उसी रथ के पहिये (चक्र) से अपने पुत्र को ग्रीवा (गर्दन) कटवा डाली ॥ १८ ॥ (क)

इसी तरह, किसी सर्प ने किसी ताड़ वृक्ष पर रहनेवाले पक्षी का बच्चा खा डाला । उस बच्चे की माँ ने भी राजद्वार पर जाकर वह घण्टा बजाया । राजा ने सब बात समझकर, सर्प को पकड़वाकर मँगवाया और उसका पेट चीरकर उसमें से मरा बच्चा निकाल कर उस मरे सर्प को उसी ताड़ वृक्ष पर लटकवा दिया ॥ १९-२० ॥ (ख)

आनापेत्वान तं राजा कुच्छिं तस्स विदालिय ।
पोतकं नीहरापेत्वा ताले सप्पं समप्पयि ॥ २० ॥

रतनग्गस्स रतनत्तयस्स गुणसारतं ।
अजानन्तो पि सो राजा चारित्तं अनुपालयं ॥ २१ ॥

चेतियपब्बतं गन्त्वा भिक्खुसङ्घं पवारिय ।
आगच्छन्तो रथगतो रथस्स युगकोटिया ॥ २२ ॥

अकासि जिनथूपस्स एकदेसस्स भञ्जनं ।
अमच्चा "देव! थूपो नो तया भिन्नो" ति आहु ते ॥ २३ ॥

असञ्चिच्च कते पेस राजा ओरुय्ह सन्दना ।
"चक्केन मम सीसं पि छिन्दथा" ति पथे सयि ॥ २४ ॥

[W.G. 168] "परहिंसं, महाराज! सत्था नो नेव इच्छति ।
थूपं पाकतिकं कत्वा खमापेही" ति आहु तं ॥ २५ ॥

ते ठपेतं पञ्चदस पासाणे पतिते तहिं ।
कहापणसहस्सानि अदा पञ्चदसेव सो ॥ २६ ॥

एका महल्लिका वीहिं सोसेतुं आतपे खिपि ।
देवो अकाले वस्सित्वा तस्सा वीहिं अतेमयि ॥ २७ ॥

वीहिं गहेत्वा गन्त्वा सा घण्टं तं समघट्टयि ।
अकालवस्सं सुत्वा तं विस्सज्जेत्वा तमित्थिकं ॥ २८ ॥

"राजा विनिच्छयत्थाय उपवासं निपज्जि सो ।
बलिग्गाही देवपुत्तो रञ्ञो तेजेन ओत्थतो ॥ २९ ॥

बलिग्गाही देवपुत्तो रञ्ञो तेजेन ओत्थतो ।
गन्त्वा चतुम्महाराजसन्तिकं तं निवेदयि ॥ ३० ॥

यद्यपि वह (एळार) राजा रत्नत्रय में श्रेष्ठ रत्नप्रमुख भगवान् बुद्ध के विषय में कुछ नहीं जानता था, फिर भी वह धर्मानुकूल आचरण ही करता था ॥ २१ ॥

एकदिन वह चैत्य पर्वत जाकर भिक्षु-सङ्घ को भोजन के लिये निमन्त्रित कर रथ में बैठकर वापस लौट रहा था कि रथ के जुए की रगड़ से ॥ २२ ॥

वहाँ बने बुद्ध-स्तूप एक भाग टूट गया । तब अमात्यों ने राजा को बताया कि आपके रथ के जुए की रगड़ से बुद्ध-स्तूप का एक किनारा टूट गया है ॥ २३ ॥

यद्यपि राजा से यह अनजाने में ही हो गया था तो भी राजा ने रथ से उतरकर अपना निर्णय दिया–"इसके बदले में मेरा सिर काट डालो ।" और वह मार्ग में लेट गया ॥ २४ ॥

अमात्यों ने राजा को उत्तर दिया–"शास्ता (बुद्ध) ने परहिंसा का पूर्णतः निषेध किया है । अतः इस का प्रतीकार यही है कि आप उस भग्न स्तूप के अंश का अपने व्यय से पुनर्निर्माण करा दें । तथा सङ्घ से अपना अपराध क्षमा करा लें " ॥ २५ ॥

तब राजा ने उस बुद्ध-स्तूप के गिरे हुए पन्द्रह (१५) पत्थरों को पुनः वहाँ स्थापित करने के लिये पन्द्रह हजार (१५०००) कार्षापण दिये ॥ २६ ॥ (ग)

एक वृद्ध महिला ने सुखाने के लिये धान धूप में डाले । इसी बीच असमय में वर्षा होने लगी और उसका वह धान गीला हो गया ॥ २७ ॥

उसने वह गीला धान उठाकर, राजाको बताने के लिये, वह राजद्वार पर गयी और वहाँ जाकर उसने घण्टा बजाया । राजा ने उस महिला से अकालवर्षा द्वारा हुई हानि के बताये जाने पर उस महिला को लौटा कर ॥ २८ ॥

निश्चय किया कि मैं धर्मानुसार आचरण कर ऐसी व्यवस्था करूँगा कि आगे से कभी अकालवर्षा न हो । इस की पूर्ति के लिये उपवास (अन्न-जलत्याग) व्रत का पालन आरम्भ किया ॥ २९

रजा के इस कार्य से उस नगर के बलिग्राही देवता ने स्व ऋद्धिबल से उड़कर चातुर्महाराजिक देवता के सम्मुख उपस्थित होकर उस राजा की वेदना सुनायी ॥ ३० ॥

ते तमादाय गन्त्वान सक्कस्स पटिवदयुं ।
सक्को पज्जुन्नमाहूय काले वस्सं उपादिसि ॥ ३१ ॥

बलिग्गाही देवपुत्तो राजिनो तं निवेदयि ।
ततो पभुति तंरज्जे दिवा देवो न वस्सथ ॥ ३२ ॥

[W.G. 169] अगतिगमनदोसा मुत्तमतेतेन एसो,
अनुपहतकुदिट्ठी पीदिसं पापुणिद्धिं ।

अगतिगमनदोसं सुद्धदिट्ठी समानो,
कथमिध हि मनुस्सो बुद्धिमा नो जहेय्या[1] ॥ ति ॥ ३४ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

पञ्चराजिको नाम

एकवीसतिमो परिच्छेदो

1. मालिनी छन्द ।

चातुर्महाराजिक देवता ने, उसको साथ लेकर, इन्द्र के पास जाकर यह बात बतायी । इन्द्र ने वर्षा के अधिष्ठाता पर्जन्य देवता को आदेश दिया कि आगे कभी भी अकाल वर्षा न होने पावे ॥ ३१ ॥

उस बलिग्राही देवता ने वापस आकर राजा को इन्द्र का आदेश बता दिया । उस समय से उस राज्य में अकाल (दिन में) वर्षा नहीं हुई ॥ ३२ ॥

अपितु वर्षा प्रतिसप्ताह रात्रि के द्वितीय प्रहर में ही होने लगी । इससे सब छोटे-मोटे गढ्ढे तक जल से भर गये ॥ ३३ ॥ (घ)

यद्यपि इस राजा के विषय में यह तो नहीं कह सकते कि यह असत्सिद्धान्तों से पूर्णतः दूर हो चुका था, परन्तु इतने पर भी कुमार्ग की तरफ इस की प्रवृत्ति न होने के कारण इस को यह दैविक सामर्थ्य प्राप्त हो सका था । तब शुद्धदृष्टि पुरुष इस सत्फल को देखते हुए कुमार्ग की तरफ जाने की तरफ क्यों प्रवृत्त होंगे ! ॥ ३४ ॥

साधुजनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह संवर्धन हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

'पाँच राजाओं का वर्णन' नामक

इक्कीसवाँ परिच्छेद समाप्त

२२.

बावीसतिमो परिच्छेदो

(गामणिकुमारकप्पसूति)

[W.G. 170] एळारं घातयित्वान राजाहु दुट्ठगामणी ।
तदत्थदीपनत्थाय अनुपुब्बकथा अयं ॥ १ ॥

देवानम्पियतिस्सस्स रञ्ञो दुतियभातिको ।
उपराजा महानागो नामाहु भातुनो पियो ॥ २ ॥

रञ्ञो देवी सपुत्तस्स बाला रज्जाभिकामिनी ।
उपराजवधत्थाय जातचिन्ता निरन्तरं ॥ ३ ॥

वापिं तरच्छं नामायं कारापेन्तस्स पाहिणि ।
अम्बं विसेन योजेत्वा ठपेत्वा अम्बमत्थके ॥ ४ ॥

तस्सा पुत्तो सह गतो उपराजेन बालको ।
भाजने विवटेयेव तं अम्बं खादियामरि ॥ ५ ॥

उपराजा तथो येव सदारबलवाहनो ।
रक्खितुं सकमत्तानं रोहणाभिमुखो अगा ॥ ६ ॥

यट्ठालायविहारम्हि महेसी तस्स गब्भिनी ।
पुत्तं जनेसि, सो तस्स भातु नामं अकारयि ॥ ७ ॥

[W.G. 171] ततो गन्त्वा रोहणं सो रोहणे इस्सरो खिले ।
महाभोगो महागामे रज्जं कारेसि खत्तियो ॥ ८ ॥

बाईसवाँ परिच्छेद

(ग्रामणिकुमार का जन्म)

उक्त राजा एळार की हत्या कर दुष्टग्रामणी राजा बना । उसकी **आनुपूर्वी कथा** इस प्रकार है–॥ १ ॥

महानाग का पृथक् राज्य–राजा देवानाम्प्रिय तिष्य का दूसरा भाई युवराज महानाग भ्राता (राजा) को बहुत अधिक प्रिय था ॥ २ ॥

उस राजा की मूर्ख रानी, अपने पुत्र को राज्य दिलाने की कामना से उस महानाग का वध कराने के लिये दिन-रात सोचती रहती थी ॥ ३ ॥

उस रानी ने 'तरच्छ' नामक वापी बनवाते समय उपस्थित युवराज महानाग को जलपान के लिये भेजे गये आमों पर एक विषसम्पृक्त आम भी रख दिया कि महानाग उसे ही पहले उठाकर खावे और मर जाय ॥ ४ ॥

परन्तु (रानी के दौर्भाग्य से) आम्रपात्र का ढक्कन खोलते ही युवराज के पास बैठे रानी के पुत्र ने ही तत्काल उस विषसम्पृक्त आम को उठाया और खा गया, तथा खाते ही उसका देहपात (मृत्यु) हो गया ॥ ५ ॥

तभी से युवराज, रानी से शङ्कित होकर आत्मरक्षाहेतु अपने बाल-बच्चों को साथ लेकर अङ्गरक्षकों (सेना) सहित (लङ्का के दक्षिण भाग में स्थित) रोहण प्रदेश की तरफ चल दिया ॥ ६ ॥

उसकी आसन्नप्रसवा रानी को यट्ठालविहार पहुँचनेपर वहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ । उसने उस पुत्र का नाम भी (स्नेहवश) अपने भाई वाला नाम (तिष्य) ही रख दिया ॥ ७ ॥

तब उस क्षत्रिय (राजा) ने वहाँ जा कर समग्र रोहण प्रदेश को अपने अधीन कर उस पर शासन करना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

कारेसि सो नागमहाविहारं सकनामकं ।
उद्धकन्दरकादी च विहारे कारयी बहू ॥ ९ ॥

यट्ठालायकतिस्सो सो तस्स पुत्तो तदच्चये ।
तत्थेव रज्जं कारेसि, तस्स पुत्तो भयो तथा ॥ १० ॥

गोठाभयसुतो काकवण्णतिस्सो ति विस्सुतो ।
तदच्चये तत्थ रज्जं सो अकारेसि खत्तियो ॥ ११ ॥

विहारदेवी नामासि महेसी तस्स राजिनो ।
सद्धस्स सद्धासम्पन्ना धीता कल्याणिराजिनो ॥ १२ ॥

कल्याणियं नरिन्दो हि तिस्सो नामासि खत्तियो ।
देवीसंयोगजनितकोणे तस्स कनिट्ठको ॥ १३ ॥

भीतो ततो पलायित्वा अय्यउत्तियनामको ।
अञ्ञत्थ वसि, सो देसो तेन तन्नामको अहु ॥ १४ ॥

दत्वा रहस्सलेखं सो भिक्खुवेसधरं नरं ।
पाहेसि देविया, गन्त्वा राजद्वारे ठितो तु सो ॥ १५ ॥

राजगेहे अरहता भुञ्जमानेन सब्बदा ।
अञ्ञायमानो थेरेन रञ्ञो घरमुपाविसि ॥ १६ ॥

थेरेनं सद्धिं भुञ्जित्वा रञ्ञो सह विनिग्गमे ।
पातेसि भूमियं लेखं पेक्खमानाय देविया ॥ १७ ॥

[W.G. 172] सद्देन तेन राजा तं निवत्तित्वा विलोकयं ।
ञत्वान लेखसन्देसं कुद्धो थेरस्स दुम्मति ॥ १८ ॥

थेरं तं पुरिसं तं च मारापेत्वान कोधसा ।
समुद्दस्मिं खिपापेसि, कुज्झित्वा तेन देवता ॥ १९ ॥

उसने वहाँ अपने नाम से नागमहाविहार का निर्माण कराया । तथा साथ ही ऊर्ध्वकन्दरक आदि अन्य अनेक महाविहार भी बनवाये ॥ ९ ॥

उसके देहपात के बाद उसके पुत्र यट्ठालायक तिष्य ने भी वहीं (रोहण पर) राज्य किया । फिर उसके पुत्र अभय ने भी वहीं राज्य किया ॥ १० ॥

राजा काकवर्ण तिष्य–उसके मरने के बाद, गोष्ठाभय पुत्र काकवर्ण तिष्य ने रोहण प्रदेश पर राज्य किया ॥ ११ ॥

उस काकवर्ण (तिष्य) ने कल्याणी प्रदेश के श्रद्धालु राजा की श्रद्धासम्पन्न विहारदेवी नामक पुत्री को अपनी रानी बनाया ॥ १२ ॥

अन्तः कथा–कल्याणी प्रदेश के राजा का नाम भी तिष्य था । वह, आर्य उत्तिय नामक अपने छोटे भाई का रानी से अनुचित सम्बन्ध होने के कारण, उस (भाई) से बहुत कुपित था ॥ १३ ॥

अतः आर्य उत्तिय उस से डर कर, कल्याणी प्रदेश से भाग कर अन्यत्र जा बसा । उस देश का नाम उसी (अय्योति) के नाम से प्रख्यात हो गया ॥ १४ ॥

एक दिन उस ने एक आदमी को एक गुप्त पत्र देकर भिक्षुवेश में उक्त रानी के पास भेजा । वह राजद्वार पर जाकर (छिपकर) खड़ा हो गया ॥ १५ ॥

जब स्थविर राजप्रासाद में भिक्षा के लिये जाने लगे तो वह भिक्षुवेशधारी भी उन के साथ हो लिया । यद्यपि स्थविर उसे नहीं जानते थे, फिर भी वह उनके साथ प्रासाद में चला गया ॥ १६ ॥

वहाँ स्थविर के साथ बैठ, भोजन-क्रिया करके राजा के साथ निकलते हुए उसने, रानी को दिखाते हुए, वह पत्र वहीं धीरे से गिरा दिया ॥ १७ ॥

राजाने, उस पत्र के गिरने की ध्वनि सुनकर पीछे मुड़कर देखा । उसने पत्र पढ़कर वह दुर्मति (राजा) स्थविर पर भी क्रुद्ध हो गया ॥ १८ ॥

क्रुद्ध राजा ने उस दूतपुरुष तथा स्थविर–दोनों का वध कराकर उन्हें समुद्र में फिकवा दिया । तब (द्वीपवासी) देवता ने क्रुद्ध होकर उस प्रदेश को ही समुद्र में डुबा दिया ॥ १९ ॥

समुद्देनोत्थरापेसुं तं देसं, सो तु भूपति ।
अत्तनो धीतरं सुद्धं देविं नाम सुरूपिनिं ॥ २० ॥

लिखित्वा "राजधीता" ति सोवण्णक्खलिया लहुं ।
निसीदापिय तत्थेव समुद्दस्मिं विसज्जयि ॥ २१ ॥

ओक्कन्तं तं ततो लङ्के काकवण्णो महीपति ।
अभिसेचयि, तेनासि विहारोपपदव्हयो ॥ २२ ॥

तिस्समहाविहारं च तथा चित्तलपब्बतं ।
गमिट्ठवालिं कूटालिं विहारे एवमादिके ॥ २३ ॥

कारेत्वा सुप्पसन्नेन मनसा रतनत्तये ।
उपट्ठहि सदा सङ्घं पच्चयेहि चतुब्भि सो ॥ २४ ॥

कोटपब्बतनामम्हि विहार सीलवत्तिमा ।
तदा अहु सामणेरो नानापुञ्ञकरो सदा ॥ २५ ॥

सुखेनारोहणत्थाय आकासचेतियङ्गणे ।
ठपेसि तीणि सोपाने पासाणफलकानि सो ॥ २६ ॥

अदा पानीयदानं च वत्तं सङ्घस्स चाकरि ।
सदा किलन्तकायस्स तस्साबाधो महा अहु ॥ २७ ॥

[W.G. 173] सिविकाय तंमानेत्वा भिक्खवो कतवेदिनो ।
सीलापस्सयपरिवेणे तिस्सारामे उपट्ठहुं ॥ २८ ॥

सदा विहारदेवी सा राजगेहे सुसङ्खते ।
पुरेभत्तं महादाने दत्वा सङ्घस्स संयता ॥ २९ ॥

पच्छाभत्तं गन्धमालं भेसज्जं वसनानि च ।
गाहयित्वा गतारामं सक्करोति यथारहं ॥ ३० ॥

उधर राजा ने भी क्रोधवश अपनी शुद्धचरित्र सुन्दर रूप वाली देवी नामक पुत्री को एक सोने की मञ्जूषा में 'राजपुत्री' लिखकर उस मञ्जूषा को समुद्र में फेंक दिया ।। २०-२१ ।।

राजा काकवर्ण तिष्य ने लङ्का नामक विहार में उस राजकन्या को पाकर, विहार देवी नाम रख कर अपना राजमहिषी बना लिया ।। २२ ।।

अन्तः कथा समाप्त ।।

उस राजा ने तिष्य महाविहार, चित्तल पर्वत (विहार), गमिट्ठवाली (विहार) तथा कूटालि विहार आदि बनवाये ।। २३ ।।

इस तरह धार्मिक कृत्यों से वह राजा रत्नत्रय में अत्यधिक हार्दिक श्रद्धा रखता हुआ भिक्षुसङ्घ को चीवर आदि चारों प्रत्ययों का निरन्तर दान करता रहा ।। २४ ।।

श्रामणेर द्वारा सेवा-शुश्रूषा–कोट पर्वत नामक विहार में निरन्तर अनेकविध पुण्यकर्म कर्त्ता एवं शील-व्रतधारी कोई श्रामणेर रहता था ।। २५ ।।

उसने आकाश चैत्याङ्गण में सुखपूर्वक आरोहण हेतु पत्थर की शिलाओं से तीन सीढ़ियाँ बनवायीं ।। २६ ।।

वह आये-गये पथिकों को, प्याऊ बना कर, स्वयं जल पिलाता था । तथा साथ ही सङ्घ के भी अन्य कार्य करता रहता था । अतः अधिक कार्यों में व्यस्त होने के कारण, वह रोगग्रस्त हो गया ।। २७ ।।

अन्त में उसके कार्य से प्रसन्न तथा कृतज्ञ साथी भिक्षुजन उसे पालकी में बैठाकर सिलापस्सयपरिवेण के तिष्याराम में ले आये । तथा वहीं उसकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे ।। २८ ।।

रानी विहारदेवी–वह संयमशीला महादेवी (विहारदेवी) प्रतिदिन अपने राजगृह को साफ-सुथरा कर मध्याह्नपूर्व सङ्घ को महादान दे कर ।। २९ ।।

मध्याह्न पश्चात् माला, गन्धद्रव्य, भैषज्य एवं वस्त्र लिवाकर आराम में पहुँच कर सङ्घ का यथायोग्य सत्कार करती थी ।। ३० ।।

"तदा तथेव कत्वा सा सङ्घत्थेरस्स सन्तिके ।
निसीदि, धम्मं देसेन्ते थेरो तमिदमब्रवि ॥ ३१ ॥

"महासम्पति तुम्हेहि लद्धायं पुञ्ञकम्मुना ।
अप्पमादो व कातब्बो पुञ्ञकम्मे इदानि पि" ॥ ३२ ॥

एवं वुत्ता तु सा आह "किं सम्पत्ति अयं इध !
येसं नो दारका नत्थि? वञ्झा सम्पत्ति तेन नो" ॥ ३३ ॥

छळभिञ्ञो महाथेरो पुत्तलाभं अवेक्खिय ।
"गिलानं सामणेरं तं पस्स देवी" ति अब्रवि ॥ ३४ ॥

सा गन्त्वासन्नमरणं सामणेरं अवोच तं ।
"पत्थेहि मम पुत्रत्तं सम्पत्ति महती हि नो" ॥ ३५ ॥

न इच्छतीति ञत्वान तदत्थं महतिं सुभं ।
पुप्फपूजं कारयित्वा पुन याचि सुमेधसा ॥ ३६ ॥

एवं पि निच्छमानस्स अत्थायुपायकोविदा ।
नानाभेसज्जवत्थानि सङ्घे दत्वाथ याचि तं ॥ ३७ ॥

पत्थेसि सो राजकुलं, सातं ठानमनेकधा ।
अलङ्करित्वा वन्दित्वा यानमारुय्ह पक्कमि ॥ ३८ ॥

ततो चुतो सामणेरो गच्छमानाय देविया ।
तस्सा कुच्छिम्हि निब्बत्ति, तं जानित्वा निवत्ति सा ॥ ३९ ॥

रञ्ञो तं सासनं दत्वा रञ्ञा सह पुनागमा ।
सरीरकिच्चं कारेत्वा सामणेरस्सुभो पि ते ॥ ४० ॥

[W.G. 174] तस्मिं येव परिवेणे वसन्ता सन्तमानसा ।
महादानं पवत्तेसुं भिक्खुसङ्घस्स सब्बदा ॥ ४१ ॥

एक दिन वह, यह सब कृत्य कर, सङ्घस्थविर के समीप बैठी धर्म श्रवण कर रही थी । उसको स्थविर ने कहा–"देवि ! यह सम्पत्ति तुम्हें बहुत पुण्य-धर्मों से मिली है । इस लिये आगे भी पुण्य कर्म करने में किसी प्रकार का प्रमाद न करना" ॥ ३१-३२ ॥

(स्थविर द्वारा) ऐसा कहने पर वह बोली–"इस सम्पत्ति का हमारे लिये क्या मूल्य है ? हम जैसे सन्तान-हीनों के लिये यह सम्पत्ति वन्ध्या के समान ही है ॥ ३३ ॥

तब उस षडभिज्ञ स्थविर ने रानी को सन्तति की सम्भावना देख कर रानी से कहा–"देवि! तुम उस रोगी श्रामणेर की शुश्रूषा करो" ॥ ३४ ॥

वह उस आसन्नमृत्यु श्रामणेर के पास गयी और बोली–"आप मेरा पुत्र होने का सङ्कल्प करें । हमारे पास बहुत सम्पत्ति है" ॥ ३५ ॥

जब रानी ने देखा कि वह श्रामणेर उनकी बात नहीं स्वीकार कर रहा है, तो उस बुद्धिमती ने अतिमनोहर पुष्पपूजा बनवाकर फिर उसने निवेदन किया ॥ ३६ ॥

तब भी उस श्रामणेर की स्वीकृति न मिलने पर, उस उपायकुशल (चतुर) रानी ने उस श्रामणेर को अनेकविध औषध एवं वस्त्र दान किया तब वह श्रामणेर अनुकूल हुआ और उसने उसका पुत्र बनना स्वीकार कर लिया ॥ ३७ ॥

उस श्रामणेर का राजकुल में जन्म लेने का सङ्कल्प जानकर उसे पुष्पादि से पूजित सत्कृत कर अपने रथ (यान) पर चढ़कर पुनः अपने राजमहल में लौटने लगी ॥ ३८ ॥

तब वह श्रामणेर, उस काया से च्युत होकर, महल में लौटती हुई देवी के गर्भ में प्रविष्ट हो गया । इस प्रवेश को जानकर रानी प्रासाद से पुनः विहार में लौटी ॥ ३९ ॥

राजा को सूचना देकर राजा के साथ वह पुनः विहार में आयी । उन दोनों (राजा-रानी) ने उस श्रामणेर की और्ध्वदैहिक क्रिया कर, उसी परिवेश में कुछ काल ठहर कर निरन्तर भिक्षुसङ्घ को महादान आदि पुण्यकर्म किये ॥ ४०-४१ ॥

तस्सेवं दोहळो आसि महापुञ्ञाय देविया ।
उसभमत्तं मधुगण्डं कत्वा उस्सीसके सयं ॥ ४२ ॥

वामन्तरेण पस्सेन निपन्ना सयने सुभे ।
द्वादसन्नं सहस्सानं भिक्खूनं दिन्नसेसकं ॥ ४३ ॥

मधुं भुञ्जितुकामासि अथ एळारराजिनो ।
योधानं अग्गयोधस्स सीसच्छिन्नासिधोवनं ॥ ४४ ॥

तस्सेव सीसे ठत्वान पातुं चेव अकामयि ।
अनुराधपुरस्सेव :उप्पलक्खेत्ततो पन ॥ ४५ ॥

आनीतुप्पलमालं च अमिलातं पिलन्धितुं ।
तं देवी राजिनो आह, नेमित्ते पुच्छि भूपति ॥ ४६ ॥

तं सुत्वा आहु नेमित्ता "देवीपुत्तो निघातिय ।
दमिळे कत्वेकरज्जं सासनं जोतयिस्सति" ॥ ४७ ॥

"एदिसं मधुगण्डं यो दस्सेसि तस्स एदिसं ।
सम्पत्तिं देति राजा" ति घोसापेसि महीपति ॥ ४८ ॥

गोटसमुद्दवेलन्ते मधुपुण्णं निकुज्जितं ।
नावं ञत्वान आचिक्खि रञ्ञो जानपदो नरो ॥ ४९ ॥

[W.G. 175] राजा देविं तहिं नेत्वा मण्डपम्हि सुसङ्खते ।
यथिच्छितं ताय मधुपरिभोगं अकारयि ॥ ५० ॥

इतरे दोहळे तस्सा सम्पादेतुं महीपति ।
वेळुसुमननामं तं योधं तत्थ नियोजयि ॥ ५१ ॥

सोनुराधपुरं गन्त्वा रञ्ञो मङ्गलवाजिनो ।
गोपकेन अका मेत्तिं तस्स किच्चं च सब्बदा ॥ ५२ ॥

रानी की दोहद कथा—गर्भधारण करने के कुछ समय बाद उस महापुण्य रानी को तीन दोहद (गर्भिणी की विशेष इच्छा) उत्पन्न हुए-- १. वृषभ (बैल) जितना ऊँचा मधुपिण्ड बारह भिक्षुओं को दान देने के बाद बची राशि को पलंग के सिरहाने रखूं और उसी सुन्दर पलंग पर बाँयी करवट (पार्श्व) लेट कर यथेच्छ खाऊँ; २. एळार राजा के योद्धाओं में से श्रेष्ठ योद्धा का सिर काटने वाली तलवार का धोवन उसी के सिर पर खड़ी होकर पीऊँ; ३. अनुराधपुर के उत्पलक्षेत्र (पद्मवन) से लायी नील कमल की अम्लान (न मुरझायी) माला धारण करूँ ॥ ४२-४५ ॥

रानी ने अपने इन दोहदों की बात राजा से कही । राजा ने ज्यौतिषियों से इस दोहद का फल पूछा ॥ ४६ ॥

ज्योतिषियों ने बताया– "रानी को होने वाला पुत्र द्रविड़ों को मारकर अपना एकच्छत्र राज्य स्थापित कर बुद्धशासन की अभिवृद्धि करेगा" ॥ ४७ ॥

तब राजा ने नगर में घोषणा करवायी कि "जो एक वृषभ जितना ऊँचा मधुगण्ड (शहदका छत्ता) लाकर देगा या दिखायगा उसे अधिक से अधिक धन दिया जायगा" ॥ ४८ ॥

गोठ (लङ्कासमीपस्थ) समुद्र के किनारे पर मधु से भरी हुई नाव उल्टी देखकर वहाँ के जनपदवासियों ने राजा के पास आकर सूचना दी ॥ ४९ ॥

राजा ने रानी को वहाँ ले जाकर भली भाँति बने मण्डप में बैठाकर उसे यथेच्छ मधुपान कराया ॥ ५० ॥

रानी के अवशिष्ट दो दोहदों की पूर्ति हेतु राजा ने वेळुसुमन नामक योद्धा को नियुक्त किया ॥ ५१ ॥

उस योद्धा ने अनुराधपुर जा कर राजा के मङ्गल अश्व के शिक्षक (सईस) से मैत्री कर ली, और उसके बताये सभी कार्य मनोयोग से करने लगा ॥ ५२ ॥

तस्स विस्सत्थतं ञत्वा पातो व उप्पलानसिं ।
कादम्बनदिया तीरे ठपेत्वान असङ्कितो ॥ ५३ ॥

अस्सं नेत्वान आरुय्ह गण्हित्वा उप्पलानसिं ।
निवेदयित्वा अत्तानं अस्सवेगेन पक्कमि ॥ ५४ ॥

सुत्वा राजा गहेतुं तं महायोधमपेसयि ।
दुतियं सम्मतं अस्सं आरुय्ह सोनुधावि तं ॥ ५५ ॥

सो गुम्बनिस्सितो अस्सपिट्ठे येव निसीदिय ।
एन्तस्स पिट्ठितो तस्स उब्बय्हासिं पसारयि ॥ ५६ ॥

अस्सवेगेन यन्तस्स सीसं छिज्जि, उभो हये ।
सीसं चादाय, सायं सो महागामं उपागमि ॥ ५७ ॥

दोहळे ते च सा देवी परिभुञ्जि यथासुचि ।
राजा योधस्स सक्कारं कारापेसि यथारहं ॥ ५८ ॥

सा देवी समये धञ्ञं जनयि पुत्तमुत्तमं ।
महाराजकुले तस्मिं आनन्दो च महा अहु ॥ ५९ ॥

[W.G. 176] तस्स पुञ्ञानुभावेन तदहेव उपागमुं ।
नानारतनसम्पुण्णा सत्त नावा ततो ततो ॥ ६० ॥

तस्सेव पुञ्ञतेजेन छद्दन्तकुलतो करी ।
हत्थिच्छापं आहरित्वा ठपेत्वा इध पक्कमि ॥ ६१ ॥

तं तित्थपरतीरम्हि दिस्वा गुम्बन्तरे ठितं ।
कण्डुलो नाम बालिसिको रञ्ञो आचिक्खि तावदे ॥ ६२ ॥

पेसेत्वाचरिये राजा तं आनापिय पोसयि ।
'कण्डुलो' इति ञायित्थ दिट्ठत्ता कण्डुलेन सो ॥ ६३ ॥

(कुछ समय में) अपने को उसका विश्वस्त हुआ जानकर, प्रातः काल ही कमल और तलवार कदम्ब नदी के किनारे रख कर, विना किसी शङ्का के ॥ ५३ ॥

अश्व को लेकर उस पर चढ़ गया । वहाँ नदीतट से कमल और तलवार लेकर अपना परिचय देता हुआ अश्ववेग (द्रुत गति) से भागा ॥ ५४ ॥

(अनुराधपुर के) राजा ने जब सुना तो उसने उसको पकड़ने के लिये महायोद्धा को भेजा । महायोद्धा दूसरे अनुकूल अश्व पर चढ़कर उसके पीछे दौड़ा ॥ ५५ ॥

उस वेळुवसुमन ने नदी के किनारे की झाड़ियों (गुम्ब) से निकल कर घोड़े की पीठ पर बैठे ही बैठे, पीछे आते योद्धा के वधहेतु तलवार निकाल कर पसार दी ॥ ५६ ॥

अश्ववेग से आते हुए उस महायोद्धा का सिर तलवार से टकराकर दूर जा गिरा । तब वेळुवसुमन उस महायोद्धा का कटा सिर एवं घोड़े–दोनों ले कर सायङ्काल तक महाग्राम पहुँच गया ॥ ५७ ॥

यों रानी ने अपने उन दोनों दोहदों को भी यथारुचि खा कर पूर्ण किया । उधर राजा ने भी उस वेळुवन योद्धा का यथायोग्य सत्कार किया ॥ ५८ ॥

इस तरह उस देवी ने यथासमय एक सौभाग्यशाली पुत्ररत्न को जन्म दिया । उस पुत्रोत्पत्ति के कारण राजकुल में अत्यधिक आनन्दोत्सव मनाया जाने लगा ॥ ५९ ॥

उस शिशु के पुण्यप्रताप से उसी दिन नानाविध रत्नों से परिपूर्ण सात नौकाएँ इधर-उधर से आ गयीं ॥ ६० ॥

उसी के पुण्य प्रभाव से छद्दन्त कुल में उत्पन्न हाथी अपने एक बच्चे को छोड़ कर चला गया ॥ ६१ ॥

उस हाथी के बच्चे को तट के दूसरे किनारे पर खड़ा देख कर वहाँ के कण्डुल नाम के एक मछुआरे (वंशीधारक) ने आकर राजा को तत्काल सूचना दी ॥ ६२ ॥

राजा ने हस्तिशिक्षकों (महावतों) को भेजकर उस हाथी के बच्चे को अपने यहाँ मँगवा लिया और उसका पालन-पोषण होने लगा । और सर्वप्रथम उसकी सूचना कण्डुल मछुआरे द्वारा दी जाने के कारण उसका नाम भी 'कण्डुल' ही रख दिया ॥ ६३ ॥

"सुवण्णभाजनादीनं पुण्णा नावा इधागता ।"
इति रञ्ञो निवेदेसुं, राजा तानाहरापयि ॥ ६४ ॥

पुत्तस्स नामकरणे मङ्गलम्हि महीपति ।
द्वादससहस्ससङ्ख्यं भिक्खुसङ्घं निमन्तिय ॥ ६५ ॥

एवं चिन्तेसिः "यदि मे पुत्तो लङ्कातले खिले ।
रज्जं गहेत्वा सम्बुद्धसासनं जोतयिस्सति ॥ ६६ ॥

अट्ठुत्तरसहस्सं वा भिक्खवो पविसन्तु च ।
सब्बे ते उद्धपत्तं च चीवरं पारुपेन्तु च ॥ ६७ ॥

पठमं दक्खिणं पादं उम्मारन्तो ठपेन्तु च ।
एकच्छत्तयुतं धम्मकरकं नीहरन्तु च ॥ ६८ ॥

गोतमो नाम थेरो च पटिग्गण्हातु पुत्तकं ।
सो च सरणसिक्खायो देतु" सब्बं तथा अहु ॥ ६९ ॥

सब्बं निमित्तं दिस्वान तुट्ठचित्तो महीपति ।
दत्वा सङ्घस्स पायासं नाम पुत्तस्स कारयि ॥ ७० ॥

महागामे नायकत्तं पितु नामं च अत्तनो ।
उभो कत्वान एकज्झं 'गामणी अभयो' इति ॥ ७१ ॥

[W.G. 177] महागामं पविसित्वा नवमे दिवसे ततो ।
सङ्गमं देवियाकासि, तेन गब्भं अगण्हि सो ॥ ७२ ॥

काले जातं सुतं राजा तिस्सनामं अकारिय ।
महता परिवारेन उभो वड्ढिंसु दारका ॥ ७३ ॥

सित्थप्पवेसमङ्गलकाले द्विन्नं पि सादरो ।
भिक्खुसतानं पञ्चन्नं दापयित्वान पायसं ॥ ७४ ॥

तटीय अधिकारियों ने सूचना दी कि सुवर्ण के पात्रों से भरी कुछ नावें यहाँ आयी हुई हैं । राजा ने उन (पात्रों) को भी अपने यहाँ मँगवा लिया ।। ६४ ।।

पुत्र का नामकरण—राजा ने पुत्र के नामकरण के मङ्गलोत्सव के दिन, बारह हजार (१२,०००) भिक्षुओं के सङ्घ को निमन्त्रित किया ।। ६५ ।।

और उसने उस समय यह सोचा—"यदि मेरा पुत्र समग्र लङ्का द्वीप पर एकच्छत्र राज्य करता हुआ शासन (धर्म) अभिवृद्धि में निमित्त बने ।। ६६ ।।

तो उक्त सङ्ख्या में से एक हजार आठ (१,००८) भिक्षु ही मेरे महल में आवें । वे सभी पात्र को ओंधा किये हुए तथा चीवर पहने हुए हों ।। ६७ ।।

वे महल में प्रवेश करते समय अपना दक्षिण चरण पहले देहली के अन्दर रखें तथा एक छत्र एवं जलछनना (धम्मकरक) हाथ में रखें ।। ६८ ।।

जो स्थविर मेरे पुत्र को नाम-करणहेतु उठावे उसका गौतम नाम होना चाहिये और वही इसे शरणत्रय की शिक्षा दे" ।। ६९ ।।

राजा की सोची हुई सभी बातें वैसी की वैसी पूर्ण हुई । ये सब शुभ शकुन देखकर, राजा बहुत प्रसन्न हुआ । अतः राजा ने सङ्घ को पायस-दान कर पुत्र का नामकरण-संस्कार सम्पन्न किया ।। ७० ।।।

पुत्र के नामकरण में उसने दो बातों का ध्यान रखा—१. उसके नाम में महाग्राम का नायकत्व अभिलक्षित हो और २ अपने पिता का नाम भी उसके नाम में सम्पृक्त रहे । अतः उसका नाम रखा गया "गामणी अभय" ।। ७१ ।।

देवी को दूसरा पुत्र—महागाम में पुनः लौटकर नौवें (९वें) दिन राजा ने रानी के साथ पुनः सहवास किया । उससे रानी को गर्भ ठहर गया । रानी ने समय पर एक पुत्र रत्न और उत्पन्न किया ।। ७२ ।।

राजा ने उस पुत्र का नाम रखा— तिष्य । यों, वे दोनों ही पुत्र बहुत लाड-प्यार से पाले--पोसे जाने लगे ।। ७३ ।।

दोनों ही पुत्रों के सिक्थ-प्रवेश (अन्न-प्राशन) मुहूर्त के उत्सव में राजा ने पाँच सौ (५००) भिक्षुओं की पायस-दान कर ।। ७४ ।।

तेहि उपड्ढे भुत्तम्हि गहेत्वा थोकथोकितं ।
सोवण्णसरकेनेसं देविया सह भूपति ॥ ७५ ॥

"सम्बुद्धसासनं तुम्हे यदि छड्डेथ पुत्तका ।
मा जीरतु कुच्छिगतं इदं वो" ति अदापयि ॥ ७६ ॥

विञ्ञाय भासितत्थं ते उभो राजकुमारका ।
पायसं तं अभुञ्जिंसु तुट्ठचित्तामतं विय ॥ ७७ ॥

दसद्वादसवस्सेसु तेसु वीमंसनत्थिको ।
तथेव भिक्खू भोजेत्वा तेसमुच्छिट्ठमोदनं ॥ ७८ ॥

गाहापेत्वा तट्टकेन ठपापेत्वा तदन्तिके ।
तिभागं कारयित्वान इदमाह महीपति ॥ ७९ ॥

"कुलदेवतानं नो, ताता, भिक्खूनं विमुखा मयं ।
न हेस्सामा" ति चिन्तेत्वा भागं भुञ्जथिमं ति च ॥ ८० ॥

"द्वे भातरो मयं निच्चं अञ्ञमञ्ञमदूभका ।
भविस्सामा ति चिन्तेत्वा भागं भुञ्जथिमं" ति च ॥ ८१ ॥

[W.G. 178] अमतं विय भुञ्जिंसु ते द्वे भागं उभो पि च ।
"न युज्झिस्साम दमिळेहि इति भुञ्जथिमं" इति ॥ ८२ ॥

एवं वुत्तेसु तिस्सो सो पाणिना खिपि भोजनं ।
गामणी भत्तपिण्डं तु खिपित्वा सयनं गतो ॥ ८३ ॥

सङ्कुचित्वा हत्थपादं निपज्जि सयने सयं ।
देवी गन्त्वा तोसयन्ती गामणिं एतदब्रवि ॥ ८४ ॥

"पसारिताङ्गो सयने किं न सेसि सुखं, सुत?" ।
"गङ्गापारम्हि दमिळा, इतो गोठमहोदधि ॥ ८५ ॥

भिक्षुओं के खाये भोजन में से थोड़ा भात (प्रसाद के रूप में) सोने की थाली में लेकर रानी को साथ लेकर राजा ने अपने दोनों पुत्रों को कहा– ॥ ७५ ॥

"पुत्रो! यदि तुम बड़े होकर बुद्ध शासन की उन्नति न कर पाओ तो यह हमारे द्वारा दिया भोजन तुम्हें पेट में न पचे" ॥ ७६ ॥

पिता के कहे वचनों का तात्पर्य समझते हुए दोनों पुत्रों ने उस पायस को इतनी अभिरुचि के साथ ग्रहण किया मानो अमृत ही पी रहे हों ॥ ७७ ॥

उन दोनों पुत्रों के क्रमशः दश (१0) एवं बारह (१२) वर्ष का हो जाने पर राजा ने पहले की तरह भिक्षुओं को पायस-दान कर उनके उच्छिष्ट भोजन का कुछ अंश ॥ ७८ ॥

निकल कर थाली में उन के पास रखकर उसके तीन भाग कर राजा ने उन से यह कहा– ॥ ७९ ॥

"पुत्रो! इस भोजन का एक भाग यह सङ्कल्प कर के खाओ कि तुम दोनों भाई अपने कुलदेवताओं और भिक्षुओं से कभी विमुख न होवोगे ॥ ८0 ॥

"तथा दूसरा भाग यह सङ्कल्प करके खाओ कि तुम दोनों जीवनपर्यन्त परस्पर द्वेषरहित रहोगे" ॥ ८१ ॥

तब उन्होंने वे दोनों भाग इस तरह खा लिये जैसे अमृत खाया जा रहा हो । परन्तु जब उनसे यह कहा गया कि अब यह तीसरा भाग यह सङ्कल्प करके खओ कि तुम अपने जीवन में द्रविड़ों से कबी युद्ध न करोगे तो उनमें से तिष्य हाथ से भजन का पात्र फेंककर दूर हट गया ॥ ८२ ॥

और शय्या पर जाकर पैर समेट कर लेट गया । तब रानी ने गारमणी के पास जाकर उसे समझते हुए कहा–॥ ८४ ॥

"पुत्र! सोना ही है तो पैर पसार कर सुखपूर्वक क्यों नहीं सो रहे हो?" ग्रामणी ने उत्तर दिया–"माता जी! गङ्गा पार द्रविड़ हैं और इधर यह गोठ महासमुद्र है । तो मैं किधर पैर पसारूँ?" उसके मन का भाव समझकर राजा चुप रहे ॥ ८५ ॥

कथं पसारितङ्गोहं निपज्जिं?" ति सो अब्रवि ।
सुत्वान तस्साधिप्पायं तुण्ही आसि महीपति ॥ ८६ ॥

सो कमेनाभिवड्ढन्तो अहु सोळसवस्सिको ।
पुञ्ञवा यसवा धितिमा तेजोबलपरक्कमो ॥ ८७ ॥

चलाचलायं गतियं हि पाणिनो
उपेन्ति पुञ्ञेन यथारुचिं गतिं ।
इतीति मन्त्वा सततं महादरो
भवेय्य पुञ्ञूपचयम्हि बुद्धिमा[1] ॥ इति ॥ ८८ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

गामणिकुमारकप्पसूतिनाम

बावीसतिमो परिच्छेदो

****

1. वंशस्थ छन्द ।

"पुत्र! सोना ही है तो पैर पसार कर सुखपूर्वक क्यों नहीं सो रहे हो?" ग्रामणी ने उत्तर दिया–"माता जी! गङ्गा पार द्रविड़ हैं और इधर यह गोठ महासमुद्र है । तो मैं किधर पैर पसारूँ ?" उस के मन का भाव समझकर राजा चुप रहे ॥ ८६ ॥

वह (ग्रामणी) क्रमशः बढ़ता हुआ सोलह वर्ष का हो गया । साथ ही वह पुण्य, यश, धृति, तेज, बल एवं पराक्रम–इन सभी गुणों से सम्पन्न हो गया ॥ ८७ ॥

प्राणियों की संसार में इस सन्दिग्ध चल-अचल गति के सम्मुख पुण्यशाली पुरुष ही अभीष्ट गति प्राप्त कर पाते है । यह सोच कर बुद्धिमान् पुरुष को सदैव पुण्यसञ्चय में ही लगे रहना चाहिये ॥ ८८ ॥

सज्जनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह
संवर्धन हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

ग्रामणीकुमार–जन्म वर्णन नामक

बाईसवां परिछेद समाप्त

२३.

तेवीसतिमो परिच्छेदो

(योधलाभो नाम)

[W.G. 179] बल-लक्खण-रूपेहि तेजो-जव-गुणेहि च ।
अग्गो अहु महाकायो सो च कण्डुलवारणो ॥ १ ॥

नन्धिमत्तो सूरनिमिलो महासोणो गोठइम्बरो ।
थेरपुत्ताभयो भरणो बेळुसुमनो तथेव च ॥ २ ॥

खञ्जदेवो फस्सदेवो लभियवसभो पि च ।
एते दस महायोधा तस्साहेसुं महब्बला ॥ ३ ॥

अहु एळारराजस्स मित्तो नाम चमूपति ।
तस्स कम्मन्तगामम्हि पाचीनखण्डराजिया ॥ ४ ॥

चित्तपब्बतसामन्ता अहु भगिनिया सुतो ।
कोसोहितवत्थगुय्हो मातुलस्सेव नामको ॥ ५ ॥

दूरं पि परिसप्पन्तं दहरं तं कुमारकं ।
आबज्झ नन्धिया कटिया निसदम्हि अबन्धिसुं ॥ ६ ॥

[W.G. 180] निसदं कड्ढतो तस्स भूमियं परिसप्पतो ।
उम्मारातिक्कमे नन्धी सा छिज्जति यतो ततो ॥ ७ ॥

नन्धिमित्तो ति ञायित्थ दसनागबलो अहु ।
वुड्ढो नगरमागम्म सो उपट्ठासि मातुलं ॥ ८ ॥

तेईसवाँ परिच्छेद

(योद्धाओं की प्राप्ति का वर्णन)

कण्डुल हाथी—राजा का वह 'कण्डुल' नामक हाथी बल, शारीरिक चिह्न, रूप (शरीर का आकार) तेज, शक्ति (सामर्थ्य) आदि गुणों से पूर्णतः सम्पृक्त था, साथ ही वह विशालकाय भी था ॥ १॥

राजा के दश योद्धा—उस राजा के पास दश महाबलशाली योद्धा भी क्रमशः एकत्र हो गये । जिनके नाम थे—१. नन्धिमित्र, २. शूरनिमिल, ३. महासोण, ४. गोठम्बर, ५. स्थविरपुत्र अभय, ६. मरण, ७. वेणुसुमन ((वेळुसुमन), ८. खञ्जदेव, ९. फुस्सदेव एवं १०. लभ्यवृषभ ॥ २-३ ॥

१. नन्धिमित्र—राजा एळार का मित्र नामक सेनापति था । उसके प्राचीन खण्ड की पंक्ति के चित्तपर्वत के समीप सीमान्त ग्रम में उसकी बहन का पुत्र रहता था । जिसकी मूत्रेन्द्रिय अण्डकोशों से आवृत थी । उसका नाम भी अपने मामा के ही समान ही 'मित्र' था ॥ ४-५ ॥

बचपनमें वह, अपनी चञ्चलता के कारण, लिटाये हुए स्थान से इधर-उधर सरक जाता था अतः उसकी पीठ को भारी पत्थर से बांध दिया जाता था ॥ ६ ॥

परन्तु वह इतना बलशाली था कि भूमि में सरकता हुआ वह उस पत्थर को भी खींच ले जाता था; और घर की देहली से रगड़ खाकर उसकी रस्सी कट जाती थी, अतः उसका नाम 'नन्धिमित्र' पड़ गया ॥ ७ ॥

लोग उसे नन्धिमित्र नाम से ही जानने लगे । उसके शरीर में दश हाथियों का बल था । बड़े होने पर वह अपने मामा के पास आ कर रहने लगा ॥ ८ ॥

थूपादीसु असक्कारं करोन्ते दमिळे तदा ।
ऊरुं अक्कम्म पादेन हत्थेन इतरं तु सो ॥ ९ ॥

गहेत्वा सम्पदालेत्वा बहि खिपति थामवा ।
देवा अन्तरधापेन्ति तेन खिन्नं कलेवरं ॥ १० ॥

दमिळानं खयं दिस्वा रञ्ञो आरोचयिंसु तं ।
"सहोड्ढं गण्हथेनं" ति वुत्ता कातुं न सक्खिसुं ॥ ११ ॥

चिन्तेसि नन्धिमित्तो सो "एवं पि करतो मम ।
जनक्खयो केवलं हि, नत्थि सासनजोतनं ॥ १२ ॥

रोहणे खत्तिया सन्ति पसन्ना रतनत्तये ।
तत्थ कत्वा राजसेवं गण्हित्वा दमिळे खिले ॥ १३ ॥

रज्जं दत्वा खत्तियानं जोतेस्सं बुद्धसासनं" ।
इति गन्त्वा गामणिस्स तं कुमारस्स सावयि ॥ १४ ॥

मातुया मन्तयित्वा सो सक्कारं तस्स कारिय ।
सक्कतो नन्धिमित्तो सो योधो वसि तदन्तिके ॥ १५ ॥

काकवण्णो तिस्सराजा वारेतुं दमिळो सदा ।
महागङ्गाय तित्थेसु रक्खं सब्बेसु कारयि ॥ १६ ॥

अहु दीघाभयो नाम रञ्ञोञ्ञभरियासुतो ।
कच्छकतित्थे गङ्गाय तेन रक्खं अकारयि ॥ १७ ॥

[W.G. 181] सो रक्खाकरणत्थाय समन्ता योजनद्वये ।
महाकुलम्हि एकेकं पुत्तं आनापयी तहिं ॥ १८ ॥

कोट्ठिवाले जनपदे गामे खण्डकविट्ठिके ।
सत्तपुत्तो कुलपति सङ्घो नामासि इस्सरो ॥ १९ ॥

उस समय वहाँ रहने वाले द्रविड़ बुद्ध स्तूपादि के प्रति असम्मान प्रकट करते थे । उन्हें वह किसी को जाँघ से , किसी को पैर या हाथ से दबाकर मार कर दूर फैक देता था । तथा देवता उसके द्वारा फेंके हुए उन मृत शरीरों को छिपा देते थे ॥ ९-१० ॥

यों धीरे-धीरे द्रविड़ों की निरन्तर हत्याएँ होती देखकर, लोगों ने राजा को सूचित किया । राजा ने आदेश दिया–"इसको इसके साथियों सहित पकड़ लिया जाय ।" परन्तु उसे क़िसी भी तरह पकड़ा नहीं जा सका ॥ ११ ॥

उधर नन्धिमित्र ने सोचा–"इस तरह मेरे द्वारा की गयी इन छुट-पुट (विप्रकीर्ण) हत्याओं से केवल जन-हानि ही होगी, बुद्ध-धर्म की तो अभिवृद्धि होनी नहीं । हाँ, रोहण प्रान्त में जो क्षत्रिय रहते हैं, जिनकी कि रत्नत्रय में श्रद्धा है, उनके राजा की सेवा में यदि मैं अपने को लगाऊँ तो बुद्ध शासन का अधिक लाभ हो सकता है कि सभी द्रविड़ों को बन्दी बना कर ॥ १२-१३ ॥

क्षत्रियों को उन का राज्य सौंप दिया जाय" । उसने अपना यह विचार ग्रामणिकुमार को जाकर बताया ॥ १४ ॥

ग्रामणिकुमार ने माता की सम्मति लेकर उस (नन्धिमित्र) का अपने पास आने पर सत्कार कर अपना मुख्य योद्धा बना लिया ॥ १५ ॥

२. **शूरनिमिल**–उस राजा काकवर्ण तिष्य ने द्रविड़ों का प्रतिरोध करने हेतु महागङ्गा नदी के सभी प्रमुख घटों पर पहरा (रक्षा) बैठा दिया था ॥ १६ ॥

(उसी क्रम में) राजा की दूसरी भार्या का पुत्र दीर्घाभय गङ्गा नदी के कच्छक घाट पर पहरा दिया करता था ॥ १७ ॥

इस प्रकार राजा ने चारों तरफ से दो दो योजन पर (गङ्गा नदी के) घाटों की रक्षा के लिये क्षत्रियों के बड़े परिवारों (महाकुलों) में से एक एक बलवान् पुरुष बुलवाया ॥ १८ ॥

यों, कोट्ठिवाल जनपद के खण्डकविट्ठिक ग्राम में सात पुत्रों का पिता, परिवार का प्रमुख (कुलपति) कोई सङ्घ नाम का क्षत्रिय (इस्सर) था ॥ १९ ॥

तस्सापि दूतं पाहेसि राजपुत्तो सुतत्थिको ।
सत्तमो निमिलो नाम दसहत्थिबलो सुतो ॥ २० ॥

तस्स अकम्मसीलत्ता खीयन्ता छ पि भातरो ।
रोचयुं तस्स गमनं, न तु माता पिता पन ॥ २१ ॥

कुज्झित्वा सेसभातूनं पातो येव तियोजनं ।
गन्त्वा सुरियुग्गमे येव राजपुत्रं अपस्सि तं ॥ २२ ॥

सो तं वीमंसनत्थाय दूरे किच्चं नियोजयि ।
"चेतियपब्बतासन्ने द्वारमण्डलगामके ॥ २३ ॥

ब्राह्मणो कुण्डली नाम विज्जते मे सहायको ।
समुद्दपारे भण्डानि तस्स विज्जन्ति सन्तिके ॥ २४ ॥

गन्त्वा त्वं तेन दिन्नानि भण्डकानि इधाहर" ।
इति वत्वान भोजेत्वा लेखं दत्वा विसज्जयि ॥ २५ ॥

ततो नवयोजनम्हि अनुराधपुरं इदं ।
पुब्बण्हेयेव गन्त्वान सो तं ब्राह्मणमद्दस ॥ २६ ॥

"वापियं, तात! नहात्वा एही" ति आह ब्राह्मणो ।
इधानागतपुब्बत्ता नहात्वा तिस्सवापियं ॥ २७ ॥

[W.G. 182] महाबोधिं च पूजेत्वा थूपारामे च चेतियं ।
नगरं पविसित्वान पस्सित्वा सकलं पुरं ॥ २८ ॥

आपणा गन्धमादाय उत्तरद्वारतो ततो ।
निक्खम्मुप्पलखेत्तम्हा गण्हित्वा उप्पलानि च ॥ २९ ॥

उपागमि ब्राह्मणं तं, पुट्ठो तेनाह सो गतिं ।
सुत्वा सो ब्राह्मणो तस्स पुब्बागमं इधागमं ॥ ३० ॥

उसके पास भी राजा की तरफ से दूत भेजा गया कि वह भी इस कार्य के लिये अपना एक पुत्र दे । उस सङ्घ को सातवाँ पुत्र था निमिल, जिसमें दश हाथियों का बल था ॥ २० ॥

परन्तु उसके आलसी (निकम्मा) होने के कारण, सभी भाई उससे क्रुद्ध रहते थे । उन्होंने चाहा कि वही (निमिल) चला जाय । परन्तु उसके माता-पिता ऐसा नहीं चाहते थे ॥ २१ ॥

फिर भी, वह शेष भाईयों पर क्रुद्ध होकर, बहुत प्रातः ही उठकर, तीन योजन चल कर, सूर्योदय के साथ ही राजपुत्र के दर्शन करने जा पहुँचा ॥ २२ ॥

उस राजपुत्र ने उसकी परीक्षा के लिये उसको दूर के कार्य पर नियुक्त किया । उसने उससे कहा– "चैत्यपर्वत के पास द्वारमण्डल ग्राम में मेरा मित्र कुण्डली नामक ब्राह्मण रहता है । उसके पास समुद्र पार से लायी गयी कुछ अमूल्य वस्तुएँ हैं ॥ २३-२४ ॥

तुम उसके पास जा कर उसके द्वारा दी हुई वे वस्तुएँ ले आओ" । उसे यों कहकर भोजन कराकर, एक पत्र देकर उक्त कार्य के लिये भेज दिया ॥ २५ ॥

अनुराधपुर से वह ग्राम नौ योजन दूर था । वह इतनी दूरी पूर्वाह्ण में ही पार कर उस ब्राह्मण के पास पहुँच गया ॥ २६ ॥

ब्राह्मण ने कहा–"तात! पहले वापी में स्नान कर आओ" । वह यहाँ पहले कभी न आया हुआ होने के कारण, तिष्यवापी में स्नान कर ॥ २७ ॥

महाबोधि की पूजा कर तथा स्तूपाराम में चैत्य की वन्दना करते हुए नगर में जाकर, सम्पूर्ण नगर की शोभा देख कर ॥ २८ ॥

अन्त में किसी दुकान से गन्ध द्रव्य खरीदकर, उत्तर द्वार से निकल कर उत्पन्न वन से नीलकमल पुष्प लेकर ॥ २९ ॥

वापस ब्रह्मण के घर लौट आया । ब्राह्मण ने उसको यहाँ आने का कारण पूछा । उससे आने का कारण सुनकर तथा उसका इस अनुराधपुर में प्रथम आगमन जान कर ॥ ३० ॥

विम्हितो चिन्तयी एवं "पुरिसाजानियो अयं ।
सचे जानेय्य एळारो इमं हत्थे करिस्सति ॥ ३१ ॥

तस्मायं दमिळासन्ने वासेतुं नेव अरहति ।
राजपुत्तस्स पितुनो सन्तिके वासमरहति" ॥ ३२ ॥

एवमेव लिखित्वान लेखं तस्स समप्पयि ।
पुण्णवड्ढनवत्थानि पण्णाकारे बहू पि च ॥ ३३ ॥

दत्वा तं भोजयित्वा च पेसेसि सखिसन्तिकं ।
सो वड्ढमानच्छायायं गन्त्वा राजसुतन्तिकं ॥ ३४ ॥

लेखं च पण्णकारे च राजपुत्तस्स अप्पयि ।
तुट्ठो आह "सहस्सेन पसादेथ इमं" ति सो ॥ ३५ ॥

इस्सं करिंसु तस्सञ्ञे राजपुत्रस्स सेवका ।
सो तं दससहस्सेन पसादापेति दारकं ॥ ३६ ॥

तस्स केसं लिखापेत्वा गङ्गायेव नहापिय ।
पुण्णवड्ढनवत्थयुगं गन्धमालं च सुन्दरं ॥ ३७ ॥

[W.G. 183] सीसं दुकूलपट्टेन वेठयित्वा उपानयुं ।
अत्तनो परिहारेन भत्तं तस्स अदापयि ॥ ३८ ॥

अत्तनो दससहस्सअग्घनं सयनं सुभं ।
सयनत्थं अदापेसि तस्स योधस्स खत्तियो ॥ ३९ ॥

सो सब्बं एकतो कत्वा नेत्वा माता-पितन्तिकं ।
मातुया दससहस्सं, सयनं पितुनो अदा ॥ ४० ॥

तंयेव रत्तिं आगन्त्वा रक्खद्वारे अदस्सयि ।
पाभते राजपुत्तो तं सुत्वा हट्ठमनो अहु ॥ ४१ ॥

वह ब्राह्मण आश्चर्यचकित होते हुए सोचने लगा–"यह तो बहुत बली पुरुष है । यदि एळार इसके विषय में ज़ान लेगा तो वह इसे स्वहस्तगत कर लेगा ॥ ३१ ॥

अतः इसे द्रविडों के पास रहने देना उचित नहीं । इसका राजपुत्र के पास रहना ही उचित है" ॥ ३२ ॥

इसलिये इसी आशय का एक पत्र लिखकर उसको दिया । तथा पूर्ण-वर्धन वस्त्र (अच्छी, सुन्दर लगने वाली वेषभूषा) पहना कर, बहुत सी भेंट दे कर ॥ ३३ ॥

ठीक से भोजन करा कर उसे अपने मित्र के पास भेजा । वह बढती हुई छाया (सन्ध्या काल) में राजपुत्र के पास पहुँचा ॥ ३४ ॥

जाते ही उसने ब्राह्मण का वह पत्र तथा मिली हुई भेंट राजपुत्र को समर्पित कर दी । राजपुत्र ने इससे सन्तुष्ट होकर अपने अधिकारियों से कहा– "इसे एक हजार मुद्रा देकर सम्मानित करो" ॥ ३५ ॥

इस बात से राजपुत्र के दूसरे सेवक उससे ईर्ष्या करने लगे । तब राजपुत्र ने उस तरुण को दश हजार मुद्रा देकर सम्मानित किया ॥ ३६ ॥

तदनन्तर (राजपुत्र ने) उस तरुण युवक के बाल ठीक ढंग से कटवा कर, गङ्गा में स्नान करवा कर, पूर्णवर्धन वस्त्र एवं गन्ध-माल्य से अलंकृत कर ॥ ३७ ॥

सिर पर साफा (पगड़ी) बन्धवा कर अपने पास बुलवाया । राजपुत्र ने उससे प्रसन्न होकर अपने लिये बने भोजन में से भोजन कराया ॥ ३८ ॥

तथा राजपुत्र ने अपना दश हजार मूल्य का महँगा पलंग उस तरुण युवक योद्धा को शयन के लिये दे दिया ॥ ३९ ॥

राजपुत्र द्वारा दी गयी वे सब वस्तुएँ, तथा दश हजार मुद्रा एकत्र कर उन्हें लेकर वह योद्धा अपने माता-पिता के पास पुनः लौट आया । उसमें से उसने माता को दश हजार मुद्राएँ दी तथा पिता सोने के लिये वह पलंग दे दिया ॥ ४० ॥

फिर, उसी रात्रि को वापस लौटकर रक्षा-स्थान पर आकर अपनी उपस्थिति दिखायी । प्रातःकाल जब राजपुत्र ने यह सब सुना तो वह उस पर बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ४१ ॥

दत्वा परिच्छदं तस्स परिवारजनं तथा ।
दत्वा दससहस्सानि पेसेसि पितुसन्तिकं ॥ ४२ ॥

योधो दससहस्सानि नेत्वा माता-पितन्तिकं ।
तेसं दत्वा काकवण्णतिस्सराजं उपागमि ॥ ४३ ॥

सो गामणिकुमारस्स तं अप्पेसि महीपति ।
सक्कतो सूरनिमिलो योधो वसि तदन्तिके ॥ ४४ ॥ (२)

कुलुम्बरिकण्णिकायं हुण्डरीवापिग्रामिके ।
तिस्सस्स अट्ठमो पुत्तो अहोसि सोणनामको ॥ ४५ ॥

सत्तवस्सिककाले पि तालगच्छे अलुञ्चि सो ।
दसवस्सिककालम्हि ताले लुञ्चि महब्बलो ॥ ४६ ॥

[W.G. 184] काले सो पि महासोणो दसहत्थिबलो अहु ।
राजा तं तादिसं सुत्वा गहेत्वा पितुसन्तिका ॥ ४७ ॥

गामणिस्स कुमारस्स अदासि पोसनत्थिको ।
तेन सो लद्धसक्कारो योधो वसि तदन्तिके ॥ ४८ ॥ (३)

गिरिनामे जनपदे गामे निट्ठुलवीथिके ।
दसहत्थिबलो आसि महानागस्स अत्रजो ॥ ४९ ॥

लकुण्टकसरीरत्ता अहु गोठकनामको ।
कारेन्ति केलिपरिहासं तस्स जेट्ठा च भातरो ॥ ५० ॥

ते गन्त्वा मासखेत्तत्थं कोट्टयित्वा महावनं ।
तस्स भागं ठपेत्वान गन्त्वा तस्स निवेदयुं ॥ ५१ ॥

सो गन्त्वा तङ्खणंयेव रुक्खे इम्बरसञ्जिते ।
लुञ्चित्वान समं कत्वा भूमिं गन्त्वा निवेदयि ॥ ५२ ॥

तथा उसको फिर से दश सहास्र मुद्रा, वस्त्र, सेवक आदि देकर माता-पिता के पास भेजा ॥ ४२ ॥

वह योद्धा दस हजार मुद्राएँ भी अपने माता-पिता के पास पहुँचा कर फिर काकवर्ण तिष्य के पास पहुँच गया ॥ ४३ ॥

राजा काकवर्ण तिष्य ने उसको ग्रामणिकुमार को सौंप दिया । वह योद्धा ग्रामणिकुमार द्वारा सत्कृत होकर उसी के पास रहने लगा ॥ ४४ ॥

३. **महासोण योद्धा**–कुदुम्बरिकर्णिका (या कुळुम्बरिकर्णिक) नामक प्रदेश के हुण्ड-रिवापी ग्राम के निवासी सोण को महासोण नामक आठवाँ पुत्र था ॥ ४५ ॥

वह इतना बलवान् था और उसने सात वर्ष की अवस्था में ही अपने शरीर में इतनी शक्ति (बल) प्राप्त कर ली थी कि वह छोटे-छोटे ताड़ वृक्षों को अनायास उखाड़ फेंकता था । दश वर्ष की अवस्था तक पहुँचकर तो वह बड़े-बड़े ताड़वृक्षों को भी कुछ नहीं समझता था ! ॥ ४६ ॥

समय आने पर वह महासोण भी दश हाथियों के बल वाला हो गया । राजा ने उस को ऐसा बलशाली सुनकर पिता के पास से बुलाकर ॥ ४७ ॥

उसके पालन-पोषण हेतु ग्रामणिकुमार को सौंप दिया । अन्त में, वह योद्धा भी उससे सत्कार-सम्मान पाकर उस कुमार के पास ही रह गया ॥ ४८ ॥

४. **गोठिम्बर योद्धा**–गिरि नामक जनपद के निट्ठुलवीथिक ग्राम में महानाग का दश हाथियों जितना बलशाली एक पुत्र था । उसका नाम था गोठक ॥ ४९ ॥

उसका शरीर लकुण्टक (बौना) होने से उसके भाई प्रायः उसका परिहास किया करते थे ॥ ५० ॥

(एक समय) वे उड़द (माष) का खेत बोने के लिये महावन काटने लगे । वे गोठक के हिस्से की क्षेत्र-भूमि छोड़ कर (क्योंकि उसमे इम्बर के वृक्ष बहुत खड़े थे) घर लौट आये तथा गोठक को बता दिया ॥ ५१ ॥

गोठक, ने, तत्काल ही वहाँ जा कर, उन इम्बर वृक्षों को जड़ से उखाड़ कर, भूमि को समतल कर घर आकर सूचना दे दी ॥ ५२ ॥

गन्त्वान भातरो तस्स दिस्वा कम्मं तमब्भुतं ।
तस्स कम्मं कित्तयन्ता आगच्छिंसु तदन्तिकं ॥ ५३ ॥

तदुपादाय सो आसि गोठइम्बरनामको ।
तत्थेव राजा वासेसि तं पि गामणिसन्तिके ॥ ५४ ॥ (४)

कोटपब्बतसामन्ता कित्तिगामम्हि इस्सरो ।
रोहणो नाम गहपति जातं पुत्तकमत्तनो ॥ ५५ ॥

[W.G. 185] समाननामं कारेसि गोठकाभयराजिनो ।
दारको सो बली आसि दसद्वादसवस्सिको ॥ ५६ ॥

असक्कुणेय्य पासाणे उद्धातुं चतुपञ्चहि ।
कीळमानो खिपि तदा सो कीळागुलके विय ॥ ५७ ॥

तस्स सोळसवस्सस्स पिता गदमकारयि ।
अट्ठतिंसङ्गुलावट्टं सोळसहत्थदीघकं ॥ ५८ ॥

तालानं नालिकेरानं खन्धे आहच्च ताय सो ।
ते पातयित्वा तेनेव योधो सो पाकटो अहु ॥ ५९ ॥

तथेव राजा वासेसि तं पि गामणिसन्तिके ।
उपट्ठाको महासुम्मथेरस्सासि पिता पन ॥ ६० ॥

सो महासुम्मथेरस्स धम्मं सुत्वा कुटुम्बिको ।
सोतापत्तिफलं पत्तो विहारे कोटपब्बते ॥ ६१ ॥

सो तं सञ्जातसंवेगो आरोचेत्वान राजिनो ।
दत्वा कुटुम्बं पुत्तस्स पब्बजि थेरमन्तिके ॥ ६२ ॥

भावनं अनुयुञ्जित्वा अरहत्तमपापुणि ।
पुत्तो तेनस्स पञ्ञायि 'थेरपुत्ताभयो' इति ॥ ६३ ॥ (५)

उसके भाइयों ने जब यह सुना तो बहुत आश्चर्यचकित हुए, उन्होंने जाकर खेत को देखकर पुनः आकर उसे साधुवाद (प्रशंसा) देने लगे ॥ ५३ ॥

तब से वह गोठक 'गोठिम्बर' नाम से प्रसिद्ध हो गाया । (अन्त में) राजा ने उसको भी ग्रामिणकुमार के पास ही भेज दिया ॥ ५४ ॥

५. **स्थविरपुत्र अभय**–कोट पर्वत के पास कीर्ति ग्राम में कोई रोहण नाम का क्षत्रिय गृहपति था । उसने अपने पुत्र का नाम राजा गोठकाभय के समान रखा। उसका वह बालक दश बारह वर्ष का होते-होते इतना प्रखर बलशाली हो गया ॥ ५५-५६ ॥

कि जिस पत्थर को उठाने में चार पाँच आदमियों की आवश्यकता होती उसे वह अकेला ही गेंद की तरह उठा कर फेंक देता था ॥ ५७ ॥

उसके सोलह वर्ष का होने पर उसके पिता ने एक अड़तीस (३८) अङ्गुल गोल एवं सोलह हाथ लम्बी गदा बनवा दी ॥ ५८ ॥

उससे वह बड़े-बड़े ताड़ एवं नारियल के वृक्षों को तोड़ कर गिरा देता था । इसी से वह जनपद में योद्धा रूप में प्रसिद्ध हो गया ॥ ५९ ॥

इसीलिए राजा ने उसको भी पूर्व योद्धाओं की तरह ग्रामणिकुमार के पास भेज दिया । परन्तु उसका पिता महासुम्म स्थविर का उपस्थायक था ॥ ६० ॥

अतः वह महासुम्मस्थविर से धर्मोपदेश सुनकर कोट-पब्बत-विहार में स्रोतआपत्ति फल को प्राप्त कर गया ॥ ६१ ॥

वह (पिता) संवेग (वैराग्य) हो जाने पर राजा को सूचना देकर तथा अपना कुटुम्ब पुत्र को सौंपकर स्थविर के पास जाकर प्रव्रजित होकर अर्हत्त्व को प्राप्त हो गया ॥ ६२ ॥

अतएव इसका पुत्र 'स्थविर पुत्र अभय' कहलाया ॥ ६३ ॥

कप्पकन्दगामम्हि कुमारस्स सुतो अहु ।
भरणो नाम सो काले दस द्वादसवस्सिको ॥ ६४ ॥

दारकेहि वनं गन्त्वा अनुबन्धि ससे बहू ।
पादेन पहरित्वान द्विखण्डे भूमियं खिपि ॥ ६५ ॥

गामिकेहि वनं गन्त्वा सोळसवस्सिको पन ।
तथेव पातेसि लहुं मिगगोकण्णसूकरे ॥ ६६ ॥

[W.G. 186] भरणो सो महायोधो तेनेव पाकटो अहु ।
तथेव राजा वासेसि तं पि गामणि-सन्तिके ॥ ६७ ॥ (६)

गिरिनामे जनपदे कुटुम्बियङ्गणगामके ।
कुटुम्बी वसभो नाम अहोसि तत्थ सम्मतो ॥ ६८ ॥

वेळो जानपदो तस्स सुमनो गिरिभोजको ।
सहायस्स सुते जाते पण्णाकारपुरस्सरा ॥ ६९ ॥

गन्त्वा उभो सकं नामं दारकस्स अकारयुं ।
तं वुड्ढमत्तनो गेहे वासेसि गिरिभोजको ॥ ७० ॥

तस्सेको सिन्धवो कञ्चि [1]पुरिसं [2]नारोहितुं अदा ।
दिस्वा तं वेळुसुमनं "अयं आरोहको मम ॥ ७१ ॥

अनुरूपो" ति चिन्तेत्वा पहट्ठो हेसितं अका ।
तं ञत्वा भोजको "अस्सं आरुहा" ति तमाह सो ॥ ७२ ॥

सो अस्सं आरुहित्वा तं सीघं धावेसि मण्डले ।
मण्डले सकले अस्सो एकाबद्धो अदस्सि सो ॥ ७३ ॥

1. १-१. पुरिसं कञ्चि–मु. पा. ।
2. बन्धति–मु. पा. ।

६. भरण योद्धा–कप्पकन्दर ग्राम में कुमार का भरण नामक पुत्र था । वह दस बारह वर्ष का हुआ था ॥ ६४ ॥

कि वह अपने अन्य बालक साथियों के साथ वन में जाकर वहाँ खरगोशों को ठोकरें मार कर, दो-दो टुकड़े कर भूमि पर गिरा देता था ॥ ६५ ॥

इसी तरह सोलह (१६) वर्ष का होने पर वह अपने साथियों के साथ वन में जा कर वहाँ मृग, गोकर्ण (नीलगाय) एवं वनैले सूअरों को अनायास ही मार गिराता था ॥ ६६ ॥

अतः वह भरण भी जनपद में योद्धा रूप से प्रसिद्ध हो गया । इस के विषय में सुनने पर राजा ने इसको भी ग्रामणिकुमार के पास भेज दिया ॥ ६७ ॥

७. वेळुसुमन योद्धा– गिरि नामक जनपद के कुटुम्बियङ्गण ग्राम में कोई समाज में सम्मानित वृषभ नाम का कुटुम्बी (गृहस्थ) रहता था ॥ ६८ ॥

उस वृषभ के जनपद के ही रहने वाले वेल और गिरिभोजक सुमन नामक दो अन्य मित्रों ने, उस वृषभ के घर में पुत्र उत्पन्न होने पर उसके यहाँ जा कर पुत्र को अपने नाम (वेल,और सुमन) दे डाले । साथ में बहुत अधिक भेंट भी दी । बड़ा होने पर उस पुत्र को गिरिभोजक सुमन ने अपने घर बुला लिया ॥ ६९-७० ॥

उस गिरिभोजक सुमन के यहाँ एक बहुत ही अच्छी जाति का घोड़ा था, वह अपने पर किसी को भी सवार नहीं होने देता था । उस घोड़े ने वेळुसुमन को देखते ही समझ लिया कि यह मुझ पर सवार (आरोहक) होने योग्य है ॥ ७१ ॥

तब, इसको देखकर, घोड़े ने प्रसन्नतापूर्वक हिनहिनाना प्रारम्भ किया । उस घोडे के मन की बात जानकर गिरिभोजक ने कहा–' तात! तुम इस घोड़े पर चढो" ॥ ७२ ॥

तब वह (वेळुसुमन) घोड़े पर चढ़कर उसको मण्डलाकार घुमाने लगा । इस तरह तीव्र गति में उस के मण्डलाकार भ्रमण के समय, वह ऐसा लग रहा था मानो कई घोड़े एक ही पंक्ति में रहकर दौड़ रहे हो ॥ ७३ ॥

निसीदि धावतो चस्स वस्सहारं व पिट्ठियं ।
मोचेसि पि उत्तरियं बन्धति पि अनादरो ॥ ७४ ॥

[W.G. 187] तं दिस्वा परिसा सब्बा उक्कुट्ठिं सम्पवत्तयि ।
दत्वा दससहस्सानि तस्स सो गिरिभोजको ॥ ७५ ॥

"राजानुच्छविकोयं "ति हट्ठो रञ्ञो अदासि तं ।
राजा तं वेळुसुमन अत्तनो येव सन्तिके ॥ ७६ ॥

कारेत्वा तस्स सक्कारं वासेसि बहु मानयं । (७)
नकुलनगकण्णिकायं गामे महिसदोणके ॥ ७७ ॥

अभयस्सन्तिमो पुत्तो देवो नामासि थामवा ।
ईसकं पन खञ्जत्ता खञ्जदेवो ति तं विदुं ॥ ७८ ॥

मिगवं गामवासीहि सह गन्त्वान सो तदा ।
महिसे अनुबन्धित्वा महन्ते उट्ठितुट्ठिते ॥ ७९ ॥

हत्थेन पादे गण्हित्वा भमेत्वा सीसमत्थके ।
आसुम्भि भूमिं चुण्णेत्वा तेसं अट्ठीनि माणवो ॥ ८० ॥

तं पवत्तिं सुणित्वा खञ्जदेवं महीपति ।
वासेसि आहरापेत्वा गामणिस्सेव सन्तिके ॥ ८१ ॥ (८)

चित्तलपब्बतासन्ने गामे गविटनामके ।
उप्पलस्स सुतो आसि फुस्सदेवो ति नामको ॥ ८२ ॥

गन्त्वा सह कुमारेहि विहारं सो कुमारको ।
बोधिया पूजितं सङ्खं आदाय धमि थामसा ॥ ८३ ॥

[W.G. 188] असनिपातसद्दो व सद्दो तस्स महा अहु ।
उम्मत्ता विय आसुं ते भीता सब्बे पि दारका ॥ ८४ ॥

उधर वह वेळुसुमन भी घोड़े की पीठ पर बैठा ऐसा लग रहा था मानो अनेक पुरुष अनेक घोड़ों पर बैठ कर पंक्तिबद्ध से दौड़े जा रहे हैं । उसने उस घोड़े पर बैठे ही बैठे कई कलाएँ भी दिखायी; जैसे कभी वह उसी अवस्था में अपने वस्त्र खोलता था, कभी पुनः पहनता था । कभी उपेक्षापूर्वक अपनी पीठ पर उत्तरीय बांधता था, कभी खोलता था ।। ७४ ।।

उसकी इन उत्कृष्ट कलाओं को देखकर वहां बैठी दर्शक जनता बहुत प्रसन्न हुई । और उस गिरिभोजक ने भी उसके इस कार्य से प्रसन्न होकर उसको दश हजार (१०,०००) मुद्राएँ भेंट में दीं ।। ७५ ।।

अन्त में, उस गिरिभोजक को ध्यान में आया कि यह वीर तो राजा के यहाँ रहने योग्य है, अतः उसने प्रसन्नमन से उसको राजा के यहाँ भेज दिया । राजा ने उस वेळुसुमन का अत्यधिक सत्कार करते हुए अपने पास ही रख लिया ।। ७६ ।।

८. **योद्धा खञ्जदेव**–नकुल पर्वत के समीप महिषद्रोणक ग्रामवासी अभय के अन्तिम पुत्र का नाम 'देव' था । वह बहुत बलवान् (स्थामवान्) था । परन्तु पैर से कुछ लँगड़ा होने के कारण लोग उसे 'खञ्जदेव' नाम से जानने लगे ।। ७७-७८ ।।

वह कभी कभी ग्रामवासियों के साथ वन में आखेट करते हुए जङ्गली भैंसों का पीछा कर एक हाथ से उनके पैर पकड़ कर अपने सिर के ऊपर से घुमा कर भूमि पर फैंक कर उनकी हड्डी-हड्डी बिखेर देता था ।। ७९-८० ।।

राजा ने खञ्जदेव की यह विशिष्ट सामर्थ्य देखकर उसको भी गामणि अभय के पास ही भेज दिया ।। ८१ ।।

योद्धा उन्माद फुस्सदेव–चित्तल पर्वत के पास स्थित गविट नामक ग्राम में उत्पल के पुत्र का नाम था फुस्सदेव ।। ८२ ।।

एक दिन वह लड़का अपने साथियों के साथ किसी बिहार में गया । वहाँ एक शङ्ख बोधिपूजा हेतु रखा हुआ था । उसने उसको पूरी शक्ति लगाकर बजाना प्रारम्भ किया ।। ८३ ।।

उससे मेघ-गर्जन के समान भयङ्कर शब्द निकला । उसे सुनकर पास खड़े लोग भयभीत होकर उन्मत्त से हो गये ।। ८४ ।।

तेन सो आसि उम्मादफुस्सदेवो ति पाकटो ।
धनुसिप्पमकारेसि तस्स वंसागतं पिता ॥ ८५ ॥

सद्दवेधी विज्जुवेधी वालवेधी च सो अहु ।
वालुकापुण्णसकटं बद्धचम्मसतं तथा ॥ ८६ ॥

असनोदुम्बरमयं अट्ठ सोळसअङ्गुलं ।
तथा अयोलोहमयं पट्टं द्विचतुरङ्गुलं ॥ ८७ ॥

निब्बेधय ति किण्डेन, कण्डो तेन विसज्जितो ।
थले अट्ठुसुभं याति, जले तु उसभं पन ॥ ८८ ॥

तं सुणित्वा महाराजा पवत्तिं पितुसन्तिका ।
तं पि आणापयित्वान गामणिम्हि अवासयि ॥ ८९ ॥ (९)

तुलाधारपब्बतासन्ने विहारवापिगामके ।
मत्तकुटुम्बिनो पुत्तो अहु वसभनामको ॥ ९० ॥

तं सुजातसरीरत्ता लभियवसभं विदुं ।
सो वीसवस्सुद्देसम्हि महाकायबलो अहु ॥ ९१ ॥

आदाय सो कतिपये पुरिसे येव आरभि ।
खेत्तत्थिको महावापिं, करोन्तो तं महाब्बलो ॥ ९२ ॥

दसहि द्वादसहि वा वाहितब्बे नरेहि पि ।
वहन्तो पंसुपिण्डे सो लहुं वापिं समापयि ॥ ९३ ॥

[W.G. 189] तेन सो पाकटो आसि, तं पि आदाय भूमियो ।
दत्वा तं तस्स सक्कारं गामणिस्स अदासि तं ॥ ९४ ॥

वसभस्स दकवारो तं खेत्तं पाकतं अहु ।
एवं लभियवसभो वसि गामणिसन्तिके ॥ ९५ ॥ (१०)

अतः तब से उसका नाम 'उन्मादफुस्सदेव' ही विख्यात हो गया । उसका पिता अपने घर में वंशपरम्परागत धनुष् का कार्य करता था । पुत्र भी धनुष्-वाण की जितनी भी कलाएँ थीं उन सब को जान गया ॥ ८५ ॥

जैसे–शब्दवेधी (शब्द सुन कर तदनुसार) बाण चलाना, विद्युद्वेधी वालवेधी बाण चलाने में वह अत्यधिक कुशल था । इसी तरह बालुकापूर्ण शकट पर, चमड़ेकी भूसा भरी बोरी पर भी लक्ष्यवेधी बाण चला सकता था ॥ ८६ ॥

इसी तरह आसन (आठ अंगुल मोटा) पर उदुम्बर (गूलर के सोलह अंगुल मोटे) फल पर, तथा लोहे की बनी दो या चार अङ्गुल मोटी पट्टी पर बाण चलाने में भी चतुर था ॥ ८७ ॥

उसका छोड़ा हुआ कण्ड (तीर) भूमि में आठ वृषभ (एक विशेष माप) जितना नीचे धँस जाता था । जल पर भी वह एक वृषभ तक जाने की शक्ति रखता था ॥ ८८ ॥

उस का ऐसा अलौकिक सामर्थ्य सुन कर राजा ने उस के पिता के पास सन्देश भेजा । और उसे आदेश देकर ग्रामणिकुमार के पास भेज दिया ॥ ८९ ॥

१०. योद्धा लभ्यवृषभ– तुलाधार पर्वत के पास विहारवापी ग्राम के वासी मत्तकुटुम्बी नामक किसी गृहस्थ को वृषभ नाम का एक पुत्र हुआ ॥ ९० ॥

परन्तु लोग उसे, सुन्दर शरीर होने के कारण, लभ्य वृषभ कहने लगे । वह बीस (२०) वर्ष की आयु का होते-होते अत्यधिक बलसम्पन्न हो गया ॥ ९१ ॥

किसी समय अपने खेत के लिये उस महाबली ने कुछ आदमी लेकर एक महावापी का निर्माण कराना प्रारम्भ किया ॥ ९२ ॥

दस बारह श्रमिकों द्वारा मिल कर उठा सकने योग्य भू–(मृत्तिका) खण्डों को वह एकाकी ही उठा कर फेंक देता था । इस तरह उसने उस वापी का निर्माण कार्य बहुत शीघ्र ही पूर्ण कर दिया ॥ ९३ ॥

इस कार्य से वह जनपद में प्रसिद्ध हो गया । राजा तक जब उसकी यह प्रसिद्धि पहुँची तो राजा ने उसका सत्कार कर उसे ग्रामणीकुमार को सौंप दिया ॥ ९४ ॥

तथा वह क्षेत्र भी 'वसभ का उदकवार' नाम से प्रसिद्ध हो गया यो वह लभ्य वृषभ भी ग्रामणीकुमार के पास ही रहने लगा ॥ ९५ ॥

महायोधानमेतेसं दसन्नं पि महीपति ।
पुत्तस्स सक्कारसमं सक्कारं कारयि तदा ॥ ९६ ॥

आमन्तेत्वा महायोधे ते दसा पि दिसम्पति ।
"योधे दसदसेकेको एसथा" ति उदाहरि ॥ ९७ ॥

ते तथेवानयुं योधे, पुनराह महीपति ।
तस्स योधसतस्सापि तथेव परियोसितुं ॥ ९८ ॥

तथा तेपानयुं योधे, तस्स पाह महीपति ।
पुन योधसहस्सस्स तथेव परियोसितुं ॥ ९९ ॥

तथा तेपानयुं योधे, सब्बे सम्पिण्डिता तु ते ।
एकादस सहस्सानि योधा सतमथो दस ॥ १०० ॥

सब्बे ते लद्धसक्कारा भूमिपालेन सब्बदा ।
गामणीराजपुत्तं तं वसिंसु परिवारिय ॥ १०१ ॥

इति सुचरितजातमब्भुतं,
सुणिय नरो मतिमा सुखत्थिको ।
[W.G. 190] अकुसलपथतो परम्मुखो,
कुसलपथेभिरमेय्य सब्बदा ॥ ति ॥ १०२ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

योधलाभो नाम

तेवीसतिमो परिच्छेदो

राजा द्वारा दश योद्धाओं का सत्कार– राजा ने इन दश योद्धाओं का उसी तरह सत्कार-सम्मान किया जैस कोई पिता अपने पुत्र का किया करता है ॥ ९६ ॥

योद्धाओं की सङ्ख्या में वृद्धि– एक दिन राजा ने उन दश योद्धाओं को अपने पास बुलाकर कहा–"आप लोग भी प्रत्येक अपने जैसे शक्तिशाली योद्धा ढूँढ कर लावें" ॥ ९७ ॥

तब वे दश योद्धा भी अपने जैसे शक्तिशाली दश-दश योद्धा ढूँढ लाये । फिर राजा ने उन एक सौ योद्धाओं से भी वही पूर्वोक्त प्रत्येक को दश योद्धा ढूँढने वाली बात कही ॥ ९८ ॥

इस तरह उन्होनें भी दस-दस योद्धा ढूँढकर अपनी सङ्ख्या में एक हजार तक वृद्धि कर ली । फिर उन से भी कहे जाने पर अन्त में इन योद्धाओं की समग्र सङ्ख्या ग्यारह हजार एक सौ दश (११,११०) तक पहुँच गयी ॥ ९९-१००॥

वे सभी योद्धा राजा द्वारा सत्कार पाकर ग्रामणी कुमार की अङ्गरक्षा में ही रहने लगे ॥ १०१ ॥

सुख की कामना वाला चतुर पुरुष इस अद्भुत सुचरितसमूह को सुनकर, इस के प्रभाव से अकुशल कर्मो से विमुख होकर सदैव कुशल मार्ग का ही अनुसरण करे ॥ १०२ ॥

सज्जनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह की
अभिवृद्धि हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

योद्धाओं का संग्रह वर्णन नामक

तेइसवां परिच्छेद समाप्त

२४.

चतुवीसतिमो परिच्छेदो

(द्वेभातिकयुज्झं)

[W.G. 191] हत्थस्सथरुकम्मस्स कुसलो कतुपासनो ।
सो गामणी राजसुतो महागामे वसी तदा ॥ १ ॥

राजा राजसुतं तिस्सं दीघवापिम्हि वासयि ।
आरक्खितुं जनपदं सम्पन्नबलवाहनं ॥ २ ॥

कुमारो गामणी काले सम्पस्सन्तो बलं सकं ।
"युज्झिस्सं दमिळेही" ति पितु रञ्ञो कथापयि ॥ ३ ॥

राजा तं अनुरक्खन्तो "ओरगङ्गं अलं" इति ।
वारेसि, यावततियं सो तथेव कथापयि ॥ ४ ॥

"पिता मे पुरिसो होन्तो नेवं वक्खति तेनिदं ।
पिलन्धतू" ति पेसेसि इत्थालङ्कारमस्स सो ॥ ५ ॥

राजाह तस्स कुज्झित्वा "करोथ हेमसङ्खलिं ।
ताय नं बन्धयिस्सामि, नाञ्ञथा रक्खियो हि सो" ॥ ६ ॥

पलायित्वान मलयं कुज्झित्वा पितुनो अगा ।
दुट्ठत्ता येव पितरि आहु तं दुट्ठगामणिं ॥ ७ ॥

राजाथ आरभी कातुं महानुग्गलचेतियं ।
निट्ठिते चेतिये सङ्घं सन्निपातयि भूपति ॥ ८ ॥

चौबीसवाँ परिच्छेद

(दो भाइयों के युद्ध का वर्णन)

वह राजपुत्र ग्रामणी कुमार हस्तिविद्य एवं खड्गविद्यामें अत्यधिक कुशल था ॥ १ ॥

राजा ने अपने दूसरे पुत्र तिष्य कुमार को सेना और वाहन देकर जनपद की रक्षाहेतु दीर्घवापी में बसा दिया ॥ २ ॥

ग्रामणी द्वारा द्रविळों से युद्ध का निश्चय–समय पाकर ग्रामणी कुमार ने अपने सैन्यबल की शक्ति की समीक्षा कर निश्चय किया–"मैं द्रविड़ों के साथ युद्ध करूँगा।" कुमार ने अपना यह निश्चय पिता को सूचित कर दिया ॥ ३ ॥

पिता ने उसको इस युद्ध का निषेध किया, और समझाया कि "गङ्गा के इस पार का देश ही पर्याप्त है, क्यों व्यर्थ युद्ध के जञ्जाल में पड़ते हो।" यों ग्रामणीकुमार द्वारा तीन बार कहे जाने पर भी राजा ने इस बात का प्रतिषेध ही किया ॥ ४ ॥

ग्रामणिकुमार का पिता पर क्रोध–चौथी बार ग्रामणीकुमार ने क्रुद्ध होकर पिता को स्त्रियों का अलङ्कार (चूड़ियाँ) भेज दिया। और कहला दिया कि यदि मेरे पिता नर (मर्द) होते तो ऐसा कभी न करते। वे तो स्त्री हैं (कायर हैं) अतः वे यह अलङ्कार पहनें" ॥ ५ ॥

यह सुन कर राजा ने क्रुद्ध होकर आदेश दिया– "एक सुवर्ण की शृङ्खला (जञ्जीर) बनाओ, इससे मैं उस ग्रामणिकुमार को बाँधूगा। इसके अतिरिक्त उस पर नियन्त्रण का अन्य कोई मार्ग नहीं रह गया है" ॥ ६ ॥

अपने प्रति राजा (पिता) का क्रोध सुनकर ग्रामणिकुमार तत्काल मलय प्रदेश की तरफ भाग गया। पिता के प्रति की गयी इस दुष्टता (धृष्टता) के कारण लोग उसे तब से 'दुष्टग्रामणी' कहने लगे ॥ ७ ॥

तब राजा ने महानुग्गल चैत्य बनवाना प्रारम्भ किया। चैत्य का निर्माण सम्पन्न होने पर राजा ने भिक्षुसङ्घ को निमन्त्रित किया ॥ ८ ॥

[W.G.192] द्वादसेत्थ सहस्सानि भिक्खू चित्तलपब्बता ।
ततो ततो द्वादसेव सहस्सानि समागमुं ॥ ९ ॥

कत्वान चेतियमहं राजा सङ्घस्स सम्मुखा ।
सब्बे योधे समानेत्वा कारेसि सपथं तदा ॥ १० ॥

"पुत्तानं कलहट्ठानं न गच्छिस्साम" ते इति ।
अकंसु सपथं सब्बे, तं युद्धं तेन नागमुं ॥ ११ ॥

चतुसट्ठिविहारे सो कारापेत्वा महीपते ।
तत्तकानेव वस्सानि ठत्वामरि तहिं तदा ॥ १२ ॥

रञ्ञो सरीरं गाहेत्वा छन्नयानेन राजिनी ।
नेत्वा तिस्समहारामं तं सङ्घस्स निवेदयि ॥ १३ ॥

सुत्वा तिस्सकुमारो तं गन्त्वान दीघवापितो ।
सरीरकिच्चं कारेत्वा सक्कच्चं पितुनो सयं ॥ १४ ॥

मातरं कण्डुलं हत्थिं आदियित्वा महब्बलो ।
भातु भया दीघवापिं अगमासि लहुं ततो ॥ १५ ॥

तं पवत्तिं निवेदेतुं दुट्ठगामणिसन्तिकं ।
लेखं दत्वा विसज्जेसुं सब्बे मच्चा समागता ॥ १६ ॥

सो गुत्तहालं आगन्त्वा तत्थ चारे विसज्जिय ।
महागामं उपागन्त्वा सयं रज्जे भिसेचयि ॥ १७ ॥

मातत्थं कण्डुलत्थं च भातुलेखं विसज्जयि ।
अलद्धा यावततियं युद्धाय तमुपागमि ॥ १८ ॥

अहु छिन्नं महायुद्धं चूळङ्गणियपिट्ठियं ।
तत्थ नेकसहस्सानि पतिंसु राजिनो नरा ॥ १९ ॥

इस निमन्त्रण में चित्तल पर्वत से आकर बारह हजार (१२,०००) भिक्षु एकत्र हो गये । अन्यत्र इधर-उधर से भी अन्य बारह हजार भिक्षु एकत्र हो गये ॥ ९ ॥

वह चैत्यसमारोह समाप्त होने के बाद, राजा ने अपने सभी सैनिकों को सङ्घ के सम्मुख बुलाया और उन से प्रतिज्ञा करायी कि "उनमें से कोई भी इन दोनों भाइयों के युद्ध में भाग न लेगा ।" सभी सैनिकों ने यह प्रतिज्ञा की और उनमें कोई भी उक्त युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ ॥ १०-११ ॥

राजा का देहपात– राजा ने धीरे-धीरें चौंसठ (६४) विहार बनवायें और इतने (६४) वर्ष ही उसने राज्य-शासन किया, तब उसका देहपात हुआ ॥ १२ ॥

उस समय रानी ने मृत शरीर को एक आवृत यान (बन्द गाड़ी) में तिस्स-महाराम ले जाकर सङ्घ को सौप दिया ॥ १३ ॥

उसे सुनकर तिष्यकुमार ने दीर्घवापी से वहाँ जाकर पिता का समग्र और्ध्वदैहिक कर्म स्वयं कराया ॥ १४ ॥

तथा माता एवं कण्डुल हाथी को लेकर भाई (ग्रामणीकुमार) के भय से शीघ्र ही पुनः दीर्घवापी लौट गया ॥ १५ ॥

ग्रामणीकुमार को अमात्यों की सूचना– एतदनन्तर सभी अमात्यों ने एकत्र होकर ग्रामणिकुमार को इस घटना की सूचना किसी दूत द्वारा भेजी ॥ १६ ॥

ग्रामणीकुमार ने सूचना लिते ही गुप्त हाल (वर्तमान में–बुत्तल) आकर वहाँ गुप्तचर छोड़ते हुए महाग्राम पहुँच कर स्वयं को राज्याभिषिक्त कर लिया ॥ १७ ॥

फिर ग्रामणी ने माता तथा कण्डुल हाथी को भेजने के लिये तिष्य के पास पत्र भेजा । तीन बार भेजने पर भी पत्र का उत्तर न मिलने पर ग्रामणी उस के साथ युद्धहेतु पहुँच गया ॥ १८ ॥

दोनों भाइयों का युद्ध–चूळङ्गणियपिट्ठि में उन दोनों का महायुद्ध हुआ । उसमें राजा ग्रामणी के योद्धा मारे गये ॥ १९ ॥

राजा च तिस्सामच्चो च वळवा दीघथूणिका ।
तयो येव पलायिंसु कुमारो अनुबन्धि ते ॥ २० ॥

[W.G. 193] उभिन्नं अन्तरे भिक्खू मापयिंसु महीधरं ।
तं दिस्वा "भिक्खुसङ्घस्स कम्मं" इति निवत्ति सो ॥ २१ ॥

कप्पकण्डरनज्जा सो जवमालतित्थमागतो ।
राजाह तिस्समच्चं तं "छातज्झत्ता मयं" इति ॥ २२ ॥

सुवण्णसरके खित्तं भत्तं नीहरि तस्स सो ।
सङ्घस्स दत्वा भुञ्जनतो कारेत्वा चतुभागकं ॥ २३ ॥

"घोसेहि कालं" इच्चाह, तिस्सो कालं अघोसयि ।
सुत्वान दिब्बसोतेन रञ्ञो सिक्खाय दायको ॥ २४ ॥

थेरो पियङ्गुदीपट्ठो थेरं तत्थ नियोजयि ।
तिस्सं कुटुम्बिकपुत्तं सो तत्थ नभसा गमा ॥ २५ ॥

तस्स तिस्सो करा पत्तं आदाय दासि राजिनो ।
सङ्घस्स भागं सं भागं राजा पत्ते खिपापयि ॥ २६ ॥

सं भागं खिपि तिस्सो च, सं भागं वळवापि च ।
न इच्छि, तस्स भागं च तिस्सो पत्तम्हि पक्खिपि ॥ २७ ॥

भत्तस्स पुण्णपत्तं तं अदा थेरस्स भूपति ।
अदा गोतमथेरस्स सो गन्त्वा नभसा लहुं ॥ २८ ॥

भिक्खूनं भुञ्जमानानं दत्वा आलोपभागसो ।
पञ्चसतानं सो थेरो लद्धेहि तु तदन्तिका ॥ २९ ॥

भागेहि पत्तं पूरेत्वा आकासे खिपि राजिनो ।
गतं दिस्वा गहेत्वा तं तिस्सो भोजयि भूपतिं ॥ ३० ॥

तब राजा ग्रामणी, तिष्य अमात्य एवं दीघथूणिका नामक घोड़ी–तीनों युद्धभूमि से भागे । (श्रद्धातिष्य) कुमार ने उनका पीछा किया ।। २० ।।

भिक्षुओं ने दोनों भाइयों को युद्ध करते देख कर उनके बीच में *(ऋद्धिबल* से) एक पर्वत खड़ा कर दिया । उसे देखकर कि "यह भिक्षुसङ्घ का कार्य है" राजा (ग्रामणी) रुकर गया ।। २१ ।।

वहाँ से चल,जब वे दोनों कप्पकण्डर नदी के यवमाल घाट पर आये तो राजा ने कहा- "अमात्य! हम दोनों भूखे-प्यासे हैं ।। २२ ।।

उस (अमात्य) ने सोने के कटोरे में रखा हुआ भात (भोजन) निकाला सङ्घ को देखकर कि ये खायँगे, इसलिये उस भात के चार भाग किये ।। २३ ।।

चार भाग निकाल कर, राजा ने अमात्य से कहा–"समय की घोषणा करो" । राजा के शिक्षक प्रियङ्गुद्वीप सिथत स्थविर ने अपने दिव्य श्रोत्र से यह घोषणा सुनी । उसने कुटुम्बिपुत्र तिष्य स्थविर को इसके लिये नियुक्त किया । वह आकाशमार्ग से वहाँ आया ।। २४-२५ ।।

उस तिष्य (अमात्य) ने तिष्य स्थविर के हाथ से (भिक्षा) पात्र ले लिया । और राजा के हाथ में दे दिया । राजा ने अपना, तिस्स अमात्य ने अपना तथा घोड़ी ने अपना भाग तिष्य स्थविर के पात्र में डाल दिया ।। २६-२७ ।।

यो, भात से भरा वह पात्र भूपति ने स्थविर के हाथ में दे दिया । उस स्थविर ने वह पात्र, शीघ्र ही आकाशमार्ग से जाकर, गौतम स्थविर के हाथ में दे दिया ।। २८ ।।

उस स्थविर ने भोजन करते हुए पाँच सौ भिक्षुओं को वह भात एक-एक ग्रास (आलोप) कर के बाँटा । फिर उन भिक्षुओं को देने से बचे भात से पूर्ण पात्र को राजा को निमित्त आकाश में फैक दिया । पात्र को वापस आया देखकर तिष्य अमात्य ने वह भात राजा को भी दिया ।। २९-३० ।।

[W.G. 194] भुञ्जित्वान सयं चापि वलवं च अभोजयि ।
सन्नाहं चुम्बटं कत्वा राजा पत्तं विसज्जयि ॥ ३१ ॥

गन्त्वान सो महागामं समादाय बलं पुन ।
सट्ठिसहस्सं युद्धाय गन्त्वा युज्झि सभातरा ॥ ३२ ॥

राजा वळवमारूळहो तिस्सो कण्डुलहत्थिनं ।
द्वे भातरो समागञ्छुं युज्झमाना रणे तदा ॥ ३३ ॥

राजा करिं करित्वन्तो वळवामण्डलं अका ।
तथापि छिद्दं नो दिस्वा लङ्घेतुं मतिं अका ॥ ३४ ॥

वळवाय लङ्घापेत्वा हत्थिनं भातिकोपरि ।
तोमरं खिपि, चम्मं वा यथा छिन्दति पिट्ठियं ॥ ३५ ॥

अनेकानि सहस्सानि कुमारस्स नरा तहिं ।
पतिसुं युद्धे युज्झन्ता, भिज्झि चेव महब्बलं ॥ ३६ ॥

"आरोहकस्स वेकल्ला इत्थी मं लङ्घयी" इति ।
कुद्धो करी तं चालेन्तो रुक्खं एकं उपागमि ॥ ३७ ॥

कुमारो आरुही रुक्खं, हत्थी सामिं उपागमि ।
तमारुय्ह पलायन्तं कुमारमनुबन्धि सो ॥ ३८ ॥

पविसित्वा विहारं सो महाथेरधरं गतो ।
निपज्जि हेट्ठा मञ्चस्स कुमारो भातुनो भया ॥ ३९ ॥

[W.G. 195] पसारयि महाथेरो चीवरं तत्थ मञ्चके ।
राजा अनुपदं गन्त्वा "कुहिं तिस्सो?" ति पुच्छथ ॥ ४० ॥

"मञ्चे नत्थि, महाराज" इति थेरो अवोच तं ।
"हेट्ठा मञ्चे" ति जानित्वा ततो निक्खम्म भूपति ॥ ४१ ॥

घोड़ी को भी खिलाया और स्वयं ने भी एक भाग लिया । राजा ने अपने वस्त्र को गेंद की तरह गोल बनाकर उस में पात्र रख कर फेंक दियाा ।। ३१ ।।

फिर राजा (दुष्टग्रामणी) ने महाग्राम पहुँच कर पुनः युद्ध के लिये साठ हजार (६0, 000) सेना सन्नद्ध (तैयार) कर अपने भाई के साथ युद्ध किया ।। ३२ ।।

राजा घोड़ी पर चढ़ा तथा तिष्य अमात्य कण्डुल हाथी पर । तदनन्तर दोनों भाई युद्ध हेतु परस्पर सम्मुख हुए ।। ३३ ।।

राजा ने हाथी को घेरते हुए लाँघ कर, भ्राता (तिष्य) पर तोमर फेंका कि उसके पीठ का चर्म कट जाय ।। ३५ ।।

इस युद्ध में तिष्य कुमार के अनेक हजार योद्धा मारे गये । वे युद्ध करते-करते रणभूमि में गिर पड़े ।यों दोनों की ही महासेना विखर गयी ।। ३६ ।।

"महावत की उपेक्षा से एक नारी (घोड़ी) ने मुझ कोच लाँघ दिया"–यह सोचकर कण्डुल हाथी बहुत क्रुद्ध हुआ । तब वह हाथी उस महावत (तिष्य अमात्य) को गिराता हुआ एक वृक्ष के पास आया ।। ३७ ।।

कुमार वृक्ष पर चढ़ गया । तब हाथी उसके नीचे गया । राजा ने उस पर चढ़कर भागते हुए तिष्य कुमार का पीछा किया ।। ३८ ।।

भागता-भागता वह तिष्य कुमार भाई के डर से महास्थविर के आवास में प्रविष्ट हुआ । वहाँ वह किसी पलङ्ग के नीचे छिप कर बैठ गया ।। ३९ ।।

महास्थविर ने उस पलङ्ग पर एक चीवर डाल दिया । राजा ने भी पीछे ही पीछे जाते हुए महास्थविर के आवास में प्रवेश कर महास्थविर से पूछा–"तिष्य कुमार कहा है?" ।। ४0 ।।

महास्थविर ने राजा को उत्तर दिया– "राजन्! पलङ्ग पर तो नहीं है" । राजा यद्यपि जान गया कि तिष्य कुमार इसी पलङ्ग के नीचे छिपा हुआ है, परन्तु राजा ने महास्थविर से उलझना उचित न समझ कर आवास के बाहर उसके निकलने की प्रतीक्षा करता रहा ।। ४१ ।।

समन्तो विहारस्स रक्खं कारयि, तं पन ।
मञ्चकम्हि निपज्जेत्वा दत्वा उपरि चीवरं ॥ ४२ ॥

मञ्चपयादेसु गण्हित्वा चत्तारो दहरा यती ।
मतभिक्खुनियामेन कुमारं बहि नीहरुं ॥ ४३ ॥

नीयमानं तु तं ञत्वा इदं आह महीपति ।
"तिस्स त्वं कुलदेवानं सीसे भूत्वान नीयसि ॥ ४४ ॥

बलक्कारेन गहणं कुलदेवेहि नत्थि मे ।
गुणं त्वं कुलदेवानं सरेय्यासि कदाचि पि" ॥ ४५ ॥

ततो येव महागामं अगमामूसि महीपति ।
आनापेसि च तत्थेव मातरं मातुगारवो ॥ ४६ ॥

वस्सानि अट्ठसट्ठिं सो अट्ठा धम्मट्ठमानसो ।
अट्ठसट्ठिविहारे च कारापेसि महीपति ॥ ४७ ॥

निक्खामितो सो भिक्खूहि तिस्सो राजसुतो पन ।
दीघवापिं ततो येव अगमासि अञातको ॥ ४८ ॥

कुमारो गोधगत्तस्स तिस्सथेरस्स आह सो ।
"सापराधो अहं, भन्ते! खमापेस्सामि भातरं" ॥ ४९ ॥

वेय्यावच्चकराकारं तिस्सं पञ्चसतानि च ।
भिक्खूनं आदियित्वा सो थेरो राजं उपागमि ॥ ५० ॥

राजपुत्तं ठपेत्वान थेरो सोपानमत्थके ।
ससङ्घो पाविसी, सब्बे निसीदापिय भूमिपो ॥ ५१ ॥

उपानयि यागुआदिं, थेरो पत्तं पिधेसि सो ।
"किं?" चोरो?" ति वुत्तो सो ठितट्ठानं निवेदयि ॥ ५२ ॥

तथा उस आवास को सेना से घेर दिया । तब भिक्षु लोग उस तिष्य कुमार को एक चारपाई पर लिटा कर उस पर कपड़ा डाल कर मृत शव की तरह चार तरुण भिक्षु उस चारपाई को उठा कर महास्थविर के आवास से बाहर लाये ।। ४२-४३ ।।

तिष्य कुमार को तरुण भिक्षुओं द्वारा यों ले जाता हुआ देखकर राजा ने कहा-"अरे नीच तिष्य ! तूँ कुल देवताओं के सिर पर चढ़कर बाहर भाग रहा है?" ।। ४४ ।।

"कुलदेवताओं के हाथ से बलपूर्वक तुम्हारा ग्रहण करना मुझे शोभा नहीं देता । कुलदेवताओं शिरपर चढ़कर जाने का यह पाप तूँ ही जब कभी स्मरण करेगा तो तुझे भी पश्चात्ताप होगा" ।। ४५ ।।

यों कहकर राजा दुष्टग्रामणी उस महास्थविर के आवास से ही वापस लौटकर महाग्राम आ गया । और अपनी माता का सम्मान करते हुए माता को भी वहीं बुला लिया ।।४६ ।।

वह राजा (दुष्टग्रामणी) धर्म में मन लगाता हुआ लङ्काद्वीप में अड़सठ (६८) बिहार बनवा कर अड़सठ (६८) वर्ष पर्यन्त शासन करता रहा ।। ४७ ।।

उधर भिक्षुओं की सहायता से बाहर निकाला गया तिष्य कुमार चुपचाप दीर्घवापी चला गया ।। ४८ ।।

तिष्यकुमार की क्षमायाच्ञा– कुमार ने गोधगत्त तिष्य स्थविर से जाकर निवेदन किया–"भन्ते! मैं भाई का अपराधी हूँ । मैं उससे क्षमायाच्ञा करना चाहता हूँ ।। ४९ ।।

तब वे महास्थविर उस तिष्य कुमार को पाँच सौ भिक्षुओं के साथ एक गृहस्थ सेवक के रूप में राजा के सामने ले गये ।। ५० ।।

(तिष्य) राजकुमार को सीढियों पर ही खड़ा कर महास्थविर स्वयं, सङ्घ के साथ, राजा के सम्मुख पहुँचे ।। ५१ ।।

राजा ने यवागू (चाय-पान) आदि से सत्कार करना चाहा तो स्थविर ने पात्र को हाथ से ढक दिया राजा ने इस का कारण पूछा तो स्थविर ने बताया–"हम आपके अपराधी (तिष्य कुमार) को लेकर आये हैं" ।। ५२ ।।

[W.G. 196] "कुहिं चोरो?" ति वत्तो सो ठितट्ठानं निवेदयि ।
विहारदेवी गन्त्वान छादियट्ठासि पुत्तकं ॥ ५३ ॥

राजाह थेरं "ञातो वो दासभावो इदानि नो ।
सामणेरं पेसयेथ तुम्हे च सत्तवस्सिकं ॥ ५४ ॥

जनक्खयं विना येव कलहो न भवेय्य नो ।"
"राज! सङ्घस्स दोसेसो सङ्घो दण्डं करिस्सति" ॥ ५५ ॥

"हेस्सतागमकिच्चं वो, यागादिं गण्हथा" ति सो ।
दत्वा तं भिक्खुसङ्घस्स पक्कोसित्वान भातरं ॥ ५६ ॥

तत्थेव सङ्घमज्झम्हि निसिन्नो भातरा सह ।
भुञ्जित्वा एकतो येव भिक्खुसङ्घं विसज्जयि ॥ ५७ ॥

सस्सकम्मानि कारेतुं तिस्सं तत्थेव पाहिणि ।
सयं पि भेरिं चारेत्वा सस्सकम्मानि कारयि ॥ ५७ ॥

इति वेरमनेकविकप्पचितं,
समयन्ति बहुं अपि सप्पुरिसा ।
इति चिन्तिय को हि नरो मतिमा,
न भवेय्य परेसु सुसन्तमनो" ॥ ति ॥ ५९ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

द्वेभातिकयुद्धं नाम

चतुवीसतिमो परिच्छेदो

****

राजा ने यह सुनकर क्रुद्ध होते हुए पूछा–"वह चौर कहाँ है?" तो स्थविर ने उसका बाहर सीढियों पर खड़ा होना बता दिया। यह सुनकर तथा राजा के क्रोध को देखते हुए विहारदेवी ने शीघ्रता से जाकर तिष्यकुमार को अपने आँचल से ढक लिया ॥ ५३ ॥

राजा ने कहा–"भन्ते! अब आपने हम लोगों का सङ्घ के प्रति दास-भाव (आज्ञाकारिता) जान लिया। यदि आप पहले ही सङ्घ की तरफ से एक सात वर्ष का श्रामणेर भी (मध्यस्थता के लिये) भेज देते तो यह दोनों भाइयों में हुआ भीषण युद्ध रुक सकता था ॥ ५४ ॥

स्थविर बोले–"राजन्! यह सङ्घ का दोष है, सङ्घ ही इसका प्रायश्चित कर्म करेगा। हमारा आने का का उद्देश्य पूर्ण कीजिये, ताकि हम यागु-पान आदि पूर्ण कर सकें ॥ ५५ ॥

तब राजा ने सङ्घ को यागुपान देकर अपने भाई (तिष्य) को अन्दर बुलवाया ॥ ५६ ॥

और वहीं सङ्घ के बीच में उस (भाई) के साथ बैठक एक थाली में खाकर सङ्घ को सन्तुष्ट किया। राजा ने भिक्षुसङ्घ को ससम्मान पुनः विहार भेजा ॥ ५७ ॥

अन्त में राजा ने तिष्य को राज्य में कृषि (खेती) का कार्य करने के लिये वहीं नियुक्त किया और स्वयं भी कृषिकर्म की उन्नति में ध्यान देता हुआ अपना जीवन विताने लगा ॥ ५८ ॥

(ऐसे) सज्जन पुरुष अनेक कल्पों से एकत्र हुए आ रहे वैर भाव को प्रज्ञापूर्वक शान्त कर लिया करते हैं। यह सोच कर कौन बुद्धिमान् दूसरों के प्रति क्यों नहीं अपने मनके भाव शान्त बनाये रखेगा! ॥ ५९ ॥

सज्जनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह की

वृद्धि हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

भ्रातृद्वय के युद्ध का वर्णन नामक

चौबीसवाँ परिच्छेद समाप्त

२५.

पञ्चवीसतिमो परिच्छेदो

(दुट्ठग्रामणिविजयो)

[W. G. 197] दुट्ठगामणिराजाथ कत्वान जनसङ्गहं ।
कुन्ते धातुं नधापेत्वा सयोग्गबलवाहनो ॥ १ ॥

गन्त्वा तिस्समहाथेरं वन्दित्वा सङ्घमब्रवि ।
"पारगङ्गं गमिस्सामि जोतेतुं सासनं अहं ॥ २ ॥

सक्कातुं देथ नो भिक्खू अम्हेहि सहगामिनो ।
मङ्गलं चेव रक्खा च भिक्खूनं दस्सनं हि नो" ॥ ३ ॥

अदासि दण्डकम्मत्थं सङ्घो पञ्चसतं यती ।
भिक्खुसङ्घं तमादाय ततो निक्खम्म भूपति ॥ ४ ॥

सोधापेत्वान मलये इधागमनमञ्जसं ।
कण्डुलं हत्थिमारुय्ह योधेहि परिवारितो ॥ ५ ॥

महता बलकायेन युद्धाय अभिनिक्खमि ।
महागामेन सम्बद्धा सेनागा गुत्तहालकं ॥ ६ ॥

महियङ्गणमागम्म छत्तं दमिळमग्गहि ।
गहेत्वा दमिळे तत्थ आगन्त्वा अम्बतित्थकं ॥ ७ ॥

गङ्गापरिखसम्पन्नं तित्थम्बदमिळं पन ।
युज्झं चतूहि मासेहि कतहत्थं महब्बलं ॥ ८ ॥

पच्चीसवाँ परिच्छेद

(दुष्टग्रामणिविजय-वर्णन)

राजा का सङ्घ से सहायता मांगना– इसके बाद ग्रामणी राजा अन्न-वस्त्र मुद्रा आदि के दान द्वारा राज्य की जनता को सन्तुष्ट कर, उसे अपनी तरफ मिलाकर, भाले पर तथागत-धातुओं का पात्र रख कर अपनी सेना और वाहन सहित ॥ १ ॥

तिष्य महास्थविर के पास पहुँच कर सङ्घसहित स्थविर को प्रणाम कर, यों बोला–"भन्ते! मैं शासन की अभिवृद्धि हेतु गङ्गापार (द्रविड़ों पर) आक्रमण करना चाहता हूँ ॥ २ ॥

वहाँ इन पवित्र धातुओं की पूजा करने हेतु साथ जाने के लिये मुझे पाँच सौ (५००) भिक्षु दीजिये; क्योंकि भिक्षुओं का दर्शन हमारे लिये मङ्गलमय तथा धार्मिक आरक्षण का हेतु बनेगा" ॥ ३ ॥

तब सङ्घ ने राजा को उक्त दण्डकर्म में सहायता करने के लिये पाँच सौ (५००) भिक्षु दिये । राजा उस भिक्षुसङ्घ को लेकर वहाँ से चल दिया ॥ ४ ॥

फिर राजा ने मलय से यहाँ (अनुराधपुर) तक आने तक का मार्ग ठीक करवाया । तब वह अपने साथी दश योद्धाओं को लेकर, कण्डुल हाथी पर चढ़कर ॥ ५ ॥

विशाल सेना साथ में लेकर युद्ध के लिये निकल पड़ा । उधर महाग्राम से सम्बद्ध सेना गुत्तहाल तक गयी ॥ ६ ॥

राजा का द्रविड़ों से युद्ध–महियङ्गण में आकर राजाने छत्र नामक द्रविड़ को बन्दी बनाया । तथा अन्य बहुत से द्रविड़ो को बन्दी बनाता हुआ वह अम्बतीर्थ (गङ्गाघाट) तक जा पहुँचा ॥ ७ ॥

अन्त में उस गङ्गा की खाई से घिरे हुए उस अम्बतीर्थ के महाबलशाली द्रविड़ से चार मास तक युद्ध करते हुए जब उसका और किसी तरह वश न चला तो उसने अपनी माता के साथ उसके विवाह का प्रलोभन (लेस) देकर उसे बन्दी बनाया ॥ ८ ॥

मातरं दस्सयित्वान तेन लेसेन अग्गहि ।
ततो ओरुय्ह दमिळे सत्त राजे महब्बले ॥ ९ ॥

[W. G. 198] एकाहेनेव गण्हित्वा खेमं कत्वा महब्बले ।
बलस्सादा धनं तेन 'खेमारामो' ति वुच्चति ॥ १० ॥

महाकोट्टं अन्तरासोब्भे, दोणे गव्हरमग्गहि ।
हालकोले इस्सरियं, नाळिसोब्भम्हि नाळिकं ॥ ११ ॥

दीघाभयगल्लकम्हि गण्हि दीघाभयं पि च ।
कच्छतित्थे कपिसीसं चतुमासेन अग्गहि ॥ १२ ॥

कोटनगरे कोटं च ततो हालवहानकं ।
वहिट्ठे वहिट्ठदमिळं, गामणिम्हि च गामिणिं ॥ १३ ॥

कुम्बगामम्हि कुम्बं च नन्दिगामम्हि नन्दिकं ।
गण्हि, खानुं खानुगामे, द्वे तु तम्बुन्नमे पन ॥ १४ ॥

मातुलं भागिनेय्यं च तम्ब-उन्नमनामके ।
जम्बुं जग्गहि, सो सो च गामोहु तंतदव्हयो ॥ १५ ॥

[W. G. 199] "अजानित्वा सकं सेनं घातेन्ति सजनं" इति ।
सुत्वान सच्चकिरियं अकरि तत्थ भूपति ॥ १६ ॥

"रज्जसुखाय वायामो नायं मम, सदापि च ।
सम्बद्धसासनस्सेव ठपनाय अयं मम ॥ १७ ॥

तेन सच्चेन मे सेना कायोपगतभण्डकं ।
जालवण्णं व होतू" ति तं तथेव तदा अहु ॥ १८ ॥

गङ्गातीरम्हि दमिळा सब्बे घाटितसेसका ।
विजितनगरं नाम सरणत्थाय पाविसुं ॥ १९ ॥

वहाँ (गङ्गाघाटी) से उतकर उस महाबली ने सात अन्य महान् बलवान् द्रविड़ों को अपने अधीन किया ॥ ९ ॥

उसने यह सब कार्य एक ही दिन में पूर्ण कर वहाँ उस क्षेत्र में शान्ति (क्षेम) स्थापित कर दी । इसी हर्षप्रसङ्ग में उसने अपनी सेना में धन वितरित किया ।

और इस युद्ध की स्मृति में वहाँ एक विहार का निर्माण कराया, जिसका नाम 'क्षेमारामविहार' रखा ॥ १० ॥

अन्तरासोभ ग्राम में महाकोट्ठ द्रविड़, द्रोणग्राम में गह्वर द्रविड़, हालकोल ग्राम में इस्सरिय द्रविड़, तथा नालिसोभ ग्राम में नालिक द्रविड़ को ॥ ११ ॥

इसी तरह उसने दीर्घाभय गल्ल ग्राम में दीर्घाभय द्रविड़ को निगृहीत किया । चार मास तक युद्ध के बाद कच्छघाट में कपिशीर्ष द्रविड़ को भी बन्दी बनाया ॥ १२ ॥

फिर कोटनगर में कोट एवं हालवहान नामक द्रविड़ को, बहिट्ठ ग्राम में बहिट्ठ द्रविड़ को, गामणि ग्राम में गामिणि द्रविड़ को ॥ १३ ॥

कुम्ब ग्राम में कुम्ब द्रविड को, नन्दि ग्राम में नन्दिक द्रविड़ को भी पकड़ा । इसी तरह खानुग्राम में खानु द्रविड़ को, और तुम्ब एवं उन्नम–दो भाइयों को तुम्बुन्नम ग्राम में पकड़ा जो कि परस्पर मामा-भानजा थे । इसी तरह जम्बुग्राम मे जम्बू द्रविड़ को भी पकड़ा । ये सभी ग्राम बाद में उन द्रविड़ों के नाम पर ही पुनः बसाये गये ॥ १४-१५ ॥

राजा ने यह सुनकर कि "उसके सैनिक अपरिचय के कारण अपने ही साथियों को भी मार-काट रहे हैं" उसने तत्काल यह सत्य सङ्कल्प (अधिष्ठान) किया– ॥ १६ ॥

"मेरा यह युद्धप्रयास, अपने राज्य-सुखोपयोग के लिये नहीं, अपितु लङ्का में बुद्ध-शासन के प्रचार-प्रसार के लिये है । यदि मेरी यह बात सत्य हो तो मेरी सेना के सैनिकों के वस्त्र अग्निज्वाला की तरह लाल वर्ण के हो जायँ" । यह चमत्कार ही समझिये कि राजा द्वारा यह सत्य सङ्कल्प करते ही सभी सैनिकों के वस्त्र अग्नि ज्वाला की तरह लाल रङ्ग के हो गये! ॥ १७-१८ ॥

अवशिष्ट द्रविड़ों का एकत्र होना–गङ्गातट के अवशिष्ट द्रविड़, जो राजा द्वारा बन्दी बनाये जाने से बच गये थे वे सभी, विजित नामक नगर में आत्मरक्षा हेतु आकर एकत्र हो गये ॥ १९ ॥

फासुके अङ्गणट्ठाने खन्धावारं निवेसयि ।
तं खन्धावारपिट्ठीति नामेनाहोसि पाकटं ॥ २० ॥

विजितनगरगाहत्थं वीमंसन्तो नराधिपो ।
दिस्वायन्तं नन्धिमित्तं विसज्जापेसि कण्डुलं ॥ २१ ॥

गण्हितुं आगतं हत्थिं नन्धिमित्तो करेहि तं ।
उभो दन्ते पीळयित्वा उक्कुटिकं निसीदयि ॥ २२ ॥

हत्थिना नन्धिमित्तो तु यस्मा यत्थ अयुज्झि सो ।
तस्मा तत्थ कतो गामो हत्थिपोरो ति वुच्चति ॥ २३ ॥

वीमंसेत्वा उभो राजा विजितं नगरं अगा ।
योधानं दक्खिणद्वारे सङ्गामो आसि भिंसनो ॥ २४ ॥

पुरत्थिमद्वारम्हि सो वेळुसुमनो पन ।
अनेकसङ्खे दमिळे अस्सारूळ्हो अघातयि ॥ २५ ॥

द्वारं थकेसुं दमिळा, राजा योधे विसज्जयि ।
कण्डुलो नन्धिमित्तो च सूरनिमिलो च दक्खिणे ॥ २६ ॥

[W. G. 200] महासोणो च गोठो च थेरपुत्तो च ते तयो ।
द्वारेसु तीसु कम्मानि इतरेसु तदाकरुं ॥ २७ ॥

नगरं तं तिपरिखं उच्चपाकारगोपितं ।
अयोकम्मकतद्वारं अरीहि दुप्पधंसियं ॥ २८ ॥

जानूहि ठत्वा दाठाहि भिन्दित्वान सिला सुधा ।
इट्ठका चेव हत्थी सो अयोद्वारं उपागमि ॥ २९ ॥

गोपुरट्ठा तु दमिळा खिपिंसु विविधायुधे ।
पक्कं अयोगुळं चेव कठितं च सिलेसिकं ॥ ३० ॥

तथा वहाँ सुविधासम्पन्न मैदान में अपनी छावनी (स्कन्धावार) बनायी । उस स्थान को आज भी 'स्कन्धावारपिट्ठि' कहते हैं ॥ २० ॥

राजा इस विजितनगर पर नियन्त्रण (कब्जा) करने हेतु एकान्त में बैठा विचार कर रहा था कि उसने नन्धिमित्र को अपने पास आते हुए दूर से ही देख लिया । उसके बल की परीक्षा हेतु उसने उस समय उसकी तरफ कुण्डल हाथी को छुड़वा दिया ॥ २१ ॥

अपनी तरफ आते हुए हाथी को संयत करने के लिये नन्धिमित्र ने उकडू बैठकर अपने दोनों हाथों से हाथी के दोनों दाँतों को पकड़ कर दबा दिया ॥ २२ ॥

जिस स्थान पर नन्धिमित्र का यह हस्तियुद्ध हुआ था उसकी स्मृति-रक्षाहेतु 'हत्थिपोर' नाम रख दिया गया ॥ २३ ॥

विजितनगर का युद्ध– उन दोनों का शक्तिपरीक्षण कर राजा ने विजितनगर की तरफ युद्ध के लिये प्रयास किया । वहाँ (विजितनगर के) दक्षिण द्वार पर योद्धाओं का भयङ्कर संग्राम हुआ ॥ २४ ॥

पूर्व द्वार पर घोडे पर बैठे वेळुसुमन ने असङ्ख्य द्रविड़ों को मौत के घाट उतार दिया ॥ २५ ॥

तब द्रविड़ों ने नगर के द्वार बन्द कर लिये । तब राजा ने अपने योद्धाओं को नगर पर अपेक्षाकृत अधिक शक्ति से आक्रमण के लिये प्रेरित किया । कण्डुल हाथी, नन्धिमित्र एवं शूरनिमिल दक्षिणद्वार पर युद्ध के लिये सन्नद्ध हुए ॥ २६ ॥

महासोण, गोठ एवं स्थविर पुत्र अभय–ये तीन अन्य तीन द्वारों पर युद्ध के लिये गये ॥ २७ ॥

वह नगर तीन परिखाओं (खाइयों) से घिरा था, उसके चारों तरफ ऊँचा परकोटा (प्राकार) खिंचा हुआ था । उस के द्वार भी लोहनिर्मित थे । कहने का तात्पर्य यह है कि उस नगर पर शत्रुओं द्वारा अधिकार करना अत्यधिक कठिन (दुष्प्रघर्ष) था ॥ २८ ॥

परन्तु वह कुण्डल हाथी घुटनों के बल बैठकर दाँतों से पत्थर, चूना एवं ईटों को तोड़कर उस लौह द्वार तक पहुँच गया ॥ २९ ॥

तब, प्राकार पर बैठे उन द्रविड़ों योद्धाओं ने द्वार तोड़ते हुए उस हाथी पर नाना प्रकार के शस्त्र, गर्म (तपा हुआ) लोहा एवं गुड़ तथा तैल फैंकना प्रारम्भ किया ॥ ३० ॥

पिट्ठिं खित्ते सिलेसम्हि धूमायन्ते व कण्डुलो।
वेदनट्टो दकट्ठानं गन्त्वान तत्थ ओगहि ॥ ३१ ॥

"न इदं सुरापानं ते, अयोद्वार-विघाटनं।
गच्छ, द्वारं विघाटेहि" इच्चाह गोठइम्बरो ॥ ३२ ॥

सो मानं जनयित्वान कोञ्चं कत्वा गजुत्तमो।
उदका उट्ठहित्वान थले अट्ठासि दप्पवा ॥ ३३ ॥

हत्थिवेज्जोथ धोवित्वा सिलेसं ओसधं अका।
राजा आरुय्ह हत्थिं तं कुम्भे फुसिय पाणिना ॥ ३४ ॥

"लङ्कादीपम्हि सकले रज्जं ते, तात कण्डुल !
दम्मि" ति तोसयित्वान भोजेत्वा वरभोजनं ॥ ३५ ॥

वेठयित्वा साटकेन कारयित्वा सुम्मितं।
सत्तगुणं माहिषं चम्मं बन्धेत्वा चम्मपिट्ठियं ॥ ३६ ॥

[W. G. 201] तस्सोपरि तेलचम्मं दापेत्वा तं विसज्जयि।
असनी विय गज्जन्तो सो गन्त्वा पद्दवे सहं ॥ ३७ ॥

पदरं विज्झि दाठाहि उम्मारं पदसा हनि।
सद्वारबाहं तं द्वारं भूमियं सरवं पति ॥ ३८ ॥

गोपुरे दब्बसम्भारं पतन्तं हत्थिपिट्ठियं।
बाहाहि पहरित्वान नन्धिमित्तो पवत्तयि ॥ ३९ ॥

दिस्वान तस्स किरियं कण्डुलो तुट्ठमानसो।
दाठापीळनवेरं तं छड्डेसि पटमं कतं ॥ ४० ॥

अत्तनो पिट्ठितो येव पवेसत्थाय कण्डुलो।
निवत्तित्वान ओलोकिं योधं तत्थ गजुत्तमो ॥ ४१ ॥

ऊपर से गिरायी गयी इन उष्ण वस्तुओं से हाथी की पीठ जल उठी और उस वेदना से आर्त होकर वह चिङ्घाड़ता हुआ पासके सरोवर में जा घुसा ॥ ३१ ॥

तब गोठिम्बर योद्धा ने उस हाथी को धिक्कारते हुए कहा–"यह मद्यपान नहीं, यह लोहे का द्वार तोड़ना है । यहाँ क्या कर रहे हो, जाओ, जल्दी से वह लौह तोड़ो !" ॥ ३२ ॥

वह श्रेष्ठ और स्वाभिमानी हाथी इस बात को अपना अपमान समझता हुआ क्रौञ्चनाद के साथ जल से निकल कर भूमि पर आकर खड़ा हो गया ॥ ३३ ॥

हस्ति-वैद्य ने आकर उसके व्रण धो कर उसके व्रणों पर स्निग्ध औषध लगायी । तब राजा ने हाथी की पीठ पर चढ़कर उसका कन्धा थपथपा कर कहा–"तात कुण्डल ! मैं तुम्हारे सम्मान में तुम्हे सम्पूर्ण लङ्का का राज्य सौंपता हूं" यों कहते हुए उसे सन्तुष्ट कर अच्छा पुष्टिकर भोजन दिया ॥ ३४-३५ ॥

राजा ने उसके व्रणयुक्त शरीर पर कपड़े बन्धवा कर उसको तैल से गीला कर उसको छोड़ दिया । तब वह भी बिजली की तरह कड़ कर, शत्रुओं के आक्रमण को सहता हुआ ॥ ३६-३७ ॥

द्वार पर जाकर (उसने) अपने दाँतों की मार से उसके तख्ते तोड़ डाले, और पैरों की लात से द्वार की चौखट तोड़ दी । यो चौखट सहित वह पूरा द्वार ध्वनि करता हुआ भूमि पर आ गिरा ॥ ३८ ॥

चौखट सहित द्वार के टूट पड़ने पर द्वार का अन्य द्रव्यसम्भार (मलवा) हाथी की पीठ पर आ गिरा । उसे नन्धिमित्र ने आकर अपने हाथों से हटाया ॥ ३९ ॥

वह कण्डुल हाथी भी नन्धिमित्र की इस अलौकिक क्रिया को देखकर सन्तुष्ट होते हुए उसके द्वारा अपने दाँत दबाने से हुआ पूर्व वैर भूल गया ॥ ४० ॥

उस गजश्रेष्ठ कण्डुल ने, अपने पीछे की तरफ से ही नगर में प्रवेश के लिये, मुड़ कर योरद्धा नन्धिमित्र को देखा ॥ ४१ ॥

"हत्थिना कतमग्गेन न प्पवेक्खामहं" इति ।
नन्धिमित्तो विचिन्तेत्वा पाकारं हनि बाहुना ॥ ४२ ॥

सो अट्ठारसहत्थुच्चो पति अट्ठूसभो किर ।
ओलोकि सूरनिमिलं, अनिच्छं सो पि तं पथं ॥ ४३ ॥

लङ्घयित्वान पाकारं नगरब्भन्तरे पति ।
भिन्दित्वा द्वारमेकेकं गोठो सोणो च पाविसि ॥ ४४ ॥

हत्थी गहेत्वा रथचक्कं, मित्तो सकटपञ्जरं ।
नाळिकेरतरुं गोठो, निमिलो खग्गमुत्तमं ॥ ४५ ॥

तालरुक्खं महासोणो थेरपत्तो महागदं ।
विसुं विसुं वीथिगता दमिळे तत्थ चुण्णयुं ॥ ४६ ॥

विजितनगरं भेत्वा चतुमासेन खत्तियो ।
ततो गिरिलकं गन्त्वा गिरियं दमिळं हनि ॥ ४७ ॥

[W. G. 202] गन्त्वा महेलनगरं तिमहापरिखं ततो ।
कदम्बपुप्फवल्लीहि समन्ता परिवारितं ॥ ४८ ॥

एकद्वारं दुप्पवेसं चतुमासं वसं तहिं ।
गण्हि महेलराजानं मन्तयुद्धेन भूमिपो ॥ ४९ ॥

ततो अनुराधपुरं आगच्छन्तो महीपति ।
खन्धावारं निवेसेसि परतो कासपब्बतं ॥ ५० ॥

मासम्हि जेट्ठमूलम्हि तळाकं तत्थ कारिय ।
जलं कीळि, तहिं गामो पज्जोतनगरव्हयो ॥ ५१ ॥

तं युद्धायागतं सुत्वा राजानं दुट्ठगामणिं ।
अमच्चे सन्निपातेत्वा एळारो आह भूपति ॥ ५२ ॥

"हाथी द्वारा बनाये मार्ग से मैं नगर में प्रवेश नहीं करूँगा"–यह सोचकर नन्धिमित्र ने अपने बलिष्ठ हाथों से ही प्राकार का एक भाग तोड़ डाला ॥ ४२ ॥

अट्ठारह हाथ ऊँचा एवं आठ वृषभ लम्भा वह प्राकार का भाग गिर पड़ा। तब उस हाथी ने सूरनिमिल की तरफ देखा। उसने भी यह नहीं चाहा कि वह बलवान् होते हुए भी हाथी के बनाये रास्ते से जाय ॥ ४३ ॥

वह भी अपने सामर्थ्य से प्राकार को लाँघ कर नगर में प्रविष्ट हुआ। इसी प्रकार गोठ एवं सोण–ये दोनों महायोद्धा भी अपने ही बनाये मार्ग से नगर में प्रविष्ट हुए ॥ ४४ ॥

तब हाथी ने रथचक्र, नन्धिमित्र ने शकटपञ्जर, गोठ्ठ ने नारियल का वृक्ष शूरनिमिल ने उत्तम खड्ग, महासोण ने ताड़ का वृक्ष तथा स्थविरपुत्र अभय ने एक बड़ी गदा लेकर नगर की गली-गली में घुसकर वहाँ छिपे हुए द्रविड़ों का नृशंसता के साथ बध कर डाला ॥ ४५-४६ ॥

यों, राजा ने चार मास के भयङ्कर युद्ध के बाद विजितनगर को अपने अधीन कर, तत्पश्चात् गिरिलक जाकर गिरिय द्रविड़ का बध किया ॥ ४७ ॥

महेलनगर पर विजय–तब राजा महेलनगर पहुँचा, जो तीन खाइयों से घिरा हुआ था, और चारों ओर कदम्बपुष्प एवं विविध लताओं से आवृत था ॥ ४८ ॥

उस नगर में प्रवेश के लिये एक ही द्वार था, अतः साधारण जन के लिये दुष्प्रवेश था। अतः राजा चार मास तर वहीं सेना सहित ठहरा रहा। अन्त में राजा ने उस महेलराज को मन्त्रयुद्ध (विशेष युक्ति) से पराजित किया ॥ ४९ ॥

वहाँ से अनुराधपुर लौटते हुए राजा ने कास पर्वत पर अपनी सेना को ठहराया ॥ ५० ॥

ज्येष्ठ मास में वहाँ एक सरोवर खुदवाकर जल-क्रीड़ा की। उस स्थान पर प्रद्योतनगर बसाया ॥ ५१ ॥

एळार नरेश से युद्ध– राजा एळार ने राजा दुष्टग्रामणी को युद्धहेतु अपने नगर के पास आया हुआ जान कर उसने अपने अमात्यों की सभा बुलायी ॥ ५२ ॥

"सो राजा च सयं योधो योधा चस्स बहू किर ।
अमच्चा किं नु कातब्बं, किं ति मञ्ञन्ति नो " इति ॥ ५३ ॥

दीघजन्तुप्पभुतयो योधा एळारराजिनो ।
"सुवे युद्धं करिस्साम" इति ते निच्छयं करूं ॥ ५४ ॥

दुट्ठगामणिराजा पि मन्तेत्वा मातुया सह ।
तस्सा मतेन कारेसि द्वत्तिंस बलकोट्ठके ॥ ५५ ॥

राजा छत्तधरे तत्थ उपेसि राजरूपके ।
अब्भन्तरे कोट्ठके तु सयमट्ठासि भूपति ॥ ५६ ॥

[W. G. 203] एळारराजा सन्नद्धो महापब्बतहत्थिनं ।
आरुय्ह आगमी तत्थ संयोग्गबलबाहनो ॥ ५७ ॥

संग्रामे वत्तमानम्हि दीघजन्तु महब्बलो ।
आदाय खग्गफलकं युज्झमानो भयानको ॥ ५८ ॥

हत्थे अट्ठारसुग्गन्त्वा नभं तं राजरूपकं ।
छिन्दित्वा असिना भिन्दि पठमं बलकोट्ठकं ॥ ५९ ॥

एवं सेसे पि भिन्दित्वा बलकोट्ठे महब्बलो ।
ठितं गामणिराजेन बलकोमुपागमि ॥ ६० ॥

योधो तु सूरनिमिलो गच्छन्तं राजिनोपरि ।
सावेत्वा अत्तनो नामं तं अक्कोसि महब्बलो ॥ ६१ ॥

इतरो "तं वधिस्सं" तिकु द्धो आकासमुग्गमि ।
इतरो ओतरन्तस्स फलकं उपनामयि ॥ ६२ ॥

"छिन्दामेतं सफलकं" इति चिन्तिय सो पन ।
पलकं पहिरि खग्गेन, तं मुञ्चि इतरो पन ॥ ६३ ॥

सभा में उसने कहा–"यह राजा स्वयं भी योद्धा है, इसके अतिरिक्त इसके पास अनेक वीर सैनिक हैं। अमात्यो! ऐसी अवस्था में हमें क्या करना चाहिये ? आप लोग इस पर अपनी सम्मति दें।"५३ ॥

तब एळार राजा के दीर्घजन्तु आदि योद्धाओं ने यही निश्चय किया कि "कल युद्ध किया जाय" ॥ ५४ ॥

उधर दुष्टग्रामणी राजा ने अपनी माता से मन्त्रणा कर अपनी सेना के बत्तीस ब्यूह बनाये ॥ ५५ ॥

प्रत्येक ब्यूह के बीच रथ पर, अपने ही समान आकृति बनवा कर उन पर छत्र लगा कर बैठाया। और उन व्यूहों के बीच में राजा ने अपना रथ रखा ॥ ५६ ॥

तब एळार राजा महापर्वत नामक हाथी पर बैठकर अपनी कुशल सेना के साथ युद्धभूमि में आया ॥ ५७ ॥

युद्ध प्रारम्भ होने पर, महाबली दीर्घजन्तु तलवार लेकर भयङ्कर रूप से आक्रमण करने लगा ॥ ५८ ॥

उसने अट्ठारह हाथ ऊँचे आकाश में उठकर उस प्रथम राजरूप आकृति को तलवार से क़ाट कर पहला व्यूह नष्ट कर दिया ॥ ५९ ॥

इस तरह वह दीर्घजन्तु इकतीस (३१) राजरूपों तथा इतने ही व्यूहों को छिन्न-भिन्न करता हुआ अन्त में बत्तीसवें ब्यूह में वास्तविक राजा के सामने जा पहुँचा ॥ ६0 ॥

तब योद्धा शूरनिमिल ने उस दीर्घजन्तु को राजा पर आक्रमण करते देख कर उस को नाम सुनाते हुए ललकारा ॥ ६१ ॥

परन्तु दीर्घजन्तु ने क्रुद्ध होकर यह करते हुए कि " मैं तो इसे मारूँगा ही", आकाश में छलांग लगायी। तब सूरनिमिल ने आकाश से उतरते हुए उसके सामने ढाल कर दी ॥ ६२ ॥

तब दीर्घजन्तु ने यह सोचकर कि "मैं इसे ढालसहित काट डालूँगा", तलवार से उस ढाल पर ही पर ही प्रहार कर दिया। शूरनिमिल ने वह ढाल छोड़ दी ॥ ६३ ॥

कम्पेन्तो मुत्तफलकं दीघजन्तु तहिं पति ।
उत्थाय सुरनिमिलो पतितं सत्तिया हनि ॥ ६४ ॥

सङ्खं धमि फुस्सदेवो सेना भिज्जित्थ दामळी ।
एळारो पि निवत्तित्थ घातेसुं दमिळे बहू ॥ ६५ ॥

तत्थ वापिजलं आसि हतानं लोहिताविलं ।
तस्मा कुलत्थवापी ति नामतो विस्सुता अहु ॥ ६६ ॥

चरापेत्वा तहिं भेरिं दुट्ठगामणि भूपति ।
"न हनिस्सति एळारं मं मुञ्चिय परो" इति ॥ ६७ ॥

सन्नद्धो सयमारूय्ह सन्नद्धं कण्डुलं करिं ।
एळारं अनुबन्धन्तो दक्खिणद्वारमागमि ॥ ६८ ॥

[W. G. 204] पुरदक्खिणद्वारम्हि उभो युज्झिंसु भूमिपा ।
तोमरं खिपि एळारो गामणी तं अवञ्चयि ॥ ६९ ॥

विज्झापेसि च दन्तेहि तं हत्थिं सकहत्थिना ।
तोमरं खिपि एळारं सहत्थी तत्थ सो पति ॥ ७० ॥

ततो विजितसङ्गामो सयोग्गबलवाहनो ।
लङ्कं एकातपत्तकं कत्वान पाविसी पुरं ॥ ७१ ॥

पुरे भेरिं चरापेत्वा समन्ता योजने जने ।
सन्निपातिय कारेसि पूजिं एळारराजिनो ॥ ७२ ॥

तं देहपतितट्ठाने कूटागारेन झापयि ।
चेतियं तत्थ कारेसि परिहारमदासि च ॥ ७३ ॥

अज्जापि लङ्कापतिनो तम्पदेससमीपगा ।
तेनेव परिहारेन न वादापेन्ति तूरियं ॥ ७४ ॥

छूटी ढाल को काटता हुआ वह दीर्घजन्तु (अपने वेग को न सह सकने के कारण) वहीं गिर पड़ा । शूरनिमिल ने उठकर उस गिरे हुए दीर्घजन्तु को शक्तिनामक शस्त्र से मार डाला ।। ६४ ।।

यह देखकर फुस्सदेव ने शङ्खध्वनि की । शङ्खध्वनि सुनकर द्राविड़ी सेन छिन्न भिन्न (तितर-वितर) हो गयी । एळार राजा भी युद्ध भूमि से भाग गया । द्रविड़ सेना के बहुत सैनिक मारे गये ।। ६५ ।।

उस युद्ध की भयङ्करता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि समीपस्थ वापी का जल मरे हुए द्रविड़ों का रक्त मिल जाने से लाल हो गया । और वह वापी तभी से 'कुलत्थवापी' कहलाने लगी ।। ६६ ।।

राजा दुष्टग्रामणी ने दुन्दुभि बजवाकर सबको सूचित कर दिया कि "एळार राजा को वे ही मारेंगे, अन्य कोई भी उन पर हाथ नहीं उठायगा" ।। ६७ ।।

यों, वह कण्डुल हाथी पर चढ़ कर युद्ध के लिये सन्नद्ध हो कर, एळार का पीछा करता हुआ दक्षिण द्वार पर आ गया ।। ६८ ।।

अन्त में नगर के दक्षिण द्वार पर दोनों राजाओं का युद्ध हुआ । एळार ने दुष्टग्रामणी पर तोमर फैंका । ग्रामणी उस से बच गये ।। ६९ ।।

इधर कुण्डल हाथी ने एळार राजा के हाथी को दाँतों से बींधना प्रारम्भ किया । उधर राजा दुष्टग्रामणि ने एळार को तोमर फैंक कर मारा उससे वह हाथी सहित भूमि पर गिर पड़ा ।। ७० ।।

यों राजा दुष्टग्रामणी वह युद्ध जीतकर लङ्का द्वीप को एक ही छत्र के नीचे लाकर अपनी वीर सेना के साथ नगर में प्रविष्ट हुआ ।। ७१ ।।

बाद में नगर में ढिंढोरा पिटवाकर एक एक योजन से सम्मानित जनता को एकत्र कर राजा ने एळार राजा की सत्कारपूर्वक और्ध्वदैहिक क्रिया की ।। ७२ ।।

राजा ने उसके देहपात के स्थान को एक कूटागार बनवा कर उससे ढक दिया । बाद में वहाँ एक चैत्य भी बनवाया । तथा पूजा करवायी ।। ७३ ।।

आज भी वहाँ यह परम्परा चला आ रही है कि लङ्का के राजा लोग भी एळार के सत्कार में, उस स्थान से बाजे-गाजे के साथ नहीं निकलते ।। ७४ ।।

एवं द्वत्तिंस राजानो दुट्ठगामणी ।
गण्हित्वा एकछत्तेन लङ्कारज्जमकासि सो ॥ ७५ ॥

भिन्नम्हि विजितनगरे योधो सो दीघजन्तुको ।
एळारस्स निवेदेत्वा भागिनेय्यस्स योधतं ॥ ७६ ॥

तस्स भल्लुकनामस्स भागिनेय्यस्स अत्तनो ।
पेसयिधागमनत्थाय, तस्स सुत्वान भल्लुको ॥ ७७ ॥

एळारदड्ढ दिवसा सत्तमे दिवसे इध ।
पुरिसानं सहस्सेहि सट्ठिया सह ओतरि ॥ ७८ ॥

ओतिण्णो सो सुणित्वा पि पतनं तस्स राजिनो ।
'युज्झिस्सामी" ति लज्जाय महातिथा इधागमा ॥ ७९ ॥

खन्धावारं निवेसेसि गामे कोलम्बहारके ।
राजा तस्सागमं सुत्वा युद्धाय अभिनिक्खमि ॥ ८० ॥

[W. G. 205] युद्धसन्नाहसन्नद्धो हत्थिमारुय्ह कुण्डलं ।
हत्थस्सरथयोधेहि पत्तीहि च अनूनको ॥ ८१ ॥

उम्मादफुस्सदेवो सो दीपे अग्गधनुग्गहो ।
दसड्ढयुधसन्नद्धो सेसा योधा च अन्वगुं ॥ ८२ ॥

पवत्ते तुमुले युद्धे सन्नद्धो भल्लुको तहिं ।
राजाभिमुखमायासि नागराजा तु कण्डुलो ॥ ८३ ॥

तंवेगमन्दीभावत्थं पच्चोसक्कि सणिं सणिं ।
सेनापि सद्धिं तेनेव पच्चोसक्कि सणिं सणिं ॥ ८४ ॥

राजाह : "पुब्बे युद्धेसु अट्ठवीसतिया अयं ।
न पच्चोसक्कि, किं एतं फुस्सदेवा?" ति आह सो ॥ ८५ ॥

इस तरह बतीस (३२) द्रविड़ राजाओं को पराजित कर दुष्टग्रामणी ने लङ्काद्वीप पर अपना एकच्छत्र राज्य स्थापित किया ।। ७५ ।।

भल्लुक-वध– विजितनगर के पतन के बाद ही, योद्धा दीघजन्तु ने भल्लुक नामक अपने भानजे की विशेषताएँ बताकर उसको वहाँ युद्धहेतु बुलाने के लिये एळार से निवेदन किया था ।। ७६-७७ ।।

इसका निमन्त्रण पाकर भल्लुक अपने साठ हजार साथियों के साथ यहां तब आया जब एळार का देहपात हुए सात दिन बीत चुके थे ।। ७८ ।।

यद्यपि यहाँ (लङ्काद्वीप में) उतरते ही उसने एळार के देहपात का समाचार सुन लिया था, फिर भी वह सङ्कोचवश युद्ध करने हेतु घाट से चल कर यहां तक आ पहुँचा ।। ७९ ।।

उसने कोलम्बहारक ग्राम में अपनी छावनी डाली । राजा ने उस (भल्लुक) का आगमन सुना और, उससे युद्ध के लिये वह नगर से बाहर निकला ।। ८० ।।

युद्ध के लिये कृतनिश्चय वह दुष्टग्रामणी कुण्डल हाथी पर चढ़कर अत्यधिक संख्या में रथ, हाथी, घोड़े एवं पैदल सेना लेकर चला ।। ८१ ।।

साथ ही उन्मादफुस्सदेव, जो उस समय लङ्का द्वीप में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर कहलाता था, आदि योद्धा पाँच आयुधों (तलवार, धनुष्, फरसा, भाला एवं ढाल) से युक्त होकर उसके पीछे-पीछे चले ।। ८२ ।।

भयङ्कर युद्ध प्रारम्भ होने पर जब भल्लुक कटिबद्ध होकर राजा के सामने आया तो उस हस्तिराज कण्डुल ने ।। ८३ ।।

उस भल्लुक का वेग मन्द कम करने के लिये धीरे-धीरे पीछे हटना प्रारम्भ किया । सेना भी उसके साथ पीछे सरकने लगी ।। ८४ ।।

यह देख कर राजा ने पूछा–"फुस्सदेव! यह क्या हो रहा है ? पहले के अट्ठाईस (२८) युद्धों में तो यह हाथी इस तरह कभी पीछे नहीं सरकता था, आज पीछे क्यों सरक रहा है ?" ।। ८५ ।।

"जयो नो परमो, देव! जयभूमिं अयं गजो ।
पच्चोसक्कति पेक्खन्तो जयट्ठानम्हि ठस्सति" ॥ ८६ ॥

नागो स पच्चोसक्कित्वा पुरदेवस्स पस्सतो ।
महाविहारसीमन्ते अट्ठासि सुप्पतिट्ठितो ॥ ८७ ॥

तत्र ठिते नागराजे भल्लुको दमिळो तहिं ।
राजाभिमुखमागन्त्वा उप्पण्डेसि महीपतिं ॥ ८८ ॥

मुखं पिधाय खग्गेन राजा अक्कोसि तं पन ।
"रज्जो मुखम्हि पातेमि" इति कण्डं च सो खिपि ॥ ८९ ॥

आहच्च सो खग्गतलं कण्डो पपति भूमियं ।
"मुखे विद्धो" ति सञ्ञाय उक्कुट्ठिं भल्लुको अका ॥ ९० ॥

रञ्ञो पच्छा निसिन्नो सो फुस्सदेवो महब्बलो ।
कण्डं खिपि मुखे तस्स घट्टेन्तो राजकुण्डलं ॥ ९१ ॥

[W. G. 206] राजानं पादतो कत्वा पतमानस्स तस्स तु ।
खिपित्वा अपरे कण्डं विज्झित्वा तस्स जानुकं ॥ ९२ ॥

राजानं सीसतो कत्वा पातेसि लहुहत्थको ।
भल्लुके पतिते तस्मिं जयनादो पवत्तथ ॥ ९३ ॥

फुस्सदेवो तहिंयेव ञापेतुं दोसमत्तनो ।
कण्णवल्लिं सकं छेत्वा पसतं लोहितं सयं ॥ ९४ ॥

रञ्ञो दस्सेसि, तं दिस्वा, राजा तं पुच्छि "किं?" इति ।
"राजदण्डो कतो मे" ति सो अवोच महीपतिं ॥ ९५ ॥

"को ते दोसो?" ति वुत्तो च आह "कण्डुलघट्टनं" ।
"अदोसं दोससञ्ञाय किमेवं करि भातिक?" ॥ ९६ ॥

फुस्सदेव ने कहा–"राजन्! आप चिन्तित न हों, अन्तिम विजय हमारी ही होगी। यह हाथी पीछे हटता हुआ वह स्थान खोज रहा है जहां ठहर कर युद्ध करने में हमारी विजय सुनिश्चित हो जाय" ।। ८६ ।।

अन्त में हाथी पीछे हटता हुआ नगर देवता के सम्मुख महाविहार की सीमा में स्थिरता से पैर जमाकर खड़ा हो गया ।। ८७ ।।

नागराज के वहाँ स्थिर होनेपर, भल्लुक ने वहाँ आकर राजा का परिहास करना प्रारम्भ किया ।। ८८ ।।

राजा ने तलवार अपने मुख के सामने कर उसे चुप रहने का सङ्केत किया। बल्लुक ने यह सोचकर कि राजा के मुख पर ही बाण मारूँगा– उसने राजा के मुख को अपने का बाण का लक्ष्य बनाया ।। ८९ ।।

परन्तु भल्लुक का वह बाण राजा की तलवार से टकराकर भूमि पर गिर पड़ा। उधर, भल्लुक ने सोचा कि वह बाण राजाक के मुख में ही लगा। अतः उसने प्रसन्न होकर जयघोष किया ।। ९० ।।

तब राजा के पीछे बैठे फुस्सदेव ने भल्लुक के मुख को ऐसा बाण मारा कि राजा के कुण्डल का स्पर्श करता हुआ, सीधे भल्लुक के मुख में जा लगा ।। ९१ ।।

तब वह भल्लुक राजा की तरफ पैर करके गिरने लगा कि फुस्सदेव ने उसकी जंघा को लक्ष्य कर दूसरा बाण चलाया ।। ९२ ।।

उससे वह राजा की तरफ शिर करके भूमि पर गिरा। इस तरह भल्लुक के रणभूमि में गिरने के बाद तुमुलजयध्वनि होने लागी ।। ९३ ।।

फुस्सदेव का सत्कार–उसी समय फुस्सदेव ने स्वदोष प्रकट करने हेतु अपने कान का मांस छेद कर बहता हुआ रक्त राजा को दिखाया। उसे देखकर राजा ने पूछा–"यह क्या ?" "मैने राजदण्ड लिया है"–फुस्सदेव ने राजा से कहा ।। ९४-९५ ।।

"तुम्हारा क्या दोष था? –राजा के यह पूछने पर उसने कहा–"भल्लुक को बाण मारते समय उसकी रगड़ (घर्षण) आपके कर्णकुण्डल को लग गया था"। यह सुन कर राजा ने कहा–"अरे भाई! तुमने अदोष को दोष मानकर यह क्या कर डाला?" ।। ९६ ।।

इति वत्वा महाराजा कतञ्ञू इदमाह च।
"कण्डानुच्छविको तुय्हं सक्कारो हेस्सते महा"॥ ९७ ॥

घातेत्वा दमिळे सब्बे राजा लद्धजयो ततो।
पासादतलमारुय्ह सीहासनगतो तहिं ॥ ९८ ॥

नाटकामच्चमज्झम्हि फुस्सदेवस्स तं सरं।
आनापेत्वा ठपापेत्वा पोङ्खेन उजुकं तहिं ॥ ९९ ॥

कहापणेहि कण्डं तं आसित्तेहुपरूपरि।
छादापेत्वान दापेसि फुस्सदेवस्स तङ्खणे ॥ १०० ॥

नरिन्दपासादतले निसिन्नोथ अलङ्कते।
सुगन्धदीपुज्जलिते नानागन्धसमायुते ॥ १०१ ॥

[W. G. 207] नाटकजनयोगेन अच्छराहि विभूसिते।
अनग्घत्थरणाकिण्णे मुदुके सयने सुभे ॥ १०२ ॥

सयितो सिरिसम्पत्तिं महतीमपि पेक्खिय।
कतं अक्खोहिणीघातं सरन्तो न सुखं लभि ॥ १०३ ॥

पियङ्गुदीपे अरहन्तो ञत्वा तं तस्स तक्कितं।
पाहेसुं अट्ठ अरहन्तो तं अस्सासेतुमिस्सरं ॥ १०४ ॥

आगम्म ते मज्झिमयामे राजद्वारम्हि ओतरुं।
निवेदितब्भागमना पासादतलमोरुहं ॥ १०५ ॥

वन्दित्वा ते महाराजा निसीदापिय आसने।
कत्वा विविधसक्कारं पुच्छि आगतकारणं ॥ १०६ ॥

"पियङ्गुदीपे सङ्घेन पेसिता, मनुजाधिप !
तं अस्सासयितुं अम्हे" इति, राजा पुनाह ते ॥ १०७ ॥

ऐसा कह कर कृतज्ञ महाराज ने यह भी कहा–"बाण के अनुसार ही तुम्हारा भी महान् सत्कार किया जायगा" ॥ ९७ ॥

यों, सभी द्रविड़ों को मार कर उस विजयी राजा ने अपने राजमहल में अमात्यों और कलाकारों को एकत्र कर स्वयं सिंहासन पर विराजमान होकर फुस्सदेव का वह तीर मंगवा कर पुङ्ख की तरफ से उसे भूमि में गडवाया ॥ ९८-९९ ॥

फिर उस पर जनता द्वारा कार्षापण की वृष्टि होने लगी । और वह तब तक होती रही जब तक वह बाण कार्षापणों से ढक न गया । ढक जाने पर वे सब कार्णापण एवं वह बाण फुस्सदेव को ससम्मान दे दिये ॥ १०० ॥

राजा को वैराग्य– सर्वथा अलंकृत, अनेक सुगन्धद्रव्यों से गन्धयुक्त, नटों एवं अप्सराओं से भरे हुए इस राजप्रासाद में महँगे सुन्दर एवं शयनासनों पर सुखपूर्वक सोते रहने पर भी, तथा इतने बड़े राज्य की श्री-सम्पत्ति देखते हुए भी राजा केमन में , युद्ध में एक अक्षैहिणी सेना के बध का स्मरण होते ही, इन सब उपर्युक्त सुखों में विराम लग गया और वह सन्तप्त रहने लगा ॥ १०१-१०३ ॥

प्रियङ्गु द्वीप के अर्हत् स्थविरों को जब राजा के इस मानसिक सन्ताप की सूचना मिली तो उन्होंने राजा को आश्वस्त करने के लिये आठ आर्हत् उसके पास भेजे ॥ १०४ ॥

वे (आकाशमार्ग से आकर) मध्यम प्रहर में राजद्वार पर आये । आकाशमार्ग से अपना आना बताकर वे प्रासादतल पर चढ़े ॥ १०५ ॥

महाराज ने उनका अभिवादन कर उचित आसन पर बैठाया तथा अनेक तरह से अन्य सत्कार कर उनसे आगमन कारण पूछा ॥ १०६ ॥

स्थविरों ने कहा–"राजन्! प्रियङ्गु द्वीप के भिक्षुसङ्घ ने आपको धार्मिक दृष्टि से आश्वस्त करने के लिये भेजा है, जिससे आप का मनःसन्ताप कम हो ॥ १०७ ॥

"कथं नु, भन्ते! अस्सासो मम हेस्सति, येन मे ।
अक्खोहिणीमहासेनाघातो कारापितो?" इति ॥ १०८ ॥

"सग्गमग्गन्तरायो च नत्थि ते तेन कम्मुना ।
दियड्ढमनुजा वेत्थ घातिता मनुजाधिप! ॥ १०९ ॥

सरणेसु ठितो पञ्च सीले पि चापरे ।
मिच्छादिट्ठी च दुस्सीला सेसा पसुसमा मता ॥ ११० ॥

जोतयिस्ससि चेव त्वं बहुधा बुद्धसासनं ।
मनोविलेखं तस्मा त्वं विनोदय नरिस्सर!" ॥ १११ ॥

[W. G. 208] इति वुत्तो महाराजा तेहि अस्सासमागतो ।
वन्दित्वा ते विसज्जेत्वा सयितो पुन चिन्तयि ॥ ११२ ॥

"विना सङ्घेन आहारं मा भुञ्जेथ कदाचि पि" ।
इति मातापिताहारे सपिंसु दहरे व नो ॥ ११३ ॥

अदत्वा भिक्खुसङ्घस्स भुत्तं अत्थि नु खो?" इति ।
अद्दस पातरासम्हि एकं मरिचवट्टिकं ॥ ११४ ॥

सङ्घस्स अट्ठपेत्वा वा परिभुत्तं सतिं विना ।
"तदत्थं दण्डकम्मं मे कत्तब्बं" ति चिन्तयि ॥ ११५ ॥

एते ते नेककोटी इध मनुजगणे घातिते चिन्तयित्वा,
कम्मानं हेतु एतं मनसि च कयिरा साधु आदीनवं तं ।
सब्बेसं घातनिं तं मनसि च कयिरानिच्चतं साधु साधु,
एवं दुक्खा पमोक्खं सुभगतिमथवा पापुणेय्याचिरेणा[1] ॥ ति ॥ ११६ ॥

सुजनप्पासादसंवेगत्थाय कते महावंसे

दुट्ठगामणिविजयो नाम

पञ्चवीसतिमो परिच्छेदो

---

1. स्रग्धरा छन्द.

राजा ने कहा–"भन्ते! मैं कैसे आश्वस्त होऊँ! मैंने जान बूझकर एक अक्षौहिणी सेना के मनुष्यों का वध कराडाला है" ॥ १०८ ॥

स्थविरों ने कहा–"राजन्! इस कर्म से आपके स्वर्ग-गमन का मार्ग नहीं अवरुद्ध होगा । आपने तो केवल डेढ मनुष्यों का ही वध किया है" ॥ १०९ ॥

"उन मरे हुए डेढ (एक और आधा) पुरुषों में से भी पहला त्रिशरण को प्राप्त हो चुका है तथा दूसरा पञ्चशील में प्रतिष्ठित हो चुका है । अवशिष्ट तो स्वयं मिथ्यादृष्टि एवं दुःशील थे जो पशुओं के समान मृत्यु को प्राप्त हुए" ॥ ११० ॥

आप से तो बुद्ध-शासन की सर्वथा अभिवृद्धि ही होनी है । अतः आप अपने इस मनःसन्ताप (=दुश्चिन्ता, मनोविलेख) को दूर हटाकर सुखपूर्वक रहें" ॥ १११ ॥

उन स्थविरों द्वारा ऐसा समझाये जाने पर, आश्वस्त हुए राजा ने उन स्थविरों का अभिवादन कर उन्हें विदा कर रात्रि को शयन से पूर्व फिर विचार किया– ॥ ११२ ॥

"हमारे माता-पिता ने हमको बचपन में ही यह प्रतिज्ञा करायी थी कि कोई भी आहारयोग्य वस्तु विना सङ्घ को दिये पहले स्वयं न खाना" ॥ ११३ ॥

"तो क्या मैने भिक्षु-सङ्घ को दिये विना कोई वस्तु खा तो नहीं ली?" तब उसके ध्यान में आया कि आज ही प्रातः जलपान में उसने विना सङ्घ को दिये एक मरिच खा ली थी ॥ ११४ ॥

"सङ्घ को दिये विना अज्ञान में जो यह मरिच मुझसे खायी गयी, इस का मुझे प्रायश्चित (दण्डकर्म) करना चाहिये"–ऐसा उसने विचार किया ॥ ११५ ॥

(यदि) मनुष्य इस लोक में इस प्रकार इन अनेक कोटि मनुष्यों का मारा जाना सोच कर, कामनाओं के कारण और दुष्परिणाम मन में सम्यक् चिन्तन करे तथा सब का घात करने वाली (इस) अनित्यता को भली भाँति सोचे तो वह अल्पकाल में ही दुःख से मुक्ति एवं शुभ गति प्राप्त कर सकता है ॥ ११६ ॥

सज्जनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह की

अभिवृद्धि हतु रचित इस महावंश में

दुष्टग्रामणी का विजयवर्णन नामक

पचीसवाँ परिच्छेद समाप्त

२६.

छब्बीसतिमो परिच्छेदो

(मरिचवट्टिविहारमहो)

[W. G. 209] एकच्छत्तं करित्वान लङ्कं राजा महायसो ।
ठानन्तरं संविदहि योधानं सो यथारहं ॥ १ ॥

थेरपुत्ताभयो योधो दीयमानं न इच्छि तं ।
पुच्छितो च "किमत्थं?" ति "युद्धमत्थी" ति अब्रवि ॥ २ ॥

एकरज्जे कते युद्धं किं नामा?" ति च पुच्छितो ।
"युद्धं किलेसचोरेहि करिस्सामि सुदुज्जयं" ॥ ३ ॥

इच्चेवं आह, तं राजा पुनप्पुनं निसेधयि ।
पुनप्पुनं सो याचित्वा राजानुञ्ञाय पब्बजि ॥ ४ ॥

पब्बजित्वा च कालेन अरहत्तं अपापुणि ।
पञ्चखीणासवसतपरिवारो अहोसि च ॥ ५ ॥

छत्तमङ्गलसत्ताहे गते गतभयो'भयो ।
राजा कताभिसेको सो महता विभवेन सो ॥ ६ ॥

[W. G. 210] तिस्सवापिं अगा कीळाविधिना समलङ्कत्तं ।
कीळितुं अभिसित्तानं चरितं चानुरक्खितुं ॥ ७ ॥

रञ्ञो परिच्छदं सब्बं उपायनसतानि च ।
मरिचवट्टिविहारस्स ठानम्हि ठपयिंसु च ॥ ८ ॥

छब्बीसवाँ परिच्छेद

(मरिचवट्टिविहार-पूजा)

योद्धाओं को सम्मानित पद– उस महायशस्वी राजा दुष्टग्रामणी ने लङ्का द्वीप में एकच्छत्र राज्य स्थापित कर अपने विशिष्ट योद्धाओं को राज्य में सम्मानित पद दिये ।। १ ।।

अभय की प्रव्रज्या– परन्तु स्थविरपुत्र अभय ने ऐसा कोई सम्मानित पद नहीं लिया । जब उससे इस का कारण पूछा गया तो उसने बताया कि उसे अभी युद्ध करना है ।। २ ।।

जब उससे फिर पूछा गया कि अब तो एकच्छत्र राज्य हो गया, अब किससे युद्ध करना अवशिष्ट रह गाया? तो उसने बताया कि क्लेशरूपी चौरों से युद्ध करना है, जो बहुत कठिनता से जीते जा सकते हैं ।। ३ ।।

राजा ने उसको बार-बार इस बात के लिये निषेध किया, परन्तु उसने अत्यधिक आग्रह कर राजा से प्रव्रज्याकी अनुमति ले ही ली ।। ४ ।।

वह प्रव्रजित होकर समय से ही अर्हत्व पद पा गया और अन्त में वह पाँच सौ क्षीणास्रव भिक्षुओं के परिवार वाला हो गया ।। ५ ।।

राजा का राज्याभिषेक– छत्रमङ्गल सप्ताह के बीत जाने पर, निर्भय एवं शत्रुओं के आक्रमण से निःशङ्क (निर्भय) होकर राजा ने बहुत ही धूमधाम (आडम्बर) से अपना राज्याभिषेक कराया ।। ६ ।।

इस प्रसङ्ग में वह सर्वप्रथम तिष्यवापी में जलक्रीडा हेतु गया । वहाँ उसने जलक्रीड़ा करते हुए अभिषेक की प्राचीन प्रम्परा की रक्षा की ।। ७ ।।

जनता ने राजा के लिये परिधान वस्त्र एवं अन्य अनेक प्रकार के उपहार मरिचवट्टिविहार स्थान में रखे ।। ८ ।।

तत्थेव थूपट्ठानम्हि सधातुं कुन्तमुत्तमं ।
ठपेसुं कुन्तधारका उजुकं राजमानुसा ॥ ९ ॥

सहोरोधो महाराजा कीळित्वा सलिले दिवा ।
सायं आह : "गमिस्साम, कुन्तं वड्ढेथ, भो" इति ॥ १० ॥

चालेतुं तं न सक्किंसु कुन्तं तदधिकारिका ।
गन्धमालाहि पूजेसुं राजसेना समागता ॥ ११ ॥

राजा महन्तं अच्छेरं दिस्वा तं हट्ठमानसो ।
विधाय तत्थ आरक्खं पविसित्वा पुरं ततो ॥ १२ ॥

कुन्तं परिक्खिपापेत्वा चेतियं तत्थ कारयि ।
थूपं परिक्खिपापेत्वा विहारं च अकारयि ॥ १३ ॥

तीहि वस्सेहि निट्ठासि विहारो, सो नरिस्सरो ।
सो सङ्घं सन्निपातेसि विहारमहकारणा ॥ १४ ॥

भिक्खूनं सतसहस्सं तदा भिक्खुणियो पन ।
नवुतिं च सहस्सानि अभविंसु समागता ॥ १५ ॥

तस्मिं समागमे सङ्घं इदमाह महीपति ।
"सङ्घ, भन्ते! विस्सरित्वा भुञ्जिं मरिचवट्टिकं ॥ १६ ॥

तस्सेतं दण्डकम्मं मे भवतू ति अकारयिं ।
सचेतियं मरिचवट्टिविहारं सुमनोहरं ॥ १७ ॥

[W. G. 211] पतिगण्हातु तं सङ्घो" इति सो दक्खिणोदकं ।
पातेत्वा भिक्खुसङ्घस्स विहारं सुमनो अदा ॥ १८ ॥

विहारे तंसमन्ता च महन्त मण्डपं सुभं ।
कारेत्वा तत्थ सङ्घस्स महादानं पवत्तयि ॥ १९ ॥

उसी प्रकार राजा के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिये राजपुरुषों ने स्तूप स्थानों पर अपने-अपने भाले सीधे खड़े किये ॥ ९ ॥

दिन भर राजप्रासाद की महिलाओं के साथ जलक्रीड़ा कर अन्त में सायङ्काल राजा ने कहा–"अरे! अब हम चलेंगे। अब भाला आगे बढ़ाया जाय" ॥ १० ॥

परन्तु उसके अधिकारी पृथ्वी में गड़े भाले को उखाड़ न सके। अतः सेना ने आकर उसकी गन्ध-द्रव्यों एवं मालाओं से पूजा की ॥ ११ ॥

राजा ने उस आश्चर्यमयी घटना से अपने हृदय में बहुत प्रसन्नता अनुभव की। तथा उस भाले की रक्षा व्यवस्थित कर नगर मे प्रवेश किया ॥ १२ ॥

बाद में उस भाले को घेरकर वहाँ एक चैत्य बनवा दिया, स्तूप तथा एक विहार भी वहाँ बनवाया गया ॥ १३ ॥

विहार निर्माण–राजा ने यह विहार तीन वर्षों में पूर्णतः निर्मित कराया। अन्त में इस विहार-महोत्सव के प्रसङ्ग में भिक्षुसङ्घ को एकत्र किया ॥ १४ ॥

उस विहार-महोत्सव में एक लाख भिक्षु तथा नब्बे हजार (९०,०००) भिक्षुणियाँ आकर एकत्र हुईं ॥ १५ ॥

उस भिक्षु समागम में राजा ने कहा–"भन्ते! मैंने सङ्घ को देना भूलकर एक मरिच खा ली थी, उसी के दण्ड (प्रायश्चित) स्वरूप में यह सुन्दर मरिचवट्टि-विहार बनवाया है। इसके साथ ही एक चैत्य भी बनवा दिया है ॥ १६-१७ ॥

इसे सङ्घ स्वीकार करे।" यों हाथ में दक्षिणा-जल लेकर फिर उसे भूमि पर गिराकर उसने प्रसन्न मन से यह विहार भिक्षुओं को दान कर दिया ॥ १८ ॥

फिर उसने उस विहार के चारों तरफ एक विशालमण्डप बनवाकर उसमें बैठा कर सङ्घ को महादान (भोजन) कराया ॥ १९ ॥

पादे पितट्ठपेत्वापि जले अभयवापिया ।
कतो सो मण्डपो आसि सेसोकासे कथाव का ॥ २० ॥

सत्ताहं अन्नपानादिं दत्वान मनुजाधिपो ।
अदा सामणकं सब्बं परिक्खारं महारहं ॥ २१ ॥

अहूसतसक्षस्सग्घो परिक्खारो स आदितो ।
अन्ते सहस्सग्घको, सब्बं सङ्घो च तं लभि ॥ २२ ॥

युद्धे दाने च सूरेन सूरिना रतनत्तये ।
पसन्नामलचितेन सासनुज्जोतनत्थिना ॥ २३ ॥

रञ्ञा कातञ्ञुजा तेन थूपकारापनादितो ।
विहारमहनन्तानि पूजेतुं रतनत्तयं ॥ २४ ॥

परिच्चत्तधनानेतथ अनग्घानि विमम्ञ्चय ।
सेसानि होन्ति एकाय ऊनवीसतिकोटियो ॥ २५ ॥

[W. G. 212] भोगा दसड्ढविधदोसदूसिता[1] पि
पञ्ञाविसेससहितेहि जनेहि पत्ता ।
होनेतेव पञ्चगुणयोगगहीतसारा
इच्चस्स सारगहणे मतिमा यतेय्या ति[2] ॥ २६ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

मरिवट्टिविहारमहो नाम

छब्बीसतिमो परिच्छेदो

---

1. छन्दोभङ्ग है । यह चतुर्दशाक्षरपंक्ति छन्द है; जबकि इस पंक्ति में तेरह अक्षर हो रहे हैं ।
2. वसन्ततिलका छन्द है ।

इस मण्डप को बनवाते समय स्थानविस्तार हेतु अभयवापी के जल में भी खम्भे गाड़े गये थे, बाकी स्थानों की तो चर्चा ही क्या! ॥ २० ॥

राजा ने भिक्षुओं की अन्न-दानादि देकर उन्हें सन्तुष्ट किया । साथ ही श्रमणों (भिक्षुओं) को दी जानेवाली अन्य महँगी वस्तुएँ भी दान रूप में में दे दी ॥ २१ ॥

प्रारम्भ में वह परिष्कार एक लाख मुद्राओं का था, अन्त में वह एक हजार मुद्रा का रह गया । यह सब सङ्घ ने प्राप्त किया ॥ २२ ॥

युद्ध में शूर, दान में वीर, त्रिशरण के प्रति श्रद्धालु, प्रसन्न एवं निर्मलचित्त तथा शासन की अभिवृद्धि की कामना करने वाले कृतज्ञ राजा ने बुद्धशासन को प्रकाशित करने के लिये ॥ २३ ॥

स्तूप-निर्माण कार्य से प्रारम्भ कर विहार-पूजा के कार्य तक, त्रिरत्न-सत्कार हेतु दिये गये अमूल्य वस्त्रों के अतिरिक्त ॥ २४ ॥

अन्य जो कुछ भी त्याग किया वह सङ्कलन करने पर उन्नीस करोड़ (१९,००,००,०००) मुद्रा का होता है ॥ २५ ॥

यद्यपि सभी भोग पाँच प्रकार के दोषों से (अग्नि, जल, चौर आदि से नष्ट होने के भय से) दूषित हैं, तथा वही यदि विशिष्टप्रज्ञासम्पन्न विवेकी पुरुषों द्वारा प्राप्त किये जायँ तो ये ही भोग पाँच गुणों (जनता में सम्मान, कीर्ति, यश, गृहस्थ धर्म के सञ्चालन में सरलता तथा मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति) से युक्त भी हो जाते हैं । अतः बुद्धिमान् पुरुष सार-ग्रहण के लिये प्रयास करे ॥ २६ ॥

साधुजनों के हृदय में धर्म के श्रद्धा एवं उत्साह के संवर्धन के लिये रचित महावंश ग्रन्थ में

मरिचवट्टिविहारनिर्माण वर्णन नामक

छब्बीसवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

२७.

सत्तवीसतिमो परिच्छेदो

(लोहपासादमहो)

[W. G. 213] ततो राजा विचिन्तेसि विस्सुतं सुस्सुतं सुतं ।
महापञ्ञो सदापञ्ञो पञ्ञाय कतनिच्छयो ॥ १ ॥

दीपप्पसादको थेरो राजिनो अय्यकस्स मे ।
एवं किराह : "नत्ता में दुट्ठगामणि भूपति ॥ २ ॥

महापञ्ञो महाथूपं सोममालिं मनोरमं ।
वासं हत्थसतं उच्चं कारेस्सति अनागते ॥ ३ ॥

पुन उपोसथागारं नानारतनमण्डितं ।
नवभूमिं करित्वान लोहपासादमेव च" ॥ ४ ॥

इति चिन्तिय भूमिन्दो लिखित्वेवं ठपापितं ।
पेक्खापेन्तो राजगहे ठितं एव करण्डके ॥ ५ ॥

सोवण्णपत्तं लद्धान लेखं तत्थ अवाचयि ।
"छत्तिंससतवस्सानि अतिक्कम्म अनागते ॥ ६ ॥

काकवण्णसुतो दुट्ठगामणी मनुजाधिपो ।
इदं चिदं च एवं च कारेस्सती" ति वाचितं ॥ ७ ॥

सुत्वा हट्ठो उदानेत्वा अप्फोटेसि महीपति ।
ततो पातो व गन्त्वान महामेघवनं सुभं ॥ ८ ॥

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

(लौहप्रासादनिर्माणवर्णन)

पूर्व राजा के लेख– तब उस महाप्राज्ञ, सदाप्राज्ञ राजा (दुष्ट ग्रामणी) ने उस बात पर विचार किया, जो लोक में बहुत प्रसिद्ध हो चुकी थी, जन-जन के मुख से सुनी जा रही थी, अतः उसकी प्रामाणिकता में भी कोई सन्देह नहीं था कि महापुण्यवान्, सदैव पुण्यकर्मरत, महास्थविर ने मेरे पितामह से कहा था–॥ १-२ ॥

"तुम्हारा नाती महाप्राज्ञ राजा दुष्टग्रामणी भविष्य में ऐसे रम्य सोणमालि नामक स्तूप का निर्माण करायगा जो दो हजार हाथ ऊँचा होगा; उसी के साथ ही वह नानारत्नमण्डित उपोसथागार एवं एक लौहप्रासाद का भी निर्माण करायगा।" इस पर विचार कर राजा ने इस निर्माण के विषय में, अपने मन में, दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ ३-४॥

यह सोचकर पूर्व राजा ने इसी आशय का पत्र लिखवाकर करण्डक (छाबड़ी) में सुरक्षित रखवा दिया। इसी स्वर्णपत्र की राजप्रसाद में खोज कराकर, राजा ने पढ़वाया ॥ ५ ॥

वह सुवर्णपत्र खोजने पर मिल गया। उसमें लिखित आशय जब पढ़ा गया तो उसमें लिखा था–"आज से एक सौ छत्तीस वर्ष (१३६) के बाद भविष्य में काकवर्णतिष्य का पुत्र राजा दुष्टग्रामणी यह नवनिर्माण करायगा" ॥ ६-७ ॥

राजा ने उस पत्र का आशय सुनकर अत्यधिक हर्षमय उद्गार प्रकट किये। तथा दूसरे दिन प्रातः ही उठकर वह पवित्र महामेघवनोद्यान गया ॥ ८ ॥

[W. G. 214] सन्निपातं कारयित्वा भिक्खुसङ्घस्स अब्रवि ।
"विमानतुल्यं पासादं कारयिस्सामि वो अहं ॥ ९ ॥

दिब्बविमानं पेसेत्वा तदालेखं ददाथ मे ।"
भिक्खुसङ्घो विसज्जेसि अट्ठ खीणासवे तहिं ॥ १० ॥

कस्सपमुनिनो काले असोको नाम ब्राह्मणो ।
अट्ठ सलाकभत्तानि सङ्घस्स परिणामिय ॥ ११ ॥

वीरणिं नाम दासिं सो "निच्चं देही" ति अरप्पयि ।
दत्वा सा तानि सक्कच्चं यावजीवं ततो चुता ॥ १२ ॥

आकासट्ठविमानम्हि निब्बत्ति रुचिरे सुभा ।
अच्छरानं सहस्सेन सदासि परिवारिता ॥ १३ ॥

तस्सा रतनपासादो द्वादस योजनुग्गतो ।
योजनानां परिक्खेपो चत्तालीसं च अट्ठ च ॥ १४ ॥

कूटागारसहस्सेन मण्डितो नवभूमिको ।
सहस्सगब्भसम्पन्नो रञ्जमानो चतुम्मुखो ॥ १५ ॥

सहस्ससङ्घसंयुत्ति सीहपञ्जरनेत्तवा ।
सकिङ्किणीकजालाय सज्जितो वेदिकाय च ॥ १६ ॥

अम्बलट्ठिकपासादो तस्स मज्झे सुभो अहु ।
समन्ततो दिस्समानो पग्गहीतधजाकुलो ॥ १७ ॥

[W. G. 215] तावतिंसं च गच्छन्ता दिस्वा थेरा तमेव ते ।
हिङ्गुलीना तदा लेखं लेखयित्वा पटे ततो ॥ १८ ॥

निवत्तित्वान आगन्त्वा पटं सङ्घस्स दस्सयुं ।
सङ्घो पटं गहेत्वा तं पाहेसि राजसन्तिकं ॥ १९ ॥

वहाँ उसने भिक्षुसङ्घ को एकत्र कर कहा—"मैं आप लोगों के लिये दिव्य विमान के समान प्रासाद (महाविहार) बनवाऊँगा । किसी को त्रायस्त्रिंश लोक के मार्ग में पड़ने वाले दिव्य विमान भेज कर उस विमान का चित्र (नक्शा) मँगवा दें ।" यह सुनकर भिक्षुसङ्घ ने आठ क्षीणास्रव भिक्षुओं को वहाँ भेजा ॥ ९-१० ॥

दिव्य विमान का चित्र—पूर्व बुद्ध काश्यप मुनि के समय अशोक नामक किसी ब्राह्मणने सङ्घ के लिये प्रतिदिन आठ शलाका भक्त (निमन्त्रण पत्र के माध्यम से सङ्घ को दिया जानेवाला भोजन) का सङ्कल्प किया ॥ ११ ॥

उसने वैसा सङ्कल्प कर, उसके लिये व्यय होने वाला धन अपनी वीरणी नामक दासी को "इससे प्रतिदिन सङ्घ को शलाका-भक्त देती रहना"—कह कर, दिया । वह दासी जीवनपर्यन्त सङ्घ को सत्कारपूर्वक यह दान करती हुई अन्त में यहाँ (मनुष्यलोक) से च्युत हो गयी ॥ १२ ॥

वह (दासी) यहाँ से च्युत हो कर रम्य एवं पवित्र आकाशस्थ विमान में उत्पन्न होकर वहाँ वह हजारों अप्सराओं से घिरी रहती थी ॥ १३ ॥

उस का वह रत्न-प्रासाद (विमान) बारह योजन ऊँचा था, एवं अड़तालीस (४८) योजन विस्तृत था ॥ १४ ॥

वह प्रासाद नौ तलों (मञ्जल) वाला, हजारों कूटागारों से मण्डित (शोभायमान) था । एक हजार कमरों से युक्त, प्रसन्नतादायक, उसके द्वार चारों दिशाओं में खुलते थे ॥ १५ ॥

उस प्रासाद में सहस्रों शङ्खमालाएँ लगी हुई थीं । सिंह की देह के समान उसमें खिड़कियाँ लगी थीं । उसमें सब तरफ छोटी-छोटी घण्टियाँ लगी थीं जो वायु से हिलने पर मधुर ध्वनि करती थीं । वह उँची वेदी पर बना हुआ था ॥ १६ ॥

उसके बीच में एक अम्बलट्ठिक नाम से प्रासाद भी बना हुआ था, वह दूर-दूर से भी लोगों को दिखायी देता था । उसमें नाना प्रकार की रङ्ग-विरङ्गी ध्वजाएँ लटकी रहती थीं ॥ १७ ॥

त्रायस्त्रिंश लोक की तरफ जाते हुए उन आठ (८) क्षीणास्रव भिक्षुओं ने उस प्रासाद को देखा । उन्होंने उसी प्रासाद का चित्र किसी वस्त्र पर हिङ्गुल (गेरु) से लिख कर उतार लिया ॥ १८ ॥

उन भिक्षुओं ने वहाँ से लौटकर वह चित्र सङ्घ को सौंप दिया । तब सङ्घ ने वह चित्रपट लेकर राजा के पास भिजवा दिया ॥ १९ ॥

तं दिस्वा सुमनो राजा आगम्मारामभुत्तमं ।
आलेखतुल्यं कारेसि लोहपासादमुत्तमं ॥ २० ॥

कम्मारम्भनकाले वा चतुद्वारम्हि चागवा ।
अट्ठ सतसहस्सानि हिरञ्ञानि ठपापिय ॥ २१

पुटसहसवत्थानि द्वारद्वारे ठपापिय ।
गुड़-तेल-सक्कर-मधुपूरा च नेकचाटियो ॥ २२ ॥

"अमूलकं कम्ममेत्थ न कातब्बं" ति भासिय ।
अग्घापेत्वा कतं कम्मं तेसं मूलं अदापयि ॥ २३ ॥

हत्थसतं हत्थसतं आसि एकेकपस्सतो ।
उच्चतोतत्तको येव पासादो सो चतुम्मुखो ॥ २४ ॥

तस्मिं पासादसेट्ठस्मि अहेसुं नव भूमियो ।
एकेकिस्सा भूमिया च कूटागारसतानि च ॥ २५ ॥

कूटागारानि सब्बानि सज्झुना खचितानहुं ।
पवाळवेदिका तेसं नानारतनभूसिता ॥ २६ ॥

[W. G. 216] नानारतनचित्तानि तेसं पदुमकानि पि ।
सज्झुकिङ्किणिका पन्तिपरिक्खित्ता च ता अहुं ॥ २७ ॥

सहस्सं तत्थ पासादे गब्भा आसुं सुसङ्खता ।
नानारतनखचिता सीहपञ्जरभूसिता ॥ २८ ॥

नारीवाहनयानं तु सुत्वा वेस्सवणस्स सो ।
तदाकारं अकारेसि मज्झे रतनमण्डपं ॥ २९ ॥

सीह-व्यग्धादिरूपेहि देवतारूपकेहि च ।
अहु रतनमयेहेस थम्भेहि च विभूसितो ॥ ३० ॥

उस चित्र को देख कर राजा प्रसन्न हुआ । उसने उसी चित्र के अनुसार उत्तम लौहप्रासाद बनवाया ॥ २० ॥

प्रासादनिर्माण– प्रासाद-निर्माण का प्रारम्भ करते समय ही उस त्यागी राजा ने उस के चारों द्वारों पर आठ-आठ हजार स्वर्ण-मुद्राएँ रखवा दी थीं ॥ २१ ॥

हजार-हजार वस्त्र चारों द्वारों पर रखवा दिये । इसी तरह गुड़, तैल, शर्करा, एवं मधु से भरी अनेक चाटियाँ (घड़े) रखवा दी थीं ॥ २२ ॥

और उसने आदेश दे दिया था–"यहाँ कोई भी कार्य विना पारिश्रमिक (मूल्य महनताना) दिये न कराया जाय ।" (अतः) उसने विना कार्य पूर्ण हुए ही (कार्य का अनुमान लगाकर ही) पारिश्रमिक बाँट दिया ॥ २३ ॥

वह प्रासाद एक-एक तरफ से सौ-सौ हाथ ऊँचा था । इसी तरह चारों तरफ से उँचाई लिये हुए था ॥ २४-२५ ॥

उस सुन्दर प्रासाद की नौ (९) मञ्जिलें (भूमियाँ) थीं तथा उनकी वेदिकाएँ प्रवाल (मूंगा) से बनायी गयी थीं । साथ ही उसमें अनेक रत्न रड़े हुए थे ॥ २६ ॥

उन वेदिकाओं के कमल नानारत्नों से अलंकृत थे । चाँदी की बनी छोटी-छोटी घण्टियाँ भी उनमें चारों तरफ लगी हुई थीं ॥ २७ ॥

उस प्रासाद में हजारों प्रकोष्ठ (कमरे) सुसंस्कृत रूप से बनाये गये थे । वे सभी नाना रत्नों से जटित एवं सिंह-पञ्जर के समान लम्बे चौड़े थे ॥ २८ ॥

राजा ने, वैश्रवण महाराज (कुबेर) के विमान में बने नारीवाहन यान के विषय में जानकर उसी के समान इस प्रासाद में भी, एक रत्नमण्डप बनवाया ॥ २९ ॥

उस रत्नण्डप में सिंह व्याघ्र आरदि के सुन्दरचित्र तथार इसी तरह अनेक देवताओं के भी सुन्दर सुन्दर चित्र (आकृति) भी खिंचवाये ॥ ३० ॥

मुत्ताजालपरिक्खेपो मण्डपन्ते समन्ततो ।
पवाळवेदिका चेत्थ पब्बे वुत्तविधा अरहु ॥ ३१ ॥

सत्तरतनचित्तस्स वेमज्झे मण्डपस्स तु ।
रुचिरो दन्तपल्लङ्को हि रम्मो फळिकसन्थरो ॥ ३२ ॥

दन्तमयापस्सयेत्थ सुवण्णमयसूरियो ।
सज्झुमयो चन्द्रिमा च तारा च मुत्तकामया ॥ ३३ ॥

नानारतनपदुमानि तत्थ तत्थ यथारहं ।
जातकानि च तत्थेव आसुं सोण्णलतन्तरे ॥ ३४ ॥

महग्घपच्चत्थरणे पल्लङ्के तिमनोहरे ।
मनोहरासि ठपिता रुचिरा दन्तवीजनी ॥ ३५ ॥

पवाळपादुकं तत्थ फलिकम्हि पतिट्ठितं ।
सेतच्छत्तं सज्झुदण्डं पल्लङ्कोपरि सोभथ ॥ ३६ ॥

[W. G. 217] सत्तरतनमयानेत्थ अट्ठ मङ्गलिकानि च ।
चतुप्पदानं पन्ती च मणिमुत्तन्तरा अहुं ॥ ३७ ॥

रजतानं च घण्टानं पन्ति छत्तन्तलम्बिता ।
पासादछत्तपल्लङ्कमण्डपासुं अनग्घिका ॥ ३८ ॥

महग्घं पञ्ञापेसि मञ्चपीठं यथारहं ।
तत्थेव भुम्मत्थरणं कम्बलं च महारहं ॥ ३९ ॥

आचामकुम्भी सोवण्णा उळुङ्को च अहू तहिं ।
पासादपरिभोगेसु सेसेसु च कथ व का ! ॥ ४० ॥

चारुपाकारपरिवारो सो चतुद्वारकोट्ठको ।
पासादो लङ्कततो सोभि तावतिंससभा विय ॥ ४१ ॥

इस मण्डप के चारों तरफ भी मोतियों की झालरें (माला) लटकायीं गयी थीं । इस की वेदिकाएँ पहले कहे अनुसार (प्रवाल से) ही निर्मित करायी गयी थीं ॥ ३१ ॥

सातों प्रकार के रत्नों से विभूषित उस मण्डप के मध्य में स्फटिक-शिलाएँ बिछायी गयी थीं । उनके बीच हाथीदाँत का बना सुन्दर सिंहासन बनवाया ॥ ३२ ॥

हाथी-दाँत के बाच-बीच में सोने का बना सूर्य, चान्दी का बना चन्द्रमा तथा मोतियों से बना तारासमूह यथास्थान अङ्कित था ॥ ३३ ॥

साथ ही, उसमें नानारत्नों से बने कमल के फूल भी जहाँ-तहाँ यथायोग्य लगाये गये थे । वहां कहीं कहीं सुवर्ण-लताओं के बीच जातककथाएँ भी अङ्कित करायी गयी थीं ॥ ३४ ॥

अति मूल्यवान्, एवं अतिमनोहर सिंहासन पर विछे हुए महार्घ आस्तरण (बिछोने) पर हाथीदाँत का बना सुन्दर पङ्खा रखा हुआ था ॥ ३५ ॥

फलक (छोटी वेदिका) पर मूँगे से बनी खड़ाउँ (पादुका) रखी हुई थी । इसी तरह चान्दी का बना श्वेत छत्र भी उस पर्यङ्क (सिंहासन) पर भी शोभित था ॥ ३६ ॥

इसमें, सातों रत्नों से निर्मित आठ माङ्गलिक (कदली स्तम्भ, जलपूर्ण घट, शस्त्रयुक्त योद्धा, सिर पर घड़ा रखे हुए नारी आदि) चित्र लता शुभ माने जाने वाले चतुष्पदों (सिंह,वृषभ, गज आदि पसुओं) के चित्र भी मणि एवं मुक्ताओं से बने हुए थे ॥ ३७ ॥

उसमें रखे छत्र में चान्दी की बनी घण्टियों की पंक्तियाँ लगी हुई थीं । यों उस मण्डप के छत्र,पलङ्ग, एवं मण्डप सभी अनमोल थे ॥ ३८ ॥

राजा ने उस मण्डप में महार्घ मञ्चपीठ, एवं बिछायत तथा कम्बल यथास्थान रखवाये ॥ ३९ ॥

जब उस प्रासाद के भोजनालय में भात निकालने की करछुल (=दर्वी, आचामकुम्भी) एवं उळुङ्क (पैर धोने का जलप्तार) भी सुवर्णनिर्मित थे तो प्रासाद में काम में आने वाले उपकरणों की महर्घता की तो बात ही क्या की जाय! ॥ ४० ॥

यों वह प्रासाद सुन्दर प्रकार से परिवृत था । उसके चारों ही दिशाओं में चार विशाल द्वार थे । उसमें हजारों कमरे थे । इस तरह सर्वथा अलंकृत वह प्रासाद देखने वालों को त्रायस्त्रिंश देवों के सभागार के तुल्य लगता था ॥ ४१ ॥

तम्बलोहिट्ठकाहेसो पासादो छादितो अहु ।
'लोहपासाद' बोहारो तेन तस्स अजायथ ॥ ४२ ॥

निट्ठितो लोहपासादे सो लङ्घं सन्निपातयि ।
राजा, सङ्घो सन्निपति मरिचवट्टिमहे विय ॥ ४३ ॥

पुथुज्जना व अट्ठंसु भिक्खू पठमभूमियं ।
तेपिटका दुतियाय, सोतापन्नादयो पन ॥ ४४ ॥

एकेकायेव अट्ठंसु ततियादिसु भूमिसु ।
अरहन्तो व अट्ठंसु उद्धं चतुसु भूमिसु ॥ ४५ ॥

सङ्घस्स दत्वा पासादं दक्खिणम्बुपुरस्सलं ।
राजा दत्थ महादानं सत्ताहं पुब्बकं विय ॥ ४६ ॥

[W. G. 218] पासादहेतु चत्तानि महाचागेन राजिना ।
अनग्घानि ठपेत्वान अहेसुं तिंस कोटियो ॥ ४७ ॥

निस्सारे धननिचये विसेससारं,
येदान् परिगणयन्ति साधुपुञ्ञा ।
ते दान् विपुलमपेतचित्तसङ्गा ,
सत्तानं हितपरमा ददन्ति एवं[1] ॥ ति ॥ ४८ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कतेमहावंसे

लोहपासादमहो नाम

सत्तवीसतिमो परिचेछेदो

****

1. पृथ्वी छन्द ।

क्योंकि यह प्रासाद ताम्रवर्ण की लौह धातु से बनी ईटों से बनवाया गया था, अतः यह लोक में 'लौहप्रासाद' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया ॥ ४२ ॥

राजा द्वारा भिक्षुसङ्घ को महादान–लौहप्रासाद के निर्मित होने पर, राजा ने भिक्षुसङ्घ को उसी तरह एकत्र किया जेसे मरिचवट्टिविहार के उत्सव के समय किया था ॥ ४३ ॥

पृथग्जन (साधारण) भिक्षु प्रथम भूमि (मञ्जिल) में बैठे । त्रिपिटकधर भिक्षु द्वितीय भूमि में, इसी तरह स्रोतआपन्न आदि भिक्षु एक एक ऊपर की भूमि में बैठते चले गये । ऊपर की चार भूमियों में केवल अर्हत् भिक्षु ही विराजमान हुए ॥ ४४-४५ ॥

सङ्घ के एकत्र होने पर, राजा ने दान-सङ्कल्प के साथ दक्षिणा-जल छोड़ कर वह नवनिर्मित प्रासाद सङ्घ को दान कर दिया । फिर सप्ताहपर्यन्त राजा ने सङ्घ को महादान भोजन किया ॥ ४६ ॥

राजा ने इस प्रासाद-निर्माण के लिये जो व्यय (त्याग) किया, उसमें महार्घ वस्तुओं को छोड़कर तीस करोड़ (३0.00.00.000) मुद्राएँ व्यय कीं ॥ ४७ ॥

जो प्रज्ञावान् पुरुष समझते हैं कि इस तुच्छ धन-संग्रह में कुछ दान करना विशेष सारयुक्त है, वे ही प्राणियों के लिये, निःस्पृह मन से, अधिक से अधिक दान करते हैं ॥ ४८ ॥

साधुजन के हृदय में धर्म के परिति श्रद्धा एवं उत्साह के संवर्धन हेतु ग्रथित महावंस ग्रन्थ में

लौहप्रासादनिर्माण नामक

सत्ताईसवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

२८.

अट्ठवीसतिमो परिच्छेदो

(महाथूपसाधनलाभो)

[W. G. 219] ततो सो सतसहस्सं विस्सज्जेत्वा महीपति ।
कारापेसि महाबोधिपूजं सूळारमुत्तमं ॥ १ ॥

ततो पुरं पविसन्तो थूपट्ठाने निवेसितं ।
पस्सित्वान सिलायूपं सरित्वा पुब्ब सुतिं ॥ २ ॥

"कारेस्सामि महाथूपं" इति हट्ठो महातलं ।
आरुय्ह भत्तं भुञ्जित्वा सयितो इति चिन्तयि ॥ ३ ॥

"दमिळे मद्दमानेन लोको" यं पीळतो मया ।
न सक्का बलिमुद्धत्तुं, तं वज्जिय बलिं अहं ॥ ४ ॥

कारियन्तो महाथूपं कथं धम्मेन इट्ठका ।
उप्पादेस्सामि" इच्चेवं चिन्तयन्तस्स चिन्तितं ॥ ५ ॥

छत्तम्हि देवताजानि, ततो कोलाहलं अहु ।
देवेसु, ञत्वा तं सक्को विस्सकम्मानमब्रवि ॥ ६ ॥

"इट्ठकत्थं चेतियस्स राजा चिन्तेसि गामणी ।
गन्त्वा पुरा योजनम्हि गम्भीरनदियन्तिके ॥ ७ ॥

मापेहि इट्ठकं तत्थ" इति सक्केन भासितो ।
विस्सकम्मो इधागम्म मापेसि तत्थ इट्ठका ॥ ८ ॥

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

(महास्तूपनिर्माण में साधन-संग्रह)

महाबोधिपूजा—पुनः राजा ने एक लाख मुद्रा व्यय कर, उत्तम रीति से महाबोधिपूजा कराने की व्यवस्था की ॥ १ ॥

महास्तूप-निर्माण का निश्चय—तत्पश्चात् राजा ने नगर में प्रवेश करते हुए (भावी) स्तूप के स्थान पर गड़ा हुआ शिला स्तम्भ देखकर पहले की बातों का स्मरण किया ॥ २ ॥

उस स्मृति से उसने यहाँ महास्तूप-निर्माण का निश्चय किया । इस निश्चय से उसका चित्त हर्षविभोर हो गया । तब उसने प्रासाद की छत पर चढ़कर भोजन कर्म के बाद, लेटे-लेटे विचार किया ॥ ३ ॥

"द्रविड़ों पर आक्रमण के समय मैंने यहाँ की जनता को बहुत कष्ट दिये हैं । अतः मैं अब इनसे कर (बलि) नहीं लेपाउँगा । और बिना यह कर प्राप्त किये, मैं ईंट कहाँ से बनवाऊँगा ।" ॥ ४-५ ॥

देवता द्वारा ईंटों का निर्माण—यों विचार करते हुए राजा के विचार को राजा-सिंहासन के छत्र पर बैठे देवता ने मान लिया । इससे देवलोक में कोलाहल मच गया । इस कोलाहलको सुनकर देवराज इन्द्र ने विश्वकर्मा को बुला कर कहा— ॥ ६ ॥

"(लङ्का द्वीप का) राजा ग्रामणी स्तूपनिर्माण-हेतु ईंटों के लिये चिन्तित है । अतः तुम वहाँ जाकर गम्भीर नामक नदी के पास नगर से एक योजन दूर ईंटों का निर्माण कराओ ।" यों देवराज इन्द्र द्वारा आदिष्ट विश्वकर्मा ने यहाँ आकर ईंटों का निर्माण किया ॥ ७-८ ॥

[W. G. 220] पब्बते लुद्दको तत्थ सुनखेहि वनं अगा ।
गोधारूपेण दस्सेसि लुद्दकं भुम्मदेवता ॥ ९ ॥

लुद्दो तमनुबन्धन्तो गन्त्वा दिस्वान इट्ठका ।
अन्तरहिताय गोधाय इति चिन्तसि सो तहिं ॥ १० ॥

"कारेतुकामो किर नो महाथूपं महीपति ।
उपायनमिदं तस्स" इति गन्त्वा निवेदयि ॥ ११ ॥

तस्स तं वचनं सुत्वा पियं जनहितप्पियो ।
राजा कारेसि सक्कारं महन्तं तुट्ठमानसो ॥ १२ ॥

पुरा पुब्बुत्तरे देसे योजनत्तयमत्थके ।
आचारविट्ठिगामम्हि सोळसकरिसे तले ॥ १३ ॥

सुवण्णबीजानुट्ठिंसु विविधानि पमाणतो ।
विदत्थुक्कट्ठमानानि अङ्गुलिमानानि हेट्ठतो ॥ १४ ॥

सुवण्णपुण्णं तं भूमिं दिस्वा तङ्गामवासिका ।
सुवण्णपातियादाय गन्त्वा रञ्ञो निवेदयुं ॥ १५ ॥

पुरा पाचीनपस्सम्हि सत्त योजनमत्थके ।
गङ्गापारे तम्बपिट्ठे तम्बलोहं समुट्ठहि ॥ १६ ॥

तङ्गामिका तम्बलोहबीजं आदाय पाटिया ।
राजानमुपसङ्कम्म तमत्थं च निवेदयुं ॥ १७ ॥

पुब्बदक्खिणदेसम्हि पुरतो चतुयोजने ।
सुमनवापिगामम्हि उट्ठहिंसु मणी बहू ॥ १८ ॥

[W. G. 221] उप्पलकुरुबिन्देहि मिस्सके ते च गामिका ।
आदाय पाटिया येव गन्त्वा रञ्ञो निवेदयुं ॥ १९ ॥

व्याध द्वारा ईंटों की सूचना–किसी दिन कोई आखेटक (शिकारी) कुत्तों के साथ आखेट हेतु वन में गया । वहाँ उसे कोई भूमिदेवता गोह (गोधा) के रूप में दिखायी दिया ॥ ९ ॥

उस आखेटक को उस गोह का पीछा करते हुए (देवता द्वारा बनायी) वे ईंटें दिखायी दीं । उसी स्थान पर वह गोह छिप गयी । तब उस व्याध ने यह हितकारी बात सोची– ॥ १० ॥

"हमारा राजा जो महास्तूप बनवाना चाहता है उसकी सामग्री (ईंटें) तो यहाँ पड़ी हुई है । क्यों न चलकर राजा को इनकी सूचना दे दी जाय । यह उन के लिये उपहार (भेंट) स्वरूप होगी ।" यह सोचकर राजा को उस ने सूचना दे दी ॥ ११ ॥

जनहित को महत्त्व देने वाले राजा ने व्याध का वचन सुन कर सन्तुष्ट होते हुए व्याध का अत्यधिक सत्कार किया ॥ १२ ॥

सुवर्ण की उपलब्धि–नगर से पूर्व-उत्तर की दिशा में तीन योजन दूर बसे आचारविट्ठि ग्राम में सोलह करीष (एक माप) के विस्तृत प्रदेश में भिन्न भिन्न आकार के सुवर्ण-बीज (अङ्कुर) उत्पन्न हुए, वहाँ बड़े से बड़ा बीज एक बालिश्त ऊँचा था तो सबसे छोटो भी एक अङ्गुल ऊँचा था ॥ १४ ॥

इस भूमि को इस तरह सुवर्ण से भरी हुई देख कर उस ग्राम के निवासियों ने, एक स्वर्णपूर्ण पात्र लेकर, राजा को जाकर इसकी सूचना दी ॥ १५ ॥

ताम्र की उपलब्धि–इसी प्रकार नगर से पूर्व की तरफ सात योजन की दूरी पर गङ्गा नदी के पार, तम्बपिट्ठ में ताम्र धातु का संग्रह मिला ॥ १६ ॥

तम्बपिट्ठि के निवासियों ने इस ताम्र धातु के कुछ बीज (टुकड़े) ले जाकर, राजा को दिखाये ॥ १७ ॥

मणि-रत्नों की उपलब्धि–नगर के पूर्व-दक्षिण में नगर से चार योजन दूर सुमनवापी ग्राम के पास बहुत से मणिरत्न इकट्ठे दिखायी दिये ॥ १८ ॥

उस गाँव के निवासियों ने नीले रत्नों से मिश्रित मणियों का पात्र भर कर राजा के सामने ले जाकर रखा और इस मणिरत्नकोष के देखने की बात राजा से कही ॥ १९ ॥

पुरतो दक्खिणे पस्से अड्ढयोजनमत्थके ।
अम्बट्ठकोललेणम्हि रजतं उपपज्जथ ॥ २० ॥

नगरवाणिजो एको आदाय सकटे बहू ।
मलया सिङ्गिवेरादिं आनेतुं मलयं गतो ॥ २१ ॥

लेनस्स अविदूरम्हि सकटानि ठपापिय ।
पतोददारूनिच्छन्तो आरूळहो तं महीधरं ॥ २२ ॥

चाटिप्पमाणेकपक्कं पक्कभारेन नामितं ।
दिस्वा पनसयट्ठिं च पासाणट्ठं च तं फलं ॥ २३ ॥

वण्टे तं वासिया छेत्वा "दस्सामग्गं" ति चिन्तिय ।
कालं घोसेसि सद्धाय, चत्तारो नासवागमुं ॥ २४ ॥

हट्ठो सो ते भिवादेत्वा निसीदापिय सादरो ।
वासिया वण्टसामन्ता तचं छेत्वा अपस्सयं ॥ २५ ॥

लुञ्चित्वा वाटपुण्णं तं यूसं पत्तेहि आदिय ।
चतुरो यूसपूरे ते पत्ते तेसं अदासि सो ॥ २६ ॥

[W. G. 222] ते तं गहेत्वा पक्कामुं, कालं घोसेसि सो पन ।
अञ्ञे खीणासवा थेरा चत्तारो तत्थ आगमुं ॥ २७ ॥

तेसं पत्ते गहेत्वा सो पनसमिञ्जाहि पूरिय ।
पादासि तेसं, पक्कामुं तयो, एको न पक्कमि ॥ २८ ॥

रजतं तस्स दस्सेतुं ओरोहित्वा ततो हि सो ।
निसज्ज लेनासन्नम्हि ता मिञ्जा परिभुञ्जथ ॥ २९ ॥

सेसा मिञ्जा वाणिजो पि भुञ्जित्वा यावदत्थकं ।
भण्डिकाय गहेत्वान सेसा थेरपदानुगा ॥ ३० ॥

रजत की उपलब्धि–नगर के दक्षिण पार्श्व में आठ योजन दूर, अम्बट्ठकोल लेण (गुफा) ग्राम में चान्दी की खान का पता चला ॥ २० ॥

एक व्यापारी मलय प्रदेश से अदरक (शृङ्गवेर) आदि वस्तुएँ लाने के लिये बहुत सी गाड़ियाँ लेकर मलय प्रदेश गया ॥ २१ ॥

उसने उस गुहा के कुछ ही दूर अपनी गाड़ियाँ ठहरायीं । वह बैलों के मार्ग निर्देशन हेतु लकड़ी का एक प्रतोद (चाबुक) लाने के लिये वहाँ पर्वत पर चढ़ा । वहाँ एक पका होने से नीचे लटक कर एक पत्थर पर टिका घड़े जितना बड़ा पनस (कटहल) का फल तथा एक पनसयष्टि को देखा ॥ २२-२३ ॥

उस फल को चक्कू के किनारे से काटकर "अग्रदान दूँगा"–यह सोच कर उसने श्रद्धापूर्वक घोषणा की । तब (उसे सुनकर) चार क्षीणास्रव भिक्षु वहाँ आये ॥ २४ ॥

प्रहृष्ट मन से उस व्यापारी ने उन भिक्षुओं को सादर बैठाकर, फल को छुरी से काटकर. उसके ऊपरी भाग की त्वचा को वासी(छुरे) से हटा कर ॥ २५ ॥

शिरोभाग को चक्रवत् काट कर उसमें से निकले यूष के चार भाग कर उसे चार पात्रों में भरकर उन चारों को वे यूषपूर्ण पात्र दिये ॥ २६ ॥

वे भिक्षु उन यूषपूर्ण पात्रों के लेकर चले गये । उस व्यापारी ने पुनः घोषणा की तो अन्य चार भिक्षु वहाँ आये ॥ २७ ॥

उनके पात्रों को भी उसने पनसयूष से भर दिया । तब उनमें तीन तो चले गये, एक नहीं गया ॥ २८ ॥

उस व्यापारी को वहाँ छिपा रजत (चाँदी) दिखाने के लिये वह उस पहाड़ पर चढ़कर उस पनस-मिञ्जा को खाने लगा ॥ २९ ॥

शेष पनसमिञ्जा का उन व्यापारियों ने पान किया । तथा अवशिष्ट को गठरी में बांध कर, ऊपर स्थविर की उपस्थिति का अनुमान करते हुए उसकी पदपंक्ति को देखते हुए वह व्यापारी ऊपर गया ॥ ३० ॥

गन्त्वान थेरं पस्सित्वा वेय्यावच्चं अकासि च ।
थेरो लेनदुवारेन तस्स मग्गं अमापयि ॥ ३१ ॥

"अञ्जसा इमिना त्वं पि गच्छिदानि, उपासक !"
थेरं वन्दिय सो तेन गच्छन्तो लेननमद्दस ॥ ३२ ॥

लेनद्वारम्हि ठत्वान पस्सित्वा रजतं पि सो ।
वासिय आहिनित्वान रजतं ति विजानिय ॥ ३३ ॥

गहेत्वेकं सज्झुपिण्डं गन्त्वान सकटन्तिकं ।
सकटानि ठपापेत्वा सज्झुपिण्डं तमादिय ॥ ३४ ॥

लहुं अनुराधपुरं आगम्म वरवाजिनो ।
दस्सेत्वा रजतं रञ्ञो तमत्थं च निवेदयि ॥ ३५ ॥

[W. G. 223] पुरतो पच्छिमे पस्से पञ्चयोजनमत्थके ।
उरुवेलपट्टने मुत्ता महामलकमत्तियो ॥ ३६ ॥

पवाळन्तरिका सट्ठिसकटा थलमोक्कमुं ।
केवट्टा ता समेक्खित्वा रासिं कत्वान एकतो ॥ ३७ ॥

पाटिया आदियित्वान मुत्ता सहपवाळका ।
राजानमुपसङ्कम्म तमत्थं पि निवेदयुं ॥ ३८ ॥

पुरतो उत्तरे पस्से सत्तयोजनमत्थके ।
पेळिवापिकगामस्स वापिपक्कन्तकन्दरे ॥ ३९ ॥

जयिंसु वालुकापिट्ठे चत्तारो उत्तमा मणी ।
निसदपोतप्पमाणा उम्मापुप्फनिभा सुभा ॥ ४० ॥

ते दिस्वा सुनखलुद्दो आगन्त्वा राजसन्तिकं ।
"एवरूपा मणी दिट्ठा मया" इति निवेदयि ॥ ४१ ॥

ऊपर जा कर स्थविर को देखकर उससे कर्त्तव्य पूछा । तब स्थविर ने गुफा का द्वार खुला छोड़ दिया और कहा ।। ३१

"उपासक! इसी मार्ग से तूँ भी चला जा ।" स्थविर को प्रणाम कर वह उस मार्ग से जा रहा था कि उसने वह गुफा देखी ।। ३२ ।।

गुफा के द्वार पर खड़े होकर उसने वहाँ एकत्र रजतराशि देखी । उसने कुल्हाड़ी से काट कर देखा, पहचाना कि यह रजत है ।। ३३ ।।

तब उसने उसमें से एक रजत-पिण्ड लेकर, गाड़ी के पास जाकर, गाड़ियाँ ठहराकर उस रजत-पिण्ड को उसमें रख कर ।। ३४ ।।

शीघ्र ही अच्छे जुते घोड़ों की गाड़ी पर सवार होकर अनुराधपुर में राजा के पास जाकर वह रजत-पिण्ड दिखाया और उस रजतराशि के स्थान की सूचना दी ।। ३५ ।।

मुक्ता एवं प्रवाल की उपलब्धि–नगर के पश्चिम तरफ पाँच योजन दूर उरुवेलपट्टन घाट पर आँवले के समान बड़े-बड़े मोती प्रवाल (मूँगा) मिश्रित से भरी हुई साठ गाड़ियाँ भरने योग्य नौकाएँ किनारे पर आकर उलट गयीं । केवटों ने उनको एकत्र (इकट्ठा) कर दिया ।। ३६-३७ ।।

साथ ही प्रवालमिश्रत मोतियों का एक पात्र भर राजा के सामने ले गये और उस को इन मोतियों की सूचना दी ।। ३८ ।।

चार अमूल्य मणियों की उपलब्धि–नगर के उत्तर पार्श्व में सात योजन दूर पेड़िवापिक ग्राम के तालाब (सरोवर) के समीप ।। ३९ ।।

बालू (रेत) पर चार उत्तम (श्रेष्ठ, अमूल्य) मणि चक्की के समान लम्बी-चौड़ी तथा उमा पुष्प के समान नीलवर्ण युक्त थी ।। ४0 ।।

उन्हें देख कर एक कुत्ते वाले आखेटक (शिकारी) ने राजा के पास जाकर सूचित किया कि मैंने अमुक स्थान पर ऐसी मणियाँ पड़ी हुई देखी हैं ।। ४१ ।।

इट्ठकादीनि एतानि महापुञ्ञो महीपति ।
महाथूपत्थमुप्पन्नानस्सोसि तदहेव सो ॥ ४२ ॥

यथानुरूपं सक्कारं तेसं कत्वा सुमानसो ।
ते एव रक्खिके कत्वा सब्बानि आहरापयि ॥ ४३ ॥

[W. G. 224] खेदं पि कायजमसय्हमचिन्तयित्वा,
पुञ्ञं पसन्नमनसोपचितं हि एवं ।
साधेहि साधनसतानि सुखाकरानि
तस्मा पसन्नमनसो व करेय्य पुञ्ञ"[1] ॥ ४४ ॥ ति ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे
महाथूपसाधनलाभो नाम
अट्ठवीसतिमो परिच्छेदो

---

1. वसन्ततिलका छन्द है ।

राजा द्वारा कृतज्ञताज्ञापन—उस महापुण्यशाली राजा ने जब इन ईंट आदि के विषय में सुना तो वह आश्चर्यचकित रह गया कि महास्तूप निर्माण हेतु आवश्यक सभी सामान एक ही दिन में अपने ही राज्य में, विना किसी प्रयास के, उपलब्ध हो गये ! ॥ ४२ ॥

प्रसन्नहृदय राजा ने उन सामग्रियों के सभी सूचनादाताओं का यथाविधि सम्मान कर उन सामग्रियों का उन्हीं लोगों को रक्षक (पहरेदार) बना दिया । फिर धीरे-धीरे उन सब सामानों को मँगा लिया ॥ ४३ ॥

असह्य शारीरिक कष्ट सहकर भी प्रसन्न मन से सञ्चित किया हुआ पुण्य सैकड़ों सुखदायी साधनों को उत्पन्न कर देता है । अतः सभी मनुष्यों को प्रसन्न हृदय से पुण्यकार्य हुए प्रयास करते रहना चाहिये ॥ ४४ ॥

साधुजनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह
संवर्धन हेतु ग्रथित इस महावंश ग्रन्थ में

स्तूपनिर्माणोपयोगी साधनों का उत्पादवर्णनात्मक

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद समाप्त

***

२९.

एकूनतिंसतिमो परिच्छेदो

(महाथूपारम्भो नाम)

[W.G.225] एवं समत्ते सम्भारे वेसाखे पुण्णमासियं ।
पत्ते वेसाखनक्खत्ते महाथूपत्थमारभि ॥ १ ॥

हारेत्वा हि तहिं यूपं थूपट्ठानं अखानयि ।
सत्तहत्थे महीपालो थिरं कातुमनेकधा ॥ २ ॥

योधेहि आहरापेत्वा गुळपासाणके तहिं ।
कूटेहि पहरापेत्वा पासाणे चुण्णिते अथ ॥ ३ ॥

चम्मावनद्धपादेहि महाहत्थीहि मद्दयि ।
भूमिया थिरभावत्थं अत्थानत्थविचक्खणो ॥ ४ ॥

आकासगङ्गापतितट्ठाने सतततिन्तके ।
मत्तिका सुखुमा तत्थ समन्ता तिंस योजने ॥ ५ ॥

नवनीतमत्तिका तेसा सुखुमत्ता पवुच्चति ।
खीणासवा सामणेरा मत्तिका आहरुं ततो ॥ ६ ॥

मत्तिका अत्थरापेसि तत्थ पासाणकोट्टिमे ।
इट्ठका अत्थरापेसि मत्तिकोपरि इस्सरो ॥ ७ ॥

[W.G.226] तस्सोपरि खरसुधं कुरुविन्दं ततोपरि ।
तस्सोपरि अयोजालं मरुम्बं तु ततोपरि ॥ ८ ॥

उनतीसवाँ परिच्छेद

(महास्तूप-निर्माणारम्भ)

स्तूपनिर्माण—यों, स्तूपनिर्माण में उपयोग एवं आवश्यक सभी साधनों के उपलब्ध हो जाने पर, वैशाख पूर्णिमा के दिन वैशाख नक्षत्र के आने पर, राजा ने महास्तूप निर्माण का कार्य आरम्भ किया ॥ १ ॥

राजा ने, स्तूप का यूप (खम्भा) मँगवा कर, उसे सर्व प्रकार से सुदृढ़ करने हेतु, सात हाथ गहरा गड्ढा खुदवाया ॥ २ ॥

वहाँ अपने योद्धाओं से गोल पत्थर मँगवाकर, उन्हें हथौड़ों से खण्ड-खण्ड करवा कर, उस उचितानुचितज्ञ राजा ने भूमि की स्थिरता के लिये उन प्रस्तर-खण्डों को, हाथियों के पैरों में चमड़ा बन्धवाकर, उनसे दबवाया ॥ ३-४ ॥

आकाशगङ्गा के गिरने के स्थान के चारों ओर तीस योजन तक के सदैव आर्द्र रहने वाले स्थान की मिट्टी बहुत ही उपयोगी होने के कारण, 'मक्खन मिट्टी' (चिकनी मिट्टी) के नाम से प्रसिद्ध थी । क्षीणास्रव श्रामणेर जाकर वहाँ से मिट्टी लाये ॥ ५-६ ॥

राजा ने पत्थर के चबूतरे पर मिट्टी बिछवायी । मिट्टी के ऊपर ईंटें ॥ ७ ॥

उन पर गीली मिट्टी, उसके ऊपर कुरुविन्द (मृदु प्रस्तर), उस पर लोहे का जाल ॥ ८ ॥

आहटं सामणेरेहि हिमवन्ता सुगन्धकं ।
सन्थरापेसि भूमिन्दो फलिकं तु ततोपरि ॥ ९ ॥

सिलायो सन्थरापेसि फलिकासन्थरोपरि ।
सब्बत्थ मत्तिका किच्चे नवनीतव्हया अहु ॥ १० ॥

निय्यासेन कपित्थस्स सन्नीतेन रसोदके ।
अट्ठङ्गुलं बहलतो लोहपत्तं सिलोपरि ॥ ११ ॥

मनोसिलाय तिलतेलसन्नीताय ततोपरि ।
सत्तङ्गुलं सज्झुपट्टं सन्थारेसि रथेसभो ॥ १२ ॥

महाथूपपतिट्ठानट्ठाने एवं महीपति ।
कारेत्वा परिकम्मानि विप्पसन्नेन चेतसा ॥ १३ ॥

आसाळ्हसुक्कपक्खस्स दिवसम्हि चतुद्दसे ।
कारेत्वा भिक्खुसङ्घस्स सन्निपातं इदं वदि ॥ १४ ॥

"महाचेतियअत्थाय भदन्ता मङ्गलिट्ठकं ।
पतिट्ठपेस्सं स्वे, एत्थ सब्बो सङ्घो समेतु नो ॥ १५ ॥

बुद्धपूजापयोगेन महाजनहितत्थको ।
महाजनो पोसथिको गन्धमालादि गण्हिय ॥ १६ ॥

महाथूपपतिट्ठानट्ठानं यातु सुवे" इति ।
चेतियट्ठानभूसाय अमच्चे च नियोजयि ॥ १७ ॥

[W.G.227] आणापिता नरिन्देन मुनिनो पियगारवा ।
अनेकेहि पकारेहि ते तं ठानं अलङ्करु ॥ १८ ॥

नगरं सकलं चेव मग्गं चेव इधागतं ।
अनेकेहि पकारेहि अलङ्कारयि भूपति ॥ १९ ॥

तब उस पर श्रामणेरों द्वारा हिमालय से लाया सुगन्धित मरुम्ब बिछाया तथा उसके ऊपर स्फटिक ॥ ९ ॥

स्फटिक के बिछाने के बाद उस पर सर्वत्र वही मक्खन-मिट्टी बिछवायी गयी ॥ १० ॥

राजा ने शिलाओं पर रसोदक में मिले हुए कपित्थ के गोंद से, आठ अंगुल मोटा लोहे का पत्र बिछवाया ॥ ११ ॥

उस पर तिल के तैल में मिली हुई मैनसिल की सहायता से सात अङ्गुल मोटा चाँदी का पत्र बिछवाया ॥ १२ ॥

शिलान्यास का सङ्घ से निवेदन–प्रसन्नचित्त राजा ने इस महास्तूप की स्थापना के स्थान पर प्रदक्षिणा करके, आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी के दिन भिक्षुसङ्घ को एकत्र कर यों निवेदन किया– ॥ १३-१४ ॥

"भदन्त! कल मैं महाचैत्य की स्थापना के प्रसङ्ग में प्रथम मङ्गल-ईंट (शिलान्यास) रखूँगा। अतः उस समय की जाने वाली बुद्ध-पूजा के लिये समग्र सङ्घ एकत्र हो ॥ १५ ॥

"अपना हित चाहने वाले महाजन (भद्र नागरिक) भी कल उपोसथ व्रत रखते हुए हाथों में गन्ध माल्य लेकर महास्तूपप्रतिष्ठा-स्थान पर आवें।" यह कहकर राजा ने अपने अधिकारियों (विशाख और श्रीदेव) को उस चैत्यस्थान की सफाई (झाड़ू से शुद्धि) के लिये नियुक्त किया ॥ १६-१७ ॥

बुद्ध के प्रति श्रद्धालु उन अधिकारियों ने राजा की आज्ञा से उस स्थान को झाड़-पोंछ कर सर्वथा परिशुद्ध (अलंकृत) कर दिया ॥ १८ ॥

इसी तरह उन्होंने सम्पूर्ण नगर को विशेषतः इस स्तूप की तरफ आने वाले सभी मार्गों को साफ करके नाना प्रकार से सजाया ॥ १९ ॥

पभाते च चतुद्वारे नगरस्स ठपापयि ।
न्हापिते न्हापके चेव कप्पके च बहू तथा ॥ २० ॥

वत्थानि गन्धमाला च अन्नानि मधुराणि च ।
महाजनत्थं भूमिन्दो महाजनहिते रतो ॥ २१ ॥

पटियत्तानि एतानि आदियित्वा यथारुचि ।
पोरा जानपदा चेव थूपट्ठानं उपागमुं ॥ २२ ॥

सुमण्डितेहि नेकेहि ठानन्तरविधानतो ।
आरक्खितो अमच्चेहि यथाट्ठानं महीपति ॥ २३ ॥

सुमण्डिताहि नेकाहि देवकञ्ञूपमाहि च ।
नाटकीहि परिब्बूळहो सुमण्डितपसाधितो ॥ २४ ॥

चत्तालीससहस्सेहि नरेहि परिवारितो ।
ततो तुरियसङ्घुट्ठो देवराजविलासवा ॥ २५ ॥

महाथूपपतिट्ठानं ठानाट्ठानविचक्खणो ।
अपरण्हे उपागञ्छि नन्दयन्तो महाजनं ॥ २६ ॥

अट्ठुत्तरसहस्सं सो साटकानि ठपापयि ।
पुटबद्धानि मज्झम्हि, चतुपस्से ततो पन ॥ २७ ॥

[W.G.228] वत्थानि रासिं कारेसि अनेकानि महीपति ।
मधु-सप्पि-गुळादी च मङ्गलत्थं ठपापयि ॥ २८ ॥

नानादेसा पि आगञ्छुं बहवो भिक्खवो इध ।
इध दीपट्ठसङ्घस्स का कथा व इधागमे ! ॥ २९ ॥

थेरोसीतिसहस्सानि भिक्खू आदाय आगमा ।
राजगहस्स सामन्ता इन्दगुत्तो महागणी ॥ ३० ॥

प्रभात होते ही, राजा ने नगर के चारों द्वारों पर नागरिकों को स्नान कराने हेतु बहुत से स्नापक (नहलाने वाले) एवं कल्पक (बाल सँवारने वाले) बैठा दिये ॥ २० ॥

तथा वहाँ नागरिकों के हित में लगे राजा ने वस्त्र, गन्ध, माला, जलपान के लिये मधुर अन्न भी महाजनों के लिये रखवा दिया ॥ २१ ॥

इस तरह रखवाये गये इन साधनों का उपयोग करते हुए नागरिक जन एवं ग्रामवासी जन यथासमय स्तूपस्थान पर एकत्र हुए ॥ २२ ॥

स्तूप का शिलान्यास–अपने अपने पद के अनुरूप यथास्थान खड़े हुए तथा अपनी अपनी पदवी के अनुसार वस्त्रों से सुसज्जित अमात्यों (अधिकारियों) से आरक्षित ॥ २३ ॥

देव-कन्याओं के समान रूपवती, सुसज्जित नर्तकियों से परिव्यूढ (घिरा हुआ) नानाविध वस्त्र एवं अलङ्करणों से सुभूषित ॥ २४ ॥

चवालीस (४४) हजार अङ्गरक्षकों से परिवृत्त अतएव देवराज की शोभा का अनुकरण करता हुआ ॥ २५ ॥

स्थान-अस्थान को पहचानने में कुशल वह राजा वाद्यसङ्गीत के साथ सायङ्काल (तीसरे पहर) महास्तूपप्रतिष्ठान के उस उत्सव में पहुँचा ॥ २६ ॥

राजा ने उस उत्सव के समय वहाँ बीच में महार्घ वस्त्रों की एक हजार आठ (१,००८) गाठें रखवा दीं तथा उन (गाठों) के चारों तरफ अनेक खुले वस्त्र भी रखवा दिये । साथ ही गुड़, मधु, सर्पि (घी) आदि माङ्गलिक पदार्थ भी एकत्र कर दिये थे ॥ २७-२८ ॥

सङ्घसन्निपात–इस स्तूप-शिलान्यास के शुभ अवसर पर, लङ्काद्वीपवासी भिक्षुओं के आगमन की तो बात ही क्या, अन्य देशों से भी अनेक भिक्षु आ कर इस उत्सव में सम्मिलित हुए ॥ २९ ॥

राजगृह (मगध) से महामण्डलेश्वर इन्द्रगुप्त स्थविर अस्सी हजार (८०,०००) भिक्षुओं को साथ लेकर यहाँ पधारे ॥ ३० ॥

सहस्सानं इसिपतना भिक्खूनं द्वादसादिय ।
धम्मसेनो महाथेरो चेतियट्ठानमागमा ॥ ३१ ॥

सट्ठिभिक्खुसहस्सानि आदाय इध आगमा ।
पियदस्सी महाथेरो जेतारामविहारतो ॥ ३२ ॥

वेसालीमहावनतो थेरो रुबुद्धरक्खितो ।
अट्ठारस सहस्सानि भिक्खू आदाय आगमा ॥ ३३ ॥

कोसम्बीधोसितारामा थेरो रुधम्मरक्खितो ।
तिंस भिक्खुसहस्सानि आदाय इध आगतो ॥ ३४ ॥

आदायुज्जेनियं थेरो दक्खिणागिरितो यति ।
चत्तारीससहस्सानि आगोरुसङ्घरक्खितो ॥ ३५ ॥

भिक्खूनं सतसहस्सं सट्ठिसहस्सानि चादिय ।
पुप्फपुरे सोकारामा थेरो मित्तिण्णनामको ॥ ३६ ॥

दुवे सतसहस्सानि सहस्सानि असीति च ।
भिक्खू गहेत्वानुत्तिण्णो थेरो कस्मीरमण्डला ॥ ३७ ॥

[W.G.229] चत्तारि सतसहस्सानि सहस्सानथ सट्ठि च ।
भिक्खू गहेत्वानुत्तिण्णो महादेवो महामति ॥ ३८ ॥

योननगरालसन्दा योन महाधम्मरक्खितो ।
थेरो तिंस सहस्सानि भिक्खू आदाय आगमा ॥ ३९ ॥

विञ्झाटवीवत्तनिया सेनासना तु उत्तरो ।
थेरो सट्ठिसहस्सानि भिक्खू आदाय आगमा ॥ ४० ॥

चित्तगुत्तो महाथेरो बोधिमण्डविहारतो ।
तिंस भिक्खुसहस्सानि आदियित्वा इधागमा ॥ ४१ ॥

ऋषिपतन मृगदाव (वाराणसी) से बारह हजार (१२,000) भिक्षुओं को साथ ले कर धर्मसेन महास्थविर इस चैत्यस्थान पर आये ॥ ३१ ॥

श्रावस्ती के जेतवनविहार से साठ हजार (६0,000) भिक्षुओं के साथ प्रियदर्शी महास्थविर उस अवसर पर यहाँ आये ॥ ३२ ॥

वैशाली के महावन से ऊरुबुद्धरक्षित स्थविर अट्ठारह हजार (१८,000) भिक्षुओं को साथ लेकर यहाँ आये ॥ ३३ ॥

कोसाम्बी के घोषिताराम से स्थविर ऊरुधर्मरक्षित तीस हजार (३0,000) भिक्षुओं को साथ ले कर इस शुभ अवसर पर उपस्थित हुए ॥ ३४ ॥

उज्जयिनी के दक्षिणागिरि से स्थविर ऊरुसङ्घरक्षित चाली हजार (४0,000) भिक्षुओं के साथ यहाँ आये ॥ ३५ ॥

पाटलिपुत्र (पुष्पपुर) के अशोकाराम से मित्तिण्ण नामक स्थविर दो लाख (२,00,000) भिक्षुओं के साथ यहाँ आये ॥ ३६ ॥

कश्मीरमण्डल से उत्तिण्ण स्थविर बयासी हजार (८२,000) भिक्षुओं को साथ ले कर यहाँ आये ॥ ३७ ॥

पहलवी (पल्लव) राज्य से स्थविर महादेव महामति चार लाख साठ हजार (४,६८,000) भिक्षुओं के साथ यहाँ पधारे ॥ ३८ ॥

अलसन्द नामक यवन नगर से यवन भिक्षु महाधर्मरक्षित स्थविर तीस हजार (३0,000) भिक्षुओं के साथ यहाँ आये ॥ ३९ ॥

विन्ध्याटवी वर्त्तनी (मार्ग) के अपने शयनासन से उत्तर स्थविर साठ हजार (६0,000) भिक्षु अपने साथ लेकर आये ॥ ४0 ॥

बोधिमण्डविहार (बोधगया) से महास्थविर चित्रगुप्त तीस हजार (३0,000) भिक्षु लेकर यहाँ आये ॥ ४१ ॥

चन्दगुत्तो महाथेरो वनवासप्पदेसतो ।
आगासीति। सहस्सानि आदियित्वा यती इध ॥ ४२ ॥

सुरियगुत्तो महाथेरो केलासमहाविहारतो ।
छन्नवुति सहस्सानि भिक्खू आदाय आगमा ॥ ४३ ॥

भिक्खूनं दीपवासीनं आगतानं च सब्बसो ।
गणनाय परिच्छेदो पोराणेहि न भासितो ॥ ४४ ॥

समागतानं सब्बेसं भिक्खूनं तंसमागमे ।
वुत्ता खीणासवा येव ते छन्नवुतिकोटियो ॥ ४५ ॥

ते महाचेतियट्ठानं परिवारेत्वा यथारहं ।
मज्झे ठपेत्वा ओकासं रञ्ञो अट्ठंसु भिक्खवो ॥ ४६ ॥

पविसित्वा तहिं राजा भिक्खुसङ्घं तथा ठितं ।
दिस्वा पसन्नचित्तेन वन्दित्वा हट्ठमानसो ॥ ४७ ॥

गन्धमालाहि पूजेत्वा कत्वान तिपदक्खिणं ।
मज्झे पुण्णघटट्ठानं पविसित्वा समङ्गलं ॥ ४८ ॥

[W.G.230] सुवण्णखीले पटिमुक्कं परिब्भमणदण्डकं ।
रजतेन कतं सुद्धं सुद्धपीतिबलोदयो ॥ ४९ ॥

गाहयित्वा अमच्चेन मण्डितेन सुजातिना ।
अभिमङ्गलभूतेन भूतभूतिपरायणो ॥ ५० ॥

महन्तं चेतियावट्टं कारेतुं कतनिच्छयो ।
भमापयितुमारद्धो परिकम्मकतभूमियं ॥ ५१ ॥

सिद्धत्थो नाम नामेन महाथेरो महिद्धिको ।
तथा करोन्तं राजानं दीघदस्सी निवारयि ॥ ५२ ॥

वनवास प्रदेश (कर्नाटक) से चन्द्रगुप्त महास्थविर अस्सी हजार (८0,000) भिक्षुओं के साथ इस अवसर पर उपस्थित हुए ॥ ४२ ॥

कैलाश महाविहार से सूर्यगुप्त महास्थविर छयानवै हजार (९६,000) भिक्षुओं को साथ लेकर यहाँ आये ॥ ४३ ॥

इस अवसर पर आये लङ्काद्वीपवासी भिक्षुओं की गणना तो पुराने विद्वानों ने लिखी ही नहीं ॥ ४४ ॥

यहाँ तक कहा जाता है कि इस समागम में सम्मिलित भिक्षुओं में से एक करोड़ (१0000000) भिक्षु तो क्षीणास्रव (अर्हत्) ही थे ॥ ४५ ॥

पूजा-कृत्य—वे सभी भिक्षु उस महाचैत्य स्थान को परिवृत (घेर) कर यथोचित स्थान पर खड़े हो गये। अपने बीच में राजा के लिये खड़े होने का स्थान छोड़ दिया ॥ ४६ ॥

राजा ने वहाँ प्रविष्ट होकर भिक्षुसङ्घ को इस प्रकार खड़े देखकर प्रसन्नचित्त हो, प्रणाम किया ॥ ४७ ॥

फिर गन्ध-मालाओं से भिक्षुओं का सत्कार कर और तीन बार उनकी प्रदक्षिणा कर राजा पूजा-स्थल के मध्य में रखे जलपूर्ण मङ्गल-घट के पास पहुँचे ॥ ४८ ॥

परिभ्रमणदण्ड—वहाँ पहुँचकर, महान् चैत्य बनाने की इच्छा वाले, शुद्ध प्रीतिबल से प्रेरित, सर्वप्राणियों के हित में संलग्न राजा ने पवित्र रजतनिर्मित एवं सुवर्ण मेख से आबद्ध परिभ्रमण-दण्ड को श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, सुन्दर वेष-भूषा से अलङ्कृत, माङ्गलिक अधिकारी के हाथ में देकर उस परिष्कृत भूमि पर घुमवाना प्रारम्भ किया ॥ ४९-५१ ॥

सिद्धार्थ स्थविर का निषेध—परन्तु वहाँ उपस्थित महान् ऋद्धिबलसम्पन्न, दीर्घदर्शी, महास्थविर सिद्धार्थ ने ऐसा करते हुए राजा को रोक दिया ॥ ५२ ॥

"एवं महान्तं थूपं चे अयं राजारभिस्सति ।
थूपे अनिट्ठिते येव मरणं अस्स हेस्सति ॥ ५३ ॥

भविस्सति महन्तो च थूपो दुप्पटिसङ्खरो" ।
इति सो नागतं पस्सं महन्तत्तं निवारयि ॥ ५४ ॥

सङ्घस्स च अनुञ्ञाय थेरसम्भावनाय च ।
महन्तं कत्तुकामो पि गण्हित्वा थेरभासितं ॥ ५५ ॥

थेरस्स उपदेसेन तस्स राजा अकारयि ।
मज्झिमं चेतियावट्टं पतिट्ठापेतुमिट्ठका ॥ ५६ ॥

सोवण्णरजते चेव घटे मज्झे ठपापयि ।
अट्ठ अट्ठितुस्साहो, परिवारिय ते पन ॥ ५७ ॥

अट्ठुत्तरसहस्सं च ठपापेसि नवे घटे ।
अट्ठुत्तरे अट्ठुत्तरे वत्थानं तु सते पन ॥ ५८ ॥

इट्ठका पवरा अट्ठ ठपापेसि विसुं विसुं ।
सम्मतेन अमच्चेन भूसितेन अनेकधा ॥ ५९ ॥

[W.G.231] ततो एकं गाहयित्वा नानामङ्गलसङ्खते ।
पुरत्थिमदिसाभागे पठमं मङ्गलिट्ठिकं ॥ ६० ॥

पतिट्ठापेसि सक्कच्चं मनुञ्ञे गन्धकद्दमे ।
जातिसुमनपुप्फेसु पूजितेसु तहिं पन ॥ ६१ ॥

अहोसि पथवीकम्पो सेसा सत्तापि सत्तहि ।
पतिट्ठापेसि मच्चेहि मङ्गलानि च कारयि ॥ ६२ ॥

एवमासाळहमासस्स सुक्कपक्खम्हि सम्मते ।
उपोसथे पण्णरसे पतिट्ठापेसि इट्ठका ॥ ६३ ॥

क्योंकि वे जानते थे कि यदि राजा इतने विशाल आकार वाले स्तूप का निर्माण-कार्य आरम्भ करायगा तो या तो, इस कार्य की समाप्ति के पूर्व ही, इसकी मृत्यु हो जायगी या फिर इस इतने विशाल आकार के स्तूप का भविष्य में जीर्णोद्धार भी कठिन हो जायगा। यों, उसने भविष्य का चिन्तन करते हुए राजा को उस दुःसाहसिक कार्य से रोक दिया ॥ ५३-५४ ॥

तब राजा ने, इच्छा रहते हुए भी, सङ्घ की अनुमति न जानकर तथा स्थविर के भविष्यचिन्तन को उचित समझते हुए अपने सङ्कल्प को रोक लिया ॥ ५५ ॥

तथा स्थविर के परामर्शानुसार मध्यम आकार के चैत्य का निर्माण करने का सङ्कल्प किया। तथा उसी के लिये मध्यम आकार की ईंटों को सुवर्णमय एवं रजतमय घटों के बीच में स्थापित कराया ॥ ५६-५७ ॥

उत्साहसम्पन्न राजा ने आठ सुवर्णमय एवं आठ रजतमय घटों को मध्य में रखवा कर उनको एक हजार आठ (१,००८) नये घटों से घिरवा दिया। इसी प्रकार एक सौ आठ, एक सौ आठ (१०८-१०८) वस्त्रों को रखवाया ॥ ५८ ॥

इस तरह फिर आठ अच्छी ईंटें अलंकृत एवं मान्य अमात्य के हाथों से पृथक् पृथक् रखवायीं ॥ ५९ ॥

तब उनमें से एक ईंट ले कर उसी प्रकार अलंकृत एवं मान्य अमात्य के हाथ नानाविध माङ्गलिक संस्कारों से युक्त, पूर्व दिशा भाग में मनोज्ञ सुगन्धित मसाले (गारे) पर पहली माङ्गलिक ईंट रखवायी ॥ ६० ॥

तब जूही के फूलों से उसकी पूजा करने पर पृथ्वीं काँप उठी। शेष सात माङ्गलिक ईंटें भी इसी प्रकार सात अमात्यों से रखवायी। तथा अवशिष्ट माङ्गलिक कृत्य करवाये ॥ ६१-६२ ॥

इस प्रकार राजा द्वारा आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष के उपोसथ के दिन वाली पूर्णिमा को माङ्गलिक ईंटों से शिलान्यास करवाया गया ॥ ६३ ॥

चतुद्दिसं ठिते तत्थ महाथेरे अनासवे ।
वन्दित्वा पूजयित्वा च सुप्पतीतो कमेन सो ॥ ६४ ॥

पुब्बुत्तरदिसं गन्त्वा पियदस्सिं अनासवं ।
वन्दित्वान महाथेरं अट्ठासि तस्स सन्तिके ॥ ६५ ॥

मङ्गलं तत्थ वड्ढेन्तो तस्स धम्मं अभासि सो ।
थेरस्स देसना तस्स जनस्साहोसि सात्थिका ॥ ६६ ॥

चत्तालीससहस्सानं धम्माभिसमयो अहु ।
चत्तालीससहस्सानं सोतापत्तिफलं अहु ॥ ६७ ॥

सहस्सं सकदागामी अनागामी च तत्तका ।
सहस्सं येव अरहन्तो तथाहेसुं गिही जना ॥ ६८ ॥

अट्ठारस सहस्सानि भिक्खू भिक्खुणियो पन ।
चुद्दसेव सहस्सानि अरहत्ते पतिट्ठहुं ॥ ६९ ॥

एवं पसन्नमतिमा रतनत्तयम्हि,
चागाधिमुत्तमनसा जनताहितेन ।
[W.G.232] लोकत्थसिद्धि परमा भवतीति ञत्वा
सद्धादिनेकगुणयोगरतिं करेय्या[1] ॥ ति ॥ ७० ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

महाथूपारम्भो नाम

एकूनतिंसतिमो परिच्छेदो

***

1. वसन्ततिलका छन्द ।

फिर उस राजा ने चारों दिशाओं में खड़े हुए क्षीणास्रव महास्थविर भिक्षुओं को क्रमशः पूजा-अर्चना कर ॥ ६४ ॥

राजा ने स्तूप की पूर्व-उत्तर दिशा में विराजमान महास्थविर प्रियदर्शी क्षीणास्रव भिक्षु के समीप जाकर, उन्हें प्रणाम कर बैठ गया ॥ ६५ ॥

स्थविर ने मङ्गलवृद्धि की कामना करते हुए राजा को धर्मोपदेश किया । स्थविर का यह धर्मोपदेश जनता के लिये अत्यधिक हितकारी सिद्ध हुआ ॥ ६६ ॥

उस धर्मोपदेश के प्रभाव से वहाँ उपस्थित चवालीस हजार (४४,०००) धार्मिक जिज्ञासुओं को धर्मलाभ हुआ । बाकी चवालीस हजार (४४,०००) को स्रोतआपत्तिमार्ग-फल प्राप्त हुआ ॥ ६७ ॥

अवशिष्ट उतने ही हजार जिज्ञासुओं को सकृदागामी एवं अनागामी फल प्राप्त हुआ और इतने ही धर्मश्रावक लोग अर्हत्त्व पद को प्राप्त हुए ॥ ६८ ॥

उस समय अट्ठारह हजार (१८,०००) भिक्षु एवं चौदह हजार (१४,०००) भिक्षुणियाँ भी अर्हत्त्व पद को प्राप्त कर गयीं ॥ ६९ ॥

यों, रत्नत्रय में श्रद्धालु पुरुष यह समझ कर कि त्याग वृत्ति द्वारा जन-हित करने से ही लोक में परमार्थ की सिद्धि होती है, श्रद्धा आदि गुणों में रति करे ॥ ७० ॥

सज्जनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह के
संवर्धन हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

'महास्तूप का आरम्भ' वर्णन नामक

उनतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

३०.

तिंसतिमो परिच्छेदो

(धातुगब्भरचना)

[W.G.233] वन्दित्वान महाराजा सब्बं सङ्घं निमन्तयि ।
"याव चेतियनिट्ठाना भिक्खं गण्हथ मे" इति ॥ १ ॥

सङ्घो तं नाधिवासेसि, अनुपुब्बेन सो पन ।
याचन्तो यावसत्ताहं सत्ताहं अधिवासनं ॥ २ ॥

अलत्थोपड्ढभिक्खूहि, ते लद्धा सुमनो च सो ।
अट्ठारसु ठानेसु थूपट्ठानसमन्ततो ॥ ३ ॥

मण्डपं कारयित्वान महादानं पवत्तयि ।
सत्ताहं तत्थ सङ्घस्स, ततो सङ्घं विसज्जयि ॥ ४ ॥

ततो भेरिं चरापेत्वा इट्ठकावड्ढकी लहुं ।
सन्निपातेसि, ते आसुं पञ्चमत्तसतानि च ॥ ५ ॥

"कथं करिस्ससी?" तेको पुच्छितो आह भूपतिं ।
"पेस्सियानं सतं लद्धा पंसूनं सकटं अहं ॥ ६

खेपयिस्सामि एकाहं" तं राजा पटिबाहयि ।
ततो उपपड्ढुपड्ढं च पंसू द्वे अम्मणानि च ॥ ७ ॥

[W.G.234] आहंसु, राजा पटिबाहि चतुरो ते पि वड्ढकी ।
अथेको पण्डितो ब्यत्तो वड्ढकी आह भूपतिं ॥ ८ ॥

तीसवाँ परिच्छेद

(धातुगर्भ का निर्माण)

राजा द्वारा महादान– राजा ने सङ्घ को प्रणाम कर, समग्र सङ्घ को निमन्त्रित किया कि "वह चैत्यनिर्माण होने तक मेरे यहाँ ही भिक्षा-कर्म करे" ॥ १ ॥

जब सङ्घ ने इस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया तो राजा ने क्रमशः निमन्त्रण की समय-सीमा कम करते हुए एक सप्ताह का निमन्त्रण स्वीकार करने का आग्रह किया ॥ २ ॥

अन्त में भिक्षुसङ्घ ने आधे भिक्षुओं के साथ वहाँ भोजन करना स्वीकार किया। सङ्घ की इतनी (सीमाबद्ध) स्वीकृति जान कर भी, प्रसन्नचित्त होकर, उस स्तूप-स्थान के चारों ओर अट्ठारह (१८) स्थानों में मण्डप बनवा कर, सप्ताह पर्यन्त सङ्घ को महादान (भोजनदान) कर उसे सादर विदा किया ॥ ३-४ ॥

राजा द्वारा शिल्पियों का चयन– तब उसने दुन्दुभि बजवाकर ईंटों के पाँच सौ शिल्पकार (मिस्त्री) बुलवाये ॥ ५ ॥

राजा ने उन से पूछा–"आप लोगों को यदि यह कार्य सौंप दिया जाय तो इसे आप कैसे, किस पद्धति से पूर्ण करेंगे ?" एक मिस्त्री ने कहा– "यदि मुझे सौ श्रमिक मिल जाँय तो मैं एक दिन में एक गाड़ी बालू खपा दूँगा" ॥ ६ ॥

तब राजाने, उसका उत्तर सुनकर उसे दूर हटाया। अवशिष्ट मिस्त्रियों ने भी (इस सङ्ख्या में कमी करते हुए) एक गाड़ी बालू का आधा भाग, उससे भी आधा (चौथाई गाड़ी का) भाग बालू, यहाँ तक कि अन्त वाले मिस्त्री ने दो अम्मण भार बालू दिन भर में खपाने की बात कही ॥ ७ ॥

राजा द्वारा चतुर मिस्त्री की परीक्षा–राजा ने उन चारों ही मिस्त्रियों को हटा दिया। तब उन आगत मिस्त्रियों में से एक चतुर एवं कुशल कारीगर (मिस्त्री) ने राजा को बताया– ॥ ८ ॥

"उदुक्खले कोट्टयित्वा अहं सुप्पेहि वट्टितं ।
पिंसापयित्वा निसदे एकं पंसूनमम्मणं" ॥ ९ ॥

इति वुत्तो अनुञ्ञासि तिणादीनेत्थ नो सियुं ।
चेतियम्हीति भूमिन्दो इन्दतुल्यपरक्कमो ॥ १० ॥

"किंसण्ठानं चेतियं तं करिस्ससि तुवं"? इति ।
पुच्छि तं, तङ्खणं येव विस्सकम्मो तमाविसि ॥ ११ ॥

सोवण्णपातिं तोयस्स पूरापेत्वान वड्ढकी ।
पाणिना वारिमादाय वारिपिट्ठियमाहनि ॥ १२ ॥

फळिकागोलसदिसं महाुदुब्बलमुट्ठहि ।
आह "ईदिंस करिस्सं" ति तुसित्वा तस्स भूपति ॥ १३ ॥

सहस्सग्घं वत्थयुगं तथालङ्कारपादुका ।
कहापणानि द्वादससहस्सानि च दापयि ॥ १४ ॥

"इट्ठका आहरापेस्सं अपीळेन्तो कथं नरे ?" ।
इति राजा विचिन्तेसि रत्तिं, ञत्वान तं मरू ॥ १५ ॥

चेतियस्स चतुद्वारे आहरित्वान इट्ठका ।
रत्तिं रत्तिं ठपयिंसु एकेकाहपहोनका ॥ १६ ॥

तं सुत्वा सुमनो राजा चेतिये कम्ममारभि ।
"अमूलं एत्थ कम्मं च न कातब्बं" ति ञापयि ॥ १७ ॥

एकेकस्मिं दुवारस्मिं ठपापेसि कहापणे ।
सोळस सतसहस्सानि वत्थानि सुबहूनि च ॥ १८ ॥

[W.G.235] विविधं च अलङ्कारं खज्ज-भोज्जं सपाणकं ।
गन्धमालागुळादी च मुखवासकपञ्चकं ॥ १९ ॥

"मैं उस बालू को ऊखल में कुटवा कर शूर्प (छाज) या चालनी से चलवा कर फिर उसे चक्की में पिसवा कर एक अम्मण मात्र बालू से दिन भर कार्य सम्पन्न करूँगा" ॥ ९ ॥

मिस्त्री द्वारा ऐसा कहे जाने पर इन्द्रतुल्य पराक्रमी राजा ने उस चैत्य के लिये एक स्थान देखकर "वहाँ तृण घास आदि उत्पन्न नहीं होंगे"–यह सोचकर उस मिस्त्री को चैत्य-निर्माण के लिये वह स्थान बता दिया ॥ १० ॥

और मिस्त्री से "तुम यहाँ किस प्रकार का चैत्य बनाओगे ?"–यों राजा पूछ ही रहा था कि उस मिस्त्री (शिल्पकार) में विश्वकर्मा देवता आविष्ट हो गया ॥ ११ ॥

मिस्त्री ने सुवर्णमय जलपूर्ण पात्र से हाथ में जल लेकर वहाँ जल फैंका । तब वहाँ माणिक्य के समान आकार का बुलबुला उठा । उस बुलबुले का आकार दिखा कर बताया कि "इस आकार से यह चैत्यस्थान बनाऊँगा" । राजा यह सुन कर सन्तुष्ट हुआ ॥ १२-१३ ॥

मिस्त्री को पुरस्कार– सन्तुष्ट होकर उसने उस मिस्त्री को पुरस्कारस्वरूप एक हजार मुद्रा मूल्य के वस्त्र, तथा कुछ अलङ्कार एवं जूता-जोड़ी (चरणपादुका) और बारह हजार (१२,०००) कार्षाषण (सिक्के) दिये ॥ १४ ॥

निर्माण-कार्य की घोषणा– राजा ने रात्रि में सोचा– "श्रमिक जन (मजदूर) बिना अधिक कष्ट पाये कैसे यहाँ तक ईंटें पहुँचायँगें ?" राजा के ऐसा सोचते ही देवताओं ने वहाँ (निर्माणस्थान पर चैत्य के चारों दरवाजों पर) ईंटें लाकर पहले से ही एकत्र कर दी ॥ १५ ॥

इसी तरह देवता लोग अगले दिन के लिये काम में आने वाली ईंटें पहली रात्रि में ही वहाँ एकत्र कर देते थे ॥ १६ ॥

यह सुन कर राजाने चैत्य-निर्माण प्रारम्भ कराया । और घोषणा की कि इस निर्माण-कार्य में विना पारिश्रमिक दिये किसी भी श्रमिक से कार्य नहीं लिया जायगा ॥ १७ ॥

श्रमिकों को नकद वेतन– इस के अतिरिक्त राजा ने प्रत्येक द्वार पर, सोलह लाख (१६,०००००) कार्षापण तथा बहुत से वस्त्र ॥ १८ ॥

विविध अलङ्कार, नाना प्रकार की खाद्य-भोज्य सामग्री, ठण्डा जल, गन्ध-द्रव्य, माला, गुड़ एवं मुख को सुगन्धित करने वाले पांच पान-मसाले रखवा कर ॥ १९ ॥

"यथारुचि तं गण्हन्तु कम्मं कत्वा यथारुचि ।
ते तत्थेव अपेक्खित्वा अदंसु राजकम्मिका ॥ २० ।

थूपकम्मे सहायत्तं एको भिक्खु निकामयं ।
मत्तिकापिण्डमादाय अत्तना अभिसङ्खतं ॥ २१ ॥

गन्त्वान चेतियट्ठानं वञ्चेत्वा राजकम्मिके ।
अदासि तं वड्ढकिस्स, गण्हन्तोयेव जानि सो ॥ २२ ॥

तस्साकारं विदित्वान, तत्थाहोसि कुतूहलं ।
कमेन राजा सुत्वान आगतो पुच्छि वड्ढकिं ॥ २३ ॥

"देव! एकेन हत्थेन पुप्फानादाय भिक्खवो ।
एकेन मत्तिकापिण्डं देन्ति मय्हं, अहं पन ॥ २४ ॥

'अयं आगन्तुको भिक्खु अयं नेवासिको' इति ।
जानामि, देवा!" ति वचो सुत्वा राजा समप्पयि ॥ २५ ॥

एकं बलत्थं दस्सेतुं मत्तिकादायकं यतिं ।
सो बलत्थस्स दस्सेसि सो तं रञ्ञो निवेदयि ॥ २६ ॥

जातिमकुलकुम्भे सो महाबोधङ्गणे तयो ।
ठपापेत्वा बलत्थेन राजा दापेसि भिक्खुनो ॥ २७ ॥

[W.G.236] अजानित्वा पूजयित्वा ठितस्सेतस्स भिक्खुनो ।
बलत्थो तं निवेदेसि, तदा तं जानि सो यदि ॥ २८ ॥

कोट्टिवाले जनपदे पियङ्गल्लनिवासिको ।
थेरो चेतियकम्मस्मिं सहायतं निकामयं ॥ २९ ॥

तस्सिट्ठिकावड्ढकिस्स ञातको इध आगतो ।
तत्थिट्ठिकाय मत्तेन ञत्वा_ कत्वान इट्ठकं ॥ ३० ॥

यह आज्ञा दे दी कि "यहाँ कोई भी श्रमिक कार्य करने के बाद इन वस्तुओं में से कोई भी वस्तु यथारुचि ग्रहण कर सकता है ।" राज्याधिकारियों ने राजा की आज्ञा से, श्रमिकों को कार्य करने के बाद उनको इन में से यथारुचि वस्तुएँ दीं ॥ २० ॥

किसी भिक्षु का स्तूप-कर्म में सहयोग– इस स्तूप-निर्माण कार्य में सहायता करने की इच्छा से गीली मिट्टी का गोला लेकर उससे ईंट बनाकर, चैत्यनिर्माणस्थान पर जा कर राज्यधिकारियों की आँखें बचाकर, उस शिल्पी को दी । उसने वह ईंट हाथ में लेते ही पहचान ली ॥ २१-२२ ॥

उस ईंट का आकार देख कर, उस मिस्त्री को आश्चर्य हुआ । क्रमशः, कानों-कान राजा ने भी यह बात सुनी । उसने आकर मिस्त्री(वर्धकी)से पूछा ॥ २३ ॥

मिस्त्री ने बताया– "देव! कुछ भिक्षु एक हाथ में पुष्प लेकर तथा दूसरे हाथ में मुत्तिकापिण्ड लेकर मुझे पकड़ा देते हैं ॥ २४ ॥

मैं तो उनको इतना ही जान पाता हूँ कि 'कौन यहाँ का निवासी है या कौन आगन्तुक" । मिस्त्री को राजा ने उस ईंट देने वाले भिक्षु को व्यक्तिशः दिखाने के लिये एक चौकीदार दिया । उस मिस्त्री ने चौकीदार को वह भिक्षु सङ्केतित कर दिया । तब चौकीदार ने उस भिक्षु को राजा के सम्मुख उपस्थित कर दिया ॥ २५-२६ ॥

भिक्षु को मानदेय– तब राजा ने उस महाबोध्यङ्गण में रखे जूही के फूलों से सुसज्जित तीन गमले (कुम्भ=घट) उस भिक्षु को, चौकीदार द्वारा उठवा कर, सादर समर्पित किये । (यह उस भिक्षु का इस स्तूपकर्म में सहायता करने का मानदेय वेतन हुआ) ॥ २७ ॥

उन फूलों के विषय में कुछ भी न जानते हुए भिक्षु ने उन फूलों से पूजा की । जब चौकीदार ने बताया तो वह भिक्षु (यतिं) उन फूलों के विषय में वास्तविकता समक्ष पाया ॥ २८ ॥

पियङ्गल्लनिवासी भिक्षु– कोट्टिवाल जनपद में किसी पियङ्गल्लनिवासी स्थविर को इस चैत्य कर्म में सहायता करने की इच्छा हुई ॥ २९ ॥

वह स्थविर इस स्तूपकर्म के प्रधान मिस्त्री का पूर्व धर्म (गृहस्थ) में सम्बन्धी (रिश्तेदार) होने के कारण इस स्तूपकर्म के सहायता देने की इच्छा से यहाँ आया । वहाँ मिस्त्री से ईंटों का प्रमाण जानकर, ईंटें बनाकर देने लगा ॥ ३० ॥

कम्मिके वञ्चयित्वान वड्ढकिस्स अदासि तं ।
सो तं तत्थ नियोजेसि कोलाहलमहोसि च ॥ ३१ ॥

राजा सुत्वा व तं आह "ञातुं सक्का तमिट्ठकं?" ।
जानन्तो पि न सक्का" ति राजानं आह वड्ढकी ॥ ३२ ॥

"जानासि तं त्वं थेरं?" ति वुत्तो "आमा"ति भासि सो ।
तं ञापनत्थं अप्पेसि बलत्थं तस्स भूपति ॥ ३३ ॥

बलत्थो तेन तं ञत्वा राजुय्यानायुपागतो ।
कट्ठहालपरिवेणे थेरं पस्सिय मन्तिय ॥ ३४ ॥

थेरस्स गमनाहं च गतट्ठानं च जानिय ।
"तुम्हेहि सह गच्छामि सकं गामं" ति भासिय ॥ ३५ ॥

रञ्ञो सब्बं निवेदेसि, राजा तस्स अदापयि ।
वत्थयुगं सहस्सग्घं महग्घं रत्तकम्बलं ॥ ३६ ॥

सामणके परिक्खारे बहुके सक्खरं पि च ।
सुगन्धं तेलनाळिं च दापेत्वा अनुसासि तं ॥ ३७ ॥

[W.G.237] थेरेन सह गन्त्वा सो दिस्सन्ते पियगल्लके ।
थेरं सीताय छायाय सोदकाय निसीदिय ॥ ३८ ॥

सक्खरपाणकं दत्वा पादे तेलेन मक्खिय ।
उपाहनाहि योजेत्वा परिक्खारे उपानयि ॥ ३९ ॥

"कुलूपकस्स थेरस्स गहिता मे इमे मया ।
वत्थयुगं तु पुत्तस्स, सब्बं दानि ददामि वो" ॥ ४० ॥

इति वत्वान दत्वा ते गहेत्वा गच्छतो पुन ।
वन्दित्वा राजवचसा रञ्ञो सन्देसमाह सो ॥ ४१ ॥

वह यह कार्य (ईंटों का देना) अन्य श्रमिकों की आँखें बचाकर करता था। मिस्त्री उन ईंटों को चैत्य में यथास्थान लगा देता था ॥ ३१ ॥

तब ये अस्त-व्यस्त ईंटें देख कर कार्य स्थल पर कोलाहल मच गया। उस कोलाहल को सुनकर राजा ने मिस्त्री से पूछा-"क्या तुम उन ईंटों को पहचान सकते हो ?" तब जानते हुए भी, मिस्त्री ने 'ना' कर दिया कि वह नहीं पहचानता ॥ ३२ ॥

तब राजा ने पूछा कि तुम उस भिक्षु को पहचान सकते हो? मिस्त्री ने कहा- "हाँ"। उस को पहचान कर लाने के लिये भूपति ने उस मिस्त्री को एक चौकीदार नियुक्त कर दिया ॥ ३३ ॥

चौकीदार, उस मिस्त्री के द्वारा बताये जाने पर कट्टहालपरिवेण में जाकर स्थविर को देख कर उससे मन्त्रणा की ॥ ४३ ॥

यों स्थविर के जाने का दिन और स्थान जान कर, "तुम्हारे साथ मैं भी अपने ग्राम चलूँगा"-यह बोला ॥ ३५ ॥

ये सब बातें चौकीदार ने राजा को बतायीं। राजा ने हजार मुद्राओं से खरीदने योग्य एक जोड़ा परिधान वस्त्र, एक महँगा शाल कम्बल दिया ॥ ३६ ॥

साथ ही, भिक्षुओं के काम में आने वाली बहुत सी वस्तुएँ, शर्करा (चीनी), सुगन्धित तैल से भरी एक नाड़ी (उस समय की बोतल) भी दी। और उससे जाने के लिये कहा ॥ ३७ ॥

यों वह चौकीदार (राजाज्ञा) से स्थविर के साथ जा कर, पियङ्गल ग्राम दिखायी देने पर, स्थविर को एक वृक्ष की शीतल छाया में, जहाँ समीप में ही जल का साधन भी था, बैठाया ॥ ३८ ॥

वहाँ शर्करा मिला जल (शर्बत) स्थविर को देकर, पैरों में तैल मलकर, जूते पहना कर, अन्य श्रमणोपयोगी वस्तुएँ भी उन्हें समर्पित कीं ॥ ३९ ॥

साथ ही यह निवेदन भी किया- "ये अवशिष्ट वस्त्र मैने अपने कुलस्थविर के लिये रखे थे, साथ ही यह वस्त्रों का जोड़ा भी, जो अपने पुत्र के लिये रखा था परन्तु अब मैं इन्हें भी आपको ही समर्पित करता हूँ? ॥ ४० ॥

ऐसा कह कर वे सब वस्तुएँ स्थविर को समर्पित कीं। ये वस्तुएँ लेकर जाते हुए स्थविर को प्रणाम कर, राजा का सन्देश भी निवेदन किया; क्योंकि राजा की आज्ञा ऐसी ही थी ॥ ४१ ॥

महाथूपे कयिरमाने भतिया कम्मकारका ।
अनेकसङ्खा हि जना पसन्ना सुगतिङ्गता ॥ ४२ ॥

"चित्तप्पसादमत्तेन सुगते गति उत्तमा ।
लभती" ति विदित्वान थूपपूजं करे बुधो ॥ ४३ ॥

एत्थेव भतिया कम्मं करित्वा इत्थियो दुवे ।
तावतिंसम्हि निब्बत्ता महाथूपम्हि निट्ठिते ॥ ४४ ॥

आवज्जित्वा पुब्बकम्मं दिट्ठकम्मफला उभो ।
गन्धमालादियित्वान थूपं पूजितुमागता ॥ ४५ ॥

गन्धमालाहि पूजेत्वा चेतियं अभिवन्दिसुं ।
तस्मिं खणे भातिवङ्कवासी थेरो महासिवो ॥ ४६ ॥

"रत्तिभागे महाथूपं वन्दिस्सामी" ति आगतो ।
ता दिस्वान महासत्तपण्णरुक्खं उपासितो ॥ ४७ ॥

[W.G.238] अदस्सयित्वा अत्तानं पस्सं सम्पत्तिमुत्तमं ।
ठत्वा तासं वन्दनाय परियोसाने अपुच्छि ता ॥ ४८ ॥

"भासते सकलो दीपो देहोभासेन वो इध ।
किं नु कम्म करित्वान देवलोकं इतो गता?" ॥ ४९ ॥

महाथूपे कतं कम्मं तस्स आहंसु देवता ।
एवं तथागते येव पसादो हि महप्फलो ॥ ५० ॥

पुप्फाधानत्तयं थूपे इट्ठकाहि चितं चितं ।
समं पथविया कत्वा इद्धिमन्तोवसादयुं ॥ ५१ ॥

नववारे चितं एवं एवं ओसादयिंसु ते ।
अथ राजा – भिक्खुसङ्घं सन्निपातमकारयि ॥ ५२ ॥

स्तूप-पूजा का माहात्म्य--इस चैत्यनिर्माण के समय पारिश्रमिक (वेतन) लेकर काम करने वाले अगणित श्रमिक जन धर्म में श्रद्धालु होकर अन्त में सुगति को प्राप्त हुए ॥ ४२ ॥

अतः बुद्धिमान् पुरुष को यह जान कर कि "सुगत के प्रति स्वचित्त में श्रद्धामात्र उत्पन्न करने वाला भी उत्तम गति को प्राप्त है" स्तूप-पूजा में अपना मन लगाना चाहिये ॥ ४३ ॥

यहीं वेतन (भृति) लेकर स्तूप-निर्माण में काम करते हुए दो स्त्रियों ने इस स्तूप-निर्माण के बाद, उनका देहपात होने पर वे त्रायस्त्रिंश देवलोक में उत्पन्न हुई ॥ ४४ ॥

उन्होंने अपने पूर्व कर्मों पर विचार करते हुए अपने उस पूर्वकर्म पर विचार किया। तब वे इस स्तूप की पूजा के लिये गन्ध-मालादि द्रव्य लेकर वहाँ आयीं ॥ ४५ ॥

उन्होंने गन्ध-माला आदि से स्तूप-पूजा कर चैत्य को प्रणाम किया। उसी समय भातिवङ्क का रहने वाला महाशिव स्थविर ॥ ४६ ॥

"रात्रि में इस स्तूप की पूजा करूँगा"– यह सोच कर वहाँ आया। वहाँ उन स्त्रियों को देख कर वह स्थविर महान् शतपर्ण वृक्ष के सहारे खड़ा हो गया ॥ ४७ ॥

वहाँ उसने अपने आप को उनसे छिपाते हुए उनकी विशिष्ट रूप-सम्पत्ति देख कर उन्हें प्रणाम करने के लिये वहाँ जाकर उनसे पूछा ॥ ४८ ॥

"देवियो! आपकी ज्योति से समग्र जम्बुद्वीप उद्भासित हो रहा है।

"आपलोग कौन पुण्य कर्म कर उस के प्रभाव से यहाँ से च्युत होकर देवलोक में उत्पन्न हुईं?" ॥ ४९ ॥

तब उस स्थविर को उन महान् देवताओं ने बताया कि "वे इसी स्तूपनिर्माण में काम करते समय सुगत के प्रति श्रद्धासम्पन्न होकर इस पुण्य कर्म के प्रभाव से देवलोक में उत्पन्न हुईं"। यों तथागत में श्रद्धोत्पाद ही महान् फल देने वाला होता है ॥ ५० ॥

भिक्षुओं द्वारा पुष्पाधानों का स्तूप से उतारना– ऋद्धिबलसम्पन्न स्थविरों ने उस चैत्य में ईंटों से बने तीन पुष्पाधानो (फूलदानों) को भूमिपर उतार कर रख दिया ॥ ५१ ॥

यों वे पुष्पाधान नौ (९) बार ईंटों से चुने गये। तथा स्थविरों ने नौ (९) ही बार उनको उतार कर भूमि पर रख दिया। तब राजा ने भिक्षु-सङ्घ को एकत्र (सन्निपात) किया ॥ ५२ ॥

तत्थासीतिसहस्सानि सन्निपातम्हि भिक्खवो ।
राजा सङ्घमुपागम्म पूजेत्वा अभिवन्दिय ॥ ५३ ॥

इट्ठकोसीदने हेतुं पुच्छि, सङ्घो वियाकरि ।
"नोसीदनं थूपस्स इद्धिमन्तेहि भिक्खुहि ॥ ५४ ॥

कतं एतं महाराज! न इदानि करिस्सरे ।
अञ्ञथत्तं अकत्वा त्वं महाथूपं समापय" ॥ ५५ ॥

तं सुत्वा सुमनो राजा थूपे कम्मं अकारयि ।
पुप्फाधानेसु दससु इट्ठका दसकोटियो ॥ ५६ ॥

[W.G.239] भिक्खुसङ्घो सामणेरे उत्तरं सुमनं पि च ।
"चेतियधातुगब्भत्थं पासाणे भेदवण्णके ॥ ५७ ॥

आहरथा" ति योजेसुं, तं गन्त्वा उत्तरं कुरुं ।
असीतिरतनायामवित्थारे रविभासुरे ॥ ५८ ॥

अट्ठङ्गुलानि बहुले गन्थिपुप्फानिभे सुभे ।
छ मेदवण्णपासाणे आहरिंसु घने ततो ॥ ५९ ॥

पुप्फाधानस्स उपरि मज्झे एकं निपातिय ।
चतुपस्सम्हि चतुरो मञ्जूसं विय योजिय ॥ ६० ॥

एकं पिदहनत्थाय दिसाभागे पुरत्थिमे ।
अदस्सनं करित्वा ते ठपयिंसु महिद्धिका ॥ ६१ ॥

मज्झम्हि धातुगब्भस्स तस्स राजा अकारयि ।
रतनत्तयं बोधिरुक्खं सब्बाकारमनोरमं ॥ ६२ ॥

अट्ठारसरतनिको खन्धो साखास्स पञ्च च ।
पवाळमयमूलो सो इन्दनीले पतिट्ठितो ॥ ६३ ॥

तब वहाँ विशाल भिक्षुसङ्घ एकत्र हुआ, जिसकी सङ्ख्या अस्सी हजार (८०,०००) थी । राजा ने सङ्घ के पास जाकर उसे प्रणाम कर, पूजा-अर्चना कर ॥ ५३ ॥

स्तूप में पुष्पादानहेतु चुनी गयी ईंटों को बार-बार उतरवाने का कारण पूछा । सङ्घने उस का कारण बताते हुए यह कहा– ॥ ५४ ॥

"राजन्! 'स्तूप आगे चल कर भविष्य में भूमि में न धँस जाय'– इस कारण ये पुष्पाधान उतरवा दिये हैं । आप इस को अन्यथा न सोचें, तथा स्तूप-निर्माण का कार्य आगे बढ़ावें" ॥ ५५ ॥

यह सुनकर राजा ने स्तूप-निर्माण का कार्य आगे बढ़ाया । दस पुष्पाधानों को बनवाने में दस करोड़ (१०,००,००,०००) ईंटे लगीं ॥ ५६ ॥

स्थविरों द्वारा मेदोवर्ण पत्थरों का संग्रह– तब भिक्षुसङ्घ ने उत्तर एवं सुमन नामक दो श्रामणेरों को नियुक्त किया कि "वे चैत्य धातु के मध्य स्थान में लगाने के लिये मेद (चर्वी) के रंगवाले पत्थरों की व्यवस्था करें" ॥ ५७ ॥

उन्होंने उत्तरकुरु प्रदेश में जाकर अस्सी (८०) रत्न (एक प्रमाण) लम्बे-चौड़े, सूर्य के समान ज्योति वाले, ग्रन्थि-पुष्प के समान चमकदार, आठ-आठ अङ्गुल वाले छह मेदोवर्ण के दृढ़ पत्थरों का संग्रह किया ॥ ५८-५९ ॥

उन पत्थरों में से एक पत्थर पुष्पाधान के ऊपर बीच में रख कर तथा चार पार्श्वों में चार पत्थर रख कर मञ्जूषा की तरह बना कर ॥ ६० ॥

उन स्थविरों ने शेष बचे एक पत्थर को उसे ढकने के लिये पूर्व दिशा में एक तरफ छिपा कर रख दिया ॥ ६१ ॥

बोधिवृक्ष का निर्माण– राजाने उस धातु गर्भ के बीच में,सर्वथा मनोरम, रत्नमय, बोधिवृक्ष का निर्माण कराया ॥ ६२ ॥

उसका स्कन्ध अट्ठारह (१८) रत्न ऊँचा और शाखाएँ पाँच-पाँच (५-५) रत्न लम्बी थीं । उसका मूल प्रवालमणि से निर्मित था, जो कि इन्द्रनीलमणि पर प्रतिष्ठित किया था ॥ ६३ ॥

सुसुद्धरजतक्खन्धो मणिपत्तेहि सोभितो ।
हेममयपण्डुपत्तफलो पवाअळङ्कुरो ॥ ६४ ॥

अट्ठ मङ्गलिकानस्स खन्धे पुप्फलता पि च ।
चतुप्पदानं पन्ती च हंसपन्ती च सोभना ॥ ६५ ॥

[W.G.240] उद्धं चारु वितानन्ते मुत्ताकिङ्किणिकजालकं ।
सुवण्णघण्टापन्ती च दामानि च तहिं तहिं ॥ ६६ ॥

वितानचतुकोणम्हि मुत्तादामकलापको ।
नवसतसहस्सग्घो एकेको आसि लम्बितो ॥ ६७ ॥

रवि-चन्द-ताररूपानि नाना पदुमकानि च ।
रतनेहि कतानेव विताने कप्पितानहुं ॥ ६८ ॥

अट्ठुत्तरसहस्सानि वत्थानि विविधानि च ।
महग्घनानारङ्गानि विताने लम्बितानहुं ॥ ६९ ॥

बोधिं परिक्खिपित्वान नानारतनवेदिका ।
महामलकमुत्ताहि सन्थारो तु तदन्तरे ॥ ७० ॥

नानारतनपुप्फानं चतुगन्धूदकस्स च ।
पुण्णापुण्णघटपन्ती बोधिमूले कता अहुं ॥ ७१ ॥

बोधिपाचीनपञ्ञत्ते पल्लङ्के कोटिअग्घके ।
सोवण्णबुद्धपटिमं निसीदापेसि भासुरं ॥ ७२

[W.G.241] सरीरावयवा तस्सा पटिमाय यथारहं ।
नानावण्णेहि रतनेहि कता सुरुचिरा अहुं ॥ ७३ ॥

महाब्रह्मा ठितो तत्थ रजतच्छत्तधारको ।
विजयुत्तरसङ्खेन सक्को च अभिसेकदो ॥ ७४ ॥

शुद्ध चाँदी से निर्मित तथा मणिमय पत्रों से सुशोभित उसका स्कन्ध सुवर्णमय पीत वर्ण के पत्रों, फलों वाला, तथा मूंगे से बने अङ्कुरों (सूक्ष्म पत्रों) से युक्त था ॥ ६४ ॥

इन स्कन्धों पर स्थान-स्थान पर माङ्गलिक चिह्न पुष्पलता एवं माङ्गलिक पशु (सिंह, गज, मृग, आदि) तथा पक्षी (शुक, मयूर हंस आदि) पंक्तिबद्ध शोभित थे ॥ ६५ ॥

ऊपर मण्डप (वितान) में मोतियों की छोटी-छोटी मालाओं का जाल लगाया गया था । साथ ही स्थान-स्थान पर सुवर्णनिर्मित घण्टियाँ, तथा दाम (लताएँ) जहाँ-तहाँ उत्कीर्ण की गयी थीं ॥ ६६

मण्डप के चारों कोनों में नौ नौ लाख (९,००,०००) मुद्राओं से क्रीत मोतियों की मालाओं के समूह लटके हुए थे ॥ ६७ ॥

उस मण्डप में स्थान-स्थान पर सूर्य, चन्द्र, तारा समूह, कमल के फूल भी रत्नों से बनाये, हुए थे ॥ ६८ ॥

विविध रंगों के आठ हजार (८०००) मुद्राओं के बहुमूल्य वस्त्रों की ध्वजाएँ भी उस मण्डप में लटकायी गयी थीं ॥ ६९ ॥

उस बोधिवृक्ष के चारों तरफ नाना प्रकार के रत्नों की वेदिका, संस्तार (थाँवला=आलवाल) के अन्दर बड़े आमले जितने बड़े मोतियों की राशि लगी हुई थी ॥ ७० ॥

उस बोधि वृक्ष के चारों तरफ सुगन्धमय जल से भरे रत्ननिर्मित घड़ों की पंक्तियाँ भी रखी हुई थीं ॥ ७१ ॥

बुद्ध-प्रतिमा– वहाँ राजा ने बोधि वृक्ष के पूर्व की ओर बिछे हुए करोड़ों मुद्रओं से खरीद गये महँगे पलङ्ग पर सुवर्णनिर्मित देदीप्यान बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की ॥ ७२ ॥

उस प्रतिमा के सभी अङ्गों में नाना प्रकार के रत्न जड़े हुए थे । जिस से वह (प्रतिमा) और भी अधिक नयनाभिराम हो गयी थी ॥ ७३ ॥

महाब्रह्मा, उस बुद्धप्रतिमा के समीप, (उसके सम्मान में) रजतमय छत्र लिये हुए खड़े थे । तथा दूसरी तरफ विजयोत्तर शङ्ख के साथ अभिषेक देने वाले इन्द्र खड़े थे ॥ ७४ ॥

वीणाहत्थो पञ्चसिखो कालनागो सनाटके ।
सहस्सहत्थो मारो च सहत्थी सहकिङ्करो ॥ ७५ ॥

पाचीनपल्लङ्कनिभा सेससत्तदिसासु पि ।
कोटिकोटिधनग्घा च पल्लङ्का अत्थता अहुं ॥ ७६ ॥

बोधिं उस्सीसके कत्वा नानारतनमण्डितं ।
कोटिधनग्घकं येव पञ्ञत्तं सयनं अहु ॥ ७७ ॥

सत्तसत्ताहठानेसु तत्थ तत्थ यथारहं ।
अधिकारे अकारेसि ब्रह्मायाचनमेव च ॥ ७८ ॥

धम्मचक्कप्पवत्तिं च यसपब्बजनमेव च ।
भद्दवग्गियपब्बज्जं जटिलानं दमनं पि च ॥ ७९ ॥

बिम्बिसारागमं चापि, राजगहप्पवेसनं ।
वेळुवनस्स गहणं असीति सावके तथा ॥ ८० ॥

कपिलवत्थुगमनं तत्थेव रतनचङ्कमं ।
राहुलानन्दपब्बज्जं गहणं जेतवनस्स च ॥ ८१ ॥

अम्बमूले पाटिहीरं, तावतिंसम्हि देसनं ।
देवोरोहणपाटिहीरं, थेरपञ्हसमागमं ॥ ८२ ॥

महासमयसुत्तन्तं राहुलोवादमेव च ।
महामङ्गलसुत्तं च, धनपालसमागमं ॥ ८३ ॥

[W.G.242] आलवकङ्गुलिमाल-अपलालदमनं पि च ।
पारायनकसमितिं आयुवोस्सज्जनं तथा ॥ ८४ ॥

सूकरमद्दवग्गाहं सिङ्गिवण्णयुगस्स च ।
पसन्नोदकपानं च परिनिब्बानमेव च ॥ ८५ ॥

पञ्चशिख (गन्धर्व) वीणा हाथ में लिये हुए, अप्सराओं (नर्तकियों) सहित कालनाग, सहस्रबाहु मार अपने हाथी एवं अनुयायियो (किङ्करों) के साथ खड़ा था ॥ ७५ ॥

पूर्व दिशा में बनाये गये पलङ्ग (आसन) के समान ही बाकी सात दिशाओं में भी करोड़-करोड़ (१,००,००,०००) मुद्राओं से खरीदे गये पलङ्ग बिछाये गये थे ॥ ७६ ॥

परन्तु वे ऐसे ढंग से रखे गये थे कि उन के बीच से बोधिवृक्ष ऊपर स्पष्ट (उच्छीर्षक) दिखायी देता रहे । एक करोड़ (१,००,००,०००) मूल्य की एक शय्या भी वहाँ बिछायी गयी थी ॥ ७७ ॥

भगवान् की जीवन-लीला का उत्कीर्णन– उस श्रद्धालु राजा ने उस धातुगर्भ में बोधि-प्राप्ति के बाद के सात सप्ताहों में हुई भगवान् की जीवन-लीला की घटनाएँ भी यथास्थान उत्कीर्ण करवायीं । साथ ही ब्रह्मायाचनकथा भी उत्कीर्ण करायी ॥ ७८ ॥

फिर धर्मचक्र-प्रवर्तन, यश श्रेष्ठी की प्रव्रज्या, भद्रवर्गीय सहायकों की प्रव्रज्या, तथा जटिलों को सन्मार्ग पर लाने की कथा कभी उत्कीर्ण करायी ॥ ७९ ॥

भगवान् का राजा बिम्बिसार के पास मिलना, राजगृह में प्रवेश, वेळुवनाराम का दानग्रहण, अस्सी (८०) श्रावकों सहित ॥ ८० ॥

कपिलवस्तुगमन, वहाँ रत्नचंक्रमण-प्रातिहार्य- प्रदर्शन, राहुल एवं आनन्द की प्रव्रज्या का चित्रण, (अनाथपिण्डक श्रेष्ठी से) जेतवन का ग्रहण ॥ ८१ ॥

आम्रवृक्ष के नीचे प्रातिहार्य-प्रदर्शन, त्रायस्त्रिंश लोक में जाकर किया गया अभिधर्मोपदेश, देवताओं का भगवद्दर्शनार्थ भूलोक पर आना, तथा स्थविरों के प्रश्न (दी. नि. २० सू.) ॥ ८१ ॥

महासमयसूत्र, राहुलोवादसूत्र, महामङ्गलसूत्र एवं, धनपालसमागम (सूत्र) ॥ ८२ ॥

आलवक (यक्ष), अङ्गुलिमाल, एवं अजपाल (नागराज) दमन, पारायणक ब्राह्मणों से भेंट, आयुःसंस्कार(जीवन-)त्याग ॥ ८४ ॥

शूकरमार्दव का भोजन, शृङ्गिवर्णयुगल का स्वच्छ जलपान, एवं महापरि-निर्वाण (देहपात) ॥ ८५ ॥

देवमनुस्सपरिदेवं, थेरेन पादवन्दनं ।
दहनं, अग्गिनिब्बानं तत्थ सक्कारमेव च ॥ ८६ ॥

धातुविभङ्गं दोणेन पसादजनकानि च ।
येभुय्येन अकारेसि जातकानि सुजातिमा ॥ ८७ ॥

वेस्सन्तरजातकं तु वित्थारेन अकारयि ।
तुसितपुरतो याव बोधिमण्डं तथेव च ॥ ८८ ॥

चतुद्दिसं ते चत्तारो महाराजा ठिता अहुं ।
तेत्तिस देवपुत्ता च द्वत्तिंसा च कुमारियो ॥ ८९ ॥

यक्खसेनापती अट्ठवीसति च ततोपरि ।
अञ्जलिपग्गहा देवा, पुप्फपुण्णघटा ततो ॥ ९० ॥

नच्चका देवता चेव तुरियवादकदेवता ।
आदासगाहका देवा पुप्फसाखाधरा तथा ॥ ९१ ॥

पदुमादिगाहका देवा अञ्ञे देवा च नेकधा ।
रतनग्घियपन्ती च धम्मचक्कानमेव च ॥ ९२ ॥

खग्गधरा देवपन्ती देवा पातिधरा तथा ।
तेसं सीसे पञ्चहत्था गन्धतेलस्स पूरिता ॥ ९३ ॥

[W.G.243] दुकूलवट्टिका पाती सदा पज्जलिता अहुं ।
फलिकग्घिये चतुक्कण्णे एकेका च महामणि ॥ ९४ ॥

सुवण्णमणिमुत्तानं रासियो वजिरस्स च ।
चतुक्कणेसु चत्तारो कताहेसुं पभस्सरा ॥ ९५ ॥

मेदवण्णकपासाणभित्तियं येव उज्जला ।
विज्जुलता अप्पिता आसुं धातुगब्भे विभूसिता ॥ ९६ ॥

उसके कारण देव-मनुष्यों का विलाप, स्थविरों द्वारा पादवन्दन, दाह-क्रिया, अग्नि-निर्वाण तथा तदुत्तरकालिक पूजा ॥ ८६ ॥

द्रोण ब्राह्मण द्वारा अस्थियों की पूजा, इत्यादि भगवान् बुद्ध की जीवन-कथाएँ जो कि भगवान् बुद्ध में श्रद्धोत्पादक हैं, तथा जातक-कथाएँ– ये सभी लीलाएँ सज्जातिसम्पन्न उस राजा ने वहाँ उत्कीर्ण करायी ॥ ८७ ॥

वेस्सन्तर जातक (५३८) का तो विस्तार से उत्कीर्णन कराया । तथा इसी तरह तुषितपुर (देवलोक) से आरम्भ कर बोधिमण्डप तक की सभी लीलाओं का विस्तरशः उत्कीर्णन कराया ॥ ८८ ॥

तुषितपुर का उत्कीर्णन– तुषितपुर के चारों महाराज, तेतीस (३३) देवपुत्र, बत्तीस (३२) देवकन्याएँ, अट्ठाईस (२८) यक्ष सेनापति ॥ ८९ ॥

जिन पर हाथ उठाये देवता, कमल आदि पुष्प हाथ में लिये देवता, हाथ जोड़े हुए पुरुष एवं जलपूर्ण घट लिये हुए देवता ॥ ९० ॥

देवता, नर्तक (गन्धर्व) देवता, तूर्यवादक देवता, दर्पण हाथ में लिये देवता, पुष्पयुक्त शाखाधारी देवता भी वहाँ उत्कीर्ण कराये ॥ ९१ ॥

इसी प्रकार कमल पुष्प हाथ में लिये देवता, इसी तरह के अन्य देवता, रत्नमालाओं की पंक्तियाँ, धर्मचक्रों की पंक्तियाँ ॥ ९२ ॥

खड्गधारी देवपंक्ति, पात्रधारी देवताओं की पंक्ति, जिन के सिर पर पाँच हाथ ऊँचे गन्धतैलपूर्ण दीपक रखे हुए थे ॥ ९३ ॥

जिनमें पड़ी हुई कपड़े (दुकूल) की बत्ती निरन्तर जलती दिखायी देती थी । स्फटिक मणि के एक महराव के चारों कोणों में एक एक महामणि ॥ ९४ ॥

तथा इसके अतिरिक्त सुवर्ण, मणि-रत्न एवं मोतियों के चार उज्ज्वल ढेर (राशि) रखे हुए थे । साथ ही एक तरफ देदीप्यमान वज्ररत्न (हीरा) की भी राशि रखी हुई थी ॥ ९५ ॥

उस धातुगर्भ में मेदोवर्ण के पत्थरों से बनी दीवार (भित्ति) पर उज्ज्वल बिजली लगाने से वहाँ की सुन्दरता और भी बढ़ गयी थी ॥ ९६ ॥

रूपकानेत्थ सब्बानि धातुगब्भे मनोरमे।
घनकोट्टिमहेमस्स कारापेसि महीमति ॥ ९७ ॥

इन्दगुत्तो महाथेरो छळभिञ्ञो महामति।
कम्माधिट्ठायको एत्थ सब्बं संविदही इयं ॥ ९८ ॥

सब्बं राजिद्धिया एतं देवतानं च इद्धिया।
इद्धिया अरियानं च असम्बाधं च इद्धिया ॥ ९९ ॥

तित्थन्तं सुगतं च पूजियतमं लोकुत्तमं नित्तमं,
धातू चस्स विचुण्णिता जनहितं आसिंसता पूजिय।
[W.G.243] पुञ्ञं तं सममिच्चवेच्च मतिमा सद्धागुणालङ्कतो,
तित्थन्तं सुगतं वियस्स मुनिनो धातुं च सम्पूजये[1] ॥ ति ॥१०० ॥

सुजनप्पसादसंवगत्थाय कते महावंसे

धातुगब्भरचनो नाम

तिंसतिमो परिच्छेदो

***

1. शार्दूलविक्रीडित छन्द.

इस प्रकार उस राजा ने उस धातुगर्भ की भित्तियों पर उत्कीर्ण चित्रकला पर करोड़ों मुद्राएँ खर्च कीं ॥ ९७ ॥

स्थविर इन्द्रगुप्त– महान् प्रज्ञासम्पन्न, षडभिज्ञ स्थविर इन्द्रगुप्त इस स्तूपनिर्माण के मुख्य कर्माधिष्ठायक थे । उन्हीं के सान्निध्य में स्तूपनिर्माण का यह समग्र कार्य निष्पन्न हुआ ॥ ९८ ॥

यह सब कुछ राजा की अगाध कर्मशक्ति एवं देवताओं की कृपा तथा सज्जनों (आर्यों) की ऋद्धि–इन तीन बातों से ही निर्विघ्न पूर्ण हुआ ॥ ९९ ॥

जैसे शुद्ध हृदय से पूज्य, लोकोत्तर, तेजःपुञ्जस्वरूप, जीवित भगवान् की पूजा की जाती है उसी शुद्ध हृदय से विहारों (स्तूपों) में निहित भगवान् के शरीर की धातुओं की पूजा करनी चाहिये; क्योंकि 'जीवित भगवान् तथा उनके शारीरास्थिओं की पूजा दोनों ही समान रूप से पुण्यफलप्रद है'–ऐसा बुद्धिमान् पुरुष को समझते हैं ॥ १०० ॥

सज्जनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह की
अभिवृद्धि हेतु रचित महावंस ग्रन्थ में
धातुगर्भनिर्माण नामक
तीसवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

३१.

एकतिंसतिमो परिच्छेदो

(धातुनिधानं नाम)

[W.G.245] धातुगब्भम्हि कम्मानि निट्ठापेत्वा अरिन्दमो ।
सन्निपातं कारयित्वा सङ्घस्स इदमब्रवि ॥ १ ॥

"धातुगब्भम्हि कम्मानि मया निट्ठापितानि हि ।
सुवे धातुं निधेस्सामि, भन्ते! जानाथ धातुयो" ॥ २ ॥

इदं वत्वा महाराजा नगरं पाविसि ततो ।
धातुआहरकं भिक्खुं भिक्खुसङ्घो विचिन्तयि ॥ ३ ॥

सोणुत्तरं नाम यतिं पूजापरिवेणवासिकं ।
धाताहरणकम्मम्हि छळभिञ्ञं नियोजयि ॥ ४ ॥

चारिकं चरमानम्हि नाथे लोकहिताय हि ।
नन्दुत्तरो ति नामेन गङ्गातीरम्हि माणवो ॥ ५ ॥

निमन्तेत्वाभिसम्बुद्धं सह सङ्घमभोजयि ।
सत्था पयागपट्टने ससङ्घो नावमारुहि ॥ ६ ॥

तत्थ भद्दजिथेरो तु छळभिञ्ञो महिद्धिको ।
जलपक्खलितट्ठानं दिस्वा भिक्खू इदं वदि ॥ ७ ॥

[W.G.246] "महापनादभूतेन मया वुत्थो सुवण्णयो ।
पासादो पतितो एत्थ पञ्चवीसतियोजनो ॥ ८ ॥

इकतीसवाँ परिच्छेद

(धातुनिधान-वर्णन)

धातुसंग्रह का निश्चय—धातुगर्भ के निर्माण का कार्य समाप्त करने के बाद, शत्रुहन्ता राजा ने सङ्घ को एकत्र कर यह निवेदन किया ॥ १ ॥

"भन्ते ! मैने धातुगर्भ के निर्माण का कार्य सम्पन्न करा दिया है, अतः कल मैं उस में धातु-निधान करूँगा—यह आप लोगों को सूचनार्थ निवेदन है" ॥ २ ॥

यह कह कर, राजा, उसके बाद नगर में प्रविष्ट हुआ । उधर भिक्षुसङ्घ ने धातु लाने में समर्थ भिक्षु के विषय में विचार किया ॥ ३ ॥

धातु लाने के लिये स्थविर की नियुक्ति— अन्त में सङ्घ ने पूजापरिवेणवासी षडभिज्ञ सोणोत्तर भिक्षु को इस धातु-आहरण कर्म में नियुक्त किया ॥ ४ ॥

अन्तःकथा— भगवान् बुद्ध द्वारा लोकहितार्थ चारिका करते समय, गङ्गातीर पर रहनेवाले नन्दोत्तर नामक माणव ने सङ्घसहित भगवान् को निमन्त्रित कर ससम्मान भोजन कराया । एतदनन्तर, शास्ता प्रयाग घाट पर सङ्घसहित नाव पर चढ़े ॥ ५-६ ॥

तब छह अभिज्ञा प्राप्त अत एव ऋद्धिसम्पन्न स्थविर भद्रजित् एक जगह जल में भ्रमर पड़ते स्थान को देखकर भिक्षुओं से यों बोले– ॥ ७ ॥

"महाप्रणाद नामक राजा होते हुए मैने कभी (पूर्वकाल में) यहीं एक सुवर्णराजप्रासाद में वास किया था, जो कि पचीस (२५) योजन विस्तृत था । ॥ ८ ॥

तं पापुणित्वा गङ्गाय जलं पक्खलितं इध" ।
भिक्खू असद्दहन्ता नं सत्थुनो तं निवेदयुं ॥ ९ ॥

सत्थाह "कङ्खं भिक्खूनं विनोदेही" ति सो ततो ।
ञापेतुं ब्रह्मलोके पि वसवत्तिसमत्थतं ॥ १० ॥

इद्धिया नभमुग्गन्त्वा सत्ततालसमे ठितो ।
दुस्सथूपं ब्रह्मलोके ठपेत्वा वड्ढितो करे ॥ ११ ॥

इधानेत्वा दस्सयित्वा जनस्स पुन तं तहिं ।
ठपयित्वा यथाठाने इद्धिया गङ्गमोगतो ॥ १२ ॥

पादङ्गुट्ठेन पासादं गहेत्वा थूपिकाय सो ।
उस्सापेत्वान दस्सेत्वा जनस्स खिपि तं तहिं ॥ १३ ॥

नन्दुत्तरो माणवको दिस्वा तं पाटिहीरियं ।
"पारायत्तं अहं धातुं पहू आनयितुं सियं" ॥ १४ ॥

इति पत्थयि, तेनेतं सङ्घो सोणुत्तरं यतिं ।
तस्मिं कम्मे नियोजेसि सोळसवस्सिकं अपि ॥ १५ ॥

"आहरामि कुतो धातुं?" इति सङ्घं अपुच्छि सो ।
कथेसि सङ्घो थेरस्स तस्स ता धातुयो इति ॥ १६ ॥

"परिनिब्बानमञ्चम्हि निपन्नो लोकनायको ।
धातूहि पि लोकहितं कातुं देविन्दमब्रवि ॥ १७ ॥

देविन्दद्दसु दोणिसु मम सारीरधातुसु ।
एकं दोणं रामगामे कोळियेहि च सक्कतं ॥ १८ ॥

नागलोकं ततो नीतं, तत्थ नागेहि सक्कतं ।
लङ्कादीपे महाथूपे निधानाय भविस्सति ॥ १९ ॥

आज वह खण्डित होकर जलमग्न हो गया है । इसीलिये (उससे टकराने से) यहाँ गङ्गाजल में भ्रमर पड़ता है" । भिक्षुओं ने इस बात पर विश्वास नहीं किया, और भगवान् के सम्मुख अपना यह सन्देह प्रकट किया ॥ ९ ॥

तब, शास्ता ने भद्रजित् को आदेश दिया कि वह भिक्षुओं के इस सन्देह का निवारण करे । तब भद्रजित् स्थविर ने ब्रह्मलोक तक अपनी वशवर्तिता प्रमाणित करने के लिये ॥ १० ॥

ऋद्धिबल से आकाश में उड़कर वहाँ (शून्य में) सात ताल ऊपर ठहर कर, ब्रह्मलोक के दूष्य स्तूप को अपने बढ़ाये हुए हाथ पर रखकर ॥ ११ ॥

यहाँ उसे लाकर, भिक्षुओं तथा जनता को दिखाकर पुनः उसको ऋद्धिबल से वहीं स्थापित कर, वे स्थविर गङ्गा में उतरे ॥ १२ ॥

वहाँ अपने पैर के अंगूठे से उस प्रासाद को पकड़ कर, ऊपर उठाकर, जनता के दिखाते हुए पुनः उस प्रासाद को वहीं (गङ्गा के बीच में) फेंक दिया ॥ १३ ॥

नन्दोत्तर नामक उस माणवक ने स्थविर का वह ऋद्धिबल देखकर, दृढ अधिष्ठान किया—"मैं भी कभी उसी तरह (ऋद्धिबल से) धातु-आनयन का कार्य कर पाऊँ ! ॥ १४ ॥

अन्तःकथा समाप्त ॥

अतः सङ्घ ने शोणोत्तर द्वारा विहित सत्य सङ्कल्प को जानते हुए उसे सोलह वर्ष का होते हुए भी, इस धातु-अपहरण के कठिन कार्य में नियुक्त किया ॥ १५ ॥

तब उस शोणोत्तर यति ने सङ्घ से जिज्ञासा की—"मैं इन धातुओं को कहां से लाऊँ ?" तब सङ्घ ने उस धातु-आनयन का स्थान एवं उपाय विस्तार से यों बताया— ॥ १६ ॥

"परिनिर्वाण मञ्च पर लेटे हुए लोकनायक (बुद्ध) ने लोकहितार्थ देवेन्द्र शक्र से कहा—"मेरी शरीर-धातुओं से भी लोकहित होना चाहिये ॥ १७ ॥

"देवेन्द्र ! ऐसा करो कि मेरी इन शरीर-धातुओं को आठ द्रोणों (एक विशेष माप) में विभक्त कर, एक द्रोण शरीर-धातु रामग्राम के कोलियों द्वारा सत्कृत-पूजित हो ॥ १८ ॥

"फिर दूसरा द्रोण शरीरधातु नागलोक में सत्कृत पूजित होकर वहीं अन्त में लङ्काद्वीप जाकर प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा ॥ १९ ॥

महाकस्सपथेरो पि दीघदस्सी महामति ।
धम्मासोकनरिन्देन धातुवित्थारकारणा ॥ २० ॥

[W.G.247] राजगहस्स सामन्ते रञ्ञो अजातसत्तुनो ।
कारापेन्तो, महाधातुनिधानं साधु सङ्खतं ॥ २१ ॥

सत्त दोणानि धातूनं आहरित्वान कारयि ।
रामगामम्हि दोणं तु सत्थुचित्तञ्ञु नाग्गहि ॥ २२ ॥ (ख)

महाधातुनिधानं तं धम्मासोको पि भूपति ।
पस्सित्वा अट्ठमं दोणं आनापेतुं मतिं अका ॥ २३ ॥

महाथूपे निधानत्थं विहितं तं जिनेनिति ।
धम्मासोकं निवारेसुं तत्थ खीणासवा यती ॥ २४ ॥

रामगामम्हि थूपो तु गङ्गातीरे कतो पन ।
भिज्जि गङ्गाय ओघेन, सो तु धातुकरण्डको ॥ २५ ॥

समुद्दं पविसित्वान द्विधा भिन्ने जले तहिं ।
नानारतनपीठम्हि अट्ठरस्मिसमाकुलो ॥ २६ ॥

नागा दिस्वा करण्डं तं कालनागस्स राजिनो ।
मञ्जेरिकनागभवनं उपगम्म निवेदयुं ॥ २७ ॥

दसकोटिसहस्सेहि गन्त्वा नागेहि सो तहिं ।
धातू ता अभिपूजेन्तो नेत्वान भवनं सकं ॥ २८ ॥

सब्बरतनमयं थूपं तस्सोपरि घटं तथा ।
मापेत्वा सह नागेहि सदा पूजेसि सादरो ॥ २९ ॥

[W.G.248] "आरक्खा महती तत्थ, गन्त्वा धातू इधानय ।
सुवे धातुनिधानं हि भूमिपालो करिस्सति" ॥ ३० ॥

"महामति एवं दूरदर्शी महाकाश्यप स्थविर (प्रथम सङ्गीति के प्रधान) ने भी आगे चलकर सम्राट् अशोक द्वारा किये जाने वाले धातुविस्तार के कारण ॥ २० ॥ (क)

"राजगृह के पास वहाँ के राजा अजातशत्रु ने एक सुदृढ एवं सुरक्षित धातुनिधान बनवाया ॥ २१ ॥

"तब उन्होंने वहाँ रखने के लिये सातों द्रोणधातु तो मँगवा लिये–परन्तु रामग्राम स्थित द्रोणधातु, शास्ता का चित्त का भाव जानते हुए, नहीं मँगवाया ॥ २२ ॥ (ख)

"आगे चलकर (भविष्य में) सम्राट् धर्माशोक ने भी, भगवान् के सभी द्रोणधातु एक संग्रह के लिये रामग्राम का द्रोणधातु भी मँगाने का विचार किया परन्तु (मोग्गलिपुत्ततिस्स आदि) स्थविरों के वर्जन (निषेध) पर उसने (भी) यह विचार त्याग दिया ॥ २३-२४ ॥

"उधर रामग्राम का द्रोणधातु, स्तूप के गङ्गा (नदी) तट पर होने से कभी बाढ में टूट गया । तब उसमें स्थित धातुकरण्डक (धातुमञ्जूषा) वहाँ से बह कर ॥ २५ ॥

"समुद्र में जाकर, जहाँ समुद्र का जल द्विधा विभक्त होता है, वहाँ आकर ठहरा और नानारत्नजटित एक सिंहासन पर विराजमान हुआ । उसमें से विविध देदीप्यमान किरणें निकल रही थीं ॥ २६ ॥

"वहाँ नागों ने उस धातुमञ्जूषा को देखकर, अपने राजा कालानाग को, 'मञ्जरीक' नागभवन जाकर, उसके विषय में सूचित किया ॥ २७ ॥

"वह दश करोड़ (१०,००,००,०००) नागों को साथ उस स्थान पर गया, और उन धातुओं की सविधि पूजा-अर्चना कर उन्हें अपने भवन में ले आया ॥ २८ ॥

"उसने वहाँ (अपने भवन में) उस धातुद्रोण पर सर्वरत्नजटित स्तूप बनवा कर उसमें उसका गर्भगृह बनवाकर अपने अनुचर नागों के साथ उसकी सविधि पूजा करना प्रारम्भ किया ॥ २९ ॥

"उसने उसी समय से वहाँ उन धातुओं की सूदृढ सुरक्षाव्यवस्था कर रखी है । उन्हीं धातुओं को, तुम जाकर, यहाँ तत्काल लाओ ; क्योंकि राजा ने कल यहाँ धातुनिधान की घोषणा कर दी है" ॥ ३० ॥

इच्चेवं सङ्घवचनं सुत्वा साधूहि सो पन ।
गन्तब्बकालं पेक्खन्तो परिवेणं अगा सकं ॥ ३१ ॥

"भविस्सति सुवे धातुनिधानं" ति महीपति ।
चारेसि नगरे भेरिं सब्बकिच्चविधायकं ॥ ३२ ॥

नगरं सकलं चेव इधागमि च अञ्जसं ।
अलङ्कारयि सक्कच्चं नागरे च विभूसयि ॥ ३३ ॥

सक्को देवानमिन्दो च लङ्कादीपं असेसकं ।
आमन्तेत्वा विस्सकम्मं अलङ्कारयि नेकधा ॥ ३४ ॥

नगरस्स चतुद्वारे वत्थभत्तादिकानि सो ।
महाजनोपभोगत्थं ठपापेसि नराधिपो ॥ ३५ ॥

उपोसथे पण्णरसे अपरण्हे सुमानसो ।
पण्डितो राजकिच्चेसु सब्बालङ्कारमण्डितो ॥ ३६ ॥

सब्बाहि नाटकित्थीहि योधेहि सायुधेहि च ।
महता च बलोघेन हत्थि-वाजि-रथेहि च ॥ ३७ ॥

नानाविधविभूसेहि सब्बतो परिवारितो ।
आरुय्ह सुरथं अट्ठा सुसेतचतुसिन्धवं ॥ ३८ ॥

भूसितं कण्डुलं हत्थिं कारेत्वा पुरतो सुभं ।
सुवण्णचङ्गोटधरो सेतच्छत्तस्स हेट्ठतो ॥ ३९ ॥

[W.G.249] अट्ठुत्तरसहस्सानि नागरनारियो सुभा ।
सुपुण्णघटभूसायो तं रथं परिवारयुं ॥ ४० ॥

नानापुप्फसमुग्गानि तथेव दण्डदीपिका ।
तत्तका तत्तका एव धारयित्वान इत्थियो ॥ ४१ ॥

धातु-आहरण हेतु स्थविर का प्रयाण—यों सङ्घ का आदेश सुनकर, वह स्थविर सज्जनों से नागभवन जाने का उचित परामर्श लेकर, अपने पूजापरिवेण में पहुँचा ॥ ३१ ॥

राजा का धातु-निधान हेतु प्रस्थान—उधर राजा ने "कल धातुगर्भ में धातुनिधान होगा" यह घोषणा करवाकर, नगर में दुन्दुभि बजवा कर, समग्र आवश्यक कृत्यों को पूर्ण कराया ॥ ३२ ॥

सम्पूर्ण नगर को, विशेषतः धातुगर्भस्तूप की ओर आने वाले मार्गों को पूर्णतः अलंकृत कराकर, नागरिकों को भी सत्कारपूर्वक अवसर के अनुकूल वेशभूषा पहनायी ॥ ३३ ॥

उधर देवराज इन्द्र ने भी इस अवसर पर, विश्वकर्मा को बुलाकर, समग्र लङ्काद्वीप को सुसज्जित कराया ॥ ३४ ॥

राजा ने नगर के चारों द्वारों पर जनता के उपभोग हेतु वस्त्र, मधुर जलपान आदि की व्यवस्था कर दी ॥ ३५ ॥

पूर्णिमा के उपोसथ के दिन मध्याह्न में, सभी कार्य सम्पन्न करने-कराने में कुशल प्रसन्नचित्त राजा सभी अलङ्करणों से सुसज्जित होकर ॥ ३६ ॥

सभी नृत्यकुशल नर्तकियों तथा अस्त्र-शस्त्र सहित सेना को साथ लेकर हाथी-घोड़े आदि का विशाल बलौघ (लवाज़मा) लेकर ॥ ३७ ॥

नानाविध वेषभूषाओं में युक्त नागरिकों से घिर हुआ होकर भद्र (मङ्गल) रथ पर, जिसमें पूरी तरह सफेद सिन्धुदेश से आये (सैन्धव) घोड़े जुते हुए थे, आरूढ होकर ॥ ३८ ॥

माङ्गलिक कण्डुलहस्ती को भी सर्वथा अलङ्कृत कराकर, श्वेत छत्र क नीचे सुवर्ण का चङ्गोटक (छोटी टोकरी) रख कर ॥ ३९ ॥

आठ हजार (८,०००) सुसंस्कृत (नागर) महिलाएँ अपने शिर पर जलपूर्ण घट रख कर, नाना प्रकार की रंग-विरंगी बहुमूल्य वेष-भूषा पहनकर उस राज-रथ को घेरे हुए ॥ ४० ॥

तथा उतनी ही स्त्रियाँ तरह-तरह के फूल हाथों में लेकर एवं उतनी ही स्त्रियाँ मङ्गलदीप हाथों में लेकर ॥ ४१ ॥

अट्ठुत्तरसहस्सानि दारका समलङ्कता ।
गहेत्वा परिवारेसुं नानावण्णधजे सुभे ॥ ४२ ॥

नानातुरियघोसेहि अनेकेहि तहिं तहिं ।
हत्थस्सरथसद्देहि भिज्जन्ते विय भूतले ॥ ४३ ॥

यन्तो महामेघवनं सिरिया सो महायसो ।
यन्तो नन्दवनं देवराजा राजा व सोभथ ॥ ४४ ॥

रञ्ञो निग्गमनारम्भे महातुरियरवं पुरे ।
परिवेणे निसिन्नो व सुत्वा सोणुत्तरे यति ॥ ४५ ॥

निमुज्जित्वा पथविया गन्त्वान नागमन्दिरं ।
नागराजस्स पुरतो तत्थ पातुरहू लहुं ॥ ४६ ॥

वुट्ठाय अभिवादेत्वा पल्लङ्के तं निसीदिय ।
सक्करित्वान नागिन्दो पच्छि आगतदेसकं ॥ ४७ ॥

तस्मिं वुत्ते अथो पुच्छि थेरस्सागमकारणं ।
वत्वाधिकारं सब्बं सो सङ्घसन्देसमब्रवि ॥ ४८ ॥

"महाथूपे निधानत्थं बुद्धेन विहिता इध ।
तव हत्थगता धातू, देहि ता किर मे तुवं" ॥ ४९ ॥

तं सुत्वा नागराजा सो अतीव दोमनसिको ।
"पहु अयं हि समणो बलक्कारेन गण्हितुं ॥ ५० ॥

[W.G.249] तस्मा अञ्ञत्थ नेतब्बा धातुयो" इति चिन्तिय ।
तत्थं ठितं भागिनेय्यं आकारेन निवेदयि ॥ ५१ ॥

नामेन सो वासुलदत्तो जानित्वा तस्स इङ्गितं ।
गन्त्वा तं चेतियघरं गिलित्वा तं करण्डकं ॥ ५२ ॥

साथ ही आठ हजार (८,०००) बच्चे हाथों में रंग-बिरंगी ध्वजाएँ लेकर नाना प्रकार के वाद्य-घोषों के साथ एवं साथ के हाथी, घोड़े, रथों के चलने से हो रहे घनघोर शब्द से भूमि को फाड़ता हुआ सा ।। ४२-४३ ।।

वह महायशस्वी राजा महामेघवन जाता हुआ ऐसा शोभासम्पन्न हो रहा था मानों देवराज इन्द्र नन्दवन जा रहा हो ।। ४४ ।।

स्थविर का नागराज से संवाद–राजा के महामेघवन के लिये निर्गमन के साथ हो रही वाद्यों की तुमुल ध्वनि सुन कर अपने पूजा-परिवेण में बैठा वह शोणोत्तर यति तत्काल ही पृथ्वी में डुबकी लगा कर नागभवन में जाकर नागराज के सम्मुख उपस्थित हुआ ।। ४५-४६ ।।

नागराज ने उसको देखते ही उठकर प्रणाम कर, उसे पर्यङ्क पर बैठा कर, सत्कार कर, आगमन का स्थान पूछा ।। ४७ ।।

स्थविर द्वारा यह बता दिये जाने पर, नागराज ने उनसे यहाँ आने का कारण पूछा । तब स्थविर ने यहाँ आने का कारण बताते हुए उसको सङ्घ का सन्देश सुना दिया ।। ४८ ।।

"महास्तूप में रखने (निधान) के लिये भगवान् बुद्ध ने जिस धातुओं को उपयुक्त ठहराया है वे धातु इस समय आपके पास हैं; उन्हें आप मुझे तत्काल सौंप दें ।। ४९ ।।

यह सुनकर नागराज का मन अत्यधिक खिन्न हुआ । और सोचा कि "यह श्रमण इन धातुओं को बलपूर्वक ले जाने में भी समर्थ है ।। ५० ।।

इसलिये इन धातुओं कहीं अन्यत्र स्थानपरिवर्तन कर दी जाँय" । यह सोचकर वहाँ बैठे अपने भानजे को ऐसा करने के लिये सङ्केत किया ।। ५१ ।।

वागुलदत्त नामक उसका भानजा सङ्केत समझ कर शीघ्रता में चैत्यगृह जाकर उस धातु-करण्डक को अपने मुख में रख कर सुमेरु पर्वत पर जाकर कुण्डली मार कर सो गया । उस नाग की लम्बाई तीन सौ योजन लम्बी एवं उसका फण (मुख) एक योजन चौड़ा था ।। ५२ ।।

सिनेरुपादं गन्त्वान कुण्डलावट्टको सयि ।
तियोजनसतं दीघो भोगो योजनवट्टवा ॥ ५३ ॥

अनेकानि सहस्सानि मापेत्वान फणानि च ।
धूमायति पज्जलति सयित्वा सो महिद्धिको ॥ ५४ ॥

अनेकानि सहस्सानि अत्तना सदिसे अही ।
मापयित्वा सयापेसि समन्ता परिवारिते ॥ ५५ ॥

बहू नागा च देवा च ओसरिंसु तहिं तदा ।
"युद्धं उभिन्नं नागानं पस्सिस्साम मयं" इति ॥ ५६ ॥

मातुलो "भागिनेय्येन हटा ता धातुयो" इति ।
ञत्वाह थेरं तं "धातू नत्थि[1] मे[1] सन्तिके" इति ॥ ५७ ॥

आदितो पभुति थेरो तासं धातूनमागमं ।
वत्वान नागराजं तं "देहि धातू" ति अब्रवि ॥ ५८ ॥

अञ्ञथा सञ्ञापेतुं थेरं[2] सो उरगाधिपो ।
आदाय चेतियघरं गन्त्वा तं तस्स वण्णयि ॥ ५९ ॥

[W.G.251] "अनेकधा अनेकेहि रतनेहि सुसङ्खतं ।
चेतियं चेतियघरं पस्स भिक्खु सुनिम्मितं ॥ ६० ॥

लङ्कादीपम्हि सकले सब्बानि रतनानि पि ।
सोपानन्ते पाटिकं पि नाग्घन्तञ्ञेसु का कथा ! ॥ ६१ ॥

महासक्कारठानम्हि अप्पसक्कारठानकं ।
धातूनं नयनं नाम न युत्तं, भिक्खु ! वो इदं" ॥ ६२ ॥

1-1. न मे–मु. पा. ।
2. तं थेरो–मु. पा. ।

वागुलदत्त नामक उसका भानजा सङ्केत समझ कर शीघ्रता में चैत्यगृह जाकर उस धातु-करण्डक को अपने मुख में रख कर सुमेरु पर्वत पर जाकर कुण्डली मार कर सो गया । उस नाग की लम्बाई तीन सौ योजन लम्बी एवं उसका फण (मुख) एक योजन चौड़ा था ॥ ५२-५३ ॥

वह ऋद्धिसम्पन्न नाग लेटे ही लेटे अपने हजारों कृत्रिम मुख पैदाकर उनसे विषसम्पृक्त धूआँ, फुफकार मार-मारकर, छोड़ने लगा ॥ ५४ ॥

इतना ही नहीं, उस नाग ने वहाँ अपने ही समान हजारों नाग पैदा कर लिये, जो उस नाग को चारों तरफ से घेर कर बैठ गये ॥ ५५ ॥

उस अवसर पर बहुत से नाग एवं देवता इस कौतूहलवश वहाँ एकत्र हो गये कि दो समान बलशालियों का सङ्घर्ष देखने को मिलेगा ॥ ५६ ॥

जब मामा (नागराज) ने जान लिया कि उन धातुओं को भानजा (वासुलदत्त) लेकर दूर चला गया है, तब उसने स्थविर को धातुओं के विषय में स्पष्ट निषेध कर दिया कि वे उसके पास नहीं हैं ॥ ५७ ॥

परन्तु उस स्थविर ने उन धातुओं का आदि से इतिहास सुनाकर नागराज से फिर आग्रह किया कि वह ये धातु उसे दे दे ॥ ५८ ॥

दूसरे ढंग से स्थविर को सन्तुष्ट करने के विचार से, नागराज उस स्थविर को चैत्यगृह ले जाकर वहाँ उस से बोला– ॥ ५९ ॥

"हे भिक्षु ! नानारत्नालङ्करणों से सुभूषित इस चैत्य-गृह को आप अपनी आँखों से देख लीजिये ! यह कितना सुन्दर बना हुआ है ॥ ६० ॥

लङ्काद्वीप का समग्र मणिरत्न एकत्र कर दिया जाय तो भी उनकी सम्मिलित शोभा (छवि) इतनी भी नहीं होगी जो यहाँ सीढी की पट्टी में लगे हुए मणिरत्न की है । अन्य रत्नों की तो बात ही क्या ! ॥ ६१ ॥

तो आप ही बताइये भिक्षुजी ! कि इस पूजनीय धातुसंग्रह को अधिक पूजा प्राप्त करने योग्य स्थान से हटा कर लघुसाधनयुक्त पूजा स्थान पर ले जाना उचित होगा! ॥ ६२ ॥

"सच्चाभिसमयो, नाग! तुम्हाकं हि न विज्जति ।
सच्चाभिसमयट्ठानं नेतुं युत्तं हि धातुयो ॥ ६३ ॥

संसारदुक्खमोक्खाय उप्पज्जन्ति तथागता ।
बुद्धस्स चेत्थाधिप्पायो, तेन नेस्साम धातुयो ॥ ६४ ॥

धातुनिधानमज्जेव सो हि राजा करिस्सति ।
तस्म पपञ्चं अकत्वा लहुं मे देहि धातुयो" ॥ ६५ ॥

नागो आह "सचे, भन्ते! तुवं पस्ससि धातुयो ।
गहेत्वा याहि", तं थेरो तिक्खत्तुं तं भणापिय ॥ ६६ ॥

सुखुमं करं मापयित्वा थेरो तत्थ ठितो व सो ।
भागिनेय्यस्स वदने हत्थं पक्खिपय्य तावदे ॥ ६७ ॥

धातुकरण्डमादाय "तिट्ठ, नागा" ति भासिय ।
निमुज्जित्वा पठवियं परिवेणम्हि उट्ठहि ॥ ६८ ॥

नागराजा "गतो भिक्खु अम्हेहि वञ्चितो" इति ।
धातुआनयनत्थाय भागिनेय्यस्स पाहिणि ॥ ६९ ॥

भागिनेय्यो थ कुच्छिम्हि अपस्सित्वा करण्डकं ।
परिदेवमानो आगन्त्वा मातुलस्स निवेदयि ॥ ७० ॥

[W.G.252] तदा सो नागराजा पि "वञ्चितम्हा मयं" इति ।
परिदेवि, नागा सब्बे पि परिदेविंसु पिण्डिता ॥ ७१ ॥

भिक्खुनागस्स विजये तुट्ठा देवा समागता ।
धातुयो पूजयन्ता ता तेनेव सह आगमुं ॥ ७२ ॥

परिदेवमाना आगन्त्वा नागा सङ्घस्स सन्तिके ।
बहुधा परिदेविंसु धातुहारणदुक्खिता ॥ ७३ ॥

स्थविर बोले–"चैत्यगृह की यह शोभा तो अनुपम है । परन्तु तुम लोगों को सत्य (चतुष्टय) का अभिसमय (ज्ञान=साक्षात्कार) नहीं हो सकता । (अतः) इन धातुओं को वहीं ले जाना उचित है जहाँ इनके माध्यम से आर्यजन को सत्य का अभिसमय हो सके ।। ६३ ।।

"विश्व की जनता को सांसारिक दुःखों से मुक्त कराने के लिये ही भगवान् (बुद्ध) का इस लोक में अवतार होता है । बुद्ध भगवान् की भी इन धातुओं को यहाँ से ले जाने में अनुमति है । अतः हम धातु ले जायँगे ।। ६४ ।।

"उधर वे राजा आज ही धातुस्थान में धातुनिधान का दृढ निश्चय कर चुके हैं, अतः व्यर्थ वाक्यप्रपञ्च न कर शीघ्र ही मुझे वे धातुएँ दे दो" ।। ६५ ।।

नागराज बोले–"तो, भन्ते ! आपको वे धातु जहाँ दिखायीं दें वहाँ से उठाकर ले जाओ ।" स्थविर ने यही बात उससे तीन बार कहलवा कर स्वीकृति ले ली ।। ६६ ।।

स्थविर ने वहाँ बैठे ही बैठे सूक्ष्म हाथ फैलाकर उसके भानजे के मुख में रखी धातुओं की टोकरी तत्काल निकाल कर ।। ६७ ।।

उस धातुचङ्गोटक को ले कर "नागराज ! अब तुम यहीं ठहरो" कह कर, पृथ्वी में डुबकी लगाकर परिवेण में आकर ऊपर निकले ।। ६८ ।।

नागों की परिदेवना–उधर नागराज रोने कलपने लगे कि "स्थविर हमें धोखा देकर धातुचङ्गोटक ले कर चले गये !" । तब नागराज ने उस धातुसंग्रह को पुनः लाने के लिये अपने भानजे के पास दूत भेजा ।। ६९ ।।

तब उस भानजे ने उस धातुकरण्डक को अपने मुख में न देखकर रोते-कलपते आकर मामा को बताया ।। ७० ।।

यह सब सुनकर नागराज ने भी समझ लिया कि वे ठगे गये । तब वह विलाप करने लगा । साथ ही वहाँ एकत्र अन्य नाग भी रोने-चिल्लाने लगे ।। ७१ ।।

इस सब में भिक्षुनाग की विजय देखकर वहाँ उपस्थित सभी देवता अत्यधिक प्रमुदित हुए, अतः वे भी धातुओं की पूजा करते हुए उसी स्थविर के साथ लौट गये ।। ७२ ।।

तेसं सङ्घोनुकम्पाय थोकं धातुं अदापयि ।
ते तेन तुट्ठा गन्त्वान पूजाभण्डानि आहरुं ॥ ७४ ॥

सक्को रतनपल्लङ्कं सोण्णचङ्गोटमेव च ।
आदाय सह देवेहि तं ठानं समुपागता ॥ ७५ ॥

थेरस्स उग्गतट्ठाने कारिते विस्सकम्मुना ।
पतिट्ठपेत्वा पल्लङ्कं सुभे रतनमण्डपे ॥ ७६ ॥

धातुकरण्डमादाय तस्स थेरस्स हत्थतो ।
चङ्गोटके ठपेत्वान पल्लङ्के पवरे ठपि ॥ ७७ ॥

ब्रह्मा छत्तमधारेसि, सन्तुट्ठो बालवीजनिं ।
मणितालवण्टं सुयामो, सक्को सङ्खं तु सोदकं ॥ ७८ ॥

चत्तारो च महाराजा अट्ठंसु खग्गपाणिनो ।
समुग्गहत्था तेत्तिंसा देवपुत्ता महिद्धिका ॥ ७९ ॥

पारिच्छत्तकपुप्फेहि पूजयन्ता तहिं गता ।
कुमारियो तु द्वत्तिंसा दण्डदीपधरा ठिता ॥ ८० ॥

पलापेत्वा दुट्ठयक्खे यक्खसेनापती पन ।
अट्ठवीसति अट्ठंसु आरक्खं कुरुमानका ॥ ८१ ॥

वीणं वादयमानो व अट्ठा पञ्चसिखो तहिं ।
रङ्गभूमिं मापयित्वा तिम्बरू तुरियघोसवा ॥ ८२ ॥

[W.G.253] अनेकदेवपुत्ता च साधुगीतप्पयोजका ।
महाकालो नागराजा थूयमानो अनेकधा ॥ ८३ ॥

दिब्बतुरियानि वज्जन्ति, दिब्बसङ्गीति वत्तति ।
दिब्बगन्धादिवस्सानि वस्सापेन्ति च देवता ॥ ८४ ॥

उधर धातुचङ्गोटक चले जाने से दुःखित नागसमूह भी सङ्घ के सम्मुख निवेदन हेतु उपस्थित हुआ । अन्त में सङ्घ ने उन नागों पर अनुकम्पा करते हुए धातुओं का कुछ भाग उन्हें भी पूजा-हेतु दे दिया । वे नाग उसी से सन्तुष्ट हो कर उसे पुनः पूजा-मण्डप में रखकर उसकी पूजा-अर्चना करने लगे ॥ ७३-७४ ॥

देवताओं द्वारा पूजा—तब देवराज इन्द्र रत्नसिंहासन एवं सुवर्णनिर्मित चङ्गोटक ले कर, देवताओं सहित उस स्थान पर आया ॥ ७५ ॥

उसने स्थविर के उस पृथ्वी से ऊपर आने के स्थान पर विश्वकर्मा द्वारा निर्मित शुभ रत्नमण्डप में सिंहासन स्थापित करवा कर स्थविर के हाथ से वह धातुकरण्डक लेकर उसे चङ्गोटक में रख कर, श्रेष्ठ पलङ्ग पर रखा ॥ ७६-७७ ॥

उस अवसर पर, उस धातु-सम्मान में ब्रह्मा ने श्वेतच्छत्र, सुयाम देवता ने चँवर एवं सन्तुष्ट देवता ने पङ्खा तथा देवराज इन्द्र ने जलपूर्ण शङ्ख अपने हाथ में लिया ॥ ७८ ॥

चारों महाराज (देवता) हाथ में तलवार लेकर, तथा तेत्तीस (३३) देवपुत्र हाथ में गदा लेकर ससम्मान खड़े हुए ॥ ७९ ॥

बत्तीस (३२) देवकन्याएँ हाथों में पारिजात पुष्प लेकर खड़ी रहीं । तथा इतनी ही देवकन्याएँ भी हाथों में प्रज्वलित दीप लेकर खड़ी रहीं ॥ ८० ॥

अट्ठाईस (२८) यक्ष सेनापति दुष्ट यक्षों को अनुशासनों में रखते हुए वहाँ आरक्षा-व्यवस्था में लग गये ॥ ८१ ॥

पञ्चशिख गन्धर्व अपनी वीणा बजाते हुए खड़े रहे । तथा तिम्बरु रङ्गभूमि बनवाकर तूर्यघोष करने लगे ॥ ८२ ॥

इसी तरह अनेक देवपुत्र मनोहर सङ्गीत में लगे थे । महाकाल नागराज भगवान् की अनेक तरह से स्तुति कर रहा था ॥ ८३ ॥

वहाँ, इस प्रसङ्ग में, दिव्य वाद्यध्वनि हो रही थी, दिव्य गान हो रहा था । साथ ही कुछ देवता दिव्य पुष्पवृष्टि भी कर रहे थे ॥ ८४ ॥

सो इन्दगुत्तथेरो तु मारस्स पटिबाहनं ।
चक्कवाळसमं कत्वा लोहच्छत्तं अमापयि ॥ ८५ ॥

धातूनं पुरतो चेव तत्थ तत्थेव पञ्चसु ।
ठानेसु गणसज्झायं करिंसु खलु भिक्खवो ॥ ८६ ॥

तत्थागमा महाराजा पहट्ठो दुट्ठगामणी ।
सीसेनादाय आनीते चङ्कोटम्हि सुवण्णये ॥ ८७ ॥

ठपेत्वा धातुचङ्कोटं पतिट्ठापिय आसने ।
धातुं पूजिय वन्दित्वा ठितो पञ्जलिको तहिं ॥ ८८ ॥

दिब्बच्छत्तादिकानेत्थ दिब्बगन्धादिकानि च ।
पस्सित्वा, दिब्बतुरियादिसद्दे सुत्वा च खत्तियो ॥ ८९ ॥

अपस्सित्वा ब्रह्मदेवे तुट्ठो अच्छरियब्भुतो ।
धातु छत्तेन पूजेसि लङ्कारज्जेभिसिञ्चयि ॥ ९० ॥

"दिब्बच्छत्तं मानुसं च विमुत्तिच्छत्तमेव च ।
इति तिच्छत्तधारिस्स लोकनाथस्स सत्थुनो ॥ ९१ ॥

तिक्खत्तुं एव मे रज्जं दम्मी" ति हट्ठमानसो ।
तिक्खत्तुं एव धातूनं लङ्कारज्जं अदासि सो ॥ ९२ ॥

पूजयन्तो धातुयो ता देवेहि मानुसेहि च ।
सह चङ्कोटकेहेव सीसेनादाय खत्तियो ॥ ९३ ॥

[W.G.254] भिक्खुसङ्घपरिब्बूलवहो कत्वा थूपं पदक्खिणं ।
पाचीनतो आरुहित्वा धातुगब्भम्हि ओतरि ॥ ९४ ॥

अरहन्तो छन्नवुति कोटियो थूपमुत्तमं ।
समन्ता परिवारेत्वा अट्ठंसु कतपञ्जली ॥ ९५ ॥

इन्द्रगुप्त स्थविर द्वारा मार से रक्षा हेतु उपाय–उधर, इन्द्रगुप्त स्थविर ने मार को वहाँ से दूर रखने के लिये चक्रवाल (विस्तृत लोक) के समान एक लौह-छत्र का निर्माण कराया ॥ ८५ ॥

उस धातुचङ्गोटक के सम्मुख यहाँ-वहाँ पाँच स्थानों में भिक्षुओं ने समूह में बैठकर गणस्वाध्याय (परित्रसूत्रों का सामूहिक पाठ) प्रारम्भ किया ॥ ८६ ॥

धातुप्रतिष्ठापन–इसी अवसर पर महाराज (दुष्टग्रामणी) प्रहृष्ट मन से वहाँ उपस्थित हुए । वहाँ (स्थविर द्वारा) अपने सिर पर रख कर लाये हुए धातुचङ्गोटक को ॥ ८७ ॥

सुवर्णमय पात्र में रखकर सुव्यवस्थित आसन पर रखा । तब वह वहाँ उन धातुओं की पूजा-अर्चना कर हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया ॥ ८८ ॥

उस राजा ने वहाँ अनेक दिव्य छत्र आदि, दिव्य गन्धद्रव्य आदि एवं दिव्य वाद्य आदि देख-सुन कर भी ॥ ८९ ॥

इस अवसर पर ब्रह्मदेवों को उपस्थित न देखकर आश्चर्यान्वित होते हुए भी दूसरी तरफ इतना देवसमूह देख कर सन्तुष्ट ही हुआ । तथा उस ने उन धातुओं का श्वेत छत्र से सम्मान किया । एवं उन को राज्यभिषिक्त किया ॥ ९० ॥

और यों कहा–"दिव्य छत्र, मानुष छत्र एवं विमुक्ति छत्र- इस प्रकार तीन छत्र धारण करने वाले लोकनाथ शास्ता (बुद्ध) को ॥ ९१ ॥

मैं तीन बार ही यह राज्य समर्पित करता हूँ ।" यह कहकर प्रसन्न मन से उसने तीन बार धातुओं के लिये समग्र लङ्काराज्य का दान किया ॥ ९२ ॥

यों वह राजा देवताओं एवं मनुष्यों द्वारा पूजित-अर्चित होती हुई उन धातुओं को चङ्गोटकसहित सिर पर रख कर ॥ ९३ ॥

भिक्षुसङ्घ को साथ लेकर स्तूप की प्रदक्षिणा करते हुए पूर्व दिशा की तरफ से स्तूप पर चढकर धातुगर्भ-स्थान में उतरा ॥ ९४ ॥

उस समय वे छयानबे करोड़ (९६,००,००,०००) भिक्षु उस उत्तम स्तूप को चारों तरफ से घेर कर हाथ जोड़ कर खड़े हो गये ॥ ९५ ॥

ओतरित्वा धातुगब्भं : "महग्घे सयने सुभे ।
ठपेस्सामी" ति चिन्तेन्ते पीतिपुण्णे नरिस्सरे ॥ ९६ ॥

सधातु धातुचङ्गोटो उग्गन्त्वा तस्स सीसतो ।
सत्ततालप्पमाणम्हि आकासम्हि ठितो ततो ॥ ९७ ॥

सयं करण्डो विवरि उग्गन्त्वा धातुयो ततो ।
बुद्धवेसं गहेत्वान लक्खणव्यञ्जनुज्जलं ॥ ९८ ॥

गण्डम्बमूले बुद्धो व यमकं पाटिहारियं ।
अकंसु धरमानेन सुगतेन अधिट्ठितं ॥ ९९ ॥

तं पाटिहारियं दिस्वा पसन्नेकग्गमानसा ।
देवा मनुस्सा अरहत्तं पत्ता द्वादस कोटियो ॥ १०० ॥

सेसं फलत्तयं युत्तं अतीता गणनापथं ।
हित्वान बुद्धवेसं ता करण्डम्हि पतिट्ठहुं ॥ १०१ ॥

ततो ओरुय्ह चङ्गोटो रञ्ञो सीसे पतिट्ठहि ।
सहिन्दगुत्तथेरेन नाटकीहि च सो पन ॥ १०२ ॥

धातुगब्भं परिहरं पत्वान सयनं सुभं ।
चङ्गोटं रतनपल्लङ्के ठपापेत्वा जुतिन्धरो ॥ १०३ ॥

धोवित्वा पुन सो हत्थे गन्धवासितवारिणा ।
चतुजातियगन्धेन उब्बट्टेत्वा सगारवो ॥ १०४ ॥

[W.G.255] करण्डं विवरित्वान ता गहेत्वान धातुयो ।
इति चिन्तेसि भूमिन्दो महाजनहितत्थिको ॥ १०५ ॥

"अनाकुला केहिचि पि यदि हेस्सन्ति धातुयो ।
जनस्स सरणं हुत्वा यदि ठस्सन्ति धातुयो" ॥ १०६ ॥

धातुगर्भ में उतर कर प्रसन्नचित्त राजा ने सोचा–"मैं इन धातुओं को शुभ एवं महार्घ सिंहासन पर स्थापित करूँगा" । राजा द्वारा यह सोचते ही ॥ ९६ ॥

धातुओं सहित वह धातुचङ्गोटक राजा के सिर से उठकर, सात ताल ऊपर आकाश में उड़कर स्थित हो गया ॥ ९७ ॥

वहाँ जाकर स्वयं खुला और उसमें से धातुओं ने निकल कर, बुद्ध की आकृति (रूप) धारण कर, उन्हीं लक्षणों एवं अनुव्यञ्जनों से युक्त होकर, बुद्ध के समान जीवित अवस्था में गण्डाम्रमूल स्थित बुद्ध वेष में पूर्व यमकपरिहार्य दिखाया ॥ ९८-९९ ॥

वह प्रातिहार्य देखकर, वहाँ उपस्थित प्रसन्न एवं एकाग्र चित्त बारह करोड़ (१२, ००,०००,००) की संख्या में देवता और मनुष्य अर्हत्त्व प्राप्त कर गये ॥ १०० ॥

अवशिष्टों में से कितनों ने फलत्रय (स्रोतआपत्ति), सकृदागामी एवं अनागामी फल) प्राप्त किया–इसकी तो गणना ही असम्भव हो गयी ॥ १०१ ॥

कुछ काल बाद, वे धातुएँ उक्त बुद्ध–वेष त्याग कर पुनः अपने मूल रूप (धातु) में आकर उसी करण्डक में प्रतिष्ठित हो गयीं । तब वह चङ्गोटक पुनः राजा के शिर पर प्रतिष्ठित हो गया ॥ १०२ ॥

तब द्युतिमान् राजा ने इन्द्रगुप्त स्थविर एवं नर्तकियों के साथ उस धातुगर्भ में चारों ओर घूम कर सिंहासन के पास पहुँच कर उस चङ्गोटक को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया ॥ १०३ ॥

अब उस गौरवसम्पन्न एवं अतीव जनहितैषी राजा ने अपने हाथ सुगन्धित जल से धोकर, पुनः चतुर्विध सुगन्धित पदार्थ हाथों में लगाकर, वह चङ्गोटक खोलकर, उसमें से धातुएँ निकाल कर यों सङ्कल्प किया– ॥ १०४-१०५ ॥

"यदि इन धातुओं को बिना किसी विघ्न-बाधा के, जनता का आश्रयस्थल बनकर, यहाँ प्रतिष्ठित रहना है तो ॥ १०६ ॥

सत्थु निपन्नाकारणेन परिनिब्बानमञ्चके ।
निपज्जन्तु सुपञ्ञते सयनम्हि महारहे" ॥ १०७ ॥

इति चिन्तिय सो धातू ठपेसि सयनुत्तमे ।
तदाकारा धातुयो च सयिंसु सयनुत्तमे ॥ १०८ ॥

आसाळ्हसुक्कपक्खस्स पण्णरसउपोसथे ।
उत्तरासाळ्हनक्खते एवं धातू पतिट्ठिता ॥ १०९ ॥

सह धातुपतिट्ठाना अकम्पित्थ महामही ।
पाटिहीरानि नेकानि पवत्तिंसु अनेकधा ॥ ११० ॥

राजा पसन्नो ता धातू सेतच्छत्तेन पूजयि ।
लङ्काय रज्जं सकलं सत्ताहानि अदासि च ॥ १११ ॥

काये च सब्बालङ्कारं धातुगब्भम्हि पूजयि ।
तथा नाटकियो मच्चा परिसा देवता पि च ॥ ११२ ॥

वत्थ-गुळ-घतादीनि दत्वा सङ्घस्स भूपति ।
भिक्खूहि गणसज्झायं कारेत्वा खिलरत्तियं ॥ ११३ ॥

पुनाहनि पुरे भेरिं चरेसि:"सकला जना ।
वन्दन्तु धातू सत्ताहं इमं" ति जनताहितो ॥ ११४ ॥

इन्दगुत्तो महाथेरो अधिट्ठासि महिद्धिको ।
"धातू वन्दितुकामा ये लङ्कादीपम्हि मानुसा ॥ ११५ ॥

तङ्खणं येव आगन्त्वा वन्दित्वा धातुयो इध ।
यथासकं घरं यन्तु" तं यथाधिट्ठितं अहु ॥ ११६ ॥

सो महाभिक्खुसङ्घस्स महाराजा महायसो ।
महादानं पवत्तेत्वा तं सत्ताहं निरन्तरं ॥ ११७ ॥

ये धातु इस भली-भाँति बिछे हुए महार्घ शयनासन पर, शास्ता के महापरिनिर्माण मञ्च पर लेटने के आकार में प्रतिष्ठित हों" ॥ १०७ ॥

ऐसा सङ्कल्प पर राजा ने उन धातुओं को उस उत्तम शयनासन पर रखा। वे धातुएँ भी तत्काल बुद्ध के महापरिनिर्वाण मञ्च पर लेटने के आकर में हो गयीं ॥ १०८ ॥

इस तरह आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष के अपोसथ के दिन उत्तराषाढ नक्षत्र में यह धातु-प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई ॥ १०९ ॥

यह धातु-प्रतिष्ठा होते ही पृथ्वी हर्षविभोर हो काँप उठी तथा अन्य अनेक प्रातिहार्य (चमत्कार) हुए ॥ ११० ॥

राजा ने प्रसन्न होकर उन धातुओं की, श्वेत छत्र-दान से पुनः पूजा की तथा सप्ताहपर्यन्त लङ्काद्वीप के राज्यदान द्वारा उन धातुओं की अर्चना की ॥ १११ ॥

राजा द्वारा धातुपूजन—राजा ने अपने शरीर पर पहने हुए सभी अलङ्कार उस धातु-स्तूप पर चढ़ा दिये। उपस्थित नर्तकियों, अधिकारियों, चारों क्षत्रियादि परिषदों, देवताओं ने भी अपने शरीर के सभी आभूषण उस स्तूप पर चढ़ा दिये ॥ ११२ ॥

उस अवसर पर वस्त्र, गुड़, घृत आदि का सङ्घ को दान किया तथा समग्र रात्रिपर्यन्त उस स्तूप के सम्मुख गणस्वाध्याय (सूत्रों का भिक्षुओं द्वारा समूहपाठ) करवाया ॥ ११३ ॥

दूसरे दिन, जनहितकारी राजा ने नगरमें दुन्दुभि बजवाकर घोषणा करवा दी—"सभी लोग सप्ताह पर्यन्त प्रतिदिन इस स्तूप की पूजा करें" ॥ ११४ ॥

इन्द्रगुप्त सहास्थविर ने सङ्कल्प (अधिष्ठान) किया— "लङ्कद्वीप में जितने भी मनुष्य इस धातुस्तूप की वन्दना करना चाहते हैं ॥ ११५ ॥

उसमें इतनी शक्ति आ जाय कि वे इसी समय आकर उसकी वन्दना कर पुनः अपने घर जायँ"। उन स्थविर का यह चिन्तन सङ्कल्पानुसार तत्काल पूर्ण हुआ ॥ ११६ ॥

महायशस्वी राजा ने उस महान् भिक्षुसङ्घ को सप्ताहपर्यन्त महादान (भोजन) किया ॥ ११७ ॥

[W.G.256] आचिक्खि "धातुगब्भम्हि किच्चं निट्ठापितं मया ।
धातुगब्भपिधानं तु सङ्घो जानितुमरहति" ॥ ११८ ॥

सङ्घो ते द्वे सामणेरे तस्मिं कम्मे नियोजयि ।
पिदहिंसु धातुगब्भं पासाणेनाहटेन ते ११९ ॥

"मालेत्थ मा मिलायन्तु, गन्धा सुस्सन्तु मा इमे ।
मा निब्बायन्तु दीपा च मा किञ्चापि विपज्जतु ॥ १२० ॥

मेदवण्णा छ पासाणा सन्धीयन्तु निरन्तरा" ।
इति खीणासवा तत्थ सब्बमेतं अधिट्ठितं ॥ १२१ ॥

आणापेसि महाराजा : "यथासत्ति महाजनो ।
धातुनिधानकानेत्थ करोतू" ति हितत्थिको ॥ १२२ ॥

महाधातुनिधानस्स पिट्ठिम्हि च महाजनो ।
अका सहस्सधातूनं निधानानि यथाबलं ॥ १२३ ॥

पिदहापिय तं सब्बं राजा थूपं समापयि ।
चतुरस्सचयं चेत्थ चेतियम्हि समापयि ॥ १२४ ॥

एवं अचिन्तिया बुद्धा, बुद्धधम्मा अचिन्तिया ।
अचिन्तिये पसन्नानं विपाको पि[1] अचिन्तियो ॥ १२५ ॥

पुञ्ञानि एवममलानि सयं च सन्तो
कुब्बन्ति सब्बविधवुत्तमपत्तिहेतु ।
कारेन्ति चापि हि परे परिसुद्धचित्ता
नानाविसेसजनता परिवारहेतू[2] ॥ ति ॥ १२६ ॥

सुजनपासादसंवेगत्थाय कते महावंसे

धातुनिधानं नाम

एकतीसतिमो परिच्छेदो

---

1. होति मु. पा. ।
2. वसन्ततिलका छन्द ।

फिर सङ्घ से निवेदन किया–"भन्ते ! मैंने धातुगर्भ के अन्दर सभी कार्य सम्पन्न कर दिया है, अब इस धातुगर्भ के पिधान (ढकने) के विषय में सङ्घ सोचे" ॥ ११८ ॥

सङ्घ ने उत्तर और सुमन नाम के दो श्रामणेरों को इस कार्य के लिये नियुक्त किया। उन्होंने उस छिपाकर रखे हुए एक मदोवर्ण प्रस्तर से उस धातुगर्भ को ढक दिया ॥ ११९ ॥

और कहा–"यहाँ इस धातुगर्भ पर चढ़ी हुई मालाएँ कभी न कुम्हलें, सुगन्धित पदार्थ कभी न सूखें, जले हुए दीपक न बुझे, और कुछ भी नष्ट न हो। ये छह मेदोवर्ण वाले पत्थर सदैव सम्पृक्त (जुड़े) रहें।" यों उन क्षीणास्रव दोनों भिक्षुओं ने (सङ्घ द्वारा आदिष्ट किये गये) सभी कार्य सम्पादित कर दिये ॥ १२०-१२१ ॥

तब जनहितैषी महाराज ने जनता को आदेश किया–"सभी लोग यहाँ यथाशक्ति धातुनिधान करें।" तब उस महाधातुनिधान पर जनता ने भी यथाशक्ति हजार धातुओं का निधान किया ॥ १२२-१२३ ॥

राजा ने उन सब को एक साथ ढकवा कर, वह स्तूपनिर्माण कृत्य समाप्त किया तथा चैत्य का चतुरस्र चय (चैत्य पर चौकोर चबूतरा) पूर्ण कराया ॥ १२४ ॥

इस प्रकार बुद्ध अचिन्त्य (अनिर्वचनीय) हैं, बुद्ध के उपदिष्ट धर्म भी अचिन्त्य हैं, तथा इसी प्रकार ऐसे अचिन्त्य पर श्रद्धा रखने का फल भी अचिन्त्य ही माना जाता है ॥ १२५ ॥

इस तरह, शुद्धचित्त, शान्त पुरुष स्वयं समग्र विभवों (ऐश्वर्यों) में उत्तम विभव (निर्वाण) की प्राप्ति के लिये निरन्तर निर्मल (निर्दोष) पुण्य कर्म करते हैं, तथा विविध जनसमूह को अनुयायी बनाने के लिये दूसरों से भी ये पुण्य कर्म कराते रहते हैं ॥ १२६ ॥

सज्जनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह संवर्धन हेतु रचित इस महावंशग्रन्थ में

'धातुनिधान' नामक

इकत्तीसवाँ परिच्छेद समाप्त

३२.

द्वत्तिंसतिमो परिच्छेदो

(रञ्ञो तुसितपुरगमनं नाम)

[W.G.257] अनिट्ठिते छत्तकम्मे सुधाकम्मे च चेतिये ।
मारणन्तिकयोगेन राजा आसि गिलानको ॥ १ ॥

तिस्सं पक्कोसयित्वा सो कनिट्ठं दीघवापिको ।
"थूपे अनिट्ठितं कम्मं निट्ठापेही" ति अब्रवि ॥ २ ॥

भातुनो दुब्बलत्ता सो तुन्नवायेहि कारिय ।
कञ्चुकं सुद्धवत्थेहि तेन छादिय चेतियं ॥ ३ ॥

चित्तकारेहि कारेसि वेदिकं तत्थ साधुकं ।
पन्ती पुण्णघटानं च पञ्चङ्गुलिकपन्तिकं ॥ ४ ॥

नाळिकेरेहि कारेसि छत्तं वेळुमयं तथा ।
खरपत्तमये चन्दसुरिये मुद्धवेदियं ॥ ५ ॥

लाखाकङ्कुट्ठकेहेतं चित्तयित्वा सुचित्तितं ।
रञ्ञो निवेदयी "थूपे कत्तब्बं निट्ठितं" इति ॥ ६ ॥

सिविकाय निपज्जित्वा इधागन्त्वा महीपति ।
पदक्खिणं करित्वान सिविकायेव चेतियं ॥ ७ ॥

[W.G.258] वन्दित्वा दक्खिणद्वारे सयने भूमिसन्थते ।
सयित्वा दक्खिणपस्सेन सो महाथूपमुत्तमं ॥ ८ ॥

बत्तीसवाँ परिच्छेद

(तुषितपुर गमन)

रोगाक्रान्त राजा– (चैत्य का) छत्रकर्म एवं उसपर चूना पुतवाने का कार्य सम्पन्न होने से पहले ही राजा दुष्टग्रामणी मरणान्तक (असाध्य) रोग से पीड़ित हो गया ॥ १ ॥

स्तूप का अवशिष्ट कार्य– (अतः) तब उसने अपने छोटे भाई तिष्य को दीर्घवापी से बुलाकर कहा–"स्तूप को बचा हुआ कार्य समाप्त कराओ" ॥ २ ॥

उस (तिष्य) ने भ्राता (राजा) की दुर्बलता के कारण, दर्जियों (तुन्नवायों) को बुलाकर उनसे श्वेत वस्त्र का कञ्चुक (आवरण, आच्छादन) बनवाकर उससे उस चैत्य को ढक दिया ॥ ३ ॥

चित्रकारों से उस कञ्चुक पर सुन्दर वेदिका, जलपूर्ण घटों की पंक्ति तथा पाँच अङ्गुलियों के चिह्नों की पंक्ति चित्रित करवायी ॥ ४ ॥

बाँस का कार्य करने वालों से बाँस का छत्रा बनवाया । और उस वेदिका के शीर्ष भाग पर खर-पत्र के चाँद एवं सूर्य बनवाये ॥ ५ ॥

तथा स्थान-स्थान पर चैत्य को लाख एवं कङ्कुस्थ से भली-भाँति चित्रित करवा कर, राजा के पास जाकर सूचित किया कि–"स्तूप में जो कुछ भी अवशिष्ट कार्य था, सब पूर्ण करा दिया" ॥ ६ ॥

राजा द्वारा स्तूपदर्शन– तब राजा पालकी में बैठकर इस स्तूप के दर्शन हेतु यहाँ आया । तथा पालकी में ही बैठे-बैठे स्तूप की प्रदक्षिणा कर ॥ ७ ॥

दक्षिण द्वार पर आकर स्तूप की वन्दना की । वहाँ भूमि पर विस्तर पर बिछवाकर उसी पर लेटे-लेटे पहले दक्षिण पार्श्व से महास्तूप के दर्शन किये ॥ ८ ॥

सयित्वा वामपस्सेन लोहपासादमुत्तमं ।
पस्सन्तो सुमनो आसि भिक्खुसङ्घपुरक्खतो ॥ ९ ॥

गिलानपुच्छनत्थाय आगतेहि ततो ततो ।
छन्नवुतिकोटियो भिक्खू तस्मिं आसुं समागमे ॥ १० ॥

गणसज्झायमकरुं वग्गबन्धेन भिक्खवो ।
थेरपुत्ताभयं थेरं तत्थादिस्वा महीपति ॥ ११ ॥

"अट्ठवीस महायुद्धं युज्झन्तो अपराजयं ।
यो सो न पच्चुदावत्तो महायोधो वसी मम ॥ १२ ॥

मच्चुयुद्धम्हि सम्पत्ते दिस्वा मञ्ञे पराजयं ।
इदानि सो मं नोपेति थेरो थेरसुताभयो" ॥ १३ ॥

इति चिन्तेसि, सो थेरो जानित्वा तस्स चिन्तितं ।
करिन्दनदिया सीसे वसं पञ्जलिपब्बते ॥ १४ ॥

पञ्चखीणासवसतपरिवारेण इद्धिया ।
नभसागम्म राजानं अट्ठासि परिवारिय ॥ १५ ॥

राजा दिस्वा पसन्नो तं पुरतो च निसीदिय ।
"तुम्हे दस महायोधे गण्हित्वान पुरे अहं ॥ १६ ॥

युज्झिं, इदानि एको व मच्चुना युद्धमारभिं ।
मच्चुसत्तुं पराजेतुं न सक्कोमी" ति आह च ॥ १७ ॥

आह थेरो : "महाराज! मा भायि मनुजाधिप !
किलेससत्तुं अजिनित्वा अजेय्यो मच्चुसत्तुको ॥ १८ ॥

सब्बं पि सङ्खारगतं अवस्सं येव भिज्जति ।
'अनिच्चा सब्बसङ्खारा', इति वुत्तं हि सत्थुना ॥ १९ ॥

फिर वाम पार्श्व (करवट) से लेकर लौहप्रासाद के दर्शन किये । यह सब देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ । इस समय राजा भिक्षुसङ्घ से घिरे हुए थे ॥ ९ ॥

उन के रुग्णकाल में जहाँ-तहाँ से लोग कुशल-क्षेम पूछने के लिये आने लगे । इसी प्रसङ्ग में छयानवे करोड़ (९६,00,00,000) भिक्षु भी एकत्र हुए ॥ १० ॥

उस अवसर पर भिक्षुओं ने समूह में एकत्र हो हो कर मङ्गलसूत्रों तथा परित्राणसूत्रों का गणस्वाध्याय (सामूहिक पाठ) किया । परन्तु उस बृहत् समागम में राजा ने, स्थविरपुत्र अभय स्थविर को न देखकर ॥ ११ ॥

"जो स्थविर अभय पिछले अट्ठाईस (२८) महायुद्धों में मेरा साथी बनकर, कभी न पराजित होते हुए मेरे अधीन अन्त तक लड़ता रहा, वही आज मेरे इस मृत्युयुद्ध में फँस जाने पर, मानो उसने आज मेरी पराजय मान ली है, इसीलिये वह अभय मेरे सम्मुख नहीं आ रहा ॥" १२-१३ ॥

स्थविर अभय का आगमन– प्राञ्जलि पर्वत पर करिन्द नदी के मुहाने पर रहने वाले स्थविर अभय राजा के चित्त की बात अपने चित्त से जानकर पाँच सौ क्षीणास्रव भिक्षुओं को साथ लेकर ऋद्धिबल के सहारे आकाश-मार्ग से राजा के पास आकर खड़े हो गये ॥ १४-१५ ॥

राजा उन स्थविर को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ । उनको अपने सामने बैठाया । राजा बोला–"पहले कभी मैं तुम दश योद्धाओं को साथ लेकर युद्ध किया करता था, आज इस मृत्यु-शत्रु से अकेले ही युद्ध करना पड़ रहा है । परन्तु इस मृत्यु-शत्रु को पराजित नहीं कर पा रहा हूँ" ॥ १६-१७ ॥

अभय स्थविर का उपदेश– स्थविर बोले–"राजन् ! आप घबराइये नहीं! क्लेश-शत्रुओं को जीते विना मृत्युशत्रु पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती ॥ १८ ॥

"संस्कारों से प्राप्त सभी कुछ नाशवान् है; क्योंकि भगवान् ने स्वयं ही कहा "सभी संस्कार अनित्य हैं[1] ॥ १९ ॥

---

1. "अनिच्चा सब्बसङ्खारा, उप्पादवयधम्मिनो ।
उपज्जित्वा निरुज्झन्ति तेसं वूपसमो सुखं ॥"
–दी॰ नि॰, म॰ प॰ सु॰ ।

लज्जा-सारज्जरहिता बुद्धे पेति अनिच्चता ।
तस्मा 'अनिच्चा सङ्खारा दुक्खानत्ता' ति चिन्तिय ॥ २० ॥

[W.G.259] दुतिये अत्तभावे'पि धम्मच्छन्दो महा हि ते ।
उपट्ठिते देवलोके हित्वा दिब्बसुखं तुवं ॥ २१ ॥

इधागम्म बहुं पुञ्ञं अकासि च अनेकधा ।
करणं पेकरज्जस्स सासनुज्जोतनाय ते ॥ २२ ॥

महापुञ्ञ! कतं पुञ्ञं यावज्जदिवसा तया ।
सब्बं अनुस्सरेवं ते सुखं सज्जु भविस्सति" ॥ २३ ॥

थेरस्स वचनं सुत्वा राजा अत्तमनो अहु ।
"अवस्सयो द्वियुद्धे पि तुवं मे सि" अभासि च ॥ २४ ॥

तदा च आहरापेत्वा पहट्ठो पुञ्ञपोत्थकं ।
वाचेतुं लेखकं आह, सो ते वाचेसि पोत्थकं ॥ २५ ॥

"एकूनसतविहारा महाराजेन कारिता ।
एकूनवीसकोटीहि विहारो मरिचवट्टि च ॥ २६ ॥

उत्तमो लोहपासादो तिंसकोटीहि कारितो ।
महाथूपे अनग्घानि कारितानि तु वीसति ॥ २७ ॥

महाथूपम्हि सेसानि कारितानि सुबुद्धिना ।
कोटिसहस्सं अग्घन्ति महाराज" ति वाचयि ॥ २८ ॥

[W.G.260] "कोट्टनामम्हि मलये अक्खक्खायिकछातके ।
कुण्डलानि महग्घानि दुवे दत्वान गण्हिय ॥ २९ ॥

खीणासवानं पञ्चन्नं महाथेरानमुत्तमो ।
दिन्नो पसन्नचित्तेन कङ्गुअम्बिलपिण्डको ॥ ३०

"लज्जा एवं भयरहित अनित्यता बुद्धों को भी प्राप्त होती हैं । अतः 'सभी संस्कार अनित्य, अनात्म एवं दुःखमय हैं'– ऐसा ही चिन्तन कीजिये ॥ २० ॥

"राजन् ! आप पूर्वजन्म में ही अत्यधिक धर्मप्रेमी थे । दिव्य लोक की प्राप्ति बहुत समीप होने पर भी आपने उस दिव्य सुख की कुछ भी अपेक्षा (परवाह) किये विना भूलोक में अनेक बार आकर बहुत से पुण्यकर्म किये हैं । आप का यह एकच्छत्र राज्य भी शासन की उन्नति का ही कारक हुआ है ॥ २१-२२ ॥

"हे महापुण्यशालिन् ! आप आज तक पुण्यकर्म ही करते रहे । इन्हें स्मरण रखिये । उनके फलस्वरूप आप का सीधे सुख की ही प्राप्ति होगी" ॥ २३ ॥

स्थविर के ये (शान्तिदायक) वचन सुनकर राजा सन्तुष्ट (अत्तमन) हुए । और बोले–"आप इस अनुपम द्वितीय युद्ध में भी मेरे सहायक (साथी) बन ही गये" ॥ २४ ॥

राजा का स्वकीय पुण्य श्रवण– उसके बाद राजा पवित्र पुण्यपुस्तक (पुञ्ञपोत्थक) जिसमें पुण्य कर्मों का लेखा-जोखा लिखा था) मँगवा कर वाचक को बुला कर उसे पढ़वाया और सुना ॥ २५ ॥

इस राजा ने एक कम सौ (निन्यानवे) (९९) महाविहार बनवाये । अकेले मरिचवट्टिविहार पर ही राजा ने उन्नीस करोड़ (१९,००,००,०००) मुद्राएँ खर्च कीं ॥ २६ ॥

उत्तम (श्रेष्ठ) लौहप्रासाद तीस करोड़ (३०,००,००,०००) मुद्राओं के व्यय होने पर बना । महास्तूप में लगी महँगी वस्तुएँ बीस करोड़ (२०,००,००,०००) मुद्राओं से खरीदी गयीं ॥ २७ ॥

इस सुबुद्धि ने महास्तूप के शेष अन्य महार्घ वस्तुओं पर एक हजार करोड़ (१०,००,००,०००) मुद्राएँ खर्च कीं ॥ २८ ॥

कोट्ट नामक पर्वत पर, जिसमें नारियल के अतिरिक्त कोई खाद्य पदार्थ नहीं रह गया था, ऐसे अकाल के अवसर पर, अपने कान के मँहगें दोनों कुण्डल बेच कर प्रसन्नचित्त राजा ने भिक्षुओं को कङ्गु अम्बिल पिण्डक (खट्टा भात) खिलाया था । ॥ २९-३० ॥

चुळङ्गणिययुद्धम्हि परज्झित्वा पलायता ।
कालं घोसापयित्वान आगतस्स विहायसा ॥ ३१ ॥

खीणासवस्स यतिनो अत्तानं अनपेक्खिय ।
दिन्नं सरकभत्तं" ति वुत्ते आह महीपति ॥ ३२ ॥

"विहारमहसत्ताहे पासादस्स महे तथा ।
थूपारम्भनसत्ताहे तथा दातुनिधानके ॥ ३३ ॥

चतुद्दिसस्स उभतोसङ्घस्स महतो मया ।
महारहं महादानं अविसेसं पवत्तितं ॥ ३४ ॥

महावेसाखपूजा च चतुवीसं अकारयिं ।
दीपे सङ्घस्स तिक्खत्तुं तिचीवरमदापयिं ॥ ३५ ॥

सत्त सत्त दिनानेव दीपरज्जं अहं इमं ।
पञ्चक्खत्तुं सासनम्हि अदासिं हट्ठमानसो ॥ ३६

सततं द्वादसट्ठाने सप्पिना सुद्धवट्टिया ।
दीपसहस्सं जालेसिं पूजेन्तो सुगतं अहं ॥ ३७ ॥

[W.G.261] निच्चं अट्ठारसट्ठाने वेज्जेहि विहितं अहं ।
गिलानमत्तभेसज्जं गिलानानं अदापयं ॥ ३८ ॥

चतुत्तालीस ठानम्हि सङ्खातं मधुपायसं ।
तत्तकेस्वेव ठानेसु तेलुल्लोपकमेव च ॥ ३९ ॥

घते पक्के महाजालपूवे ठानम्हि तत्तके ।
तत्थेव सह भत्तेन निच्चमेएवं अदापयिं ॥ ४० ॥

उपोसथेसु दिवसे मासे मासे च अट्ठसु ।
लङ्कादीपे विहारेसु दीपतेलं अदापयिं ॥ ४१ ॥

चूळाङ्गणिय युद्ध में, पराजित होकर भागते हुए भोजन के समय की घोषणा की, अपनी परवाह न कर के भी पाँच क्षीणस्रव भिक्षुओं को महादान किया। इतना पढ़े जाने पर महीपति स्वयं बोले उठे– ॥ ३१-३२ ॥

"विहारमहोत्सव के समय, प्रासाद महोत्सव के समय, स्तूपारम्भ सप्ताह में तथा धातुनिदान के अवसर पर ॥ ३३ ॥

"चारों दिशाओं से आये भिक्षुसङ्घ एवं भिक्षुणीसङ्घ– सबको समान रूप से महार्घ दान किया ॥ ३४ ॥

"चौबीस (२४) बार महावैशाख–पूजा करवायी और समग्र द्वीपवासी भिक्षु एवं भिक्षुणियों को तीन बार त्रिचीवर दान किया ॥ ३५ ॥

"मैने समग्र लङ्काद्वीप में, पाँच बार सात-सात दिन का राज्यदान सङ्घ को किया ॥ ३६ ॥

"मैने बारह (१२) स्थानों पर बुद्धपूजा करते समय शुद्ध घी के हजारों दीपक निरन्तर जलाये ॥ ३७ ॥

अट्ठारह (१८)स्थानों पर वैद्यों द्वारा रोगियों के लिये बतायी ओषधियों की व्यवस्था की ॥ ३८ ॥

"चवालीस (४४) स्थानों पर मैने मधुमिश्रित खीर का, तथा उतने (४४) ही स्थानों पर तैल से पके (पुलाव) का दान किया ॥ ३९ ॥

चवालीस (४४) स्थानों पर भोजन के साथ घी में पके मालपूओं के महादान का प्रबन्ध किया ॥ ४० ॥

"आठ मास तक निरन्तर आठ उपोसथों के अवसरों पर मैंने समग्र लङ्काद्वीप के विहारों में तैल के दीपक जलवाये ॥ ४१ ॥

'धम्मदानं महन्तं' ति सुत्वा आमिसदानतो ।
लोहपासादतो हेट्ठा सङ्घमज्झम्हि आसने ॥ ४२ ॥

ओसारेस्सामि सङ्घस्स मङ्गलसुत्तं इच्चहं ।
निसिन्नो ओसारयितुं नासक्खिं सङ्घगारवं ॥ ४३ ॥

ततो पभुति लङ्काय विहारेसु तहिं तहिं ।
धम्मकथं कथापेसिं सक्करित्वान देसके ॥ ४४ ॥

धम्मकथिकस्सेकस्स सप्पि-फणित-सक्खरं ।
नाळिं नाळिं अदापेसिं दापेसिं चतुरङ्गुलं ॥ ४५ ॥

मुट्ठिकं यट्ठिमधुकं, दापेसिं साटकद्वयं ।
सब्बं पिस्सरिये दानं न मे हासेति मानसं ॥ ४६ ॥

जीवितं अनपेक्खित्वा दुग्गतेन सता मया ।
दिन्नं दानद्वयं येव तं मे हासेति मानसं" ॥ ४७ ॥

तं सुत्वा अभयत्थेरो तं दानद्वयमेव सो ।
रञ्ञो चित्तपासादत्थं संवण्णेसि अनेकधा ॥ ४८ ॥

[W.G.262] "तेसु पञ्चसु थेरेसु कङ्गुअम्बिलगाहको ।
मलयमहादेवत्थेरो सुमनकूटम्हि पब्बते ॥ ४९ ॥

नवन्नं भिक्खुसतानं दत्वा तं परिभुञ्जि सो ।
पठवीचालको धम्मगुत्तत्थेरो तु तं पन ॥ ५० ॥

कल्याणिकविहारम्हि भिक्खूनं संविभाजिय ।
दसड्ढसतसङ्ख्यानं परिभोगं अका सयं ॥ ५१ ॥

तेलङ्गवासिको धम्मदिन्नत्थेरो पियङ्गुके ।
दीपे द्वादससहस्सानं दत्वान परिभुञ्जि तं ॥ ५२ ॥

अन्नदान से धर्मदान महत्त्वशाली होता है –यह सुनकर लौहप्रासाद के नीचे सङ्घ के मध्य आसनपर बैठकर **मङ्गलमूत्र** (सु. नि. १६ सू.) सुनाऊँगा–यह निश्चय कर के भी सङ्घ का सङ्कोच मानते हुए नहीं सुना पाया ॥ ४२-४३ ॥

उस समय से लङ्का के महाविहारों में जहाँ-तहाँ धर्मोपदेशकों को सम्मानित करते हुए उनसे धर्मकथाएँ कराता रहा ॥ ४४ ॥

एक-एक धर्मोपदेशक को मैंने एक एक नाड़ी एक मापविशेष घी, फाणित (राब), शर्करा, चार अंगुल मोटी ईख की गण्डेरियाँ, दो-दो धोतियाँ दिलवायी। ऐश्वर्य में दिये गये इस दान से मेरा चित्त कोई बहुत अधिक प्रसन्न नहीं होता था। ॥ ४५-४६ ॥

मेरा चित्त तो तभी प्रसन्न होता था जब मैं किसी दुर्गति में पड़े की सहायता, अपने प्राणों की भी चिन्ता न करके, कर पाता। अतः मेरे द्वारा किये गये दो ही दान मुझे आज तक स्मृत हैं" ॥ ४७ ॥

राजा के दो विशिष्ट दान– यह सुनकर वहाँ बैठे अभय स्थविर ने राजा के चित्त को प्रसन्न करने के लिए उन दोनों दानों का विस्तृत विवरण सुनाया ॥ ४८ ॥

(क) (१) "खट्टा भात (कङ्गु अम्बिल भत्त) लेने वाले उन पाँच स्थविरों में से एक मलय महादेव स्थविर ने सुमन कूट पर्वत पर नौ सौ (९00) भिक्षुओं को भोजन देकर बाद में स्वयं भोजन किया ॥ ४९-५0 ॥

(२) पृथ्वी कँपाने वाले धर्मगुप्त स्थविर ने कल्याणीविहार में पाँच सौ भिक्षुओं को भोजन देकर स्वयं खाया ॥ ५१ ॥

मङ्गणवासिको खुद्दतिस्सत्थेरो महिद्धिको ।
केलासे सट्ठिसहस्सानं दत्वान परिभुञ्जि सो ॥ ५३ ॥

महाव्यग्घो च थेरो तं उक्कनगरविहारके ।
दत्वा सतानं सत्तन्नं परिभोगं अका सयं ॥ ५४ ॥

सरकभत्तगाहिकत्थेरो पियङ्गुदीपके ।
द्वादसभिक्खुसहस्सानं दत्वान परिभुञ्जितं" ॥ ५५ ॥

इति वत्वाभयत्थेरो रञ्ञो हासेसि मानसं ।
राजा चित्तं पसादेत्वा तं थेरं इदमब्रवि ॥ ५६ ॥

"चतुवीसति वस्सानि सङ्घस्स उपकारको ।
अहं एव, होतु कायो पि सङ्घस्स उपकारको ॥ ५७ ॥

[W.G.263] महाथूपदस्सनट्ठाने सङ्घस्स कम्ममालके ।
सरीरं सङ्घदासस्स तुम्हे झापेथ मे" इति ॥ ५८ ॥

कनिट्ठं आह : "भो तिस्स! महाथूपे अनिट्ठितं ।
निट्ठापेहि तुवं सब्बं कम्मं सक्कच्च साधुकं ॥ ५९ ॥

सायं पातो व पुप्फानि महाथूपम्हि पूजय ।
तिक्खत्तुं उपहारं च महाथूपस्स कारय ॥ ६० ॥

पटियादितं च यं वत्तं मया सुगतसासने ।
सब्बं अपरिहापेत्वा तात! वत्तय तं तुवं ॥ ६१ ॥

सङ्घस्स तात! किच्चेसु मा पमज्जित्थ सब्बथा" ।
इति तं अनुसासित्वा तुण्ही आसि महीपति ॥ ६२ ॥

तङ्खणं गणसज्झायं भिक्खुसङ्घो अकासि च ।
देवता छ रथे चेव छहि देवेहि आनयुं ॥ ६३ ॥

(४) मङ्गणवासी ऋद्धिसम्पन्न क्षुद्रतिष्य स्थविर ने कैलासविहार के साठ हजार (६0,000) भिक्षुओं को भोजन देकर स्वयं भोजन किया ॥ ५३ ॥

(५) उक्कनगरविहार में महाव्याघ्र स्थविर ने सात सौ (७00) भिक्षुओं को भोजन देकर स्वयं भोजन किया ॥ ५४ ॥

(ख) मिट्टी के सकोरे में भात ग्रहण करने वाले स्थविर ने प्रियङ्गु द्वीप के बारह हजार (१२,000) भिक्षुओं को भोजनदान कर बाद में स्वयं भोजन किया ॥ ५५ ॥

यों राजा के दो दानों का विस्तृत वर्णन कर अभय स्थविर ने राजा का चित्त प्रमुदित किया । राजा ने प्रमुदितचित्त होकर अभयस्थविर से यों कहा-॥ ५६ ॥

"चौबीस वर्ष तक मैं सङ्घ का उपकार करता रहा । अब मेरा यह शरीर भी सङ्घ के उपकार का निमित्त बने । अतः मुझ सङ्घसेवक के इस शरीर की दाह क्रिया ऐसे स्थान पर की जाय जहाँ से मुझे मरणानन्तर भी स्तूप दिखायी देता रहे" ॥ ५७-५८ ॥

फिर अपने छोटे भाई से कहा-"तिष्य ! महास्तूप के अवशिष्ट कार्य को सत्कारपूर्वक शीघ्र ही मनोयोग से पूर्ण कराना ॥ ५९ ॥

"प्रातः सायम्- दोनों समय महास्तूप पर फूल चढ़ाना, दिन में तीन बार उसकी पूजा (उपहार) कराना ॥ ६0 ॥

"सुगत-शासन के सत्कारसम्बन्धी जो भी कृत्य मैंने निश्चित किये हैं, उन्हें तुम उसी तरह नियमित रूप से पूर्ण करते रहना ॥ ६१ ॥

"भाई ! सङ्घ के कार्य में, कभी प्रमाद न करना ।" इस तरह छोटे भाई को अनुशासन कर राजा चुप हो गये ॥ ६२ ॥

भिक्षुओं द्वारा गण-स्वाध्याय- उसी समय भिक्षुसङ्घ ने गणस्वाध्याय (सामूहिक सूत्रपाठ) प्रारम्भ किया ।

देवताओं का आगमन- उस समय छह रथों और छह अनुयायी देवों के साथ देवता भी वहाँ उपस्थित हुए ॥ ६३ ॥

याचुं विसुं विसुं देवा राजानं ते रथे ठिता ।
"अम्हाकं देवलोकं त्वं एहि, राज! मनोरमं" ॥ ६४ ॥

राजा तेसं वचो सुत्वा "याव धम्मं सुणामहं ।
अधिवासेथ ताव" ति हत्थाकारेन वारयि ॥ ६५ ॥

"वारेति गणसज्झायं" इति मन्त्वान भिक्खवो ।
सज्झायं ठपयुं, राजा पुच्छि सण्ठानकारणं[1] ॥ ६६ ॥

"आगमेथा ति मञ्ञाय दिन्नता" ति वदिंसु ते ।
राजा "नेतं तथा, भन्ते!" इति वत्वान तं वदि ॥ ६७ ॥

तं सुत्वान जना केचि "भीतो मच्चुभया अयं ।
लालप्पती" ति मञ्ञिंसु, तेसं कङ्खाविनोदनं ॥ ६८

कारेतुं अभयत्थेरो राजानं एवमाह सो ।
"जानापेतुं कथं सक्का आनीता ते रथा?" इति ॥ ६९ ॥

[W.G.264] पुप्फदामं खिपापेसि राजा नभसि पण्डितो ।
तानि लग्गानि लम्बिंसु रथीसासु विसुं विसुं ॥ ७० ॥

आकासे लम्बमानानि तानि दिस्वा महाजनो ।
कङ्खं पटिविनोदेसि, राजा थेरं अभासितं ॥ ७१ ॥

"कतमो देवलोको हि रम्मो, भन्ते!" ति सो ब्रवि ।
"तुसितानं पुरं, राज! रम्मं इति सतं मतं ॥ ७२ ॥

बुद्धभावाय समयं ओलोकेन्तो महोदयो ।
मेत्तेय्यो बोधिसत्तो हि वसते तुसिते पुरे" ॥ ७३ ॥

थेरस्स वचनं सुत्वा महाराजा महामति ।
ओलोकेन्तो महाथूपं निपन्नो व निमीलयि ॥ ७४ ॥

---

1. तंठानकारणं–मु.पा. ।

उन देवों ने राजा से पृथक् पृथक् प्रार्थना की कि वे उन के मनोरम लोक में चलें ॥ ६४ ॥

राजा ने उन देवताओं की बात सुनकर कहा–"जब तक मैं धर्म-श्रवण कर रहा हूँ तब तक आप प्रतीक्षा करें" ॥ ६५ ॥

राजा के हाथ का सङ्केत देख कर भिक्षुओं ने सोचा कि राजा गणस्वाध्याय रोकने के लिये कह रहे हैं । अतः भिक्षुओं ने वह गणस्वाध्याय रोक दिया । गणस्वाध्याय रुकने पर राजा ने उसका कारण पूछा ॥ ६६ ॥

भिक्षुओं ने बताया– "आपके हाथ का सङ्केत देख कर हमने सोचा कि आप गणस्वाध्याय रुकवाना चाहते हैं, अतः हमने यह रोक दिया ।"

यह सुनकर राजा ने कहा–"ऐसी बात नहीं थी, भन्ते!" ऐसा कह कर राजा ने देवताओं के साथ हुआ अपना संवाद सुनाया ॥ ६७ ॥

राजा की ये बातें सुनकर, वहाँ बैठे कुछ लोगों ने सोचा–"राजा अब अपना अन्तकाल देखकर मरणभय से प्रलाप करने लगे हैं ।" उन के सन्देह को दूर करने हेतु ॥ ६८ ॥

अभय स्थविर ने राजा से पूछा–" हम यह कैसे जानें कि देवता रथ लेकर आये थे? ॥ ६९ ॥

बुद्धिमान् राजा ने आकाश की ओर मालाएँ फिकवायीं । वे मालाएँ पृथक् पृथक् रथों की ईषाओं में लिपट कर नीचे लटकने लगीं ॥ ७० ॥

आकाश में लटकती हुई उन मालाओं को देखकर वहाँ लोगों को राजा की बातों पर विश्वास हुआ । तब राजा ने स्थविर से पूछा– ॥ ७१ ॥

"भन्ते ! कौन सा देवलोक रम्य है ?" स्थविर ने कहा–"राजन्! तुषितपुर सब से अधिक रमणीय है ।' ऐसा सज्जन मानते हैं॥ ७२ ॥

"महान् दयालु मैत्रेय बोधिसत्त्व बुद्धत्व के समय की प्रतीक्षा करते हुए तुषित लोक में ही विराजमान हैं" ॥ ७३ ॥

स्थविर के वचन सुनकर, महामति राजा ने स्तूप का दर्शन करते हुए लेटे ही लेटे आँखें मूँद लीं ॥ ७४ ॥

चवित्वा तक्खणं येव तुसिता आगते रथे।
निब्बत्तित्वा ठितो येव दिब्बदेहो अदिस्सथ॥ ७५॥

कतस्स पुञ्ञकम्मस्स फलं दस्सेतुमत्तनो।
महाजनस्स दस्सेन्तो अत्तानं समलङ्कतं॥ ७६॥

रथट्ठो येव तिक्खत्तुं महाथूपं पदक्खिणं।
कत्वान थूपं सङ्घं च वन्दित्वा तुसितं अगा॥ ७७॥

नाटकियो इधागन्त्वा मकुटं यत्थ मोचयुं।
'मकुटमुत्तसाला' ति एत्थ साला कता अहु॥ ७८॥

चितके ठपिते रञ्ञो सरीरम्हि महाजनो।
यत्थारवि, 'रविवट्टिसाला' नाम तहिं अहु॥ ७९॥

रञ्ञो सरीरं झापेसुं यस्मिं निस्सीममालके।
सो एव मालको एत्थ वुच्चते 'राजमालको'॥ ८०॥

[W.G.265] दुट्ठगामणिराजा सो राजनामारहो महा।
मेत्तेय्यस्स भगवतो पुत्तोयेव भविस्सति॥ ८१

रञ्ञो पिता पिता तस्स माता माता भविस्सति।
सद्धातिस्सो कनिट्ठो तु दुतियो हेस्सति सावको॥ ८२॥

सालिराजकुमारो यो तस्स रञ्ञो सुतो तु, सो।
मेत्तेय्यस्स भगवतो पुत्तोयेव भविस्सति॥ ८३॥

एवं यो कुसलपरो करोति पुञ्ञं,
छादेन्तो अनियतपापकं बहुं पि।
सो सग्गं सघरमिवोपयाति तस्मा,
सप्पञ्ञो सततरतो भवेय्य पुञ्ञे॥ ति॥ ८४॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

तुसितपुरगमनो नाम

द्वत्तिंसतिमो परिच्छेदो

***

राजा का तुषितलोक-गमन– राजा इस शरीर से च्युत होकर दिव्य देह में तुषित लोक से आये रथ पर अभी अभी उत्पन्न हुए की भाँति दिखायी दिया ॥ ७५ ॥

अपने कृतकर्म का फल जनता को दिखाने के लिये वे समलंकृत राजा रथ पर बैठे ही बैठे महास्तूप की तीन बार प्रदक्षिणा कर, स्तूप एवं सङ्घ की वन्दना कर, तुषितलोक को प्रस्थान कर गये ॥ ७६-७७ ॥

राजा की दाह-क्रिया–तब नर्तकियों ने वहाँ आकर, राजा के शोक में अपना अपना मुकुट उतार कर रख दिया । अतः वह स्थान 'मुकुट-मुक्तशाला' कहलाया । यहाँ आगे चल एक शाला बनवायी गयी ॥ ७८ ॥

राजा का शरीर चिता पर रखे जाने से पूर्व, जहाँ खड़े होकर नागरिक जनों ने राजा के वियोग में रुदन, परिदेवन (रोना-कलपना) किया वह स्थान 'रवि वट्टिसाला' कहलाया ॥ ७९ ॥

जिस निःसीम मालक में राजा के शरीर का दाहकर्म हुआ, वह स्थान 'राजमालक' कहलाया ॥ ८० ॥

राजा दुष्टग्रामणी का भविष्य–दुष्ट ग्रामणी राजा, जो कि वस्तुतः 'राजा' ही कहलाने योग्य था, आगे चलकर मैत्रेय भगवान् का प्रधान श्रावक (शिष्य) होगा ॥ ८१ ॥

राजा के पिता ही उन मैत्रेय के पिता होंगे । राजा की माता उनकी (मैत्रेय की) माता होगी । राजा का छोटा भाई श्रद्धातिष्य मैत्रेय का द्वितीय श्रावक होगा ॥ ८२ ॥

इस प्रकार कुशल कर्मों का इच्छुक पुरुष अपने बहुत से अनियत (सम्भावित) पापकर्मों से बचता हुआ पुण्य कर्मों की तरफ प्रवृत्त होता है । वह इस देहपात के बाद स्वर्ग में उसी तरह अनायास निःशङ्क पहुँच जाता है जैसे कोई अपने घर में निःशङ्क प्रविष्ट होता है । अतः सत्प्रज्ञ पुरुष को पुण्य कर्मों मे ही अपनी रुचि बनाये रखनी चाहिये ॥ ८४ ॥

सज्जनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह

संवर्धनहेतु रचित इस महावंस ग्रन्थ में

'राजा के तुषितलोक गमन' का वर्णन

बत्तीसवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

३ ३ .

तेत्तिंसतिमो परिच्छेदो

(दसराजको नाम)

[W.G.266] दुट्ठगामणिरञ्ञो तु रञ्ञे फीता जना अहुं ।
सालिराजकुमारो तु तस्सासि विस्सुतो सुतो ॥ १ ॥

अतीव धञ्ञो सो आसि पुञ्ञकम्मरतो सदा ।
अतीव चारुरूपाय सत्तो चण्डालिया अहु ॥ २ ॥

असोकमालादेविं तं सम्बद्धं पुब्बजातिया ।
रूपेनातिपियायनो सो रज्जं नेव कामयि ॥ ३ ॥

दुट्ठगामणिमातातो सद्धातिस्सो तदच्चये ।
रज्जं कारेसि अभिसित्तो अट्ठारस समासमो ॥ ४ ॥

छत्तकम्मं सुधाकम्मं हत्थिपाकारमेव वा ।
महाथूपस्स कारेसि सो सद्धाकतनामको ॥ ५ ॥

दीपेन लोहपासादं उड्डय्हित्थ सुसङ्खतो ।
कारेसि लोहपासादं सो सत्तभूमिकं पुन ॥ ६ ॥

नवतिसतसहस्सग्घो पासादो आसि सो तदा ।
दक्खिणागिरिविहारं कल्लकालेनं च कारयि ॥ ७ ॥

[W.G.267] कलम्बकविहारं च तथा पेत्तङ्गवालिकं ।
वेलङ्गविट्ठकं चेव दुब्बलवापितिस्सकं ॥ ८ ॥

तेतीसवाँ परिच्छेद

(दस राजाओं का वर्णन)

शालि राजकुमार—राजा दुष्ट ग्रामणी के राज्य में प्रजाजन अत्यधिक सुखी तथा धन-धान्यसम्पन्न थे। उसके पुत्र का नाम था शालि राजकुमार ॥ १ ॥

वह अत्यधिक सौभाग्यशाली (धन्य) था, तथा उसकी सदैव पुण्य कार्यों में ही रुचि रहती थी। परन्तु वह किसी अत्यधिक रूपवती चाण्डालकुमारी पर आसक्त हो गया ॥ २ ॥

यह अशोकमाला देवी पूर्वजन्म में उसकी भार्या रह चुकी थी। उस स्त्री का रूप बहुत ही लुभावना होने से उसने राज्यारोहण की इच्छा नहीं की ॥ ३ ॥

राजा श्रद्धातिष्य—दुष्टग्रामणी राजा का छोटा भाई श्रद्धातिष्य, राजा के देहपात के बाद, राज्य-सिंहासन पर बैठा, और उसने अट्ठारह (१८) वर्ष तक राज्य किया ॥ ४ ॥

बौद्ध शासन के प्रति श्रद्धालु उस राजा ने महास्तूप का छत्र बनवाया। उस पर चूना (सुधाकर्म) पुतवाया। तथा हस्ति-प्राकार बनवाया ॥ ५ ॥

अच्छी तरह बने हुए उस लौहप्रासाद में कभी दीपक की लौ से अग्नि लग गयी। अतः उसने उस सतमंजिले लौहप्रासाद का पुनर्निर्माण कराया ॥ ६ ॥

वह प्रासाद उस समय नब्बे हजार (९०,०००) मुद्राओं के व्यय से निर्मित हुआ। साथ ही उसने दक्षिणागिरि विहार एवं कल्लकालेणविहार का भी निर्माण कराया ॥ ७ ॥

इसी तरह, उसने कलम्बक विहार, पेत्तङ्गवालिक, वेलङ्गविट्ठक, दुब्बलवापितिस्सक ॥ ८ ॥

दूरतिस्सकवापिं च तथा मातुविहारकं ।
कारेसि च दीघवापिं विहारं योजनयोजने ॥ ९ ॥

दीघवापिविहारं च कारेसि सहचेतियं ।
नानारतनकच्छन्नं तत्थ कारेसि चेतिये ॥ १० ॥

सन्धियं सन्धियं तत्थ रथचक्कप्पमाणकं ।
सोवण्णमालं कारेत्वा लग्गापेसि मनोरमं ॥ ११ ॥

चतुरासीतिसहस्सानं धम्मक्खन्धानमिस्सरो ।
चतुरासीतिसहस्सानि पूजा चापि अकारयि ॥ १२ ॥

एवं पुञ्ञानि कत्वा सो अनेकानि महीपति ।
कायस्स भेदा देवेसु तुसितेसूपपज्जथ ॥ १३ ॥ (१)

सद्धातिस्से महाराजे वसन्तो दीघवापियं ।
लञ्जतिस्सो जेट्ठसुतो गिरिकुम्भिलनामकं ॥ १४ ॥

विहारं कारयी रम्मं, तङ्गनिट्ठसुतो पन ।
थूलथनो अकारेसि विहारं कन्दरव्हयं ॥ १५ ॥

[W.G.268] पितरा थूलथनको भातुसन्तिकमायता ।
सहेवागा विहारस्स सङ्घभोगत्थमत्तनो ॥ १६ ॥

सद्धातिस्से उपरते सब्बेमच्चा समागता ।
थूपारामे भिक्खुसङ्घं सकलं सन्निपातिय ॥ १७ ॥

सङ्घानुञ्ञाय रट्ठस्स रक्खणत्थं कुमारकं ।
अभिसिञ्चुं थूलथनं तं सुत्वा लञ्जतिस्सको ॥ १८ ॥

इधागन्त्वा गहेत्वा तं सयं रज्जमकारयि ।
मासं चेव दसाहं च राजा थूलथनो पन ॥ १९ ॥ (२)

तथा, दूरतिस्सकवापी एवं मातृविहार भी बनवाये । इसी प्रकार उसने अनुराधपुर से दीर्घवापी तक योजन योजन पर विहार बनवाये ॥ ९ ॥

उसने चैत्यसहित दीर्घवापीविहार का निर्माण कराया । एवं चैत्य पर नाना रत्नों से युक्त जाल लगवाया ॥ १० ॥

उस जाल के सन्धिस्थानों पर रथचक्र जितनी दीर्घाकार सुन्दर सुवर्ण-मालाएँ लगवायीं ॥ ११ ॥

राजा ने धर्म (त्रिपिटक) के चौरासी हजार (८४,०००) स्कन्धों के सम्मान में चौरासी हजार (८४,०००) धार्मिक पूजाएँ भी करवायीं ॥ १२ ॥

यों, अनेकविध पुण्यकर्म करता हुआ वह राजा, देहपात (मृत्यु) के बाद, तुषितलोक में उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥ (१)

राजा थूलथनक–राजा श्रद्धातिष्य के दीर्घवापी-प्रवास काल में, उनके ज्येष्ठ पुत्र लज्जातिष्य ने गिरिकुम्भिल नामक ॥ १४ ॥

रम्य विहार बनवाया । तथा श्रद्धातिष्य के कनिष्ठ पुत्र थूलथनक (स्थूलस्तनक) ने कन्दर नामक विहार बनवाया ॥ १५ ॥

बड़े भाई (राजा दुष्टग्रामणी) के पास पिता (श्रद्धातिष्य) के आते समय यह थूलथनक भी साथ में आया, उसने वहाँ अपना बनाया विहार सङ्घ को समर्पित किया ॥ १६ ॥

राजा श्रद्धातिष्य के देहपात के बाद, सभी अमात्यों ने एकमत से निश्चय कर राष्ट्ररक्षा के लिये सङ्घ को एकत्र कर उसकी सहमति से थूलथनक को राजगद्दी पर बैठा दिया ॥ १७-१८ ॥

इसे सुनकर लज्जातिष्य ने थूलथनक पर आक्रमण कर दिया, तथा उसे बन्दी बना कर स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया ।

यों राजा थूलथनक ने केवल एक मास एवं दश दिन ही राज्य पर शासन किया ॥ १९ ॥ (२)

तिस्सो समा लञ्जतिस्सो सङ्घे हुत्वा अनादरो ।
"न जानिंसु यथावुड्ढं" इति तं परिहापयि ॥ २० ॥

पच्छा सङ्घं खमापेत्वा दण्डकम्मत्थमिस्सरो ।
तीणि सतसहस्सानि दत्वान उरुचेतिये ॥ २१ ॥

सिलामयानि कारेसि पुप्फाधानानि तीणि सो ।
अथो सतसहस्सेन चिनापेसि च अन्तरा ॥ २२ ॥

महाथूपथूपारामानं भूमिं भूमिस्सरो समं ।
थूपारामे च थूपस्स सिलाकञ्चुकमुत्तमं ॥ २३ ॥

थूपारामस्स पुरतो सिलाथूपकमेव च ।
लञ्जकासनसालं च भिक्खुसङ्घस्स कारयि ॥ २४ ॥

[W.G.128] कञ्चुकं खन्धकत्थूपे कारापेसि सिलामयं ।
दत्वान सतसहस्सं विहारे चेतियव्हये ॥ २५ ॥

गिरिकुम्भिलनामस्स विहारस्स महम्हि सो ।
सट्ठि भिक्खुसहस्सानं छचीवरमदापयि ॥ २६ ॥

अरिट्ठविहारं कारेसि तथा कुञ्जरहीनकं ।
गामिकानं च भिक्खूनं भेसज्जानि अदापयि ॥ २७ ॥

किमिच्छाकं तण्डुलं च भिक्खुनीनं अदापयि ।
समा नवड्ढमासं च रज्जं सो कारयी इध ॥ २८ ॥ (३)

मते लज्जकतिस्सम्हि कनिट्ठो तस्स कारयि ।
रज्जं छळेव वस्सानि खल्लाटनागनामको ॥ २९ ॥

लोहपासादपरिवारे पासादे तिमनोरमे ।
लोहपासादसोभत्थं एसो द्वत्तिंस कारयि ॥ ३० ॥

राजा लञ्जतिष्य–राजा लञ्जतिस्स अपने शासन के प्रारम्भ के तीन वर्षों तक सङ्घ से इस लिये खिन्न रहा कि सङ्घ ने उसकी ज्येष्ठता की उपेक्षा कर, पक्षपातपूर्ण ढंग से उसके छोटे भाई को राजगद्दी पर बैठाने की अनुमति दे दी । अतः वह सङ्घ की उपेक्षा करता रहा ॥ २० ॥

तदनन्तर, उसने सङ्घ से क्षमा माँग कर, दण्डकर्म (प्रायश्चित्त) के रूप में तीन लाख (३,००,०००) मुद्राओं से उस चैत्य पर फूल चढ़ाने के लिये पत्थर के तीन पुष्पाधान बनवाये ॥ २१ ॥

फिर एक लाख मुद्रा-व्यय कर महास्तूप एवं स्तूपाराम के बीच की भूमि सम करायी । तथा स्तूपाराम पर उत्तम शिलाकञ्चुक का निर्माण कराया ॥ २२-२३ ॥

इसी तरह, स्तूपाराम के अग्रभाग में एक शिलास्तूप तथा भिक्षुओं के लिये लञ्जकासनशाला बनवायी ॥ २४ ॥

तथा खन्धकस्तूप पर शिलाओं का एक कञ्चुक (आवरण) बनवाया ॥ २५ ॥

मिश्रक पर्वत स्थित गिरिकुम्भिलविहार के उत्सव के समय आठ हजार (६०,०००) भिक्षुओं को छह-छह चीवर दिलवाये ॥ २६ ॥

उसने अरिष्टविहार एवं कुञ्जरहीनक–इन दोनों विहारों का निर्माण कराया । एवं ग्रामवासी रुग्ण भिक्षुओं के लिये औषधों का प्रबन्ध किया ॥ २७ ॥

भिक्षुणियों को 'क्या इच्छा है?'–यह पूछ कर यथेच्छ चावल दिलवाये । उस राजा ने नौ (९) वर्ष एवं पन्द्रह दिन (आधा मास) राज्य किया ॥ २८ ॥ (३)

राजा खल्लाटनाग–राजा लञ्जकतिस्स के देहपात (मरण) के बाद, उसके कनिष्ठ भ्राता खल्लाटनाग ने (लङ्का द्वीप पर) छह वर्ष तक राज्य किया ॥ २९ ॥

इस राजा ने लौहप्रसाद की शोभा बढाने के लिये उसके आस-पास अन्य बत्तीस (३२) सुन्दर प्रसाद बनवाये ॥ ३० ॥

महाथूपस्स परितो चारुनो हेममालिनो ।
वालिकङ्गणमरियादं पाकारं च अकारयि ॥ ३१ ॥

सो च कुरुन्दवासोकविहारं च अकारयि ।
पुञ्ञकम्मानि चञ्ञानि कारापेसि महीपति ॥ ३२ ॥

कम्महारत्तको नाम सेनापति महीपतिं ।
खल्लाटनागराजानं नगरे येव अग्गहि ॥ ३३ ॥

[W.G.270]

तस्स रञ्ञो कनिट्ठो तु वट्टगामणिनामको ।
तं दुट्ठसेनापतिकं हन्त्वा रज्जमकारयि ॥ ३४ ॥

खल्लाटनागरञ्ञो सो पुत्तकं सकभातुनो ।
महाचूळिकनामं तं पुत्तट्ठाने ठपेसि च ॥ ३५ ॥

तम्मातरं अनुळादेविं महेसिं च अकासि सो ।
पितिट्ठाने ठितत्तास्स पितिराजा ति चाब्रवुं ॥ ३६ ॥

एवं रज्जेभिसित्तस्स तस्स मासम्हि पञ्चमे ।
रोहणे कुलनगरे एको ब्राह्मणचेटको ॥ ३७ ॥

तिस्सो नाम ब्राह्मणस्स वचो सुत्वा अपण्डितो ।
चोरो अहु, महा तस्स परिवारो अहोसि च ॥ ३८ ॥

सगणा सत्त दमिळा महातित्थम्हि ओतरुं ।
तदा ब्राह्मणतिस्सो च ते सत्त दमिळा पि च ॥ ३९ ॥

छत्तत्थाय विसज्जेसुं लेखं भूपतिसन्तिकं ।
राजा ब्राह्मणतिस्सस्स लेखं पेसेसि नीतिमा ॥ ४० ॥

"रज्ज तव इदानेव, गण्ह त्वं दमिळे" इति ।
"साधू" ति सो दमिळेहि युज्झि, गण्हिसु ते तु तं ॥ ४१ ॥

तथा स्वर्णमाली महास्तूप के चारों तरफ बालू (रेत) के आंगन की सीमा (मर्यादा) एवं दीवर (प्राकार) निर्मित करायी ॥ ३१ ॥

उस राजा ने कुरुन्दवासोकविहार का निर्माण एवं ऐसे ही अन्य बहुत से पुण्य कार्य किये ॥ ३२ ॥ (४)

एतदनन्तर, **कम्महारत्तक सेनापति** ने उस खल्वाटनाग राजा को उसी (अनुराधपुर) नगर में बन्दी बना लिया ॥ ३३ ॥

राजा वट्टगामणी–परन्तु उस राजा ने छोटे भाई वट्टगामणि ने उस दुष्ट सेनापति को मार कर, स्वयं राज्यशासन सम्हाला ॥ ३४ ॥

तथा उसने अपने भाई खल्वाटनाग के पुत्र महाचूळिक को अपना पुत्र बना लिया, एवं उसकी माता अनुलादेवी को अपनी रानी बना लिया । पिता के स्थान में राजा बनने के कारण, प्रजानन में वह 'पितिराजा' नाम से प्रसिद्ध हो गया ॥ ३५-३६ ॥

यों उस वट्टगामणी को राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त हुए पाँच ही मास बीते थे कि उसके कुलनगर रोहण में एक मूर्ख तिष्य नाम का ब्राह्मण किसी बन्धक (गुलाम) की बात के बहकावे में आकर चौर (विद्रोही) हो गया । धीरे धीरे उस चौर के साथ बहुत लोग मिल गये ॥ ३७-३८ ॥

उसी समय सात द्रविड़ भी अपने सेनासमूह के साथ महातीर्थ घाट पर उतरे । वाद में वे सातों द्रविड़ भी उस चौर ब्राह्मण के साथ मिल गये ॥ ३९ ॥

अन्त में, उन सब ने मिल कर राज्य-शासन उन्हें सौंप देने के लिये राजा को धमकीभरा पत्र लिखा । परन्तु नीतिमान् राजा ने उन में भेद (फूट) डालकर तिष्य ब्राह्मण को लिखा कि मैं तुम्हे राज्य सौंप दूँगा, परन्तु पहले तुम इन सातों द्रविड़ों को निगृहीत करो" ॥ ४० ॥

वह ब्राह्मण राजा की बात मान कर, द्रविड़ों से युद्ध करने लगा । परन्तु द्रविड़ों ने उसको बन्दी बना लिया ॥ ४१ ॥

ततो ते दमिळा युद्धं रञ्ञा सह पवत्तयुं ।
कोलम्बालकसामन्ता युद्धे राजा पराजितो ॥ ४२ ॥

[W.G.271] तं दिस्वान पलायन्तं निगण्ठो गिरिनामको ।
"पलायति महाकालसीहलो" ति भुसं रवि ॥ ४३ ॥

तं सुत्वान महाराजा : "सिद्धे मम मनोरथे ।
विहारमेत्थ कारेस्सं" इच्चेवं चिन्तयी तदा ॥ ४४ ॥

सगब्भं अनुलादेविं अग्गाहि "रक्खिया" इति ।
"महाचूळं महानागकुमारं चापि रक्खिय" ॥ ४५ ॥

रथस्स लहुभावत्थं दत्वा चूळामणिं सुभं ।
ओतारयि सोमदेविं तस्सानुञ्ञाय भूपति ॥ ४६ ॥

युद्धाय गमने येव पुत्तकं द्वे च देवियो ।
गाहयित्वान निक्खन्तो सङ्कितो सो पराजितो ॥ ४७ ॥

असक्कुणित्वा गाहेतुं पत्तं भुत्तं जिनेन तं ।
पलायित्वा वेस्सगिरिवने अभिनिलीयि सो ॥ ४८ ॥

कुपिक्कलमहातिस्सथेरो दिस्वा तहिं तु तं ।
भत्तं पादा अनामट्ठा पिण्डदानं विवज्जिय ॥ ४९ ॥

अथ केतकपत्तम्हि लिखित्वा हट्ठमानसो ।
सङ्घभोगं विहारस्स तस्स पादा महीपति ॥ ५० ॥

[W.G.272] ततो गन्त्वा सिलासोब्भकटकम्हि वसी, ततो ।
गन्त्वान मातुवेलङ्गे सामगल्लसमीपगो ॥ ५१ ॥

तत्थद्दस दिट्ठपुब्बं थेरं, थेरो महीपतिं ।
उपट्ठाकस्स अप्पेसि तनसीवस्स साधुकं ॥ ५२ ॥

फिर उन द्रविड़ों ने राजा से भी युद्ध किया कोलम्बालक स्थान के पास हुए इस युद्ध में राजा (वट्टगामणी) हार गया ।। ४२ ।।

उसे भागते हुए देखकर गिरि नामक निगण्ठ साधु ने उसे पहचान कर चिल्ला कर कहा– "अरे ! महाकाल सीहल तो यह भागा जा रहा है ! ! ।। ४३ ।।

यह सुनकर राजा ने तत्काल निर्णय किया कि "यदि मैं कभी सफलमनोरथ (विजयी) हुआ तो इस निगण्ठ के वासस्थान पर विहार बनवा दूँगा" ।। ४४ ।।

तब, रक्षायोग्य समझ कर राजा ने गर्भवती अनुलादेवी, तथा दोनों– महाचूड़एवं महानाग–कुमारों को भी साथ लिया ।। ४५ ।।

परन्तु रथ का भार हल्का (लघु) करने के लिये, राजा ने मार्ग में, सोमादेवी को उसकी अनुमति से उसे शुभचूड़ामणि दे कर रथ से उतार दिया ।। ४६ ।।

तब वह अपने साथ दोनों पुत्रों एवं देवी को साथ लिये हुए युद्धहेतु निकल पड़ा । परन्तु वह शङ्कालु होने के कारण अन्त में उस युद्ध में पराजित ही हुआ ।। ४७ ।।

यों, वह भगवान् बुद्ध द्वारा भिक्षाकर्म में प्रयुक्त किया गया पात्र उन शत्रुओं से छीनने में असमर्थ रहा । और भाग कर (अनुराधपुर के दक्षिण) वेस्सगिरि वन में जा कर छिप गया ।। ४८ ।।

वहाँ कुपिक्कल विहार के महातिष्य स्थविर ने उस (भूख से पीड़ित) राजा को देखकर (पहचान कर) अछूते पिण्डदान में से बचाकर कुछ भात दिया ।। ४९ ।।

तब प्रसन्न हुए राजा ने उसी समय केतकी (केवड़ा) के पत्ते पर ही लिखकर विहार के लिये सङ्घभोग (भूमिदान) दे दिया ।। ५० ।।

वहाँ से चलकर राजा सिलासोब्भकटक में जा कर रहा । तदनन्तर वह सामगल्ल के समीप मातुवेलङ्ग गया ।। ५१ ।।

वहाँ उसने पूर्वदृष्ट (कुपिङ्गलवासी महातिष्य) स्थविर को देखा । दोनों ने परस्पर एक दूसरे को पहचान लिया तब महास्थविर ने राजा को अपने एक तनसीव नामक उपासक की सुरक्षा में रख दिया ।। ५२ ।।

तस्स सो तनसीवस्स रट्ठिकस्सन्तिके तहिं ।
राजा चुद्दस वस्सानि वसि तेन उपट्ठितो ॥ ५३ ॥

सत्तसु दमिलेस्वेको सोमदेविं मदावहं ।
रागरत्तो गहेत्वान परतीरं अगा लहुं ॥ ५४ ॥

एको पत्तं दसबलस्स अनुराधपुरे ठितं ।
आदाय तेन सन्तुट्ठो परतीरं अगा लहुं ॥ ५५ ॥

पुळहत्थो तु दमिलो तीनि वस्सानि कारयि ।
रज्जं सेनापतिं कत्वा दमिळं बाहियव्हयं ॥ ५६ ॥

पुळहत्थं गहेत्वा तं दुवे वस्सानि भोजिय ।
रज्जं कारयि, तस्सापि पनयमारो चमूपति ॥ ५७ ॥

बाहियं तं गहेत्वा सो राजासि पनयमारको ।
सत्त वस्सानि, तस्सापि पिळयमारो चमूपति ॥ ५८ ॥

पनयमारं गहेत्वा सो राजासि पिळयमारको ।
सत्त मासानि, तस्सापि दाठिको तु चमूपति ॥ ५९ ॥

[W.G.273] पिळयमारं गहेत्वान सो दाठिको दमिळो पन ।
रज्जं अनुराधपुरे दुवे वस्सानि कारयि ॥ ६० ॥

एवं दमिळराजूनं तेसं पञ्चन्नमेव हि ।
होन्ति चुद्दस वस्सानि सत्त मासा च उत्तरिं ॥ ६१ ॥

गताय तु निवापत्थं मलये नुलदेविया ।
भारिया तनसीवस्स पादा पहरि पच्छिमं ॥ ६२ ॥

कुज्झित्वा रोदमाना सा राजानमुपसङ्कमि ।
तं सुत्वा तनसीवो सो धनुं आदाय निक्खमि ॥ ६३ ॥

यों, वह राजा अपने राष्ट्रवासी तनसीब की सुरक्षा में निरन्तर चौदह वर्ष तक रहा । इस अवधि में तनसीब ने राजा की सब तरह से सेवा की ॥ ५३ ॥

पाँच द्रविड़ राजाओं का राज्यकाल—उधर उन सात द्रविड़ दस्युओं में से एक ने सुन्दर (मदावह) सोमादेवी पर विषयासक्त होकर उसे पकड़ लिया और वह उसे लेकर समुद्र के उस पार चला गया ॥ ५४ ॥

दूसरा द्रविड़ भी भगवान् का भिक्षापात्र लेकर उससे ही सन्तुष्ट होकर समुद्र पार चला गया ॥ ५५ ॥

तीसरा द्रविड़ पुलहत्थ, बाहिय नामक द्रविड़ को अपना सेनापति बनाकर तीन वर्ष तकर द्वीप पर राज्य करता रहा ॥ ५६ ॥ (१)

बाद में, पुलहत्थ को उसके सेनापति बाहिय ने बन्दी बनाकर स्वयं दो वर्ष तक लङ्का पर राज्य किया ॥ ५७ ॥ (२)

फिर उस बाहिय को भी उसके पनयभार नामक सेनापति ने बन्दी बनाकर सात वर्ष तक स्वयं राज्य किया । उसका सेनापति पिलयमार था ॥ ५८ ॥ (३)

तदनन्तर उस पनयमार को भी पिलियमार ने सात मास तक राज्य किया । उस का सेनापति दाठिक था ॥ ५९ ॥ (४)

फिर उस पिळयमार को भी बन्दी बनाकर दाठिक द्रविड़ ने अनुराधपुर पर दो वर्ष राज्य किया । ६० ॥ (५)

इस तरह इन पाँचों ही द्रविड राजाओं का राज्यकाल सब मिला कर चौदह (१४) वर्ष सात (७) मास रहा ॥ ६१ ॥

अनुलादेवी का अपमान—उधर कभी तनसीव की भार्या ने, मलय में खाद्यसामग्री की खोज में गयी अनुला देवी की टोकरी को, पैर से ठोकर मार दी ॥ ६२ ॥

इस से क्रुद्ध होकर रोती हुई अनुळा देवी ने राजा से आकर समग्र घटना सुनायी । उधर वह सब सुनकर तनसीव धनुष् लेकर निकला ॥ ६३ ॥

देविया वचनं सुत्वा तस्स आगमना पुरा ।
द्विपुत्तं देविमादाय ततो राजापि निग्गमि ॥ ६४ ॥

धनुं सन्धाय आयन्तं सीवं विज्झि महासिवो ।
राजा नामं सावयित्वा अकासि जनसङ्गहं ॥ ६५ ॥

अलत्थ अट्ठामच्चे च महन्ते योधसम्मते ।
परिवारो महा असि परिहारो च राजिनो ॥ ६६ ॥

कुपिक्कलमहातिस्सथेरं दिस्वा महायसो ।
अच्छगल्लविहारम्हि बुद्धपूजं अकारयि ॥ ६७ ॥

वत्थुं सोधेतुमारूळ्हे आकासचेतियङ्गणं ।
कपिसीसे अमच्चम्हि ओरोहन्ते महीपति ॥ ६८ ॥

[W.G.274] आरोहन्तो सदेविको दिस्वा मग्गे निसिन्नकं ।
"न निपन्नो" ति कुज्झित्वा कपिसीसं अघातयि ॥ ६९ ॥

सेसा सत्त अमच्चापि निब्बिण्णा तेन राजिना ।
तस्सन्तिका पलायित्वा पक्कमन्ता यथारुचि ॥ ७० ॥

मग्गे विलुत्ता चोरेहि विहारं हम्बुगल्लकं ।
पविसित्वान अद्दक्खुं तिस्सत्थेरं बहुस्सुतं ॥ ७१ ॥

चतुनिकायकथेरो सो यथालद्धानि दापयि ।
वत्थ-फाणित-तेलानि तण्डुला पाहुना तता ॥ ७२ ॥

अस्सत्थकाले थेरो सो "कुहिं याथा" ति पुच्छिते ।
अत्तानं आविकत्वा ते तं पवत्तिं निवेदयुं ॥ ७३ ॥

"कारेतुं केहि सक्का नु जिसासनपग्गहं ।
दमिळेहि वाथ रञ्ञा?" इति पुट्ठा तु ते पन ॥ ७४ ॥

परन्तु तनसीव के आने के पहले ही राजा भी अपने दोनों पुत्रों तथा अनुळा देवी को लेकर वहाँ से निकल भागा ।। ६४ ।।

अन्त में धनुष् बाण तान कर आते हुए तनसीव को महासीव (राजा) ने बाण से बींध डाला । फिर राजा ने अपना नाम बताकर जनता (भीड़) को एकत्र कर लिया ।। ६५ ।।

उसी जनसमूह में राजा को तत्काल आठ अमात्य तथा बहुत से वीर योद्धा उपलब्ध हो गये । यों उस के पास सेना एवं प्रभूत युद्ध-सामग्री एकत्र हो गयी ।। ६६ ।।

राजा द्वारा बुद्धपूजा–राजा ने कुपिक्कलविहार निवासी महातिष्य स्थविर को खोज कर, उन के साथ अच्छगल्ल विहार जाकर बुद्ध-पूजा करायी ।। ६७ ।।

भवन की शुद्धि के लिये आकाशचैत्य के अङ्गण पर चढ़े हुए कपिशीर्ष नामक अमात्य ने नीचे उतरते समय, मार्ग में बैठे रह कर देवी सहित चैत्य के आँगण पर चढ़ते समय, राजा के सामने सिर नहीं झुकाया था, अतः क्रुद्ध होकर राजा ने उसको मार डाला ।। ६८-६९ ।।

इस घटना से दुःखी होकर शेष सातों अमात्य भी राजा को छोड़ कर वहां से यथाभीष्ट स्थानों को चल दिये ।। ७० ।।

मार्ग में उन अमात्यों को चौरों ने लूट लिया । तब उन्होंने हम्बुगल्लक विहार में प्रविष्ट होकर बहुतश्रुत तिष्य स्थविर के दर्शन किये ।। ७१ ।।

(सुत्तपिटकके) चार निकायों (दीघ, मज्झिम, संयुत्त एवं अङ्गुत्तरं) के ज्ञाता उन तिष्य स्थविर ने उन लोगों को यथोपलब्ध वस्त्र, फाणित एवं तैल, चावल या अतिथि को देने योग्य अन्य वस्तुएँ दी ।। ७२ ।।

कुछ समय विश्राम करने से आश्वस्त हुए उन अमात्यों से स्थविर ने पूछा– "कहाँ जाना है?" । ऐसा पूछे जाने पर उन्होंने अपना वास्तविक परिचय दिया और राजा का द्वारा की गयी घटना यथावत् रूप से सुना ।। ७३ ।।

फिर उन अमात्यों से स्थविर ने पूछा–"बुद्ध-शासन की उन्नति किस के द्वारा शक्य है द्रविड़ों द्वारा या राजा द्वारा ?" ।। ७४ ।।

"रञ्ञा सक्का" ति आहंसु, सञ्ञापेत्वान ते इति ।
उभो तिस्स-महातिस्सथेरा आदाय ते ततो ॥ ७५ ॥

राजिनो सन्तिकं नेत्वा अञ्ञमञ्ञं खमापयुं ।
राजा च ते अमच्चा च थेरे एवं अयाचिसुं ॥ ७६ ॥

"सिद्धे कम्मे पेसिते नो गन्तब्बं सन्तिकं" इति ।
थेरा दत्वा पटिञ्ञं ते यथाट्ठानं अगच्छिसुं ॥ ७७ ॥

W.G.275] राजा अनुराधपुरं आगन्त्वान महायसो ।
दाठिकं दमिळं हन्त्वा सयं रज्जमकारयि ॥ ७८ ॥

ततो निगण्ठारामं तं विधंसित्वा महीपति ।
विहारं कारयी तत्थ द्वादस परिवेणकं ॥ ७९ ॥

महाविहारपतिट्ठाना द्वीसु वस्ससतेसु च ।
सत्तरससु वस्सेसु दसमासाधिकेसु च ॥ ८० ॥

तथा दिनेसु दससु अतिक्कन्तेसु सादरो ।
अभयगिरिविहारं सो पतिट्ठापेसि भूपति ॥ ८१ ॥

पक्कोसयित्वा ते थेरे तेसु पुब्बूपकारिनो ।
तं महातिस्सथेरस्स विहारं मानदो अदा ॥ ८२ ॥

गिरिस्स यस्मा आरामे राजा कारेसि सोभयो ।
तस्माभयगिरि त्वेव विहारो नामतो अहु ॥ ८३ ॥

आनापेत्वा सोमदेविं यथाठाने ठपेसि सो ।
तस्सा तन्नामकं कत्वा सोमारामं अकारयि ॥ ८४ ॥

रथा ओरोपिता सा हि तस्मिं ठाने वरङ्गना ।
कदम्बपुप्फगुम्बम्हि निलीना तत्थ अद्दस ॥ ८५ ॥

अमात्यों का उत्तर था–"राजा द्वारा" । इस प्रकार समझा कर तिष्य एवं महातिष्य–दोनों स्थविर उन अमात्यों को राजा के पास ले गये ।। ७५ ।।

उनका परस्पर क्षमापण कराया । अन्त में राजा और अमात्य सब ने उन स्थविर से यह प्रार्थना की ।। ७८ ।।

"कार्य सम्पन्न होने पर, हमारे द्वारा दूत भेजे जाने पर आप लोग हमारे पास अवश्य आवें" । स्थविरों ने आने की स्वीकृति दी और वे यथास्थान चले गये ।। ७७ ।।

राजा का पुनः राज्यारोहण–तब राजा ने, अनुराधपुर आकर, द्रविड़ राजा को मार कर स्वयं राज्यसिंहासन का अधिग्रहण किया ।। ७८ ।।

राजा के पुण्य-कार्य–उसके तत्काल बाद राजां ने निगण्ठों के उस आवास को विध्वस्त कराकर उसके स्थान पर बारह (१२) परिवेण वाला रम्य विहार बनवा दिया ।। ७९ ।।

अभयगिरिविहार की स्थापना–महाविहार की स्थापना से दो सौ सत्तरह (२१७) वर्ष दस (१0) मास एवं दस (१0) दिन बीतने के बाद राजा ने ससम्मान अभयगिरिविहार की स्थापना की ।। ८0-८१ ।।

तथा मानद राजा ने अपने पूर्वोपकारी तिष्य स्थविर एवं महातिष्य स्थविर को बुलाकर वह विहार उनके अधीन कर दिया ।। ८२ ।।

क्योंकि उस अभय राजा ने यह विहार गिरि नामक निगण्ठ साधु को हटा कर बनवाया था, अतः उसने इस विहार का नम 'अभयगिरि' रखा ।। ८३ ।।

फिर सोमदेवी को भी बुलवा कर, उसको ससम्मान यथास्थान रखकर उसके नाम से 'सोमाराम' नामक विहार बनवा दिया ।। ८४ ।।

(राजा के युद्ध से भागते समय वह) सुन्दरी सोमदेवी रथ से उतर कर उस स्थान पर कदम्ब पुष्पों के झुरमुट (कुञ्ज) में छिपी थी ।। ८५ ।।

मुत्तयन्तं सामणेरं मग्गं हत्थेन छादिय ।
राजा तस्सा वचो सुत्वा विहारं तत्थ कारयि ॥ ८६ ॥

महाथूपस्सुत्तरतो चेतियं उच्चवत्थुकं ।
सिलासोब्भकटकं नाम राजा सो येव कारयि ॥ ८७ ॥

तेसु सत्तसु योधेसु उत्तियो नाम कारयि ।
नगरम्हा दक्खिणतो विहारं दक्खिणव्हयं ॥ ८८ ॥

[W.G.276] तत्थेव मूलवोकासविहारं मूलनामको ।
अमच्चो कारयी, तेन सो पि तन्नामको अहु ॥ ८९ ॥

कारेसि सालियारामं अमच्चो सालियव्हयो ।
कारेसि पब्बतारामं अमच्चो पब्बतव्हयो ॥ ९० ॥

उत्तरतिस्सारामं तु तिस्सामच्चो अकारयि ।
विहारे निट्ठिते रम्मे तिस्सत्थेरं उपेच्च ते ॥ ९१ ॥

"तुम्हाकं पटिसन्थारवसेनम्हेहि कारिते ।
विहारे देम तुम्हाकं" इति वत्वा अदंसु च ॥ ९२ ॥

थेरो सब्बत्थ वासेसि ते ते भिक्खू यथारहं ।
अमच्चा दंसु सङ्घस्स विविधे समणारहे ॥ ९३ ॥

राजा सकविहारम्हि विहारे समुपट्ठहि ।
पच्चयेहि अनूनेहि, तेन ते बहवो अहुं ॥ ९४ ॥

थेरं कुलेहि संसट्ठं महातिस्सो ति विस्सुतं ।
कुलसंसग्गदोसेन सङ्घो तं नीहरी इतो ॥ ९५ ॥

तस्स सिस्सो बहलमस्सुतिस्सत्थेरो ति विस्सुतो ।
कुद्धोभयगिरिं गन्त्वा वसि पक्खं वहं तहिं ॥ ९६ ॥

वहाँ उसने देखा कि एक श्रामणेर, मार्ग हाथ से छिपाता हुआ सा, लघुशङ्का (मूत्रोत्सर्ग) कर रहा था । राजा ने उसकी बात के आधार पर वहाँ भी एक चैत्य का निर्माण कराया ।। ८६ ।।

महास्तूप के उत्तर की तरफ एक ऊँचे स्थान पर सिलासोब्भकटक नाम का चैत्य भी राजा ने ही बनवाया था ।। ८७ ।।

अधिकारियों द्वारा विहार निर्माण—उन पूर्वोक्त (पृ.) सात योद्धाओं में से उत्तिय नामक योद्धा ने नगर की दक्षिण दिशा में 'दक्षिण विहार' बनवाया ।। ८८ ।।

इसी स्थान पर मूल नाम अमात्य ने 'मूलवोकासविहार' बनवाया । पर्वत नामक अमात्य ने 'पर्वतराम' विहार बनवाया ।। ९० ।।

तिष्य अमात्य ने 'उत्तर तिष्यराम' नाम से विहार का निर्माण कराया । इन सब विहारों के निर्माण-कार्य की समाप्ति पर वे सब निर्माणकर्ता तिष्य स्थविर की सेवा में पहुँचे ।। ९१ ।।

और यों निवेदन किया—"भन्ते! हमने ये सभी विहार आप के सम्मान (पटिसन्थार) में बनवाये हैं, अतः हम इन्हें आपको समर्पित करते है ।" तथा यह कहकर वे महाविहार उन के द्वारा स्थविर को दान कर दिये ।। ९२ ।।

यह सब जानकर स्थविर ने उन विहारों में योग्य भिक्षुओं को बसाया । तथा अमात्यों ने उन विहार के वासियों को श्रमणयोग्य वस्तुओं का विपुल दान किया ।। ९३ ।।

राजा ने अपने विहार में रहने वाले भिक्षुओं को श्रमणोपयोगी वस्तुओं की कोई कमी न होने दी । अतः उस विहार के वासियों की सङ्ख्या अधिक हो गयी ।। ९४ ।।

सङ्घ में भेद—महातिष्य नामसे प्रसिद्ध महास्थविर को, सङ्घने उन पर यह आरोप लगाकर कि ये गृहस्थों से अधिक सम्पर्क रखते है, सङ्घ से निकाल दिया ।। ९५ ।।

उनके शिष्य वहलश्मश्रु स्थविर ने जब यह सुना तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ । वह अभयगिरि विहार जाकर अपने क्षीणस्रव गुरु का पक्ष लेते हुए वहाँ रहने लगा ।। ९६ ।।

ततो पभुति ते भिक्खू महाविहारं नागमुं ।
एवं तेभयगिरिका निग्गता थेरवादतो ॥ ९७ ॥

[W.G. 277] पभिन्नाभयगिरिकेहि दक्खिणविहारका यती ।
एवं ते थेरवादीहि पभिन्ना भिक्खवो द्विधा ॥ ९८ ॥

विहारपरिवेणानि घटाबन्धे अकारयि ।
"पटिसङ्खरणं एवं हेस्सती" ति विचिन्तय ॥ ९९ ॥

पिटकत्तयपालिं च तस्सा अट्ठकथं पि च ।
मुखपाठेन आनेसुं पुब्बे भिक्खू महामती ॥ १०० ॥

हानिं दिस्वान सत्तानं तदा भिक्खू समागता ।
चिरट्ठितत्थं धम्मस्स पोत्थकेसु लिखापयुं ॥ १०१ ॥

वट्टगामणि भयो सो राजा रज्जं अकारयि ।
इति द्वादस वस्सानि पञ्च मासेसु आदितो ॥ १०२ ॥

इति परहितमत्तनो हितं च
पटिलभियिस्सरियं करोति पञ्ञो ।
विपुलमपि कुबुद्धि लद्धभोगं
उभयहितं न करोति भोगलुद्धो ॥ ति ॥ १०३ ॥

इति सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

दसराजको नाम

तेत्तिंसतिमो परिच्छेदो

***

इसके बाद वे भिक्षु महाविहार में नहीं गये । यों वे अभयगिरिविहारवासी भिक्षु स्थविरवादी भिक्षुओं से पृथक् हो गये ॥ ९७ ॥

इसी तरह आगे चलकर दक्षिणविहारवासी भिक्षु भी अभयगिरि विहार वासी भिक्षुओं से पृथक् हो गये । अर्थात् वे दोनों ही विहारों के वासी भिक्षु स्थविरवाद से पृथक् हो कर (अपना पृथक् मत स्थापित कर द्विधा) विभक्त हो गये ॥ ९८ ॥

राजा ने यह सोच कर कि "सम्भवः इस तरह करे से भिक्षुओं में परस्पर सत्कार-भावना बढ़ेगी", विहार और परिवेण एक पंक्ति में बना दिये ॥ ९९ ॥

त्रिपिटक एवं अट्ठकथाओं का लिपिकरण–पूर्वकाल से ही यह परम्पार चली आ रही थी महामति (बुद्धिमान्) भिक्षु त्रिपिटक एवं अट्ठकथाओं के सभी ग्रन्थों के पाठ कण्ठस्थ कर लिया करते थे ॥ १०० ॥

परन्तु इस समय वैसे मनुष्यों की हानि एवं अपेक्षाकृत बुद्धि की अल्पता देखकर भिक्षुओं ने एकत्र होकर सर्वसम्मत निर्णय किया–"धर्म की रक्षा हेतु ये सभी ग्रन्थ लिपिबद्ध कर लिये जाँय ॥ १०१ ॥

राजा का कार्यकाल–यों इस ग्रामणी अभय राजा ने लङ्का द्वीप पर बारह (१२) वष, पाँच (५) मास तक शासन किया । (जिस में १२ वर्ष सभी द्रविड़ राजाओं को मारकर और पाँच मास पहले किया था) ॥ १०२ ॥

यों, प्राज्ञ (प्रज्ञावान्) पुरुष ऐश्वर्य (राज्य आदि) प्राप्त कस्स्व (अपना) और पर दोनों का ही हितकर सकता है । इसके विपरीत, दुर्मति जन विपुल ऐश्वर्य-साधना अनायास प्राप्त कर के भी भोगलोभी होकर न अपना ही हित कर पाते है, न दूसरों का ही[1] ॥ १०३ ॥

सज्जनों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा एवं उत्साह
संवर्धनहेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में

दश राजाओं का शासनवर्णन नामक

तेतीसवाँ अध्याय समाप्त

****

1. पाँच सीहल एवं पाँच दविड–इस तरह इस परिच्छेद में दश राजाओं का वर्णन है ।

३४.

चतुत्तिंसतिमो परिच्छेदो

(एकादसराजको नाम)

[W.G.278] तदच्चये महाचूळी महातिस्सो अकारयि ।
रज्जं चुद्दस वस्सानि धम्मेन च समेन च ॥ १ ॥

सहत्थेन कतं दानं सो सुत्वान महप्फलं ।
पठमे येव वस्सम्हि गन्त्वा अञ्ञातवेसवा ॥ २ ॥

कत्वान सालिलवनं लद्धाय भतिया ततो ।
पिण्डपातं महासुम्मत्थेरस्सादा महीपति ॥ ३ ॥

सोण्णगिरिम्हि पुन सो तीणि वस्सानि खत्तियो ।
गुळयन्तम्हि कत्वान भतिं लद्धा गुळे ततो ॥ ४ ॥

ते गुळे आहरापेत्वा पुरं आगम्म भूपति ।
भिक्खुसङ्घस्स पादासि महादानं महीपति ॥ ५ ॥

तिंसभिक्खुसहस्सस्स अदा अच्छादनानि च ।
द्वादसन्नं सहस्सानं भिक्खुनीनं तथेव च ॥ ६ ॥

कारयित्वा महीपालो विहारं सुप्पतिट्ठितं ।
सट्ठिभिक्खुसहस्सस्स छचीवरमदापयि ॥ ७ ॥

तिंससहस्ससङ्खानं भिक्खुनीनं च दापिय ।
मण्डवापिविहारं सो तथा अभयगल्लकं ॥ ८ ॥

चौतीसवाँ परिच्छेद

(ग्यारह राजाओं का वर्णन)

राजा महाचूळी– उस (राजा वट्टगामणि अभय) के देहपात के बाद महाचूळी महातिष्य ने चौदह वर्ष धर्मपूर्वक राज्य किया ॥ १ ॥

उसने (विद्वानों से) सुना कि "अपने हाथ से कमाये धन का दान करना अधिक फलप्रद होता है", अतः उसने (राज्यारोहण के) प्रथम वर्ष में ही अज्ञात वेष धारण कर ॥ २ ॥

(किसी के यहाँ) शालि धन के खेतों में कटाई की । उस से प्राप्त वेतन (भृति, पारिश्रमिक) से महासुम्भ स्थविर को भोजन-दान किया ॥ ३ ॥

फिर उस राजा (क्षत्रिय) ने तीन वर्ष तक, निरन्तर गुड़ बनाने के यन्त्रों पर जाकर कार्य किया, वहाँ से वेतन में गुड़ प्राप्त किया ॥ ४ ॥

वह गुड़ नगर में मँगवा कर राजा ने भिक्षुसङ्घ को महादान के रूप में दिया ॥ ५ ॥

उसने तीस हजार (३०,०००) भिक्षुओं को तथा बारह हजार (१२,०००) भिक्षुणियों को वस्त्रदान किया ॥ ६ ॥

राजा ने सुप्रतिष्ठित विहार बनवा कर साठ हजार (६०,०००) भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों को छह-छह चीवर दान में दिये ॥ ७ ॥

उस (राजा) ने मण्डवापीविहार एवं अभयगल्लक, वङ्कावट्टकगल्लक, दीघबाहुक-गल्लक तथा जालगाम विहार बनवाये ॥ ८ ॥

[W.G.179] वङ्कावट्टकगल्लं च दीघबाहुकगल्लकं ।
जालगामविहारं च राजा सो येव कारयि ॥ ९ ॥

एवं सद्धाय सो राजा कत्वा पुञ्ञानि नेकधा ।
चतुद्दसन्नं वस्सानं अच्चयेन दिवं अगा ॥ १० ॥ (१)

वट्टगामणिनो पुत्तो चोरनागो ति विस्सुतो ।
महाचूळस्स रज्जम्हि चोरो हुत्वा चरी तदा ॥ ११ ॥

महाचूळे उपरते रज्जं कारयि आगतो ।
अत्तनो चोरकाले सो निवासं येसु नालभि ॥ १२ ॥

अट्ठारस विहारे ते विद्धंसापेसि दुम्मति ।
रज्जं द्वादस वस्सानि चोरनागो अकारयि ॥ १३ ॥

अत्तनो भरियादिन्नं विसं भक्खो मतो किर ।
लोकन्तरिकनिरयं पापो सो उपपज्जथ ॥ १४ ॥ (२)

तदच्चये महाचूळरञ्ञो पुत्तो अकारयि ।
रज्जं तीनेव वस्सानि राजा तिस्सो ति विस्सुतो ॥ १५ ॥

चोरनागस्स देवी तु विसमं विसमानुला ।
विसं दत्वान मारेसि बलत्थे रत्तमानसा ॥ १६ ॥

तस्मिं येव बलत्थे सा अनुला रत्तमानसा ।
तिस्सं विसेन घातेत्वा तस्स रज्जं अदासि सा ॥ १७ ॥ (३)

[W.G.280] सिवो नाम बलत्थो सो जेट्ठो दोवारिको तहिं ।
कत्वा महेसिं अनुलं वस्सं महाद्वयाधिकं ॥ १८ ॥ (४)

रज्जं कारेसि नगरे, वटुके दमिळेनुला ।
रत्ता विसेन तं हन्त्वा वटुके रज्जमप्पयि ॥ १९ ॥

उस (राजा) ने मण्डवापी विहार एवं अभयगल्लक, वङ्कावट्टकगल्लक, दीघबाहुकगल्लक तथा जालगाम विहार बनवाये ॥ ९ ॥

यों, राजा ने श्रद्धापूर्वक अनेक पुण्य कार्य किये और चौदह (१४) वर्ष शासन कर, देहपात के बाद स्वर्गलोक गया ॥ १० ॥

राजा चोरनाग–वट्टगामणी का एक पुत्र चोरनाग नाम से विख्यात होकर राजा महाचूळी के समय चोर (विद्रोही) हो गया ॥ ११ ॥

उस महाचूळी के देहपात के बहाद, वह चौरनाग पुनः लौट कर राजा बना। तथा उसने विद्रोहकाल में जिन-जिन विहारों में उस को शरण नहीं मिली थी (राज्य-सिहासन पर बैठते ही) उन विहारों को नष्ट करा दिया ॥ १२ ॥

इस तरह उस दुर्बुद्धि ने अट्ठारह (१८) विहारों को विध्वस्त किया। इस चौरनाग ने भी बारह (१२) वर्ष तक राज्य किया ॥ १३ ॥

अन्त में यह अपनी ही पत्नी के द्वारा दिये गये विष से मृत्यु का वरण कर गया। तथा देहपात के बाद लोकान्तरिक नामक निरय (नरक) में उत्पन्न हुआ ॥ १४ ॥ (२)

राजा तिष्य–उस (चोरनाग) के बाद, महाचूळी राजा का पुत्र तिष्य राजा बना। उसने भी तीन ही वर्ष तक शासन किया ॥ १५ ॥

चोरनाग की दुश्चरित्र भार्या अनुला देवी ने अपने प्रतिकूल (विषम) पति चोरनाग को विष देकर मार डाला। किसी सैनिक में अनुरक्त थी ॥ १६ ॥

राजा शिव– उसी सैनिक में अनुराग के कारण उस दुष्टा ने इस राजा तिष्य को भी विष देकर मार दिया। और उस सैनिक को राजगद्दी पर बैठा दिया ॥ १७ ॥

वह शिव नामक सैनिक राजप्रसाद में द्वारपाल था। उसने अनुला को अपनी रानी बनाया। उसने एक वर्ष दो मास तक नगर पर राज्य किया ॥ १८ ॥ (४)

राजा वटुक– इसी बीच वह अनुला किसी द्रविड़ वटुक पर अनुरक्त हो गयी, अतः उस ने शिव की भी हत्या कर उस वटुक को राज्याभिषिक्त कराया ॥ १९ ॥

वटुको दमिळो सो हि पुरे नगरवड्ढकी ।
महेसिं अनुलं कत्वा वस्सं मासद्वयाधिकं ॥ २० ॥

रज्जं कारेसि नगरे, अनुला तत्थ आगतं ।
पस्सित्वा दारुभतिकं तस्मिं सा रत्तमानसा ॥ २१ ॥

हन्त्वा विसेन वटुकं तिस्सं रज्जं समापयि ।
दारुभतिकतिस्सो सो महेसिं कारियानुलं ॥ २२ ॥

एकमासाधिकं वस्सं पुरे रज्जं अकारयि ।
कारेसि सो पोक्खरणिं महामेघवने लहुं ॥ २३ ॥ (५)

निलिये नाम दमिळे सा पुरोहितब्राह्मणे ।
रागेन रत्ता अनुला तेन संवासकामिनी ॥ २४ ॥ (६)

दारुभतकतिस्सं तं विसं दत्वान घातिय ।
निलियस्स अदा रज्जं, सो पि निलियब्राह्मणो ॥ २५ ॥

तं महेसिं करित्वान निच्चं ताय उपट्ठितो ।
रज्जं कारेसि छम्मासं अनुराधपुरे इध ॥ २६ ॥ (७)

विसेन तं पि घातेत्वा निलियं खत्तियानुला ।
रज्जं सा अनुला देवी चतुमासं अकारयि ॥ २७ ॥ (८)

[W.G.281] महाचूळकराजस्स पुत्तो दुतियको पन ।
कुटकण्णतिस्सो नाम भीतो अनुलदेविया ॥ २८ ॥

पलायित्वा पब्बजित्वा काले पत्तबलो इध ।
आगन्त्वा घातयित्वा तं अनुलं दुट्ठमानसं ॥ २९ ॥

रज्जं कारेसि द्वावीसं वस्सानि मनुजाधिपो ।
महाउपोसथगारं अका चेतियपब्बते ॥ ३० ॥

यह द्रविड़ वटुक नगर में बढई (खाती, काष्ठकार) का कार्य करता था। उसने भी अनुळा को रानी बना कर एक वर्ष दो मास तक नगर पर राज्य किया ॥ २० ॥

यह बढई भी किसी तरह राज्य-शासन चला ही रहा था कि वह दुश्चरित्रा अनुळा नगर में नये-नये आये किसी लकड़हारे (दारुभतिक) पर आसक्त हो गयी ॥ २१ ॥ (५)

राजा तिष्य– तब उस अनुला ने उस वटुक को विष से मार कर उस लकड़हारे को राज्य सौप दिया। उस लकड़हारे ने भी राजा बन कर उस अनुला को ही अपनी रानी बनाया ॥ २२ ॥

एक मास अधिक एक वर्ष तक राज्य करते हुए इस तिष्य ने शीघ्रता (लघु) से महामेघवनोद्यान में एक पुष्करिणी बनवायी ॥ २३ ॥

तब वह अनुला देवी निलिय नामक किसी द्रविड़ ब्राह्मण पुरोहित में आसक्त हो बैठी। तथा उससे सम्भोग की इच्छा करने लगी ॥ २४ ॥ (६)

राजा निलिय– अब उसने उस लकड़हारे को विष देकर मार डाला। तथा इस निलिय को राज्य-भार सौपा। वह निलिय ब्राह्मण भी ॥ २५ ॥

उसी को रानी को बनाकर निरन्तर उसकी ही उपस्थिति (हाजरी) में ही रहता रहा। फिर भी उसने छह मास तक अनुराधपुर पर राज्य किया ॥ २६ ॥ (७)

रानी अनुला–अन्त में उस निलिय को भी विष द्वारा मार कर अनुला ने स्वयं राज्य-शासन सम्हाल लिया। इस अनुला ने भी चार मास तक अनुराधपुर पर राज्य किया ॥ २७ ॥ (८)

राजा कुटकर्ण तिष्य–महाचूळी राजा का कुटकर्ण तिष्य नामक द्वितीय पुत्र इस रानी अनुला के भय से ॥ २८ ॥

भागकर, प्रव्रजित होकर, छिपकर समय बिताता रहा। फिर समय आने पर सेना एकत्र कर उसकी सहायता से यहाँ आकर उस दुश्चरित्र अनुला देवी को मार कर ॥ २९ ॥

स्वयं राजा बना। उसने बाईस (२२) वर्ष तक राज्य किया। तथा चैत्यपर्वत पर महाउपोसथागार बनवाया ॥ ३० ॥

घरस्स तस्स पुरतो सिलाथूपं अकारयि ।
बोधिं रोपेसि तत्थेव सो व चेतियपब्बते ॥ ३१ ॥

पेळागामविहारं च अन्तरगङ्गाय कारयि ।
तत्थेव वण्णकं नाम महामातिकमेव च ॥ ३२ ॥

अम्बदुग्गमहावापिं भयोलुप्पलमेव च ।
सत्तहत्थुच्चपाकारं पुरस्स परिखं तथा ॥ ३३ ॥

महावत्थुम्हि अनुलं झापयित्वा असंयतं ।
अपनीय ततो थोकं महावत्थुं अकारयि ॥ ३४ ॥

पदुमस्सरवनुय्यानं नगरे येव कारयि ।
मातास्स दन्ते धोवित्वा पब्बजि जिनसासने ॥ ३५ ॥

कुलसन्ते घरट्ठाने मातु भिक्खुणुपस्सयं ।
कारेसि, दन्तगेहं ति विस्सुतो आसि तेन सो ॥ ३६ ॥ (९)

[W.G.282] तदच्चये तस्स सुतो नामतो भातिकाभयो ।
अट्ठवीसति वस्सानि रज्जं कारेसि खत्तियो ॥ ३७ ॥

महादाठिकराजस्स भातिकत्ता महीपति ।
दीपे भातिकराजा ति पाकटो आसि धम्मिको ॥ ३८ ॥

कारेसि लोहपासादे पटिसङ्खारमेत्थ सो ।
महाथूपे वेदिका द्वे थुपव्हे पोसथव्हयं ॥ ३९ ॥

अत्तनो बलिमुज्झित्वा नगरस्स समन्ततो ।
रोपापेत्वा योजनम्हि सुमनानुज्जकानि च ॥ ४० ॥

पादवेदिकतो याव धुरच्छत्ता नराधिपो ।
चतरङ्गुलबहलेन गन्धेन उरुचेतियं ॥ ४१ ॥

उस घर के सामने एक पाषाण-स्तूप बनवाया, तथा चैत्य पर्वत पर एक बोधिवृक्ष का रोपण किया ॥ ३१ ॥

तथा उसने नदी (गङ्गा) के बीच में पेडाग्रामविहार का निर्माण कराया । तथा वहाँ वण्णक नाम की नहर (मातृका जलप्रणाली) बनवायी ॥ ३२ ॥

अम्बदुर्ग महावापी एवं अयोत्पल (वापी) बनवायी । तथा नगर के चारों तरफ सात हाथ ऊँचा प्राकार (परकोटा) एवं खाई (परिखा) बनवायी ॥ ३३ ॥

उसने महाप्रसाद में उस असंयत (चरित्रहीन) रानी अनुला का दाहसंस्कार किया और उससे कुछ हटकर एक नया राजप्रसाद बनावाया ॥ ३४ ॥

उसने नगर में ही 'पद्मस्वर वन' नामक उद्यान का निर्माण कराया । इस राजा की माता दाँत धोने (दतुअन करने) के बाद प्रव्रजित हुई थी ॥ ३५ ॥

अतः उसके निवासहेतु अपने प्रासाद के समीप ही एक भिक्षुण्युपाश्रय भी बनवाया । जोकि 'दन्तगेह' नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ३६ ॥ (९)

राजा भातिकाभय–उस राजा (कुटकर्ण्णतिष्य) के बाद, उसका पुत्र भातिकाभय राजा बना । इस राजा ने अट्ठाइस (२८) वर्ष तक राज्य किया ॥ ३७ ॥

महादाठिक राजा का भ्राता होने के कारण वह 'भातिक राजा' के नाम से वहाँ लङ्काद्वीप में प्रसिद्ध हुआ । वह राजा अत्यधिक धर्मभीरु था ॥ ३८ ॥

सर्वप्रथम इस राजा ने लौहप्रासाद का प्रतिसंस्कार (मरम्मत, जीर्णोद्धार) कराया । फिर महास्तूप में दो वेदिकाएँ एवं स्तूपाराम में उपोसथागार बनवाया ॥ ३९ ॥

अपने लिये लिया जाने वाला शुल्क (कर) निषिद्ध कर, एक योजन तक विस्तृत नगर के चारों तरफ नगर की शोभा वृद्धि हेतु फूल और छोटे पौधे लगवाये ॥ ४० ॥

फिर राजा ने धुरचैत्य की निचली (पाद) वेदिका से प्रारम्भ कर ऊपर छत्र तक चार अङ्गुल मोटा सुगन्धित पदार्थों का लेप लगवा या ॥ ४१ ॥

लिम्पापेत्वान पुप्फानि वण्टेहि तत्थ साधुकं ।
निवेसेत्वान कारेसि थूपं मालागुळोपमं ॥ ४२ ॥

पुनङ्गुलबहलाय मनोसिलाय चेतियं ।
लिम्पापेत्वान कारेसि तथेव कुसुमाचितं ॥ ४३ ॥

पुन सोपानतो याव धुरच्छत्ता व चेतियं ।
पुप्फेहि ओकिरापेत्वा छादेसि पुप्फरासिना ॥ ४४ ॥

उट्ठापेत्वान यन्तेहि जलं अभयवापितो ।
जलेहि थूपं सिञ्चन्तो जलपूजमकारयि ॥ ४५ ॥

सकटसतेन मुत्तानं, तेलेन सद्धिं साधुकं ।
मद्दापेत्वा सुधापिण्डं सुधाकम्मं अकारयि ॥ ४६ ॥

[W.G.283] पवाळजालं कारेत्वा तं खिपापिय चेतिये ।
सोवण्णयानि पदुमानि चक्कमत्तानि सन्धिसु ॥ ४७ ॥

लग्गापेत्वा ततो मुत्ताकलापं याव हेट्ठिमा ।
पदुमा लम्बयित्वान महाथूपं अपूजयिं ॥ ४८ ॥

गणसज्झायसद्दं सो धातुगब्भम्हि तादिमं ।
सुत्वा : "दिस्वा तं नाहं वुट्ठहिस्सं" ति निच्छितो ॥ ४९ ॥

पाचीनद्दिकमूलम्हि अनाहारो निपज्जि सो ।
थेरा द्वारं मापयित्वा धातुगब्भं नयिंसु तं ॥ ५० ॥

धातुगब्भविभूतिं सो सब्बं दिस्वा महीपति ।
निक्खन्तो तादिसेहेव पोत्थरूपेहि पूजयि ॥ ५१ ॥

मधुगण्डेहि गन्धेहि घटेहि च रसेहि च ।
अञ्जनहरितालेहि तथा मनोसिलाहि च ॥ ५२ ॥

उसी में मनोहर विधि से डण्डियों के सहारे फूल खुँसवाये । इस से वह स्तूप फूलों का ढेर (राशि) लगने लगा ॥ ४२ ॥

पुनः, आठ अङ्गुल मोटा मैनशिल का लेप लगवा कर उसको भी फूलों से विधिपूर्वक अलङ्कृत कर दिया ॥ ४३ ॥

फिर, सीढी से प्रारम्भ कर छत तक चैत्य को लिपवा कर दूसरे फूलों से ढकवा कर सुसज्जित करवाया ॥ ४४ ॥

अन्त में जल-यन्त्रों की सहायता से अभयवापी से जल लेकर उस से स्तूप का सिञ्चन करते हुए राजा ने स्तूप की जल-पूजा करायी ॥ ४५ ॥

सौ गाड़ियाँ भरे मोतियों को तैल में मृदु एवं श्लक्ष्ण रूप में पिसवा कर, उनके लेप से चैत्य पर सफेदी (चूना) करवायी ॥ ४६ ॥

फिर, मूँगों (प्रवाल) की जालियाँ बनवाकर, उन को चैत्य पर डलवा कर, रथ-चक्र जितने लम्बे चौड़े सुवर्णमय पद्मपत्र बनवाकर, उन्हें सन्धियों में लगवाकर ॥ ४७ ॥

फिर उस पर ऊपर से नीचे तक मोतियों की मालाएँ नीचे लगे हुए पद्मपुष्पों तक लटकवाकर, उस महास्तूप की पूजा करवायी ॥ ४८ ॥

धातुगर्भ के तुल्य मूर्तियों का निर्माण– एक दिन राजा ने धातुगर्भ में भिक्षुओं का गणस्वाध्याय का अनुपम शब्द (ध्वनि) सुनकर निश्चय किया–"इस धातुगर्भ को देखे विना मैं यहाँ से नहीं उठूँगा ।" ॥ ४९ ॥

यह निश्चय कर राजा पूर्वी स्तूप के मूल में निराहार बैठा रहा ।

तब विवश होकर स्थविरों ने धातुगर्भ में द्वार बनवाया । राजा को धातुगर्भ में ले गये ॥ ५० ॥

राजा ने उस धातुगर्भ का समग्र आभ्यन्तर रूपसौन्दर्य एवं विभूति देखी । बाहर आकर यथासमय उसी प्रकार की मूर्तियाँ बनवा कर पूजा की ॥ ५१ ॥

स्तूप-पूजा– राजा ने मधु के छत्तों से, गन्ध जलपूर्ण द्रव्यों से, घटों से, रसों से, अञ्जन-हरताल से ॥ ५२ ॥

मनोसिलासु वस्सेन भस्सित्वा चेतियङ्गणे ।
ठितासु गोप्फमत्तासु रचितेहुप्पलेहि च ॥ ५३ ॥

थूपङ्गणम्हि सकले पूरिते गन्धकद्दमे ।
खित्तकिलञ्जछिद्देसु रचितेहुप्पलेहि च ॥ ५४ ॥

[W.G.284] वारयित्वा वारिमग्गं तत्थेव पूरिते घटे ।
पट्टवट्टीहि नेकाहि कतवट्टिसिखाहि च ॥ ५५ ॥

मधूकतेलम्हि तथा तिलतेले तथेव च ।
तथेव पट्टवट्टीनं सुबहूहि सिखाहि च ॥ ५६ ॥

यथावुत्तेहि एतेहि महाथूपस्स खत्तियो ।
सत्तक्खत्तुं सत्तक्खत्तुं पूजाकासि विसुं विसुं ॥ ५७ ॥

अनुवस्सं च नियतं सुधामङ्गलमुत्तमं ।
बोधिसिनानपूजा च तथेव उरुबोधिया ॥ ५८ ॥

महावेसाखपूजा च उळारा अट्ठवीसति ।
चतुरासीतिसहस्सानि पूजा च अनुळारिका ॥ ५९ ॥

विविधं नटनच्चं च नानातुरियवादितं ।
महाथूपम्हि घोसं च सद्धानुन्नो अकारयि ॥ ६० ॥

दिवसस्स च तिक्खत्तुं बुद्धुपट्ठानमागमा ।
द्विक्खत्तुं पुप्फभेरिं च नियतं सो अकारयि ॥ ६१ ॥

नियतं छन्ददानं च पवारणदानमेव च ।
तेल-फाणित-वत्थादिपरिक्खारे समणारहे ॥ ६२ ॥

बहू पादासि सङ्घस्स चेतियखेत्तमेव च ।
चेतियपरिकम्मत्थं अदा सब्बत्थ खत्तियो ॥ ६३ ॥

मैनसिल से चैत्य के आंगण मे पैर की एडी भर गहरी मैनसिल में उगे हुए कमलों से सुगन्धित मसाले (गारे) सेभरे हुए स्तूपाङ्गण में बिछी हुई चटाइयों के छिद्रों में बने हुए कमलो से ॥ ५३-५४ ॥

जल-निःसरण का मार्ग अवरुद्धकर, उसमें घी भरकर, उसमें रेशम के वस्त्र की बनी बत्तियों से, उसी प्रकार महुवे के तैल और तिलके तैल में जलती हुई वस्त्रनिर्मित बत्तियों से पृथक्-पृथक् सात बार उस स्तूप की पूजा की ॥ ५५-५७ ॥

उस श्रद्धालु राजा ने प्रतिवर्ष चैत्य की मनोहर सफेदी कराने का नियम बनाया। बोधि स्नान पूजा, तथा इसी तरह, उरुबोधिकी अट्ठाईस (२८) महावैशाख की पूजा एवं चौरासी हजार साधारण पूजा का नियम बनाया ॥ ५८-५९ ॥

उसने श्रद्धालु महास्तूप पर नाना प्रकार नट-नृत्य, विविध वाद्यघोष करवाये ॥ ६० ॥

वह तीन बार दिन नियमित बुद्ध का उपस्थापन (हाजरी) करता था, तता नियत रूप से दो बार पुष्प-पूजा एवं भेरीघोष-पूजा कराता था ॥ ६१ ॥

राजा ने भिक्षुओं के लिये छन्ददान एवं प्रवारणादान भी निश्चित किया। इस के अतिरिक्त, तैल, फाणित एवं वस्त्रादि का श्रमणयोग्य परिष्कार भी निश्चित किया ॥ ६२ ॥

राजा ने भिक्षुओं को चैत्यों के पटिकम्म (जीर्णोद्धार) के लिये चैत्य क्षेत्र (एक निश्चित धनराशि) प्रदान किया ॥ ६३ ॥

[W.G.285] सदा भिक्खुसहस्सस्स विहारे चेतियपब्बते ।
सलाकवट्टभत्तं च सो अदापेसि भूपति ॥ ६४ ॥

चित्तमणिमुचलन्दे उपट्ठानत्तये व सो ।
तथा पदुमघरे छत्तपासादे च मनोरमे ॥ ६५ ॥

भोजन्तो पञ्च ठानम्हि भिक्खू गन्धधुरे युते ।
पच्चयेहि उपट्ठासि सदा धम्मे सगारवो ॥ ६६ ॥

पोराणराजनियतं यं किञ्चि सासनस्सितं ।
अकासि पुञ्ञकम्मं सो सब्बं भातिकभूपति ॥ ६७ ॥ (१०)

तस्स भातिकराजस्स अच्चये तङ्कनिट्ठको ।
महादाठिकमहानागनामो रज्जं अकारयि ॥ ६८ ॥

द्वादसं येव वस्सानि नानापुञ्ञपरायनो ।
महाथूपम्हि किञ्चिक्खपासाणे अत्थरापयि ॥ ६९ ॥

वालिकामरियादं च कारेसि वित्थतङ्गणं ।
दीपे सब्बविहारेसु धम्मासनमकारयि ॥ ७० ॥

[W.G.286] अम्बत्थलमहाथूपं कारापेसि महीपति ।
चये अतिट्ठमानम्हि सरित्वा मुनिनो गुणं ॥ ७१ ॥

चजित्वान सकं पाणं निपज्जित्थ सयं तहिं ।
ठपयित्वा चयं तत्थ निट्ठापेत्वान चेतियं ॥ ७२ ॥

चतुद्वारे ठपापेसि चतुरो रतनग्घिके ।
सिप्पिकेहि सुविभत्ते नानरतनजोतिते ॥ ७३ ॥

चेतिये पटिमोचेत्वा रत्तकम्बलकञ्चुकं ।
कञ्चनबुब्बुलं चेत्थ मुत्तालम्बं च दीपयि ॥ ७४ ॥

राजा ने चैत्य पर्वत विहार में प्रतिदिन एक हजार भिक्षुओं को शलाकावर्त भोजन दान किया ॥ ६४ ॥

तथा धर्म के प्रति सदा गौरव रखने वाले उस राजा ने चित्त, मणि एवं मुचल नामक तीन उपस्थानों में तथा पद्मधर एवं मनोरम छत्र प्रसाद ॥ ६५ ॥

यों सब मिलकर इन पाँच स्थानों में धर्मग्रन्थों के अभ्यास में प्रवीण भिक्षुओं को भोजन कराते हुए चीवरादि चारों प्रत्ययों का दान किया ॥ ६६ ॥

इसके साथ ही पुराने राजाओं द्वारा नियत बुद्धशासन-सम्बन्धी पुण्यकार्यों की भी उस भातिक राजा ने निरन्तर पूर्त्ति की ॥ ६७ ॥ (१०)

महादाठिक महानाग राजा—उस भातिक राजा के देहपात के बाद, उसके छोटे भाई महादाठिक महानाग ने नाना पुण्य कर्म करते हुए बारह (१२) वर्ष तक राज्य किया । साथ ही उसने महास्तूप में कुछ विशेष पत्थर (किञ्जल्कपाषाण) लगवाये ॥ ६८-६९ ॥

स्तूपाङ्गण को विस्तृत कराकर उसमें बालू (रेत) की सीमा बन्धवायी । द्वीप के सभी विहारों में सुन्दर धर्मासन (उपदेशमञ्च) बनवाये ॥ ७० ॥

आम्रस्थलमहास्तूप का निर्माण—राजा ने आम्रस्थलमहास्तूप का भी निर्माण कराया । वहाँ ईंटों का चयन (स्थिरता) हो नहीं पा रहा था । तब राजा भगवान् बुद्ध के गुणों का स्मरण करते हुए, अपने प्राणों का मोहत्याग कर उसी स्थल पर लेट गया । तब ईटें वहाँ स्थिर हुई । यों चैत्य का निर्माण पूर्ण कराया ॥ ७१-७२ ॥

गिरिमण्डपूजा—उस महास्तूप के चारों द्वारों पर, उसने शिल्पियों द्वारा निर्मित विविध रत्नों से अलङ्कृत चार महराव बनवायी ॥ ७३ ॥

चैत्य के लिये लाल कमल का वितान देकर उस पर फूलों की सुनहरी कढाई कढवा कर, मोतियों की मालाएँ लटकवायी ॥ ७४ ॥

चेतियपब्बतावट्टे अलङ्करिय योजनं ।
योजापेत्वा चतुद्वारं समन्ता चारुवीथिकं ॥ ७५ ॥

वीथिया उभतो पस्से आपणानि पसारिय ।
धजग्घिकतोरणेहि मण्डयित्वा तहिं तहिं ॥ ७६ ॥

दीपमालासमुज्जोतं कारयित्वा समन्ततो ।
नटनच्चानि गीतानि वादितानि च कारयि ॥ ७७ ॥

मग्गे कदम्बनदितो याव चेतियपब्बता ।
गन्तुं धोतेहि पादेहि कारयि त्थरणत्थतं ॥ ७८ ॥

सनच्चगीतं देवा पि समज्जं अकरुं तहिं ।
नगरस्स चतुद्वारे महादानं च दापयि ॥ ७९ ॥

[W.G.287] अकासि सकले दीपे दीपमाला निरन्तरं ।
सलिले पि समुद्दस्स समन्ता योजनन्तरे ॥ ८० ॥

चेतियस्स महे तेन पूजा सा कारिता सुभा ।
गिरिभण्डमहापूजा उळारा वुच्चते इध ॥ ८१ ॥

समागतानं भिक्खूनं तस्मिं पूजासमागमे ।
दानं अट्ठसु ठानेसु पट्ठपेत्वा महीपति ॥ ८२ ॥

ताळयित्वान तत्रट्ठा अट्ठ सोवण्णभेरियो ।
चतुवीसतिसहस्सानं महादानं पवत्तयि ॥ ८३ ॥

छ चीवरानि पादासि बन्धमोक्खं च कारिय ।
चतुद्वारे न्हापितेहि सदा कम्मं अकारयि ॥ ८४ ॥

पुब्बराजूहि ठपितं भातरा ठपितं तथा ।
पुञ्ञकम्मं अहापेत्वा सब्बं कारयि भूपति ॥ ८५ ॥

चैत्य पर्वत के चारों ओर, योजनपर्यन्त भूमि अलंकृत कराकर, चार द्वार बनवाकर, चारों तरफ वीथियाँ (मार्ग) बनवायीं ॥ ७५ ॥

वीथियों के दोनों तरफ आपण (दुकान) लगवाये उन दुकानों को जहाँ तहाँ ध्वजाओं तथा महँगे तोरणों से सजाया ॥ ७६ ॥

दीपमालाओं से चारों तरफ प्रकाश कराकर, नटों नर्तकों एवं वादकों से वाद्यघोष करवाये ॥ ७७ ॥

मार्ग में कदम्बनदी ने चैत्य पर्वत तक धुले पाँव जाने के लिये आस्तरण विछवाये ॥ ७८ ॥

देवताओं ने भी उस अवसर पर नृत्य गीत वाद्य सहित 'समाज' (उत्सव) का आयोजन किया । राजा ने भी नगर के चारों द्वारों पर महादान की व्यवस्था की ॥ ७९ ॥

उस अवसर पर समग्र लङ्का द्वीप में निरन्तर दीपमालाएं जलायी गयीं । इतना ही नहीं, समुद्र के जल को भी योजन-पर्यन्त दूर दूर तक दीपमालाओं से सजाया ॥ ८० ॥

यों, राजा ने इस चैत्योत्सव पर शुभ पूजा करवायी । वह महापूजा 'गिरिभण्ड महापूजा' नाम से प्रसिद्ध है ॥ ८१ ॥

भिक्षुओं को दान– उस पूजा महोत्सव में सम्मिलित भिक्षुओं को दान हेतु राजा ने आठ स्थान नियुक्त किये ॥ ८२ ॥

वहाँ आठ सोने की भेरियाँ बजवाकर, चौबीस हजार (२४,०००) भिक्षुओं को 'महादान' किया ॥ ८३ ॥

उसने छह चीवरों का दान किया । वन्दियों (कैदियों) को रिहा (मुक्त) किया । चारों द्वारों पर स्नापक एवं नापितों को अपना कार्य करते रहने हेतु आज्ञा दी ॥ ८४ ॥

प्राचीन राजाओं तथा भाई (भातिक) राजा द्वारा स्थापित सभी पुण्यकर्म छोड़े विना, यथाविधि सम्पन्न किये ॥ ८५ ॥

अत्तानं देविं पुत्ते द्वे हत्थिं अस्सं च मङ्गलं ।
वारियन्तो पि सङ्घेन सङ्घस्सादासि भूपति ॥ ८६ ॥

छसतसहस्सग्घनकं भिक्खुसङ्घस्स सो अदा ।
सतसहस्सग्घनकं भिक्खुनीनं गणस्स तु ॥ ८७ ॥

दत्वान कप्पियं भण्डं विविधं विधिकोविदो ।
अत्तानं चावसेसे च सङ्घतो अभिनीहरि ॥ ८८ ॥

कालायनकण्णिकम्हि मणिनागपब्बतव्हयं ।
विहारं च कलन्दव्हं कारेसि मनुजाधिपो ॥ ८९ ॥

कुबुकन्दनदीतीरे समुद्दविहारकं पि च ।
हुवाचकण्णिके चूळनागपब्बतसव्हयं ॥ ९० ॥

[W.G.288] पासाणदीपकव्हम्हि विहारे कारिते सयं ।
पानीयमुपनीतस्स सामणेरस्स खत्तियो ॥ ९१ ॥

उपचारे पसीदित्वा समन्ता अड्ढयोजनं ।
सङ्घभोगमदा तस्स विहारस्स महीपति ॥ ९२ ॥

मण्डवापि विहारे च सामणेरस्स खत्तियो ।
तुट्ठो विहारस्सादासि सङ्घभोगं तथेव च ॥ ९३ ॥ (११)

इति विभवमनप्पं साधुपञ्ञा लभित्वा,
विगतमदपमादा चत्तकामप्पसङ्गा ।
अकरिय जनखेदं पुञ्ञकम्माभिरामा,
विपुलविविधपुञ्ञं सुप्पसन्ना करोन्ती ॥ ति ॥ ९४ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थाय कते महावंसे

एकादसराजको नाम

चतुत्तिंसतिमो परिच्छेदो

उसने भिक्षुओं के निषेध करते रहने पर भी, स्वयं को, अपनी रानी तथा दोनों पुत्रों (आमण्डगामणी अभय एवं तिष्य) को, अपने मङ्गल हाथी एवं घोड़े को भी सङ्घ को दान में दे दिया ।। ८६ ।।

उसने भिक्षुसङ्घ को छह लाख मुद्राओं का तथा भिक्षुणीसङ्घ को एक लाख मुद्राओं का दान किया ।। ८७ ।।

अन्त में, राजाने भिक्षुओं को योग्य भाण्ड (पात्र) देकर अपने को, अपनी रानी को, दोनों पुत्रों एवं मङ्गल हाथी तथा घोड़े को सङ्घ से मुक्त कराया ।। ८८ ।।

अन्य विहारों का निर्माण– राजा ने कालायनकर्णिक में मणिनागपर्वत विहार एवं कलन्द विहार बनवाये ।। ८९ ।।

इसी तरह राजा ने कुबुकन्द नदी के तट पर समुद्रविहार एवं रोहण प्रान्त के हुवाचकण्णिका में चूलनागपर्वत विहार बनवाये ।। ९० ।।

स्वयं राजा पाषाणदीपक विहार के निर्माण के अवसर पर उपनीत श्रामणेर द्वारा प्रदत्त जल-दान से सन्तुष्ट होकर ।। ९१ ।।

राजा ने विहार के चारों तरफ की अर्धयोजन भूमि सङ्घ को सङ्घभोग के रूप में दान कर दी ।। ९२ ।।

मण्डवापिविहार में भी इसी तरह किसी श्रामणेर के कार्य से सन्तुष्ट होकर राजा ने सङ्घभोग (भूमिदान) किया ।। ९३ ।। (११)

इस तरह सद्बुद्धिवाले सज्जन विपुल ऐश्वर्य-सम्पत्ति पाकर मद (गर्व) एवं प्रमाद से दूर रहते हुए तथा कामवासनाओं का परित्याग कर पुण्य कर्मो में रुचि रखने वाली जनता को विना कोई हानि पहुँचाये अनेक प्रकार के पुण्य कर्म प्रसन्नचित्त होकर करते रहते हैं ।। ९४ ।।

साधुजनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह
अभिवर्धन हेतु रचित इस महावंश ग्रन्थ में
एकादश राजाओं का वर्णन
चौतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

****

३५.

पञ्चतिंसतिमो परिच्छेदो

(द्वादसराजको)

[W.G. 289] आमण्डगामणी भयो महादाठिकअच्चये ।
नव वस्सानट्ठमासे च रज्जं कारेसि तंसुतो ॥ १ ॥

छत्तातिछत्तं कारेसि महाथूपे मनोरमे ।
तत्थेव पादवेदिं च मुद्धवेदिं च कारयिं ॥ २ ॥

तथेव लोहपासादे थूपारामूपोसथव्हये ।
कुच्छिआजिरं कारेसि कुच्छिआलिन्दमेव च ॥ ३ ॥

उभयत्थापि कारेसि चारुं रतनमण्डपं ।
रजतलेनविहारं च कारापेसि नराधिपो ॥ ४ ॥

महागामेण्डिवापिं सो पस्से कारिय दक्खिणे ।
दक्खिणस्स विहारस्स अदासि पुञ्ञदक्खिणो ॥ ५ ॥

मा घातं सकले दीपे कारेसि मनुजाधिपो ।
वल्लीफलानि सब्बानि रोपापेत्वा तहिं तहिं ॥ ६ ॥

मंसकुम्भण्डकं नाम आमण्डियमहीपति ।
पत्तं पूरापयित्वा न कारेत्वा वत्थचुम्बटं ॥ ७ ॥

[W.G. 290] दापेसि सब्बसङ्घस्स विप्पसन्नेन चेतसा ।
पत्ते पूरापयित्वान सो आमण्डगामणी विदु ॥ ८ ॥ (9)

पैंतीसवाँ परिच्छेद

(बारह राजाओं का वर्णन)

राजा आमण्डग्रामणी– राजा महादाठिक के देहपात के बाद उस का पुत्र आमण्डगामणी अभय राजा बना । इसने नौ (९) वर्ष, आठ मास तक शासन किया ॥ १ ॥

इसने अपने राज्यकाल में महास्तूप के छत्र पर एक अन्य छत्र लगाया । वहीं पादवेदिका एवं मूर्धवेदिका का भी निर्माण कराया ॥ २ ॥

इसी तरह लौहप्रासाद तथा स्तूपाराम के सामने बरामदे बनवाये । तथा अन्दर एक एक प्रकोष्ठ (कमरा) बनवाया ॥ ३ ॥

इन्ही दोनों स्थानों पर इस राजा ने सुन्दर रत्नमण्डप तथा रजतलेण विहार भी बनवाये ॥ ४ ॥

पुण्यकर्मेच्छु उस राजा ने दक्षिणविहार के दक्षिणपार्श्व में महागामेण्डि वापी का निर्माण कराया ॥ ५ ॥

पशुवधनिषेध– राजा ने समग्र लङ्काद्वीप में पशुवध निषिद्ध कर दिया । इसके स्थान पर फल एवं फूल देने वाले वृक्ष लगवाये ॥ ६ ॥

इस आमण्डियराजा ने गूदादार तरबूज फलों से भिक्षुओं के पात्र भरवा कर उन्हें ईण्ढी (चुम्बट=घड़े को लुढ़कने न देने के लिये कपड़े का गोल चक्र) भी दान में दीं ॥ ७-८॥ (१)

तङ्कनिट्ठो कणिरजानुतिस्सो घातिय भातरं ।
तीणि वस्सानि नगरे रज्जं कारेसि खत्तियो ॥ ९ ॥

उपोसथघरत्थं सो निच्छिनि चेतियव्हये ।
राजापराधकम्मम्हि युत्ते सट्ठि तु भिक्खवो ॥ १० ॥

सहोड्डे गाहयित्वान राजा चेतियपब्बते ।
पक्खिपापेसि कणिरव्हे पब्भारम्हि असीलके ॥ ११ ॥ (२)

कणिरजानुअच्चयेन आमण्डगामणीसुतो ।
चूळाभयो वस्समेकं रज्जं कारयि खत्तियो ॥ १२ ॥

सो होनकनदीतीरे पुरपस्सम्हि दक्खिणे ।
कारापेसि महीपालो विहारं चूळगल्लकं ॥ १३ ॥ (३)

चूळाभयस्सच्चयेन सीवली लङ्कनिट्ठिका ।
आमण्डधीता चतुरो मासे रज्जं अकारपि ॥ १४ ॥ (४)

आमण्डभागिनेय्यो तु सीवलिं अपनीय तं ।
इळनागो ति नामेन छत्तं उस्सापयी पुरे ॥ १५ ॥

तिस्सवापिं गते तस्मिं आदिवस्से नराधिपे ।
तं हित्वा पुरमागञ्छुं बहवो लम्बकण्णिका ॥ १६ ॥

[W.G. 291] तहिं अदिस्वा ते राजा कुद्धो तेहि अकारयि ।
मद्दयं वापिया पस्से महाथूपञ्जसं सयं ॥ १७ ॥

तेसं विचारके कत्वा चण्डाले च थपापयि ।
तेन कुद्धा लम्बकण्णा सब्बे हुत्वान एकतो ॥ १८ ॥

राजानं तं गहेत्वान रुन्धित्वान सके घरे ।
सयं रज्जं विचारेसुं रञ्ञो देवी तदा सकं ॥ १९ ॥

राजा कणीरजानु तिष्य– इस (आमण्डगामणी) राजा को इसी के छोटे भाई कणीरजानु तिष्य ने मार कर वह स्वयं राजगद्दी पर बैठा । इसने तीन वर्ष तक नगर पर राज्य किया ॥ ९ ॥

इसने चैत्य नामक उपोसथागार में हुई चौरी (विद्रोह) का महत्त्वपूर्ण निर्णय किया । तथा वहाँ राज्य-द्रोह में लिप्त साठ (६०) भिक्षुओं को बन्दी बना कर ॥ १० ॥

उन्हें अपराध में प्रयुक्त उपकरणों के साथ चैत्य पर्वत की कणीर गुफा में डाल दिया ॥ ११ ॥ (२)

राजा चूड़ाभय–इस राजा कणीरजानुतिष्य के बाद आमण्डग्रमणी का पुत्र चूड़ाभय राज्यसिंहासन पर आरूढ हुआ । इसने एक वर्ष तक राज्य किया ॥ १२ ॥

उस राजा ने होनक नदी के तट पर नगर के समीप दक्षिण की तरफ 'चूड़गल्लक' नामक विहार बनवाया ॥ १३ ॥ (३)

रानी सीवली– इस राजा चूड़ाभय की मृत्यु के बाद उसकी छोटी बहन सीवली राजगद्दी पर बैठी । इसने केवल चार मास राज्य किया ॥ १४ ॥ (४)

राजा इलनाग–राजा आमण्डगामणी अभय इलनाग नामक भनजे ने उस रानी सीवली को राजगद्दी से च्युत कर, राज्य का भार सम्हाला ॥ १५ ॥

राज्यसिंहासन सम्हालने के प्रथम वर्ष में ही, राजा के तिष्यवापी जाने पर, बहुत से लम्बकर्णिक (लङ्का का एक वंश, जो कभी पूर्वी भारत से आकर यहाँ बसा था) राजा को वहाँ अकेला छोड़कर वापस नगर में लौट आये ॥ १६ ॥

उन्हें वहां न देखकर राजा बहुत क्रुद्ध हुआ । और उन से वापी के पास से महास्तूप तक बलपूर्वक सड़क बनवायी ॥ १७ ॥

उस समय उनका निरीक्षण करने के लिये चण्डालों को नियुक्त कर दिया । उससे रुष्ट हुए वे लम्बकर्णिक एकत्र होकर ॥ १८ ॥

उस राजा को अपने घर में बन्दी बना कर, स्वयं राज्य पर शासन करने लगे । तब राजा की रानी ने अपने पुत्र चन्द्रमुखशिव को अलङ्कृत कर, दाइयों के हाथ, मङ्गल हाथी के पास भेजा ॥ १९ ॥

पुत्तकं चन्दमुखसिवं मण्डयित्वा कुमारकं ।
धातीनं हत्थे दत्वान मङ्गलहत्थिसन्तिकं ॥ २० ॥

पेसेसि वत्वा सन्देसं, नेत्वा तं धातियो तहिं ।
वदिंसु देवसन्देसं सब्बं मङ्गलहत्थिनो ॥ २१ ॥

"अयं ते सामिनो पुत्तो सामिको चारके ठितो ।
अरीहि घाततो सेय्यो तया घातो इमस्स तु ॥ २२ ॥

त्वमेनं किर घातेहि, इदं देविवचो" इति ।
वत्वा तं ता सयापेसुं पादमूलम्हि हत्थिनो ॥ २३ ॥

दुक्खितो सो रुदित्वान नागो भेत्वान आळहकं ।
पविसित्वा महावत्थुं द्वारं पाटिय थामसा ॥ २४ ॥

रञ्ञो निसिन्नठानम्हि उग्घाटेत्वा कवाटकं ।
निसीदापिय तं खन्धे महातित्थमुपागमि ॥ २५ ॥

[W.G. 292] नावं आरोपयित्वान राजानं तत्थ कुञ्जरो ।
पच्छिमोदधितीरेन सयं मलयमारुहि ॥ २६ ॥

परतीरे वसित्वा सो तीणि वस्सानि खत्तियो ।
बलकायं गहेत्वान अगा नावं हि रोहणं ॥ २७ ॥

तित्थे सक्खरसोब्भम्हि ओतरित्वान भूपति ।
अकासि रोहणे तत्थ महन्तं बलसङ्गहं ॥ २८ ॥

रञ्ञो मङ्गलहत्थी सो दक्खिणा मलया ततो ।
रोहणं येव आगञ्छि तस्स कम्मनि कातवे ॥ २९ ॥

महापदुमनामस्स तस्स जातकभाणिनो ।
तुलाधारव्हवासिस्स महाथेरस्स सन्तिके ॥ ३० ॥

उस राजा को अपने घर में बन्दी बना कर, स्वयं राज्य पर शासन करने लगे । तब राजा की रानी ने अपने पुत्र चन्द्रमुखशिव को अलङ्कृत कर, दाइयों के हाथ, मङ्गलहस्ती के पास भेजा ॥ २० ॥

और एक सन्देश भी दिया । तब वे दाइयाँ उस कुमार को मङ्गलहस्ती के पास ले गयीं और उसको रानी का यह सन्देश सुनाया ॥ २१ ॥

"यह तुम्हारे स्वामी का पुत्र है । तुम्हारे स्वमी को शत्रुओं ने बन्दी बना लिया है । अब यह बच्चा शत्रुओं के हाथ मारा जाय, इससे तो अच्छा है कि यह तुम्हारे पैरों से कुचल डाला जाय ॥ २२ ॥

"अतः तूँ इसे मार डाल–यह देवी ने कहा है" । यह कह कर उन दाइयों ने उस बालक को हाथी के पैरों में लिटा दिया ॥ २३ ॥

यह देख-सुनकर वह मङ्गलहस्ती रो पड़ा । फिर उसने अपना आढक (बन्धन) तुड़ा कर, राजप्रासाद में प्रविष्ट होकर, बलपूर्वक उसके द्वार तोड़कर ॥ २४ ॥

राजा के बैठने के स्थान पर जाकर, किवाड़ (कपाट) खोलकर, राजा को कन्धे पर बैठा कर महातीर्थ (घाट) पर आया ॥ २५ ॥

वहाँ राजा को नाव पर बैठा कर, वह मङ्गलहस्ती स्वयं पश्चिम समुद्र के तट के समीप जङ्गल में चला गया ॥ २६ ॥

राजा दूसरे किनारे पर जा कर वहाँ तीन वर्ष रहा ॥ २७ ॥

वहीं फिर सक्खरसोब्भ बन्दरगाह में आकर उसने सेना (बलकाय) का संग्रह किया और वह नाव द्वारा रोहण देश पहुँचा ॥ २८ ॥

इसी समय राजा का मङ्गलहस्ती भी दक्षिण की तरफ से उसके पास उसके कार्य में सहायक बनने के लिये रोहण देश में ही चला आया ॥ २९ ॥

तब, **जातक** के माध्यम से बुद्ध धर्म के उपदेशक, तुलाधारनिवासी महापद्मनामक महास्थविर से राजा ने ॥ ३० ॥

कपिजातकं सुत्वान बोधिसत्ते पसादवा ।
नागमहाविहारं सो जियामुत्तधनुस्सतं ॥ ३१ ॥

कत्वा कारेसि, थूपं च वड्ढापेसि यथापिटतं ।
तिस्सवापिं च कारेसि तथा दूरव्हवापिकं ॥ ३२ ॥

सङ्गहेत्वा बलं राजा युद्धाय अभिनिक्खमि ।
तं सुत्वा लम्बकण्णा च युद्धाय अभिसंयुतता ॥ ३३ ॥

कपिल्लक्खण्डद्वारम्हि खेत्ते हङ्कारपीटके ।
युद्धं उभिन्नं वत्तित्थ अञ्ञमञ्ञविहेठनं ॥ ३४ ॥

नावा किलन्तदेहत्ता पुरिसा सीदन्ति राजिनो ।
राजा नामं सावयित्वा सयं पाविसि तेन सो ॥ ३५ ॥

[W.G. 293] तेन भीता लम्बकण्णा सयिंसु उदरेन, ते ।
तेसं सीसानि छिन्दित्वा रथनाभिसमं करुं ॥ ३६ ॥

तिक्खत्तुं एवं तु कते करुणाय महीपति ।
"अमारेत्वा व गण्हाथ जीवगाहं" ति अब्रवि ॥ ३७ ॥

ततो विजितसङ्गामो पुरं आगम्म भूपति ।
छत्तं उस्सापयित्वान तिस्सवापिछणं अगा ॥ ३८ ॥

जलकीळाय उग्गन्त्वा सुमण्डितपसाधितो ।
अत्तनो सिरिसम्पत्तिं दिस्वा तस्सन्तरायिके ॥ ३९ ॥

लम्बकण्णे सरित्वान कुद्धो योजापयी रथे ।
युगपरम्परा, तेसं पुरतो पाविसी पुरं ॥ ४० ॥

महावत्थुस्स उम्मारे ठत्वा राजाणापेसि सो ।
"इमेसं सीसमुम्मारे असिं छिन्दथ, भो" इति ॥ ४१ ॥

कपिजातक (२५० जा०) सुनकर शासन में श्रद्धा करते हुए डोरी (ज्या) रहित सौ धनुष् जितना भूमिभाग नाप कर उस पर नागमहाविहार बनवाया ॥ ३१ ॥

स्तूप को यथास्थित आकार का बनवाकर उसका जीर्णोद्धार करवाया । साथ ही तिष्यवापी एवं दूरवापी का भी निर्माण कराया ॥ ३२ ॥

राजा का लम्बकर्णों से युद्ध– फिर राजा ने सेना एकत्र कर, युद्धहेतु प्रस्थान किया । यह सुनकर लम्बकर्णों ने भी युद्ध की तैयारी की ॥ ३३ ॥

यों, कपल्लकखण्ड द्वार के पास हङ्कारपीठक नामक क्षेत्र में दोनों सेनाओं का एक-दूसरे के साथ भयङ्कर विनाशकारी युद्ध हुआ ॥ ३४ ॥

नाव से यात्रा के कारण थके हुए राजा के सैनिकों ने अपनी उद्विग्नता राजा से बतायी । तब राजा ने अपना नाम सुनाते हुए स्वयं युद्ध में प्रवेश किया ॥ ३५ ॥

उससे भय खाकर भागते हुए वे लम्बकर्ण युद्धभूमि पर पेट के बल गिर पड़े । राजा ने उन लम्बकर्णों के शिर काटकर वहाँ रथ की नाभि तक ऊँची उनके शिरों की राशि (ढेर) लगा दी ॥ ३६ ॥

राजा द्वारा तीन बार ऐसा करने पर, अन्त में लम्बकर्णों ने राजा से करुणापूर्ण शब्दों में निवेदन किया –"आप हमें जीवनदान दे दें, हमें मारा न जाय " ॥ ३७ ॥

अन्त में राजा, युद्ध में विजय प्राप्त कर, नगर में आकर सिंहासन पर अपना नियन्त्रण (कब्जा) कर, वह तिस्सवापी-महोत्सव में सम्मिलित हुआ ॥ ३८ ॥

तदनन्तर, वह जलक्रीड़ा-महोत्सव से निवृत्त होकर, सब तरह से अलङ्कृत होकर, अपने शत्रुओं पर अपनी विभूति (ऐश्वर्य) का प्रदर्शन करने के लिये ॥ ३९ ॥

अपने शत्रु लम्बकर्णों को बुलाकर, उन पर क्रुद्ध हो, उन को युगबद्ध (दो दो की जोड़ी में) कर अपने रथ में जुतवाया । उसी रथ से वह नगर में प्रविष्ट हुआ ॥ ४० ॥

फिर राजा ने अपने महाप्रसाद के चबूतरे (उम्मार) पर खड़े होकर घोषणा की- "इन रथ में जुते हुए लम्बकर्णों का शिर इसी चबूतरे पर काट दो" ॥ ४१ ॥

"गोणा एते रथे युत्ता तव होन्ति रथेसभ !
सिङ्गं खुरं च एतेसं छेदापय ततो" इति ॥ ४२ ॥

मातुया अथ सञ्ञत्तो सीसच्छेदं निवारिय ।
नासं च पादङ्गुट्ठं च तेसं राजा अछेदयि ॥ ४३ ॥

हत्थिवुत्थं जनपदं अदा हत्थिस्स खत्तियो ।
'हत्थिभोगो जनपदो' इति तेनासि नामतो ॥ ४४ ॥

एवं अनुराधपुरे इळनागो महीपति ।
छब्बस्सानि अनूनानि रज्जं कारेसि खत्तियो ॥ ४५ ॥ (५)

इळनागच्चये तस्स पुत्तो चन्दमुखो सिवो ।
अट्ठवस्सं सत्तमासं राजा रज्जमकारयि ॥ ४६ ॥

[W.G. 294] मणिकारगामके वापिं कारापेत्वा महीपति ।
इस्सरसमणव्हस्स विहारस्स अदासि सो ॥ ४७ ॥

तस्स रञ्ञो महेसी च तङ्गामे पत्तिमत्तनो ।
तस्सेवादा विहारस्स दमिळादेवी तु विस्सुता ॥ ४८ ॥ (६)

तं तिस्सवापिकीळाय हन्त्वा चन्दमुखं सिवं ।
यसलालकतिस्सो ति विस्सुतो तङ्कनिट्ठको ॥ ४९ ॥

अनुराधपुरे रम्मे लङ्काय वदने सुभे ।
सत्त वस्सानट्ठमासे राजा रज्जमकारयि ॥ ५० ॥

दोवारिकस्स दत्तस्स पुरतो दोवारिको सयं ।
रञ्ञो सदिसरूपेन अहोसि सुभनामवा ॥ ५१ ॥

सुभं बलत्थं तं राजा राजभूसाय भूसिय ।
निसीदापिय पल्लङ्के हासत्थं यसलालको ॥ ५२ ॥

"अरे! ये तो तेरे बैल हैं, क्योंकि इन्होंने तेरा रथ खींचा है । बैलों की हत्या नहीं की जाती । अतः इन के सींग और खुर कटवा कर इन्हें छोड़ दे" ॥ ४२ ॥

ऐसा माता द्वारा समझाये जाने पर, उन के शिर कटवाने का आग्रह छोड़ कर, उसने उन लम्बकर्णों के नाक एवं पैर के अंगूठे कटवा दिये ॥ ४३ ॥

इन सब कार्यों के अवकाश पाकर राजा ने, वह ग्राम, जिसमें हाथी ने सङ्कटकाल में वास किया था, हाथी के ही नाम कर दिया । (अर्थात् उस ग्राम की आय का उपभोग हाथी ही करता था ।) अतः उस जनपद का नाम 'हस्तिभोग' प्रसिद्ध हो गया ॥ ४४ ॥

इस प्रकार उस राजा (इळनाग) ने अनुराधपुर पर पूरे छह वर्ष तक राज्य किया ॥ ४५ ॥ (५)

राजा चन्द्रमुख शिव– उस राजा इलनाग के देहपात के बाद उसके पुत्र चन्द्रमुख शिव ने आठ (८) वर्ष एवं सात (७) मास तक वहाँ राज्य किया ॥ ४६ ॥

इस राजा ने मणिकार नामक ग्राम में वापी बनवाकर ईश्वरश्रमण विहार को दान कर दी ॥ ४७ ॥

उस राजा की द्रविळा देवी नामक रानी ने उस ग्राम में अपने नाम का आय-भाग भी उसी विहार को दान कर दिया ॥ ४८ ॥ (६)

राजा यसलालकतिष्य– अन्त में उस राजा चन्दमुख शिव की, तिष्यवापी में जलक्रीड़ा करते समय, हत्या कर उस के छोटे भाई यसलालकर तिष्य ने ॥ ४९ ॥

लङ्काद्वीप के उस सुन्दर अनुराधपुर नगर पर सात वर्ष एवं आठ महीने तक राज्य किया ॥ ५० ॥

वहाँ, दत्त नामक द्वारपाल का शुभ नाम का पुत्र राजा की आकृति (रूप) के सदृश ही था, अतः यह राजा कभी-कभी उस द्वारपाल-पुत्र को अपना वेष तथा मुकुट पहना कर उसको राजसिंहासनपर बैठा कर तथा स्वयं द्वारपाल का वेष पहन कर उसके सामने खड़े होकर हँसा करता था ॥ ५१-५२ ॥

सीसचोलं बलत्थस्स ससीसे पटिमुञ्चिय ।
यट्ठिं गहेत्वा हत्थेन द्वारमूले ठितो सयं ॥ ५३ ॥

वन्दन्तेसु अमच्चेसु निसिन्नं सासनम्हि तं ।
राजा हसति; एवं सो कुरुते अन्तरन्तरा ॥ ५४ ॥

बलत्थो एकदिवसं राजानं हसमानकं ।
"अयं बलत्थो कस्मा मे सम्मुखा हसती ?" ति सो ॥ ५५॥ (७)

मारापयित्वा राजानं बलत्थो सो सुभो इध ।
रज्जं कारेसि छब्बस्सं सुभराजा ति विस्सुतो ॥ ५६ ॥

[W.G. 295] द्वीसु महाविहारेसु सुभराजा मनोरमं ।
परिवेणपन्तिं सुभराजनामकं येव कारयि ॥ ५७ ॥

उरुवेलसमीपम्हि तथा वल्लीविहारकं ।
पुरत्थिमे एकद्वारं गङ्गन्ते नन्दिगामकं ॥ ५८ ॥

लम्बकण्णसुतो एको उत्तरपस्सवासिको ।
सेनापतिं उपट्ठासि वसभो नाम मातुलं ॥ ५९ ॥

"हेस्सति वसभो नाम राजा" ति सुतिया तदा ।
घातेसि राजा दीपम्हि सब्बे वसभनामके ॥ ६० ॥

"रञ्ञो दस्साम वसभं इमं" ति भरियाय सो ।
सेनापति मन्तयित्वा पातो राजकुलं अगा ॥ ६१ ॥

गच्छतो तेन सहसा तम्बूलं चुण्णवज्जितं ।
वसभस्सादासि हत्थम्हि तं साधु परिरक्खितुं ॥ ६२ ॥

राजगेहदुवारम्हि तम्बूलं चुण्णवज्जितं ।
सेनापति उदिक्खित्वा तं चुण्णत्थं विसज्जयि ॥ ६३ ॥

वह द्वारपाल की पगड़ी अपने सिर पर रखकर उसकी छड़ी, (यष्टि) अपने हाथ में लेकर स्वयं द्वार पर खड़ा हो जाता था ।। ५३ ।।

उस अवस्था में, राजसिंहासन पर बैठे द्वारपाल को प्रणाम करते हुए अधिकारियों को देखकर राजा हँसता था । ऐसा परिहास वह बीच-बीच में (समय समय पर) करता रहता था ।। ५४ ।।

राजा शुभ– यों, किसी दिन वह सिंहासन पर बैठा द्वारपाल उस राजा को हँसता देखकर–"यह द्वारपाल मेरे सामने खड़ा हुआ क्यों हँसता है ?" यह सोचकर ।। ५५ ।।

सिहासन पर बैठे राजा (द्वारपाल) ने उस द्वारपाल (राजा) की हत्या करवा कर शुभराजा नाम से छह वर्ष तक राज्य किया ।। ५६ ।।

उस शुभ राजा ने दो महाविहारों मे रम्य परिवेणपंक्ति बनवायी ।। ५७ ।।

उसने उरुवेल के समीप वल्लीविहार, पूर्व दिशा में एकद्वारविहार एवं गङ्गातट पर नन्दिग्रामक विहार बनवाया ।। ५८ ।।

उत्तर दिशा का वासी कोई वृषभ नामक लम्बकर्णपुत्र अपने मामा सेनापति के यहाँ सेवा (नौकरी) करता था ।। ५९ ।।

इसी समय जनता में यह बात (जनश्रुति) फैल गयी कि "कोई वृषभ नाम का पुरुष राजा बनेगा" । तब राजा ने द्वीप में रहनेवाले 'वृषभ' नाम के सभी आदमियों को पकड़वाकर मरवाना प्रारम्भ किया ।। ६० ।।

तब उसने अपनी पत्नी से मन्त्रणा कर, सेनापति ने अपने भानजे वृषभ को प्रातःकाल ही राजकुल में ले जाकर (राजा के सम्मुख) प्रस्तुत किया ।। ६१ ।।

उसकी पत्नी राजकुल जाते हुए उस वृषभ के सम्मुख एक विना चूना लगा पान लेकर गयी, तथा उसके हाथ में देकर उसे सम्हाल कर रखने का परामर्श दिया ।। ६२ ।।

राजकुल पहुँचने पर सेनापति ने, विना चूने का पान देखकर, उसे चूना लाने के लिये भेजा ।। ६३ ।।

सेनापतिस्स भरिया चुण्णत्थं वसभं गतं ।
वत्वा रहस्सं दत्वा च सहस्सं तं पलापयि ॥ ६४ ॥

महाविहारट्ठानं सो गन्त्वा सो वसभो पन ।
तत्थ थेरेहि खीरन्नवत्थेहि कतसङ्गहो ॥ ६५ ॥

ततो परं कुट्ठिनो च राजभावाय निच्छितं ।
सुत्वान वचनं हट्ठो "चोरो हेस्सं" ति निच्छितो ॥ ६६ ॥

[W.G296] लद्धा समत्थपुरिसे गामघातं ततो परं ।
करोन्तो रोहणं गन्त्वा कपल्लपूवोपदेसतो[1] ॥ ६७ ॥

कमेन रट्ठं गण्हन्तो समत्थबलवाहनो ।
सो द्वीहि तदा वस्सेहि आगम्म पुरसन्तकं ॥ ६८ ॥

सुभराजं रणे हन्त्वा वसभो सो महब्बलो ।
उस्सापेसि पुरं छत्तं, मातुलो तु रणे पति ॥ ६९ ॥ (८)

तं मातुलस्स भरियं पुब्बभूतोपकारिकं ।
अकासि वसभो राजा महेसिं पोत्थनामिकं ॥ ७० ॥

सो होरापाठकं पुच्छि आयुप्पमाणं अत्तनो ।
आह द्वादस वस्सानि रहो येवस्स सो पि च ॥ ७१ ॥

रहस्सरक्खणत्थाय सहस्सं तस्स दापिय ।
सङ्घं सो सन्निपातेत्वा वन्दित्वा पुच्छि भूपति ॥ ७२ ॥

---

1. एषा कथा **महावंसट्ठकथायं** एवं वण्णिता–"एवं ते चरन्ता सुरिये अत्थगते अञ्ञतरं गामं पविसित्वा तेसं तेसं मनुस्सानं कथासल्लापं सुणन्ता विचरन्ति । तस्मिं गामे एका इत्थी कपल्लपूवं पचित्वा पुत्तस्स दत्वा तस्मिं अन्तमखादित्वा मज्झमज्झमेव खादित्वा अन्तं पहाय अञ्ञस्मिं पूवे याचन्ते–"अयं दारको चन्दगुत्तस्स रज्जगहणं विय करोती" ति वत्वा पुन तस्मिं "अम्मं, अहं किं करोमि ? किं चन्दगुत्तो ?" ति वुत्ते "त्वं, तात, पूवस्स अन्तं पहाय मज्झमेव खादसि, चन्दगुत्तो पि रज्जं इच्छन्तो पच्चन्ततो पट्ठाय गामघातकम्ममकत्वा अन्तो जनपदं पविसित्वा गामं हञ्ञति, तस्मा तं गामवासिनो च अञ्ञे च उट्ठाय सब्बं ततो मज्झे कत्वा तस्स बलं विद्धंसेन्ति, तस्सेव सो दोसो" ति आह ॥ (म० वं० अट्ठ. १४८ पृ.)

उस सेनापति की पत्नी ने, वृषभ को चूना लाने के लिये अकेले जाता देखकर, उसको एकान्त में रहस्य (उसकी हत्या) की बात बता दी, तथा उसको एक हजार (१,०००) मुद्रा देकर वहाँ (राजकुल) से भगा दिया ॥ ६४ ॥

तब वह वृषभ महाविहार स्थान में गया । वहाँ स्थविर भिक्षुओं ने उसको दूध, अन्न, वस्त्र की सामग्री दी ॥ ६५ ॥

उस समय उसने किसी कुष्ठ रोगी से यह भविष्यवाणी सुनी कि "वह (वृषभ) कभी राजा बनेगा" । इसे सुन कर उसने प्रसन्न हो कर निश्चय किया– "वह चौर (विद्रोही) बनेगा" ॥ ६६ ॥

कुछ योग्य (बलवान्, शक्तिशाली) पुरुषों का संग्रह कर वह चोरी करने लगा । फिर कभी वह गांवों में लूट-पाट करता हुआ रोहण प्रदेश जाकर कपल्लपूर्व[1] की कथा सुन पाया ॥ ६७ ॥

इस कथा से प्रभावित होकर वह क्रमशः जनपदों को अपने अधीन करता हुआ दो वर्ष के समय में नगर के समीप पहुँच गया ॥ ६८ ॥

राजा वृषभ–तब उस महाबलशाली वृषभ ने युद्ध में शुभराज को मारकर अनुराधपुर की राजगद्दी (राज्यछत्र) पर अपना नियन्त्रण कर लिया । (राजा बन गया ।) उसका सेनापति मामा भी इसी युद्ध में मारा गाया ॥ ६९ ॥ (८)

इस राजा वृषभ ने अपने मामा की 'पोत्थ' नाम की पत्नी को अपनी रानी बनाया, जिसने कि सङ्कट में उसका साथ दिया था ॥ ७० ॥

उसने कभी किसी ज्यौतिषी अपना आयुःप्रमाण (आयुःसीमा) पूछा । ज्योंतिषी ने उसकी आयु बारह (१२) वर्ष और बतायी । राजा ने इस बात को गुप्त ही रखने के लिये कहा ॥ ७१ ॥

---

1. महावंश-अट्ठकथा में यह कथा इस प्रकार वर्णित है–
"एक स्त्री ने अपने लड़के को पूवे पकाकर दिये । लड़का पूवों को बीच-बीच में से खाकर किनारे यूँ ही छोड़ देता था । स्त्री ने कहा–"यह लड़का 'चन्द्रगुप्त के राज्यग्रहण' की तरह करता है । लड़के ने कहा–'मां ! मैं क्या करता हूँ और यह चन्द्रगुप्त कौन है ?" माँ ने कहा–"पुत्र! तूँ पूवे के किनारे को छोड़कर बीच-बीच में से खाता है । चन्द्रगुप्त भी इसी प्रकार राज्येच्छा से किनारे के लोगों को बिना जीते ही बीच के जनपदों को जीतता है । इसलिये ग्राम के लोग इकट्ठे होकर चन्द्रगुप्त को बीच में कर, उसकी सेना नष्ट कर देते हैं । यह उसी का दोष है" । (म० वं० टीका, पृ. १८४)

"सिया नु, भन्ते ! आयुस्स वड्ढनकारणं ?" इति ।
"अत्थी" ति सङ्घो आचिक्खि अन्तरायविमोचनं ॥ ७३ ॥

कातब्बं जिण्णकावासपटिसङ्खरणं तथा ।
पञ्चसीलसमादानं कत्वा तं साधु रक्खियं ॥ ७४ ॥

[W.G. 297] उपोसथूपवासो च कातब्बो पोसथो इति ।
राजा "साधू" ति मन्त्वान तथा सब्बं अकासि सो ॥ ७६ ॥

तिण्णं तिण्णं च वस्सानं अच्चयेन महीपति ।
दीपम्हि सब्बसङ्घस्स तिचीवरमदापयि ॥ ७७ ॥

अनागतानं थेरानं पेसयित्वान दापयि ।
द्वत्तिंसाय च ठानेसु दापेसि मधुपायसं ॥ ७८ ॥

चतुसट्ठिया च ठानेसु महादानं तु मिस्सकं ।
सहस्सवट्टी चतुसु ठानेसु च जलापयि ॥ ७९ ॥

चेतियपब्बते चेव थूपारामे च चेतिये ।
महाथूपे, महाबोधिघरे इति इमेसु हि ॥ ८० ॥

चित्तलकूटे कारेसि दस थूपे मनोरमे ।
दीपे खिलम्हि आवासे जिण्णे च पटिसङ्खरि ॥ ८१ ॥

वल्लियेरविहारे च थेरस्स सो पसादिय ।
महावल्लिगोत्तनामं विहारं च अकारयि ॥ ८२ ॥

कारेसि अनुराराममं महागामस्स सन्तिके ।
हेळिगामट्ठकरीससहस्सं तस्स दापयि ॥ ८३ ॥

मुचेलविहारं कारेत्वा सो तिस्सवड्ढमानके ।
आळिसारोदकभागं विहारस्स अदापयि ॥ ८४ ॥

इस बात को गुप्त (रहस्य) रखने के लिये उसको एक सहस्र (१,०००) मुद्रा दी । फिर उसने सङ्घ को एकत्र कर, उसके पास जा कर पूछा—"भन्ते ! मनुष्य की आयु बढने का क्या कोई उपाय है ?" सङ्घ ने बताया—"राजन् ! सङ्कट (विघ्न, अन्तराय) से बचने का उपाय यह है कि ऐसा मनुष्य भिक्षुओं को परिश्रावण (जल छाननेका) वस्त्र, या आवास, या रोगियों को भेषजदान दे" ॥ ७२-७४ ॥

"इसी तरह वह भिक्षुओं के पुराने आवासों का जीर्णोद्धार करावे । स्वयं पञ्चशील का निरन्तर आचरण करे । उपवास सहित उपोसथ व्रत रखे ।" राजा ने "ठीक है"—कहकर भिक्षुओं का अनुमोदन किया । एवं तदनुसार आचरण करना प्रारम्भ किया ॥ ७५-७६ ॥

तब इस राजा ने तीन तीन वर्ष के अन्तराल से द्वीपवासी सभी भिक्षुओं को त्रिचीवर का दान किया ॥ ७७ ॥

उस त्रिचीवरदान के समय जो भिक्षु वहाँ एकत्र न हुए उन्हें उनके आवास में वे तीन चीवर भिजवा दिये । बत्तीस (३२) स्थानों पर मधुमिश्रित खीर का दान किया ॥ ७८ ॥

चौंसठ (६४) स्थानों पर मिश्रित (मिला-जुला) महादान किया । चार विशिष्ट स्थानों (विहारों) में एक हजार (१०००) दीपक जलवाये ॥ ७९ ॥

वे चार स्थान ये हैं— १. चैत्यपर्वत, २. स्तूपाराम, ३. महास्तूप एवं ४. महाबोधिगृह ॥ ८० ॥

इसके अतिरिक्त, उस राजा ने चित्तलकूट (तिष्य महाराम से १५ मील उत्तरपूर्व) दश मनोरम स्तूपों का निर्माण कराया । तथा समग्र द्वीप में पुराने भिक्षु-आवासों का जीर्णोद्धार (प्रतिसंस्कार) कराया ॥ ८१ ॥

तथा वल्लीयेरविहार के स्थविर में श्रद्धालु होकर उसके आदेश से 'महावल्लिगोत्त' नामक विहार बनवाया ॥ ८२ ॥

इसी तरह महाग्राम के समीप, अनुरा(ला)राम को हेलिग्राम के पास आठ हजार (८,०००) करीष भूमि दान में दी ॥ ८३ ॥

तिष्य वर्धमानक में 'मुचेलविहार' बनवा कर आळिसार के जल का कुछ भाग इस विहार को दान किया ॥ ८४ ॥

[W.G. 298] गलम्बतित्थे थूपम्हि कारेसिट्ठककञ्चुकं ।
कारेसि पोसथागारं, वट्टितेलत्थमस्स तु ॥ ८५ ॥

सहस्सकरीसवापिं सो कारापेत्वा अदासि च ।
कारेसि पोसथागारं विहारे कुम्भिगल्लके ॥ ८६ ॥

सो येवुपोसथागारं इस्सरसमणके इध ।
थूपारामे थूपघरं कारापेसि महीपति ॥ ८७ ॥

महाविहारे परिवेणपन्तिं पच्छिमपेक्खिनिं ।
कारेसि, चतुसालं च जिण्णकं पटिसङ्खरि ॥ ८८ ॥

चतुबुद्धपटिमा रम्मा पटिमानं घरं तथा ।
महाबोधङ्गणे रम्मे राजा सो येव कारयि ॥ ८९ ॥

तस्स रञ्ञो महेसी सा पोत्थनामा मनोरमं ।
थूपं थूपघरं चेव रम्मं तत्थेव कारयि ॥ ९० ॥

थूपारामे थूपघरं निट्ठापेत्वा महापति ।
तस्स निट्ठापितमहे महादानं अदासि च ॥ ९१ ॥

युत्तानं बुद्धवचने भिक्खूनं पच्चयं पि च ।
भिक्खूनं धम्मकथिकानं सप्पिफाणितमेव च ॥ ९२ ॥

नगरस्स चतुद्वारे कपणवट्टं च दापयि ।
गिलानानं च भिक्खूनं गिलानवट्टमेव च ॥ ९३ ॥

[W.G. 299] चयन्तिं राजुप्पलवापिं वहं कोलम्बगामकं ।
महानिक्खवट्टिवापिं महारामेत्तिमेव च ॥ ९४ ॥

कोहालं कालवापिं च चम्बुटिं चाथ मङ्गणं ।
अग्गिवड्ढमानकं च इच्चेकादस वापियो ॥ ९५ ॥

गलम्बतीर्थ विहार के स्तूप में ईटों की कञ्चुक (दोहरी चिनाई) करवायी। वहाँ उपोसथागार बनवाया। वहाँ के दीप-तैल में व्यय हेतु हजार करीष भूमि सींचने वाली वापी दान में दी। तथा कुम्भिगल्लक विहार में एक उपोसथागार बनवाया ॥ ८५-८६ ॥

उसी राजा ने ईश्वरश्रमणक विहार में एक उपोसथगार बनवाया। तथा स्तूपाराम में स्तूपगृह भी बनवाया ॥ ८७ ॥

महाविहार में पश्चिमाभिमुख परिवेण पंक्ति का निर्माण कराया। एवं जीर्ण चतुःशाल का प्रतिसंस्कार (जीर्णोद्धार) कराया ॥ ८८ ॥

तथा रम्य बोध्यङ्गण में चार पूर्वबुद्धों की प्रतिमा लगवायीं। तथा उनकी (धूप-वर्षा से) रक्षा हेतु छतरियाँ बनवायीं ॥ ८९ ॥

उधर उस राजा की पोत्थ नामक रानी ने भी एक रम्य स्तूप एवं स्तूपगृह का निर्माण कराया ॥ ९० ॥

महीपति ने भी, स्तूपाराम में स्तूपगृह बनवाकर उसके निर्माणोत्सव के अवसर पर, भिक्षुओं को महादान किया ॥ ९१ ॥

तथा बुद्ध-वचन के सतत अभ्यासी भिक्षुओं को चीवरादि चारों श्रमण-प्रत्यय भी दिये। इसी तरह धर्मोपदेशक भिक्षुओं को घी एवं फाणित का दान किया ॥ ९२ ॥

नगर के चारों द्वारों पर दीन-हीन (कृपण) पुरुषों को भी दान किया। साथ ही रोगी भिक्षुओं के लिये औषध की भी निःशुल्क व्यवस्था की ॥ ९३ ॥

साथ ही उसने ये ग्यारह (११) वापियाँ भी बनवायीं– १. चयन्ती वापी, २. राजुप्पल वापी ३. वह वापी, ४. कोलम्बगामक वापी, ५. महानिक्खवट्टि वापी, ६. महारामेत्ति वापी, ७. कोहालवापी, ८. कालवापी, ९. चम्बुटिवापी, १०. मङ्गणवापी, एवं ११. अग्गिवड्ढमानक वापी ॥ ९४-९५ ॥

द्वादस मातिका चेव सुभिक्खत्थं अकारयि ।
गुत्तत्थं पुरपाकारं एवमुच्चं अकारयि ॥ ९६ ॥

गोपुरं च चतुद्वारे महावत्थुं च कारयि ।
सरं कारेसि उय्याने, हंसे तत्थ विसज्जयि ॥ ९७ ॥

पुरे बहू पोक्खरणी कारापेत्वा तहिं तहिं ।
उम्मग्गेन जलं तत्थ पवेसेसि महीपति ॥ ९८ ॥

एवं नानाविधं पुञ्ञं कत्वा वसभभूपति ।
हतन्तरायो सो हुत्वा पुञ्ञकम्मे सदा रतो ॥ ९९ ॥

W.G. 300] चतुचत्तालीस वस्सानि पुरे रज्जमकारयि ।
चतुचत्तालीस वेसाखपूजायो च अकारयि ॥ १०० ॥

सुभराजा धरन्तो सो अत्तनो एकधीतरं ।
वसभेन भयासङ्की अप्पेसिट्ठकवड्ढकिं ॥ १०१ ॥

अत्तनो कम्बलं चेव राजभण्डानि चप्पयि ।
वसभेन हते तस्मिं तं आदाय इट्ठवड्ढकी ॥ १०२ ॥

धीतुट्ठाने ठपेत्वान वड्ढेसि अत्तनो घरे ।
सकम्मं करतो तस्स भत्तं आहरि दारिका ॥ १०३ ॥

सा निरोधसमापन्नं कदम्बपुप्फगुम्बके ।
सत्तमे दिवसे दिस्वा भत्तं मेधाविनी अदा ॥ १०४ ॥

पुन भत्तं रन्धयित्वा पितुनो भत्तमाहरि ।
पपञ्चकारणं पुट्ठा तं अत्थं पितुनो वदि ॥ १०५ ॥

तुट्ठो पुनप्पुनं चेसो भत्तं थेरस्स दापयि ।
विस्सत्थो नागतं दिस्वा थेरो आह कुमारिकं ॥ १०६ ॥

इसी तरह उसने राज्य में कृषि की उन्नति हेतु बारह (१२) नहरें (मातिका) बनवायीं । नगर की सुदृढ़ रक्षाहेतु उसके चारों तरफ ऊँचा प्राकार (परकोटा) बनवाया ॥ ९६ ॥

महानगर के चारों मुख्य द्वारों पर चार अट्टालिकाएँ (गोपुर) एवं एक मुख्य प्रासाद (महल) बनवाया । उद्यान में एक सरोवर (तालाब) बनवाया । उसमें (जल की शुद्धि हेतु) हंस पक्षी छुड़वाये ॥ ९७ ॥

नगर में स्थान-स्थान पर पुष्करिणियाँ बनवायी । तथा उनमें दूर से सुरंग (उम्मग्ग) द्वारा जल छुड़वाया ॥ ९८ ॥

इस प्रकार उस वृषभ राजा ने अनेकविध पुण्य कर्म करते हुए अपना (बारह वर्ष वाला) आयु:सङ्कट समाप्त कर वह और भी अधिक पुण्य कर्मो में निरन्तर लगा रहा ॥ ९९॥

यों उसने चँवालीस (४४) वर्ष तक नगर में राज्य किया । और प्रतिवर्ष (४४) चँवालीस वैशाख-पूजाएँ करायीं ॥ १०० ॥

राजपुत्र का विवाह– इससे पूर्व राजा शुभ ने, अपने राज्यकाल में ही, अपनी एक पुत्री वृषभ राजा के भय से आतङ्कित होकर, ईट बनाने वाले एक कारीगर (शिल्पी) को सौंप दी ॥ १०१ ॥

उस शिल्पी को अपना एक कम्बल और कुछ पात्र भी दिये । वृषभ द्वारा उस राजा शुभ की हत्या के बाद, वह शिल्पी (ईटों का कारीगर) उसे ले गया ॥ १०२ ॥

तथा उसने अपनी ही लड़की के तुल्य मान कर उसका पालन-पोषण किया । ईटों के भट्टे पर कार्य करते हुए उस शिल्पी को वह लड़की घर से भोजन ले जाया करती थी ॥ १०३ ॥

उस बुद्धिमती कन्या ने कदम्बपुष्प के निकुञ्ज (गुल्मक=झुरमुट) में सात दिन तक निरोधसमापत्ति (एक विशेष समाधि) में बैठे भिक्षु को भोजन कराया ॥ १०४ ॥

और घर आकर पिता के लिये फिर से भोजन बना कर ले गयी । विलम्ब (प्रपञ्च) का कारण पूछने पर कन्या ने पिता को सब घटना बता दी ॥ १०५ ॥

यों, प्रतिदिन वह कन्या उस निरोधसमापतिसमापन्न भिक्षु को भोजन कराती रही । प्रसन्न हुए भिक्षु ने, उस कन्या का भविष्य देखते हुए कहा ॥ १०६ ॥

'तव इस्सरिये जाते इमं ठानं कुमारिके !
सरेय्यासी" ति, थेरो तु तदा व परिनिब्बुतो ॥ १०७ ॥

सके सो वसभो राजा वयप्पत्तम्हि पुत्तके ।
वङ्कनासिकतिस्सम्हि कञ्ञं तस्सानुरूपिकं ॥ १०८ ॥

[W.G. 301] गवेसापेसि, पुरिसा तं दिस्वान कुमारिकं ।
इट्ठकवड्ढकीगामे इत्थिलक्खणकोविदा ॥ १०९ ॥

रञ्ञो निवेदयुं, राजा तं आनापेतुमारभि ।
तस्साह राजधीतत्तं इट्ठकवड्ढकी तदा ॥ ११० ॥

सुभरञ्ञो तु धीतत्तं कम्बलादीहि ञापयि ।
राजा तुट्ठो सुतस्सादा तं साधुकतमङ्गलं ॥ १११ ॥ (९)

वसभस्सच्चये पुत्तो वङ्कनासिकतिस्सको ।
अनुराधपुरे रञ्ञं तीनि वस्सानि कारयि ॥ ११२ ॥

सो होननदिया तीरे महामङ्गलनामकं ।
विहारं कारयी राजा वङ्कनासिकतिस्सको ॥ ११३ ॥

महामत्ता तु देवी सा सरन्ती थेरभासितं ।
विहारकरणत्थाय अकासि धनसञ्चयं ॥ ११४ ॥ (१०)

वङ्कनासिकतिस्सस्स अच्चये कारयी सुतो ।
रञ्ञं द्वावीस वस्सानि गजबाहुकगामणी ॥ ११५ ॥

सुत्वा सो मातुवचनं मातु अत्थाय कारयि ।
कदम्बपुप्फठानम्हि राजा मातुविहारकं ॥ ११६ ॥

माता सतसहस्सं सा भूमि-अत्थाय पण्डिता ।
अदा महाविहारस्स विहारं च अकारयि ॥ ११७ ॥

"कन्ये ! ऐश्वर्य प्राप्त होने पर तुम हम जैसे अकिञ्चनों को इसी तरह स्मरण रखना ।" यह कह कर स्थविर परिनिर्वृत हो गये ॥ १०७ ॥

उधर, वृषभ राजा ने अपने पुत्र के युवावस्था प्राप्त होने पर, उसके साथ विवाह के लिये लक्षणसम्पन्न कन्या की खोज करायी ॥ १०८ ॥

राजाके दूत, जो कि स्त्रियों के लक्षणज्ञान में कुशल थे, इसी प्रसङ्ग में, उस ईंटों के शिल्पी के ग्राम में पहुँच गये । वहाँ उन्होंने उस कन्या को देखा ॥ १०९ ॥

उन दूतों ने पुनः नगर में लौटकर उस कन्या के विषय में राजा से निवेदन किया । राजा ने उस कन्या को लाने का प्रयत्न किया । तब उस शिल्पी ने उस कन्या के विषय में राजा को सत्य (यथार्थ) बता दिया कि वह राजपुत्री है ॥ ११० ॥

तथा यह भी बता दिया राजा ने पालन-पोषण हेतु कन्या को सौंपते हुए कम्बल तथा पात्र भी दिये थे । राजा ने सन्तुष्ट होकर माङ्गलिक विधि से अपने पुत्र का विवाह उस कन्या से कर दिया ॥ १११ ॥ (९)

राजा वङ्कनासिक तिष्य– अन्त में राजा वृषभ के देहपात के बाद उसके पुत्र वङ्कनासिक तिष्य ने तीन (३) वर्ष तक अनुराधपुर पर राज्य किया ॥ ११२ ॥

उस राजा वङ्कनासिकतिष्य ने होन नदी के तट पर महामङ्गल नामक विहार का भी निर्माण कराया ॥ ११३ ॥

राजा की उस 'महामत्ता' नामकी रानी ने भी पूर्वोक्त स्थविर के वचन का स्मरण कर विहारादि के निर्माण हेतु धनसञ्चय किया ॥ ११४ ॥ (१०)

राजा गजबाहुक ग्रामणी– राजा वङ्कनासिक तिष्य के देहपातानन्तर, उसके पुत्र गजबाहुक ग्रामणी ने उस नगर पर बाईस (२२) वर्ष तक शासन किया ॥ ११५ ॥

उसने, शासन सम्हालने के बाद, माता का वचन स्मरण करके माता के हित में उस कदम्बपुष्प में 'मातृविहार' नामक बिहार बनवाया ॥ ११६ ॥

उस विहार के निर्माण हेतु उसकी बुद्धिमती माता ने भूमिक्रय के लिये एक लाख मुद्राएँ दी । यों, विहार का निर्माण कराया ॥ ११७ ॥

सयमेव अकारेसि तत्थ थूपं सिलामयं ।
सङ्घभोगं च पादासि किणित्वान ततो ततो ॥ ११८ ॥

अभयुत्तरं महाथूपं वड्ढपेत्वा चिनापयि ।
चतुद्वारे च तत्थेव आदिमुखमकारयि ॥ ११९ ॥

[W.G. 302] गामणितिस्सवापिं सो कारापेत्वा महीपति ।
अभयगिरिविहारस्स पाकवट्टाय दासि च ॥ १२० ॥

मरिचवट्टिकथूपम्हि कञ्चुकं च अकारयि ।
किणित्वा सतसहस्सेन सङ्घभोगमदासि च ॥ १२१ ॥

कारेसि पच्छिमे वस्से विहारं रामुकव्हयं ।
महेजासनसालं च नगरम्हि अकारयि ॥ १२२ ॥ (११)

गजबाहुस्सच्चयेन ससुरो तस्स राजिनो ।
रज्जं महल्लको नागो छब्बस्सानि अकारयि ॥ १२३ ॥

पुरत्थिमे सेजलकं दक्खिणे गोदपब्बतं ।
पच्छिमे दकपासाण नागदीपे सालिपब्बतं ॥ १२४ ॥

बीजगामे तनवेलिं रोहणे जनपदे पन ।
तोब्बलनागपब्बतं च अन्तोट्टे गिरिहालिके ॥ १२५ ॥

एते सत्त विहारे सो महल्लनागभूपति ।
परित्तेनापि कालेन कारापेसि महीपति ॥ १२६ ॥ (१२)

[W.G. 303] एवं असारेहि धनेहि सारं,
पुञ्ञानि कत्वान बहूनि पञ्ञा ।
आदेन्ति, बाला पन कामहेतु
बहूनि पापानि करोन्ति मोहा[1] ॥ ति ॥ १२७ ॥

सुजनप्पसादसंवेगत्थेन कते महावंसे

द्वादशराजको नाम

पञ्चतिंसतिमो पच्छेदो

---

1. उपजाति छन्द

फिर राजा ने स्वयं वहाँ शिलाओं (पाषाणों) का स्तूप बनवाया। तथा स्वयं खरीद-खरीद कर जहाँ-तहाँ सङ्घभोग (भूमिदान) भी किया ॥ ११८ ॥

अभयोत्तर महास्तूप को राजा ने बढ़ाकर पुनर्निर्मित कराया। तथा उसके चारों द्वारों पर तोरण (आदिमुख) बनवाये ॥ ११९ ॥

इस राजा ने 'गामणितिस्स' वापी बनवा कर अभयगिरि विहार की भोजन-व्यवस्था में व्यय में सहायतार्थ दान कर दी ॥ १२० ॥

इसी तरह उसने मरिचवट्टि स्तूप का बाहरी कञ्चुक (दोहरी ईटों की चिनाई) करायी। और एक लाख (१,००,०००) मुद्रा से भूमि खरीदकर सङ्घभोग (भूमिदान) किया ॥ १२१ ॥

तथा नगर (अनुराधपुर) में एक महेजासनशाला का निर्माण कराया। अपने शासन के अन्तिम वर्ष में उसने 'रामुक' नामक विहार बनवाया ॥ १२२ ॥ (११)

राजा महल्लकनाग– इस राजा गजबाहुक ग्रामणी के देहपात के बाद, उसके श्वसुर राजा महल्लकनाग ने छहः वर्ष तक राज्य किया ॥ १२३ ॥

उस महल्लकनाग राजा ने ये सात बिहार अल्प काल में ही बनवा डाले–

१. पूर्व में सेजलक विहार, २. दक्षिण में गोठपब्बत विहार,

३. पश्चिम में दकपाषाण विहार, ४. नागद्वीप में शालिपर्वत विहार,

५. बीजग्राम में तनवेलि विहार, ६. रोहण नजपद में तोब्बल नागपर्वत विहार, एवं ७. मध्यप्रदेश में गिरिहालिक विहार ॥ १२५ ॥

इस तरह महल्लनाग राजा ने अल्प काल में ही ये सात महाविहार बनवा दिये ॥ १२६ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष असार (निस्तत्त्व) धन से सार (तत्त्वयुक्त) पुण्यमय कर्मों का सञ्चय करते हैं; परन्तु मूर्खजन (बाल) सांसारिक मोह में पड़कर नानाविध पापकर्म करते हैं ॥ १२७ ॥

यों सज्जनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह

उत्पादहेतु रचित इस महावंश ग्रन्थमें

बारह राजाओं का वर्णन नामक

पैंतीसवाँ परिच्छेद समाप्त

*****

३६.

छत्तिंसतिमो परिच्छेदो

(तयोदसराजको)

[W.G. 304] महल्लनागस्सच्चयेन पुत्तो भातिकतिस्सको ।
चतुवीसति वस्सानि लङ्कारज्जं अकारयि ॥ १ ॥

महाविहारे पाकारं कारापेसि समन्ततो ।
गवरतिस्सविहारं सो कारयित्वा महीपति ॥ २ ॥

महामणिवापिं कारेत्वा विहारस्स अदासि च ।
विहारं च अकारेसि भातिकतिस्सनामकं ॥ ३ ॥

कारेसि पोसथागारं थूपारामे मनोरमे ।
रन्धकण्डकवापिं च कारापेसि महीपति ॥ ४ ॥

सत्तेसु मुदुचित्तो सो सङ्घम्हि तिब्बगारवो ।
उभतोसङ्घे महीपालो महादानं पवत्तयि ॥ ५ ॥(१)

भातिकतिस्सच्चयेन तस्स कनिट्ठतिस्सको ।
अट्ठारस समा रज्जं लङ्कादीपे अकारयि ॥ ६ ॥

[W.G.305] भूतारामममहानागत्थेरस्स सो पसादिय ।
कारेसि रतनपासादं अभयगिरिम्हि साधुकं ॥ ७ ॥

अभयगिरिम्हि पाकारं महापरिवेणमेव च ।
कारेसि, मणिसोमव्हे महापरिवेणमेव च ॥ ८ ॥

छत्तीसवाँ परिच्छेद

(तेरह राजाओं का वर्णन)

राजा भातिकतिस्स—उस राजा महल्लक नाम के दहपात के बाद उसके पुत्र भातिकतिस्स ने चौबीस (२४) वर्ष लङ्काद्वीप पर राज्य किया ॥ १ ॥

इस राजा ने महाविहार के चारों तरफ प्राकार (परकोटा) बनवाया । फिर गवरतिस्सविहार बनवाया ॥ २ ॥

और महामणि वापी बनवा कर विहार को दान की । इसने भातिकतिस्स नामक विहार भी बनवाया ॥ ३ ॥

मनोरम स्तूपाराम में उपोसथगार बनवाया । तदनन्तर इस राजा ने रन्धकण्डक वापी का भी निर्माण कराया ॥ ४ ॥

इस राजा का हृदय प्राणियों के प्रति मैत्रीपूर्ण रहता था । सङ्घ का यह अत्यधिक सम्मान (गौरव) करता था । इसने दोनों (भिक्षुसङ्घ एवं भिक्षुणीसङ्घ) को ही महादान किया ॥ ५ ॥ (१)

राजा कनिट्ठतिस्स— राजा भातिकतिस्स की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई कनिट्ठतिस्सक ने लङ्काद्वीप पर अट्ठारह वर्ष तक राज्य किया ॥ ६ ॥

वह भूताराम महानाग स्थविर में अत्यधिक श्रद्धाचित्त था, अतः उसने अभयगिरि विहार में रत्नप्रासाद बनवाया ॥ ७ ॥

साथ ही उस अभयगिरि विहार में प्राकार एवं विशाल परिवेण का निर्माण कराया । इसी तरह मणिसोम विहार में महापरिवेण का निर्माण कराया ॥ ८ ॥

तत्थेव चेतियघरं अम्बत्थले तथेव च ।
कारेसि, पटिसङ्खारं नागदीपे घरे पन ॥ ९ ॥

महाविहारसीमं सो मद्दित्वा तत्थ कारयि ।
कुक्कुटिगिरिपरिवेणपन्तिं सक्कच्च भूपति ॥ १० ॥

महाविहारे कारेसि द्वादस मनुजाधिपो ।
महाचतुरस्सपासादे दस्सनेय्ये मनोरमे ॥ ११ ॥

दक्खिणविहारथूपस्मिं कञ्चुकं च अकारयि ।
भत्तसालं महामेघवनसीमं च मद्दिय ॥ १२ ॥

महाविहारपाकारं पस्सतो अपनीय सो ।
मग्गं दक्खिणविहारगामिं चापि अकारिय ॥ १३ ॥

भूतारामविहारं च रामगोणकमेव च ।
तथेव नन्दतिस्सस्स आरामं च अकारयि ॥ १४ ॥

पाचीनतो अनुलतिस्सपब्बतं गङ्गराजियं ।
नियेलतिस्सारामं च पीलपिट्ठिविहारकं ॥ १५ ॥

[W.G. 306] राजमहाविहारं च कारेसि मनुजाधिपो ।
सो येव तीसु ठानेसु कारेसि पोसथालयं ॥ १६ ॥

कल्याणिकविहारे च मण्डलगिरिके तथा ।
दुब्बलवापितिस्सव्हे विहारेसु इमेसु हि ॥ १७ ॥ (२)

कनिट्ठतिस्सच्चयेन तस्स पुत्तो अकारयि ।
रज्जं द्वे येव वस्सानि खुज्जनागो ति विस्सुतो ॥ १८ ॥ (३)

खुज्जनागकनिट्ठो तु राजं घातिय भातिकं ।
एकं वस्सं कुञ्चनागो रज्जं लङ्काय कारयि ॥ १९ ॥

और वहाँ अम्बस्थल में चैत्यगृह बनवाया, तथा नागद्वीपविहार का जीर्णोद्धार कराया ॥ ९ ॥

उस राजा ने महाविहार की सीमा तुड़वा कर वहाँ कुक्कुटगिरि नामक परिवेण-पंक्ति सुन्दर ढंग से बनवायी ॥ १० ॥

इसी तरह उस राजा ने महाविहार में चारों तरफ (चतुरस्र) बारह (१२) रम्य एवं अतिदर्शनीय प्रासाद बनवाये ॥ ११ ॥

और, दक्षिणविहार स्तूप का बाह्य आवरण (ईंटों से दोहरी चिनाई) बनवाया। साथ महाविहार की सीमा में भक्तशाला (भोजनदान हेतु) बनवायी ॥ १२ ॥

महाविहार के एक तरफ से उसकी दीवार हटवाकर दक्षिणविहार में जाने का मार्ग बनवाया। साथ महाविहार की सीमा में भक्तशाला (भोजनदान हेतु) बनवायी ॥ १३ ॥

इसी तरह इसने भूताराम विहार, रामगोणक विहार एव नन्द तिष्याराम का भी निर्माण कराया ॥ १४ ॥

इस राजा ने पूर्व दिशा की तरफ से गङ्गा (नदी) की घाटी में अनुलतिष्य पर्वतविहार, नियेल तिष्याराम, पीलपिट्ठि विहार एवं राज महाविहार तथा इन्हीं तीन स्थानों में उपोसथशालाएँ बनवायी ॥ १५-१६ ॥

साथ ही कल्याणिक विहार, मण्डलगिरिक विहारतथा दुर्बलवापितिष्यविहार में भी (उपोसथशालाएँ बनवायी) ॥ १७ ॥ (२)

राजा खुज्जनाग– इस राजा कनिष्ठतिष्य के देहपात के बाद, उसके पुत्र खुज्जनाग ने इस द्वीप पर दो वर्ष राज्य पर शासन किया ॥ १८ ॥ (३)

राजा कुञ्चनाग– राजा खुज्जनाग के छोटे भाई कुञ्चनाग ने अपने भाई को मार कर लङ्काद्वीप पर एक वर्ष राज्य किया ॥ १९ ॥

महापेळं च वड्ढेसि एकनाळिकछातके ।
भिक्खुसतानं पञ्चन्नं अब्बोच्छिन्नं महीपति ॥ २० ॥ (४)

कुञ्चनागस्स रञ्ञो तु देविया भातुको तदा ।
सेनापति सिरिनागो चोरो हुत्वान राजिनो ॥ २१ ॥

बलवाहनसम्पन्नो आगम्म नगरन्तिकं ।
राजबलेन युज्झन्तो कुञ्चनागमहीपतिं ॥ २२ ॥

पलापेत्वा लद्धजयो अनुराधपुरे वरे ।
लङ्कारज्जं अकारेसि वस्सानेकूनवीसति ॥ २३ ॥

महाथूपवरे छत्तं कारापेत्वान भूपति ।
सुवण्णकम्मं कारेसि दस्सनेय्यं मनोरमं ॥ २४ ॥

[W.G. 307] कारेसि लोहपासादं सङ्खित्तं पञ्चभूमिकं ।
महाबोधिचतुद्वारे सोपानं पुन कारयि ॥ २५ ॥

कारित्वा छत्तपासादं महे पूजं अकारयि ।
कुलम्बणं च दीपस्मिं विस्सज्जेसि दयापरो ॥ २६ ॥ (५)

सिनिनागच्चये तस्स पुत्तो तिस्स अकारयि ।
रज्जं द्वावीसवस्सानि धम्मवोहारकोविदो ॥ २७ ॥

ठपेसि सो हि वोहारं हिंसामुत्तं यतो इध ।
बोहारिकतिस्सो राजा इति नामं ततो अहु ॥ २८ ॥

कप्पुकगामवासिस्स देवत्थेरस्स सन्तिके ।
धम्मं सुत्वा पटिकम्मं पञ्चावासे अकारयि ॥ २९ ॥

महातिस्सस्स थेरस्स अनुरारामवासिनो ।
पसन्नो मुचेलपट्टने दानवट्टं अकारयि ॥ ३० ॥

इस राजा के राज्य में ऐसा अकाल पड़ा कि साधारण प्रजा को एक नाड़ी (माप) मात्र एक समय मिल पाता था। राजा ने प्रजा पर करुणा करते हुए यह मात्रा बढ़ायी। साथ ही, पाँच सौ भिक्षुओं को यह राजा निरन्तर भोजनदान करता रहा ॥ २० ॥ (४)

राजा सिरिनाग– उस समय राजा कुञ्चनाग की रानी के भाई सिरिनाग (श्रीनाग) नाग का चौर (विद्रोही) हो गया ॥ २१ ॥

वह प्रबल सेना साथ ले कर, नगर के समीप आकर राजा की सेना से युद्ध कर अन्त में राजा को नगर से भगाने में सफल हो गया। उसने उस उत्तम अनुराधपुर नगर को स्वायत्त कर लिया। उसने लङ्काद्वीप पर उन्नीस (१९) वर्ष तक राज्य किया ॥ २२-२३ ॥

इस राजा ने उस श्रेष्ठ महास्तूप पर छत्र चढवा कर उस पर दर्शनीय एवं मनोरम स्वर्णमय चित्रकारी करवायी ॥ २४ ॥

उसने पहले की अपेक्षा छोटा, फिर भी पाँच (मञ्जिल) भूमितल वाला लौह-प्रासाद बनवाया, तथा महाबोधि के चारों द्वारों पर सोपान (सीढ़ियाँ बनवायी ॥ २५ ॥

ये छत्र एवं प्रासाद बनवा कर राजा ने एतन्निमित्त बहुत बड़ा उत्सव (समारोह) आयोजित किया। साथ ही इस दयालु राजा ने द्वीप पर लगाया गया कर भी समाप्त कर दिया ॥ २६ ॥ (५)

राजा तिष्य– इस राजा सिरिनाग की मृत्यु के बाद उसके पुत्र तिष्य ने, जो कि धर्म और व्यवहार दोनों में कुशल था, इस लङ्काद्वीप पर बाईस (२२) वर्ष राज्य किया ॥ २७ ॥

क्योंकि उसने प्रजाजन में निरन्तर हिंसारहित (किसी का चित्त न दुखाते हुए) व्यवहार प्रचारित किया, अतः वह लोक में 'व्यावहारिक तिष्य' नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २८ ॥

उसने कप्पुकग्रामवासी देवस्थविर से धर्म (-ग्रन्थ) सुनकर उसके प्रतिकर्म (गुरुदक्षिणा) के रूप में पाँच आवासस्थान बनवायें ॥ २९ ॥

अनुरारामवासी महातिष्य स्थविर में श्रद्धालु होकर उसने मुचेलपट्टन में दानव्रत प्रारम्भ कराया ॥ ३० ॥

तिस्सराजमण्डपं च महाविहारद्वये पि सो ।
महाबोधिघरे पाचीने लोहरूपद्वयं तथा ॥ ३१ ॥

[W.G.308] सत्तण्णकपासादं कारेत्वा सुखवासकं ।
मासे मासे सहस्सं सो महाविहारस्स दापयि ॥ ३२ ॥

अभयगिरिविहारे दक्खिणमूलसव्हये ।
मरिचवट्टिविहारम्हि कुलालितिस्ससव्हये ॥ ३३ ॥

महियङ्गणविहारम्हि माहगामनागसव्हये ।
महानागतिस्सव्हम्हि तथा कल्याणिकव्हये ॥ ३४ ॥

इति अट्ठसु थूपेसु छत्तकम्मं अकारयि ।
मूलनागसेनापतिविहारे दक्खिणे तथा ॥ ३५ ॥

मरिचवट्टिविहारम्हि पुत्तभागव्हये तथा ।
इस्सरसमणव्हम्हि तिस्सव्हे नागदीपके ॥ ३६ ॥

इति छस्सु विहारेसु पाकारं च अकारयि ।
कारेसि पोसथागारं अनुरारामसव्हये ॥ ३७ ॥

अरियवंसकथाठाने लङ्कादीपे खिले पि च ।
दानवट्टं पट्ठपेसि सद्धम्मे गारवेण सो ॥ ३८ ॥

तीणि सतसहस्सानि दत्वान मनुजाधिपो ।
इणतो सइणे भिक्खू मोचेसि सासनप्पियो ॥ ३९ ॥

[W.G. 309] महावेसाखपूजं सो कारेत्वा दीपवासिनं ।
सब्बेसं येव भिक्खूनं तिचीवरमदापयि ॥ ४० ॥

वेतुल्यवादं मद्दित्वा कारेत्वा पापनिग्गहं ।
कपिलेन अमच्चेन सासनं जोतयी च सो ॥ ४१ ॥ (६)

उसने दोनों ही महाविहारों में तिष्यराजमण्डप का निर्माण कराया । तथा प्राचीन महाबोधिगृह में दो लौहमूर्ति स्थापित करायीं ।। ३१ ।।

साथ ही सुख से रहने योग्य सप्तपर्णक प्रासाद बनवाया । तथा वह प्रतिमास महाविहार को एक सहस्र मुद्राएँ दान में देता रहा ।। ३२ ।।

इसने अभयगिरि विहार में, दक्षिणमूल विहार में, मरिचवट्टि विहार में, कुलालितिस्स विहार में ।। ३३ ।।

मह्यङ्गण विहार में, महागामनाग विहार में, महानागतिस्स विहारमें, तथा कल्याणिक विहार में ।। ३४ ।।

इन आठ स्तूपों में छत्रकर्म कराया । मूलनाग सेनापति विहार में, दक्षिणविहार में, मरिचवट्टी विहार में, पुत्तभागनामक विहार में, इस्सरसमण विहार में एवं नागद्वीप के तिष्य विहार में ।। ३५-३६ ।।

इन छह विहारों में प्राकार बनवाया । तथा अनुराराम विहार में उपोसथागार बनवाया ।। ३७ ।।

उसने सद्धर्म के प्रति श्रद्धा (गौरव) रखते हुए, अरियवंस (अ०नि०चतुक्कनि०) कथा-स्थान के अवसर पर समग्र लङ्काद्वीप में दानव्रत स्थापित किया ।। ३८ ।।

उस धर्मप्रिय राजा ने ऋणग्रस्त भिक्षुओं को ऋणमुक्त कराने के लिये तीन लाख (३,००,०००) मुद्राएँ दान कीं ।। ३९ ।।

महावैशाखपूजा के अवसर पर उसने समग्र लङ्काद्वीपवासी सभी भिक्षुओं को तीन तीन चीवर प्रदान किये ।। ४० ।।

उधर, राजा ने अपने अमात्य कपिल से वैपुल्यवादी (संस्कृत भाषा में निबद्ध वैपुल्यसूत्रों को पूज्य माननेवाले) भिक्षुओं को सङ्घ से निष्कासित करा कर, पापियों का दमन कर, शासन की छवि को उज्ज्वल बनाया ।। ४१ ।। (६)

विस्सुतोभयनागो ति कनिट्ठो तस्स राजिनो ।
देविया सह संसट्ठो ञातो भीतो सभातरा ॥ ४२ ॥

पलायित्वा भल्लतित्थं गन्त्वान सहसेवको ।
कुद्धो विय मातुलस्स हत्थपादं च छेदयि ॥ ४३ ॥

राजिनो रट्ठभेदत्थं ठपेत्वान इधेव तं ।
सुनखोपमं दस्सयित्वा गहेत्वातिसिनिद्धके ॥ ४४ ॥

तत्थेव नावमारुय्ह परतीरं अगा सयं ।
सुभदेवो मातुलो तु उपगम्म महीपतिं ॥ ४५ ॥

सुहदो विय हुत्वान तस्मिं रट्ठं अभिन्दि सो ।
अभयो तं जाननत्थं दूतं इध विसज्जयि ॥ ४६ ॥

तं दिस्वा पूगरुक्खं सो समन्ता कुन्तनाळिया ।
परिब्भमन्तो मद्दित्वा कत्वा दुब्बलमूलकं ॥ ४७ ॥

बाहुना येव पातित्वा तज्जेत्वा तं पलापयि ।
दूतो गन्त्वा अभयस्स तं पवत्तिं पवेदयि ॥ ४८ ॥

[W.G. 310] तं ञत्वा अभयो दमिळे आदाय बहुके ततो ।
नगरन्तिकमागञ्छि भातरा युज्झितुं सयं ॥ ४९ ॥

तं ञत्वान पलायित्वा अस्सं आरुय्ह देविया ।
मलयं अगमा राजा, तं कनिट्ठो नुबन्धिय ॥ ५० ॥

राजानं मलये हन्त्वा देविं आदाय आगतो ।
कारेसि नगरे रज्जं अट्ठ वस्सानि भूपति ॥ ५१ ॥

पासाणवेदिं कारेसि महाबोधिं समन्ततो ।
लोहपासादङ्गणम्हि राजा मण्डपमेव च ॥ ५२ ॥

राजा अभय–अभयनाग नामक उसके छोटे भाई ने रानी के साथ अनुचित सम्बन्ध होने के कारण, राजा से भयाक्रान्त होकर ॥ ४२ ॥

अपने अनुचर के साथ भाग कर भल्लतीर्थ में जाकर, क्रुद्ध होकर मामा के हाथ पैर काट डाले ॥ ४३ ॥

राजा के राष्ट्र में भेद (फूट) डालने के लिये उसको वहीं छोड़ दिया । और अपने अतिविश्वस्त अनुचरों को साथ लेकर उन्हें कुत्ते का उदाहरण सुना कर (कि स्वामिभक्त कुत्ता स्वामी से पिटकर भी उसका साथ कभी नहीं छोड़ता, उसी तरह तुम भी कभी मेरा साथ न छोड़ना–यह कहकर) उन्हें वहीं नाव पर चढ़ा कर, स्वयं दूसरे किनारे चला गया । ॥ ४४-४५ ॥

उधर शुभदेव मामा-राजा के पास जाकर उसका मित्रतुल्य होकर शैनेः शनैः उसने राष्ट्र में फूट डालना प्रारम्भ किया । अभय ने उसका क्रियाकलाप जानने के लिये यहाँ अपना दूत भेजा ॥ ४६ ॥

उस (मामा) ने दूत को देखकर अपनी बर्छी से किसी सुपारी (पूग) के वृक्ष की चारों ओर से जड़ खोदना प्रारम्भ किया तथा अन्त में उस वृक्ष को जड़ से दुर्बल कर दिया ॥ ४७ ॥

और दूत के दिखायी देने पर हाथ के धक्के से ही उस वृक्ष को गिरा कर फिर उस दूत को धमका कर वहाँ से भगा दिया । दूत ने जाकर अभय को जाकर सब घटना सुनायी ॥ ४८ ॥

यह घटना सुनते ही अभयकुमार नगर की स्थिति को समझ गया । वह तत्काल बहुत से द्रविड़ो को लेकर भाई के साथ युद्ध करने हेतु स्वयं नगर के समीप तक आ गया ॥ ४९ ॥

उसका आक्रमण सुनकर, रानी के साथ अश्व पर चढ़कर राजा मलय प्रान्त की तरफ भागा । छोटे भाई ने उसका पीछा किया ॥ ५० ॥

यों, अभय ने पर्वत पर जाकर राजा को मार कर रानी को लेकर वापस नगर में आकर वहाँ आठ (८) वर्ष तक राज्य किया ॥ ५१ ॥

उसने महाबोधि के चारों तरफ पत्थरों की वेदी बन गयी । तथा लौहप्रासाद के आँगन में मण्डप बनवाया ॥ ५२ ॥

द्वीहि सतसहस्सेहि नेकवत्थानि गाहयि ।
दीपम्हि भिक्खुसङ्घस्स वत्थदानं अदासि सो ॥ ५३ ॥ (७)

अभयस्सच्चये भातु तिस्सस्स तस्स अत्रजो ।
द्वे वस्सानि सिरिनागो लङ्कारज्जं अकारयि ॥ ५४ ॥

पटिसङ्खरिय पाकारं महाबोधिसमन्ततो ।
महाबोधिघरस्सेव सो येव वालिकातले ॥ ५५ ॥

मुचेलरुक्खपरतो हंसवट्टं मनोरमं ।
महन्तं मण्डपं चेव कारापेसि महीपति ॥ ५६ ॥ (८)

विजयकुमारको नाम सिरिनागस्स अत्रजो ।
पितुनो अच्चये रज्जं एकवस्सं अकारयि ॥ ५७ ॥

लम्बकण्णा तयो आसुं सहाया महियङ्गणे ।
सङ्घतिस्सो, सङ्घबोधि, ततियो गोठकव्हयो ॥ ५८ ॥

ते तिस्सवापिमरियादगतो अन्धो विचक्खणो ।
राजुपट्ठानमायन्ते पदसद्देन अब्रवि ॥ ५९ ॥

[W.G.311] | "पथवीसामिनो एते तयो वहति भू" इति ।
तं सुत्वा अभयो पच्छा यन्तो पुच्छि पुनाह सो ॥ ६0 ॥

"कस्स वंसो ठस्सती ?' ति पुन पुच्छि तमेव सो ।
"पच्छिमस्सा" ति सो आह, तं सुत्वा द्वीहि सो अगा ॥ ६१ ॥

ते पुरं पविसित्वान तयो रञ्ञो तिवल्लभा ।
राजकिच्चानि साधेन्ता वसन्ति राजसन्तिके ॥ ६२ ॥ (९)

हन्त्वा विजयराजानं राजगेहम्हि एकतो ।
सेनापतिं सङ्घतिस्सं दुवे रज्जे भिसेचयुं ॥ ६३ ॥

उस शुभ अवसर राजा ने दो लाख (२,००,०००) मुद्रामूल्य के विविध वस्त्र मँगवाकर समग्र लङ्का द्वीप के भिक्षुओं को दान किया ॥ ५३ ॥ (७)

राजा श्रीनाग–राजा अभय की मृत्यु के बाद उसके भाई तिष्य के पुत्र श्रीनाग ने दो वर्ष तक लङ्काद्वीप पर राज्य किया ॥ ५४ ॥

इस राजा ने महाबोधि के चतुरस्र (चारों तरफ के) प्राकार का जीर्णोद्धार कराया। तथा मुचेल वृक्ष से दक्षिण पार्श्व के महाबोधिस्थल के बालुकातल में मनोरम हंसवृत्त (हंसपक्षी के आकार का घर) बना कर विशाल मण्डप बनवाया ॥ ५५-५६ ॥ (८)

राजा विजयकुमार–उस श्रीनाग का पुत्र विजयकुमार पिता (श्रीनाग) के मरने के बाद लङ्काद्वीप पर एक वर्ष ही राज्य कर सका ॥ ५७ ॥

उधर महियङ्गण में लम्बकर्ण वंश में उत्पन्न तीन साथी रहते थे। उनके नाम थे–सङ्घतिष्य, सङ्घबोधि एवं तीसरा गोठक ॥ ५८ ॥

तीनों कभी तिष्यवापी की सीमा में रहने वाले एक नेत्रहीन (अन्धे) विद्वान् रहने वाले विद्वान् ने राजा के पास आते हुए इन तीनों की पदध्वनि सुनकर ही कह दिया–(५९)

"ये तो तीनों पृथ्वी के स्वामी (राजा) हैं, इन्हें यह पृथ्वी धारण किये हुए हैं।" इसे सुनकर अनुयायी (पीछे चलते हुए) अभय ने पूछा तो उस अभय को भी उसने वही उत्तर दिया– "सब से पीछे वाले का।" यह सुन वह (अभय) भी दो के साथ साथ चल दिया ॥ ६१ ॥

वे तीनों ही नगर में प्रविष्ट होकर, राजा के पास रहते हुए, राजके बताये कार्यो को सम्पन्न करते हुए राजा के प्रियपात्र (विश्वस्त) हो गये ॥ ६२ ॥ (९)

राजा सङ्घतिष्य–अन्त में उन्होनें एकमत होकर विजय राजा की राजप्रासाद में ही हत्या कर, सेनापति सङ्घशिष्य को शेष दोनों ने राजगद्दीपर बैठाया ॥ ६३ ॥

एवं सो अभिसित्तो च अनुराधपुरुत्तमे ।
रज्जं चत्तारि वस्सानि सङ्घतिस्सो अकारयि ॥ ६४ ॥

महाथूपम्हि छत्तं च हेमकम्मं च कारयि ।
विसुं सतसहस्सग्घे चतुरो च महामणी ॥ ६५ ॥

मज्झे चतुन्नं सुरियानं ठपापेसि महीपति ।
थूपस्स मुद्धनि तथा अनग्घं वजिरचुम्बकं ॥ ६६ ॥

सो छत्तमहपूजाय सङ्घस्स मनुजाधिपो ।
चत्तालीसहस्सस्स छचीवरमदासि च ॥ ६७ ॥

तं महादेवत्थेरेन दामहालकवासिना ।
सुत्वान खन्धके सुत्तं यागानिसंसदीपनं ॥ ६८ ॥

[W.G. 312] सुत्वा पसन्नो सङ्घस्स यागुदानमदापयि ।
नगरस्स चतुद्वारे सक्कच्चं येव साधुकं ॥ ६९ ॥

सो अन्तरन्तरा राजा जम्बुपक्कानि खादितुं ।
सहोरोधो सहामच्चो अगमा पाचीनदीपकं ॥ ७० ॥

उपद्दुतस्स गमने मनुस्सा पाचीनवासिनो ।
विसं फलेसु योजेसुं राजभोज्जाय जम्बुया ॥ ७१ ॥

खादित्वा जम्बुपक्कानि तानि तत्थेव सो मतो । (१०)
सेनायुत्तं सङ्घबोधिं अभयो रज्जेभिसेचयि ॥ ७२ ॥

राजा सिरिसङ्घबोधी ति विस्सुतो पञ्चसीलवा ।
अनुराधपुरे रज्जं दुवे वस्सानि कारयि ॥ ७३ ॥

महाविहारे कारसि सलाकग्गं मनोरमं ।
तदा दीपे मनुस्से सो ञत्वा दुब्बुट्ठुपद्दुते ॥ ७४ ॥

यों, वह सङ्घतिष्य अनुराधपुर की गद्दी पर बैठकर चार वर्ष तक वहाँ राज्य करता रहा ॥ ६४ ॥

उसने महास्तूप पर छत्र एवं सुनहरी चित्रकारी करायी । तथा चार लाख (४,००,०००) मुद्राओं से चार महंगे मणिरत्न खरीदकर ॥ ६५ ॥

वहाँ सूर्य और चन्द्रमा के बीच में लगाये । इसी प्रकार इस महास्तूप के शिर (मूर्धा) पर चुम्बक लगवाया ॥ ६६ ॥

यह कार्य पूर्णकर उसने इस छत्रोत्सव की पूजा के अवसर पर गणना में चवालीस हजार (४४,०००) भिक्षुसङ्घ को छह चीवरों का दान किया ॥ ६७ ॥

उसने दामहालकवासी महादेव स्थविर से खन्धक (विनयपिटक का महावग्ग एवं चुल्लवग्ग ग्रन्थ) में आये "यागुदान का माहात्म्य" सुना ॥ ६८ ॥

यह सुनकर उसने सङ्घ में श्रद्धातिरेक उत्पन्न कर, सङ्घ को सत्कारपूर्वक चारों द्वारों पर यागुदान किया ॥ ६९ ॥

राजा अपने स्वभावानुसार, राज्य-कार्य के बीच-बीच में कभी-कभी अपने अन्तःपुर की रानियों के साथ लेकर जामुन के फल खाने के लिये प्राचीन द्वीप जाया करता था ॥ ७० ॥

उसके बार-बार आगमन से वहाँ की जनता उद्विग्न एवं त्रस्त हो गयी । अन्त में उसने (षड्यन्त्र कर) राजा के खाने योग्य जामुन के फलों को विषसम्पृक्त कर दिया ॥ ७१ ॥ (१०)

राजा सङ्घबोधि—वह उन विषसम्पृक्त जामुन के फलों को खाकर वहीं मृत्यु को प्राप्त हो गया । तब अभय ने सेनापति पद पर नियुक्त सङ्घबोधि का राज्याभिषेक किया ॥ ७२ ॥

पञ्चशील का पालन करने वाला वह राजा अनुराधपुर पर दो वर्ष ही राज्य कर पाया ॥ ७३ ॥

राजा के विशिष्ट कार्य—परन्तु उसने, इसी अन्तराल में, मनोरम शलाकागृह बनवाया । ॥ ७४ ॥

करुणाकम्पितमनो महाथूपङ्गणे सयं ।
निपज्जि भूमियं राजा कत्वान इति निच्छयं ॥ ७५ ॥

"पवस्सित्वा न देवेन जलेनुप्पतिते मयि ।
न हेव वुट्ठहिस्सामि मरमानो पहं इध" ॥ ७६ ॥

एवं निपन्ने भूमिन्दे देवो पावस्सि तावदे ।
लङ्कादीपम्हि सकले पीणयन्तो महामहिं ॥ ७७ ॥

तथापि नुट्ठहति सो अपिलापनतो जले ।
अवारिंसु ततो मच्चा जलनिग्गहनाळियो ॥ ७८ ॥

[W.G. 313] ततो जलम्हि पिलवं राजा वुट्ठासि धम्मिको ।
करुणाय नुदी एवं दीपे दुब्बुट्ठिकाभयो ॥ ७९ ॥

"चोरा तहिं तहिं जाता" इति सुत्वान भूपति ।
चोरे आनापयित्वान रहस्सेन पलापिय ॥ ८० ॥

आनापेत्वा रहस्सेन मतानं सो कलेवरं ।
अग्गीहि उत्तसेत्वान हनि तं चोरुपद्दवं ॥ ८१ ॥

एको यक्खो इधागम्म रत्तक्खी इति विस्सुतो ।
करोति रत्तानक्खीनि मनुस्सानं तहिं तहिं ॥ ८२ ॥

अञ्ञमञ्ञं अपेक्खित्वा भासित्वा रत्तनेत्ततं ।
नरा मरन्ति, ते यक्खो सो भक्खेति असङ्कितो ॥ ८३ ॥

राजा उपद्दवं तेसं सुत्वा सन्तत्तमानसो ।
एको पवासगब्भम्हि हुत्वा अट्ठङ्गुपोसथी ॥ ८४ ॥

"अपस्सित्वान तं यक्खं न वुट्ठामी" ति सो सयि ।
तस्स सो धम्मतेजेन अगा यक्खो तदन्तिकं ॥ ८५ ॥

उस समय द्वीप की जनता को दुर्वृष्टि से त्रस्त देखकर करुणापूर्ण हृदय से राजा महास्तूपाङ्गण में स्वयं भूमि पर लेटकर यह निश्चय कर बैठा ॥ ७५ ॥

"जब तक वर्षा न होगी तब तक मैं यहाँ से नहीं उठूँगा, भले ही मेरी मृत्यु ही क्यों न हो जाय !" ॥ ७६ ॥

भूमि पर लेटे हुए राजा का यह कठोर निश्चय (दृढ़व्रत) देखकर, अन्त में वर्षा की अधिष्ठात्री देवता ने लङ्का द्वीप पर ऐसी वर्षा बरसायी कि वहाँ की भूमि जल से तृप्त हो गयी ॥ ७७ ॥

तो भी (वर्षा होने पर भी) राजा अपने स्थान से नहीं उठा । तब अधिकारियों ने जल-निर्गमन की नालियाँ बन्द करायी । तब वह राजा उठा । इस प्रकार उसने समग्र लङ्काद्वीप को इस दुर्वृष्टि-भय से मुक्त कराया ॥ ७८-७९ ॥

फिर राजा ने सुना– "राज्य में कहीं कहीं चोरों (विद्रोहियो) ने सिर उठा लिया है" । राजा ने उन सब विद्रोहियों (चौरों) को पकड़वा कर मंगवा लिया, तथा उन सबको चुपके से राज्य से बहिष्कृत कर दिया ॥ ८० ॥

उनके स्थान पर, गुप्त रूप से मृत पुरुषों के शव मँगवाकर उनका दाहकर्म करवा दिया । यों उसने राज्य में चौरों का उपद्रव भी शान्त किया ॥ ८१ ॥

रत्ताक्षि यक्ष– इसी बीच, 'रत्ताक्षि' नाम से प्रसिद्ध एक यक्ष ने लङ्काद्वीप में आकर जहाँ तहाँ लोगों की आँखें लाल कर उन्हे कष्ट देना प्रारम्भ किया ॥ ८२ ॥

एसे लोग परस्पर अपना रोग (आखँ की लाली) बताते ही मर जाते थे, तब वह यक्ष उन लोगों को निःशङ्क होकर खा जाता था ॥ ८३ ॥

राजा ने जब प्रजा का यह कष्ट (उपद्रव) सुना तो वह बहुत दुःखी हुआ । वह आठ अङ्ग वाले उपोसथ का पालन करते हुए उपवासगृह में एकाकी ही जाकर यह दृढ़ निश्चय करके लेट गया कि "जब तक इस यक्ष को नही देख लूँगा, यहां से नहीं उठूँगा" । अन्त में वह यक्ष राजा के धर्मतेज से उद्विग्न हो कर उसके पास आया ॥ ८४-८५ ॥

तेन "को सी?" ति पुट्ठो च सो "अहं" ति पवेदयि ।
"कस्मा पजा मे भक्खेसि ? मा खाद" इति सो ब्रवि ॥ ८६ ॥

[W.G. 314] "एकस्मिं मे जनपदे नरे देही" ते सो ब्रवि ।
"न सक्का" इति वुत्ते सो "कमेनेकं" ति अब्रवि ॥ ८७ ॥

"अञ्ञं न सक्का दातुं मे, मं खादे" ति सो ब्रवि ।
"न सक्का' इति तं याचि गामे गामे बलिं तु सो ॥ ८८ ॥

"साधू" ति वत्वा भूमिन्दो दीपम्हि सकले पि च ।
गामद्वारे निवेसेत्वा बलिं तस्स अदापयि ॥ ८९ ॥

महासत्तेन तेनेवं सब्बभूतानुकम्पिना ।
महारोगभयं जातं दीपदीपेन नासितं ॥ ९० ॥

सो भण्डागारिको रञ्ञो अमच्चो गोठकाभयो ।
चोरो हुत्वा उत्तरतो नगरं समुपागमि ॥ ९१ ॥

परिस्सावनमादाय राजा दक्खिणद्वारतो ।
परहिंसं अरोचेन्तो एकको व पलायि सो ॥ ९२ ॥

पुटभत्तं गहेत्वान गच्छन्तो पुरिसो पथं ।
भत्तभोगाय राजानं निबन्धित्थ पुनप्पुनं ॥ ९३ ॥

जलं परिस्सावयित्वा भुञ्जित्वान दयालुको ।
तस्सेव नुग्गहं कातुं इदं वचनमब्रवि ॥ ९४ ॥

"सङ्घबोधि अहं राजा गहेत्वा मम, भो ! सिरं ।
गोटाभयस्स दस्सेहि, बहुं दस्सति ते धनं" ॥ ९५ ॥

न इच्छि सो तथा कातुं तस्सत्थाय महीपति ।
निसिन्नो येव अमरि, सो सीसं तस्स आदिय ॥ ९६ ॥

राजा ने उससे पूछा–"तुम कौन हो" उसने उत्तर दिया– "मैं (यक्ष) हूँ ।" राजा ने कहा–"तुम मेरी प्रजा को क्यों खाते हो ? नहीं खाओ" यह कहने पर यक्ष ने कहा– ठीक है, नहीं खाऊँगा, परन्तु इसके बदले में आप मुझे अपने जनपद से प्रतिदिन मनुष्य खाने के लिये दीजिये ।"राजाने कहा–"यह सम्भव नहीं है ।" यक्ष ने कहा– "क्रमशः एक ही मनुष्य दीजिये ।।" ८६-८७ ।।

राजा का उत्तर था– "मैं किसी अन्य पुरुष को नहीं दे सकता, तूँ मुझे ही खा ले ।" यक्ष ने कहा– "यह तो सम्भव नहीं है ।" तब उस यक्ष ने ग्राम-ग्राम में बलि की याचना की ।। ८८ ।।

राजा ने "ठीक है" कहकर, समग्र लङ्काद्वीप में ग्राम-ग्राम के प्रवेश द्वार पर उस यक्ष के लिये बलि का प्रबन्ध किया ।। ८९ ।।

इस प्रकार लङ्काद्वीप के दीपस्वरूप सर्वभूतहितानुकम्पी इस राजा ने प्रबल रोग का भय नष्ट किया ।। ९० ।।

राजा का कोषाध्यक्ष बना गोठकामय चौर (विद्रोही) होकर उत्तर की तरफ से नगर पर आक्रमण कर बैठा ।। ९१ ।।

तब, दूसरे की हिंसा में ग्लानि करने वाला वह राजा अकेला ही नगर से बाहर भाग गया ।।। ९२ ।।

मार्ग में, भोजन की सामग्री साथ में लिये एक पथिक ने राजा से बार-बार आग्रह किया कि वह कुछ भोजन कर ले ।। ९३ ।।

तब दयालु राजा ने जल छानकर भोजन कर उस पथिक को अपना परिचय देते हुए कहा कि– "मैं सङ्घबोधि राजा हूँ । तुम मेरा शिर काटकर गोठाभय को ले जाकर दे दो, वह तुम्हें बहुत धन देगा" ।। ९४-९५ ।।

परन्तु उस पथिक ने ऐसा करने के स्पष्ट निषेध कर दिया । तब राजा ने बैठे ही बैठे अपना देहपात कर दिया । तब उस पथिक ने उस राजा का शिर काट कर गोठाभय के सामने ले जाकर रख दिया, और समग्र घटना का विवरण सुनाया ।। ९६ ।।

[W.G. 315] गोठाभयस्स दस्सेसि सो तु विम्हितमानसो ।
दत्वा तस्स धनं रञ्ञो सक्कारं साधु कारयि ॥ ९७ ॥ (११)

एवं गोठाभयो एसो मेघवण्णाभयो ति च ।
विस्सुतो तेरस समा लङ्कारज्जमकारयि ॥ ९८ ॥

महावुत्थं कारयित्वा वत्थुद्वारम्हि मण्डपं ।
कारयित्वा मण्डयित्वा सो भिक्खू तत्थ सङ्गतो ॥ ९९ ॥

अट्ठुत्तरसहस्सानि निसीदेत्वा दिने दिने ।
यागूहि खज्ज-भोज्जेहि साधूहि विविधेहि च ॥ १०० ॥

सचीवरेहि तप्पेत्वा महादानं पवत्तयि ।
एकवीस दिनानेवं निबन्धं चस्स कारयि ॥ १०१ ॥

महाविहारे कारसि सिलामण्डपमुत्तमं ।
लोहपासादथम्भे च परिवत्तिय ठापयि ॥ १०२ ॥

महाबोधिसिलावेदिं उत्तरद्वारतोरणं ।
पतिट्ठापेसि थम्भे च चतुकण्णे सचक्कके ॥ १०३ ॥

तिस्सो सिलापतिमा च तीसु द्वारेसु कारयि ।
ठपापेसि च पल्लङ्कं दक्खिणम्हि सिलामयं ॥ १०४ ॥

पधानभूमिं कारेसि महाविहारपच्छतो ।
दीपम्हि जिण्णकावासं सब्बं हि पटिसङ्खरि ॥ १०५ ॥

थूपारामे थूपघरं थेरम्बत्थलके तथा ।
आरामे मणिसोमव्हे पटिसङ्खारयी च सो ॥ १०६ ॥

[W.G. 316] थूपारामे च मणिसोमारामे, मरिचवट्टिके ।
दक्खिणव्हविहारे च उपोसथघरानि च ॥ १०७ ॥

गोठाभय यह सब देखकर-सुनकर बहुत आश्चर्य चकित हुआ । उसके उस पथिक को धन देकर राजा का सत्कारपूर्वक दाहकर्म किया ॥ ९७ ॥ (११)

राजा मेघवर्णाभय (गोठाभय)–यों, यह गोठाभय ही 'मेघवर्णामय' नाम से प्रसिद्ध होकर तेरह वर्ष तक लङ्काद्वीप पर राज्य करता रहा ॥ ९८ ॥

इस (मेघवर्णाभय) राजा ने महाप्रासाद बनवाकर उसके प्रधान द्वार पर मण्डप बनवाकर उसे अलंकृत करा कर इसी प्रसङ्ग में एक विशेष उत्सव का आयोजन कर भिक्षुसङ्घ को निमन्त्रित किया ॥ ९९ ॥

यों, उस सङ्घ में एकत्र हुए एक हजार आठ (१,००८) भिक्षुओं को बैठा कर विवध स्वादिष्ठ यवागू एवं खाद्य-भोज्य पदार्थों से ॥ १०० ॥

तथा चीवर सहित महादान से सन्तृप्त किया । यों यह क्रम निरन्तर इक्कीस (२१) दिन तक चलता रहा ॥ १०१ ॥

राजा ने महाविहार ने उत्तम शिलामण्डप बनवाया । तथा लौहप्रासाद के पुराने जीर्णस्तम्भों को हटा कर नये स्तम्भ लगवाये ॥ १०२ ॥

इसी तरह उसने महाबोधि की पाषाणमय वेदिका बनवायी । उस के उत्तर द्वार पर तोरण (बहिर्द्वार) बनवाया तता धर्मचक्र के चिह्नों से युक्त चौकोर स्तम्भ बनवाये ॥ १०३ ॥

तीनों द्वारों पर तीन पत्थर की मूर्तियाँ बनवायीं । इसी तरह दक्षिण द्वार में पाषाणमय सिंहासन बनवाया ॥ १०४ ॥

महाविहार के पीछे पधानभूमि (अर्हत्त्वप्रेप्सु भिक्षुओं के ध्यानाभ्यास के लिये चंक्रमणभूमि) का निर्माण कराया । द्वीपस्थित सभी जीर्ण भिक्षु-आवासों का प्रतिसंस्कार (जीर्णोद्धार) कराया ॥ १०५ ॥

स्तूपाराम में स्तूपगृह एवं स्थविर (महेन्द्र) के अम्बत्थलक बिहार तथा मणिसोमाराम का भी जीर्णोद्धार कराया ॥ १०६ ॥

इसी तरह, स्तूपाराम, मणिसोमाराम, मरिचवट्टिक एवं दक्षिणविहार में उपोसथगृह बनवाये ॥ १०७ ॥

मेघवण्णाभयव्हं च नवविहारमकारयि ।
विहारमहपूजायं पिण्डेत्वा दीपवासिनं ॥ १०८ ॥

तिंस भिक्खुसहस्सानं छचीवरं अदासि च ।
महावेसाखपूजं च तदा एवं अकारयि ॥ १०९ ॥

अनुवस्सं च सङ्घस्स छचीवरं अदापयि ।
पापकानं निग्गहेन सोधेन्तो सासनं तु सो ॥ ११० ॥

वेतुल्यवादिनो भिक्खू अभयगिरिवासिनो ।
गाहयित्वा सट्ठिमत्ते जिनसासनकण्टके ॥ १११ ॥

कत्वान निग्गहं तेसं परतीरे खिपापयि ।
तत्थ खित्तस्स थेरस्स निस्सितो भिक्खु चोळिको ॥ ११२ ॥

सङ्घमित्तो ति नामेन भूतविज्जादिकोविदो ।
महाविहारे भिक्खूनं कुज्झित्वान इधागमा ॥ ११३ ॥

थूपारामे सन्निपातं पविसित्वा असंयतो ।
सङ्घपालस्स परिवेणवासित्थेरस्स तत्थ सो ॥ ११४ ॥

गोठाभयस्स थेरस्स मातुलस्सस्स राजिनो ।
रञ्ञो नामेनालपतो वचनं पाटिबाहिय ॥ ११५ ॥

रञ्ञो कुलूपको आसि, राजा तस्मिं पसीदिय ।
जेट्ठपुत्तं जेट्ठतिस्सं महासेनं कनिट्ठकं ॥ ११६ ॥

[W.G. 317] अप्पेसि तस्स भिक्खुस्स, सो सङ्गण्हि दुतीयकं ।
उपनन्धि तस्मि भिक्खुस्मिं जेट्ठतिस्सो कुमारको ॥ ११७ ॥

पितुनो आच्चये जेट्ठतिस्सो राजाअहोसि सो ।
पितु सारीरसक्कारो निग्गन्तुं निच्छमानके ॥ ११८ ॥

साथ ही, मेघवर्ण नामक नया विहार बनवाया । इन सब कार्यों के अन्त में किये गये उत्सव के अवसर पर द्वीपवासी भिक्षुओं को निमन्त्रित किया ॥ १०८ ॥

उस समय तीस हजार (३०,०००) भिक्षु एकत्र हुए । इन्हें छह चीवरों का दान किया गया । उसी समय राजा ने महावैशाखपूजा भी करायी ॥ १०९ ॥

उसने प्रतिवर्ष भिक्षुओं को छह चीवर के दान करने का नियम बनाया । पापी (स्थविरवाद से विरुद्ध मत वाले) भिक्षुओं का सङ्घ से निष्कासन किया ॥ ११० ॥

अभयगिरिविहारवासी साठ (६०) वैपुल्यवादी भिक्षुओं का जो, जिन-शासन में कण्टकसदृश हो गये थे उन्हें निगृहीत कर समुद्र पार (परतीर) छुड़वा दिया ॥ १११ ॥

बाहर निकाले गये स्थविर का आश्रित, भूत, विद्या का ज्ञाता, चोळ (जम्बुद्वीप) देशवासी कोई सङ्घमित्र नामक पुरुष महाविहार के भिक्षुओं पर क्रुद्ध होकर यहाँ (लङ्काद्वीप में) आया ॥ ११२-११३ ॥

उसने स्तूपाराम में सङ्घ के सन्निपात (बैठक) में प्रविष्ट होकर, राजा का पुराना (गोठाभय) नाम लेता हुआ, उसके मामा परिवेणवासी सङ्घपाल स्थविर के आदेशवचन का उल्लङ्घन करता हुआ ॥ ११४-११५ ॥

वह राजा का कुलपूज्य बन बैठा । राजा ने उस पर श्रद्धा करते हुए अपने ज्येष्ठ तिष्य एवं कनिष्ठ पुत्र महासेन को उसे सौंप दिया ॥ ११६ ॥

उसने द्वितीय पुत्र (महासेन) को अपना विश्वस्त बना लिया । इससे प्रथम पुत्र ज्येष्ठ तिष्य उस भिक्षु से अप्रसन्न हो गया ॥ ११७ ॥ (१२)

राजा ज्येष्ठ तिष्य– पिता (मेघवर्णामय) के दहावसान के बाद, वह ज्येष्ठ तिष्य राजा बना । पिता के दाह-संस्कार में सम्मिलित होने के अनिच्छुक ॥ ११८ ॥

दुट्ठामच्चे निग्गहेतुं सयं निक्खम्म भूपति ।
कनिट्ठं पुरतो कत्वा पितुकायं अनन्तरा ॥ ११९ ॥

ततो अमच्चे कत्वान सयं हुत्वान पच्छतो ।
कनिट्ठे पितुकाये च निक्खन्ते तदनन्तरं ॥ १२० ॥

द्वारं संवारयित्वान दुट्ठामच्चे निघातिय ।
सूले अप्पेसि पितुनो चितकाय समन्ततो ॥ १२१ ॥

तेनस्स कम्मुना नामं कक्खळोपपदं अहु ।
सङ्घमित्तो तु सो भिक्खु भीतो तस्मा नराधिपा ॥ १२२ ॥

तस्साभिसेकसमकालं महासेनेन मन्तिय ।
तस्साभिसेकं पेक्खन्तो परतीरं गतो इतो ॥ १२३ ॥

पितरा सो विप्पकतं लोहपासादमुत्तमं ।
कोटिधनअग्घनकं कारेसि सत्तभूमिकं ॥ १२४ ॥

सट्ठिसतसहस्सग्घं पूजयित्वा मणिं तहिं ।
कारेसि जेट्ठतिस्सो तं मणिपासादनामकं ॥ १२५ ॥

मणी दुवे महग्घे च महाथूपे अपूजयि ।
महाबोधिघरे तीणि तोरणानि च कारयि ॥ १२६ ॥

[W.G. 318] कारयित्वा विहारं सो पाचीनतिस्सपब्बतं ।
पञ्चावासेसु सङ्घस्स अदासि पथवीपति ॥ १२७ ॥

देवानाम्पियतिस्सेन सो पतिट्ठापितं पुरा ।
थूपारामे उरुसिलापटिमं चारुदस्सनं ॥ १२८ ॥

नेत्वान थूपारामम्हा जेट्ठतिस्सो महीपति ।
पतिट्ठापेसि आरामे पाचीनतिस्सपब्बते ॥ १२९ ॥

दुष्ट अमात्यों को निगृहीत करने हेतु राजा पहले स्वयं बाहर निकल कर छोटे भाई को आगे कर पिता के शरीर को बीच में कर ॥ ११९ ॥

फिर उसके पीछे अमात्यों को रखकर स्वयं सबसे पीछे रहा । क्रमशः छोटे भाई तथा राजा का शव (प्रासाद से) बाहर निकल जाने पर ॥ १२० ॥

तब द्वार बन्द कर उन दुष्ट अमात्यों को मारकर, पिता की चिता के चारों तरफ शूली पर चढ़ा दिया ॥ १२१

इस क्रूर कृत्य से उस राजा का उपनाम 'कर्कश' (कक्खल) हो गया । यों वह भूतविद्या का ज्ञाता सङ्घमित्र भिक्षु भी राजा से भयाक्रान्त हो गया ॥ १२२ ॥

वह भिक्षु, उस राजा के अभिषेक के अवसर पर, महासेन से मन्त्रणा कर राजा के अभिषेक की प्रतीक्षा किये बिना ही, यहाँ से समुद्र के उस पार भाग गया ॥ १२३ ॥

तब राजा ज्येष्ठतिष्य ने पिता द्वारा असम्पूर्ण (अधूरा) छोड़े हुए लौहप्रासाद को करोड़ों मुद्रा धन लगा कर सात तल (मंजिल) वाला बना दिया ॥ १२४ ॥

उस पर साठ लाख (६०,००,०००) मुद्राओं से एक मणि खरीदकर वहाँ लगाकर उसका नाम 'मणिप्रासाद' रख दिया ॥ १२५ ॥

इसी तरह महास्तूप पर दो महार्घ मणि लगाकर उसकी पूजा की । इसी प्रकार महाबोधिगृह में तीन तोरण बनवाये ॥ १२६ ॥

प्राचीन तिष्यपर्वत विहार बनवाकर उसे पाँच भागों (आवासों) में विभक्त कर भिक्षुसङ्घ को दान कर दिया ॥ १२७ ॥

राजा ज्येष्ठतिष्य ने पूर्वकाल में राजा देवानाम्प्रिय तिष्य द्वारा स्तूपाराम में स्थापित सुन्दर दर्शनीय विशाल पाषाण-प्रतिमा, स्तूपाराम से ले जाकर प्राचीन तिष्य पर्वत विहार में लगवायी ॥ १२८ ॥

उसने चैत्यपर्वतविहार को कालमत्तिक वापी का दान किया तथा विहार प्रासाद एवं महावैशाखपूजा का उत्सव मनाया ॥ १२९ ॥

कालमत्तिकवापिं सो अदा चेतियपब्बते ।
विहारपासादमहं महावेसाखमेव च ॥ १३० ॥

कत्वा तिंससहस्सस्स सङ्घस्सादा छचीवरं ।
आलम्बगामवापिं सो जेट्ठतिस्सो अकारयि ॥ १३१ ॥

एवं सो विविधं पुञ्ञं पासादकरणादिकं ।
कारेन्तो दस वस्सानि राजा रज्जं अकारयि ॥ १३२ ॥ (१३)

इति वहुविधपुञ्ञहेतुभूता
नरपतिता बहुपापहेतु चा ति ।
मधुरमिव विसेन मिस्समन्नं
सुजनमनो भजते न तं कदाची[1] ॥ ति ॥ १३३ ॥

सुजनप्पसादसंगत्थाय कते महावंसे

तयोदसराजको नाम

छत्तिंसतिमो परिच्छेदो

****

इस शुभ अवसर पर राजा तीस हजार (३०,०००) सङ्ख्या वाले भिक्षुसङ्घ को आमन्त्रित कर उसको छह छह चीवर का दान किया ॥ १३० ॥

उस ज्येष्ठ तिष्य ने आलम्बग्रामवापी का भी निर्माण कराया ॥ १३१ ॥

इस प्रकार उसने प्रासाद बनवाना आदि पुण्य कर्म करते हुए उस राजा ज्येष्ठ तिष्य ने दश (१०) वर्ष शासन किया ॥ १३२ ॥ (१३)

राजा होना जहाँ बहुत से पुण्यों का कारण है, वहाँ वह बहुत से पापों का भी कारण बन सकता है । अतः सज्जनों का हृदय उसे, विषसम्पृक्त अन्न के समान, कभी सेवन नहीं करता ॥ १३३ ॥

सज्जनों के हृदय में श्रद्धा एवं उत्साह के
संवर्धनहेतु रचित इस महावंस ग्रन्थ में

'तेरह राजाओं का वर्णन' नामक

छत्तीसवाँ परिच्छेद समाप्त

❋❋❋

३७.

सत्ततिंसतिमो परिच्छेदो

(महासेनवण्णनं)

[W.G. 319] जेट्ठतिस्सच्चये तस्स महासेनो कनिट्ठको ।
सत्तवीसति वस्सानि राजा रज्जं अकारयि ॥ १ ॥

तस्स रज्जाभिसेकं तं कारेतुं परतीरतो ।
सो सङ्घमित्तत्थेरो तु कालं ञात्वा इधागतो ॥ २ ॥

तस्साभिसेकं कारेत्वा अञ्ञं किच्चञ्च नेकधा ।
महाविहारविद्धंसं कातुकामो असंयतो ॥ ३ ॥

"अविनयवादिनो एते महाविहारवासिनो ।
विनयवादी मयं राजा" इति गाहिय भूपतिं ॥ ४ ॥

"महाविहारवासिस्स आहारं देति भिक्खुनो ।
यो, सो सतं दण्डियो" ति रञ्ञो दण्डं ठपापयि ॥ ५ ॥

उपद्दुता तेहि भिक्खू महाविहारवासिनो ।
महाविहारं छड्डेत्वा मलयं रोहणं अगुं ॥ ६ ॥

तेन महाविहारोयं नव वस्सानि छड्डितो ।
महाविहारवासीहि भिक्खूहि आसि सुञ्ञतो ॥ ७ ॥

[W.G. 320] "होति अस्सामिकं वत्थु पथवीसामिनो" इति ।
राजानं सञ्ञपेत्वा सो थेरो दुम्मति दुम्मतिं ॥ ८ ॥

सैंतीसवाँ परिच्छेद

(महासेन राजा का वर्णन)

राजा महासेन—राजा ज्येष्ठ तिष्य के देहावसान के बाद उसका छेटा भाई महासेन राजा बना। उसने सत्ताईस (२७) वर्ष तक लङ्काद्वीप पर राज्य किया ॥ १ ॥

उसका राज्यभिषेक कराने के लिये वह उचित अवसर समझ कर, दूसरे किनारे से सङ्घमित्र स्थविर, यहाँ आया ॥ २ ॥

महाविहार का विध्वंस—उस असंयमी स्थविर ने उसका राज्याभिषेक कराकर, तथा इसी प्रकार के अन्य (सामयिक) कार्य कर महाविहार को विध्वस्त कराने का मन बनाया ॥ ३ ॥

"राजन्! ये महाविहारवासी अविनयवादी हैं, विनयवादी तो हम ही हैं"—ऐसे राजा को भ्रान्त (बहका) कर ॥ ४ ॥

राजा से यह आज्ञा घोषित करवा दी—"जो महाविहारवासी भिक्षुओं को भोजनदान करेगा, उसे सौ मुद्राओं का दण्ड दिया जायगा" ॥ ५ ॥

तब वे महाविहारवासी भिक्षु सङ्कटापन्न होकर, महाविहार छोड़ कर, मलय पर्वत पर चले गये ॥ ६ ॥

यों वह महाविहार, उसके निवासी भिक्षुओं द्वारा छोड़ दिये जाने के कारण, नौ (९) वर्ष तक शून्य (मनुष्यरहित) ही रहा ॥ ७ ॥

तब उस दुर्मति (सङ्घमित्र) स्थविर ने राजा को यह विपरीत परामर्श दिया—"जो भूमि स्वामिरहित हो जाती है उस का स्वामी वहाँ का राजा हो जाता है" ॥ ८ ॥

महाविहारं नासेतुं लद्धानुमति राजतो ।
तथा कातुं मनुस्से सो योजेसि दुट्ठमानसो ॥ ९ ॥

सङ्घमित्तस्स थेरस्स सेवको राजवल्लभो ।
सोणामच्चो दारुणो च भिक्खवो च अलज्जिनो ॥ १० ॥

भिन्दित्वा लोहपासादं सत्तभूमिकमुत्तमं ।
घरे नानप्पकारे च इतोभयगिरिं नयुं ॥ ११ ॥

महाविहारानीतेहि पासादेहि बहूहि च ।
अभयगिरिविहारो सो बहुपासादको अहु ॥ १२ ॥

सङ्घमित्तं पापमित्तं थेरं सोणं च सेवकं ।
आगम्म सुबहुं पापं अकासि सो महीपति ॥ १३ ॥

महासिलापटिमं सो पाचीनतिस्सपब्बता ।
आनेत्वाभयगिरिम्हि पतिट्ठापेसि भूपति ॥ १४ ॥

पटिमाघरं बोधिघरं धातुसालं मनोरमं ।
चतुसालं च कारेसि, सङ्खारि कुक्कुटव्हयं ॥ १५ ॥

सङ्घमित्तेन थेरेन तेन दारुणकम्मुना ।
विहारो सोभयगिरि दस्सेनेय्यो अहु तदा ॥ १६ ॥

मेधवण्णाभयो नाम रञ्ञो सब्बत्थसाधको ।
सखा अमच्चो कुप्पित्वा महाविहारनासने ॥ १७ ॥

[W.G. 321] चोरो हुत्वान मलयं गन्त्वा लद्धमहब्बलो ।
खन्धावारं निवेसेसि दूरतिस्सकवापियं ॥ १८ ॥

तत्रागतं तं सुत्वान सहायं सो महीपति ।
युद्धाय पच्चुग्गन्त्वान खन्धावारं निवेसयि ॥ १९ ॥

यों उस महाविहार को विध्वस्त करने के लिये उस दुर्मना स्थविर ने राजा से अनुमति (स्वीकृति) लेकर वैसा करने के लिये कुछ पुरुषों को नियुक्त किया ॥ ९ ॥

इस स्थविर का सेवक शोण अमात्य भी राजा का अत्यधिक प्रिय बना हुआ बहुत ही दुष्टहृदय पुरुष था । इसी तरह इसके साथी भिक्षु भी निर्लज्ज थे ॥ १० ॥

ये लोग महाविहार के लौहप्रासाद को विध्वस्त (गिरा) कर, जो कि बहुत ही सुन्दरता से सात मंजिल बना हुआ था, साथ ही वहाँ बने हुए अन्य भवनों को भी विध्वस्त कर इनसे निकला हुआ सामान (वास्तु-सामग्री) अभयगिरिविहार में ले गये ॥ ११ ॥

यों महाविहार से लायी गयी इन वास्तु-सामग्रियों से अभयगिरि विहार में बहुत से नये प्रासाद बनवा दिये गये ॥ १२ ॥

इस तरह उस महासेन राजा ने, इस सङ्घमित्र स्थविर एवं उसके सेवक शोण अमात्य का आश्रय ले कर, बहुत से पापकर्म किये ॥ १३ ॥

(इतना ही नहीं इस राजा ने महाविहार के अनुयायी अन्य विहारों से भी बहुत सी बहुमूल्य सामग्री उठवा दी । जैसे–प्राचीन तिष्यपर्वतविहार से महाशिला प्रतिमा लाकर उसे अभयगिरि विहार में प्रतिष्ठित कराया ॥ १४ ॥

इसी तरह, वहाँ (अभयगिरिविहार में) प्रतिमागृह, बोधिगृह, मनोहर धातुमाल, एवं चतुःशाल भी बनवायी । साथ ही कुक्कुटविहार का जीर्णोद्धार भी कराया ॥ १५ ॥

यों, उस दुष्ट कृत्यों वाले सङ्घमित्र स्थविर ने उस अभयगिरिविहार को अपने समय का दर्शनीय विहार बनवा दिया ॥ १६ ॥

अमात्य द्वारा विरोध–परन्तु मेघवर्णाभय नामक अमात्य, जो कि राजा महासेन के समग्र कार्यों का पूरक था अतः वह उसका मित्र तुल्य हो गया था, राजा द्वारा किये गये इस महाविहारविध्वंस से बहुत दुःखी हुआ । उसने राजा के इस कार्य से कुपित हो कर ॥ १७ ॥

चौर (विद्रोही) बन कर, पर्वत पर जा कर वहाँ बहुत सी सेना-सामग्री एकत्र कर पुनः लौट कर, तिष्यवापी से कुछ दूर आकर, अपनी सेना का पड़ाव (स्कन्धावर) डाला ॥ १८ ॥

राजा ने युद्ध के लिये सन्नद्ध उस अमात्य का वहाँ आगमन सुनकर, स्वयं भी तैयार हो कर युद्धभूमि में जाकर पड़ाव डाला ॥ १९ ॥

साधु पानं च मंसं च लभित्वा मलयाभतं ।
"न सेविस्सं सहायेन विना रञ्ञा" ति चिन्तिय ॥ २० ॥

आदाय तं सयं चेव रत्तिं निक्खम्म एकको ।
रञ्ञो सन्तिकमागम्म तं अत्थं पटिवेदयि ॥ २१ ॥

तेनाभतं तेन सह विस्सत्थो परिभुञ्जिय ।
"कस्मा चोरो अहू मे त्वं ?" इति राजा अपुच्छि तं ॥ २२ ॥

"तया महाविहारस्स नासितत्ता" ति सो ब्रवि ।
"विहारं वासयिस्सामि, खम मे तं ममच्चयं" ॥ २३ ॥

इच्चेवं अब्रवी राजा, राजानं सो खमापयि ।
तेन सञ्ञापितो राजा, नगरं येव आगमि ॥ २४ ॥

राजानं सञ्ञपेत्वा सो मेघवण्णाभयो पन ।
रञ्ञा सह न आगञ्छि दब्बसम्भारकारणा ॥ २५ ॥

रञ्ञोतिवल्लभा भरिया एका लेखकधीतिका ।
महाविहारनासम्हि दुक्खिता तं विनासकं ॥ २६ ॥

[W.G. 322] थेरं मारयितुं कुद्धा सङ्गहेत्वान वड्ढकिं ।
थूपारामे विनासेतुं आगतं दुट्ठमानसं ॥ २७ ॥

मारापयि सङ्घमित्तत्थेरं दारुणकारकं ।
सोणामच्चं दारुणं च धातयिंसु असंयतं ॥ २८ ॥

आनेत्वा दब्बसम्भारं मेघवण्णाभयो तु सो ।
महाविहारे नेकानि परिवेणानि कारयि ॥ २९ ॥

अभयेन भये तस्मिं वूपसन्ते तु भिक्खवो ।
महाविहारं वासेसुं आगन्त्वान ततो ततो ॥ ३० ॥

उधर अमात्य मलय (पर्वत) से लाया कुछ विशिष्ट पेय एवं खाद्य पदार्थ निकाल कर "राजा के विना नहीं खाऊँगा" –यह सोचकर ॥ २० ॥

उस सामग्री को ले कर रात्रि में अकेला ही राजा के पास पहुँचा, और उससे खाद्य सामग्री के उपभोग का आग्रहपूर्वक निवेदन किया । २१ ॥

राजा ने उस सामग्री का, उसके साथ, विश्वासपूर्वक उपभोग किया । फिर उससे पूछा– "तुम मेरे विद्रोही क्यों हो गये ?" ॥ २२ ॥

अमात्य ने कहा–"श्रीमान् द्वारा किये महाविहार-विध्वंस के कारण । राजा ने कहा–"तो ठीक है, मैं महाविहार को पुनः बसा दूँगा, मुझे तुम उस प्रमाद के लिये क्षमा कर दो !" ॥ २३ ॥

राजा के यों कहने पर अमात्य ने राजा को क्षमा कर दिया । फि अमात्य द्वारा समझाये जाने राजा पुनः नगर को ही लौट गया ॥ २४ ॥

राजा को समझा-बुझा कर नगर की तरफ वापस लौट कर भी वह मेघवर्णाभय अमात्य नगर में न आकर महाविहार के पुननिर्माण हेतु सामग्री-संग्रह में लग गया ॥ २५ ॥

रानी द्वारा सङ्घमित्र स्थविर की हत्या–राजा महासेन की प्रियतमा रानी भी, जो कि एक लेखक की पुत्री थी, उक्त महाविहार के नाश से बहुत दुःखित हुई ॥ २६ ॥

तथा इस नाश के प्रधान कारण सङ्घमित्र स्थविर की हत्या कराने में सचेष्ट हुई । उसके लिये एक बढ़ई को तैयार किया । रानी ने उस बढ़ई द्वारा स्तूपाराम को विनष्ट करने के आये दुष्टहृदय ॥ २७ ॥

दुष्कर्मकारक उस सङ्घमित्र स्थविर की तथा उस के साथी दुष्कृत्य करने में साथ देने वाले असंयमी शोण अमात्य की भी हत्या करवा दी ॥ २८ ॥

महाविहार का पुननिर्माण–मेघवर्णाभय अमात्य ने कुछ ही समय में भवन-निर्माण की सामग्री एकत्र कर महाविहार में पुनः अनेक प्रासादों का निर्माण कराया ॥ २९ ॥

यों, मेघवर्ण अभय द्वारा भय का कारण उपशान्त कर देने पर भिक्षुजन भी जहाँ-तहाँ से पुनः आकर उस महाविहार में रहने लगे ॥ ३० ॥

राजा महाबोधिघरे पच्छिमाय दिसाय तु ।
कारेत्वा लोहरूपानि ठपापेसि दुवे तु सो ॥ ३१ ॥

दक्खिणारामवासिम्हि कुहने जिम्हमानसे ।
पसीदित्वा पापमित्ते तिस्सत्थेरे असंयते ॥ ३२ ॥

महाविहारसीमन्तो उय्याने जोतिनामके ।
जेतवनविहारं सो वारियन्तो पि कारयि ॥ ३३ ॥

ततो सीमं समूहन्तुं भिक्खुसङ्घं अयाचि सो ।
अकातुकामा नं भिक्खू विहारम्हा अपक्कमं ॥ ३४ ॥

इध सीमासमुग्घातं परेहि कारियमानकं ।
कोपेतुं भिक्खवो केचि निलीयिंसु तहिं तहिं ॥ ३५ ॥

[W.G. 323] महाविहारो नव मासे एवं भिक्खूहि छड्डितो ।
"समुग्घातं करिम्हा" ति परे भिक्खू अमञ्ञिसुं ॥ ३६ ॥

ततो सीमासमुग्घाते व्यापारे परिनिट्ठिते ।
महाविहारं वासेसुं इधागन्त्वान भिक्खवो ॥ ३७ ॥

तस्स विहारगाहिस्स तिस्सत्थेरस्स चोदना ।
अन्तिमवत्थुना आसि भूतत्था सङ्घमज्झगा ॥ ३८ ॥

विनिच्छिय महामच्चो तदा धम्मिकसम्मतो ।
उप्पब्बाजेसि धम्मेन तं अनिच्छाय राजिनो ॥ ३९ ॥

सो येव राजा कारेसि विहारं मणिहीरकं ।
तयो विहारे कारेसि देवालयं विनासिय ॥ ४० ॥

गोकण्णं एरकाविल्ले कलन्दब्राह्मणगामके ।
मिगगामविहारं च गङ्गासेनकपब्बतं ॥ ४१ ॥

राजा ने भी महाबोधिगृह में पश्चिम दिशा की तरफ दो लोहे की मूर्तियाँ बनवाई ॥ ३१ ॥

दक्षिणाराम का सङ्कट–फिर दक्षिण विहार निवासी, असंयत, पाषण्डी, कुटिल हृदय, कुमित्र स्थविर पर श्रद्धा रखते हुए राजा ने महाविहार की सीमा में स्थित ज्योति-उद्यान में जेतवनविहार को भिक्षुओं द्वारा निषेध करने पर भी बनवा दिया ॥ ३२-३३ ॥

सीमा-समुद्घात (सीमान्त परिवर्तन)–फिर उसने भिक्षुओं से सीमा तोड़ने (परिवर्तन) के लिये कहा । जो भिक्षु यह सीमा-समुद्घात नहीं चाहते थे वे विहार से चले गये ॥ ३४ ॥

उनमें से कुछ भिक्षु दूसरों द्वारा किये जा रहे उस सीमा-समुद्घात में व्यवधान डालनें के लिये उसी विहार के आस-पास प्रच्छन्न रूप से रहने लगे ॥ ३५ ॥

"नौ (९) मास से महाविहार को भिक्षुओं ने छोड़ रखा है"–यह ज्ञान होने पर "अब हम सीमासमुद्घात करेंगे"–यह विरोधी भिक्षुओं ने निश्चय किया ॥ ३६ ॥

उस सीमासमुद्घात–समस्या के शान्त होने पर, भिक्षुजन इधर-उधर से आकर वहाँ रहने लगे ॥ ३७ ॥

तिष्य स्थविर पर दोषारोपण तथा उसका निष्कासन–उस विहार ग्रहण करने वाले तिष्य स्थविर के विरुद्ध 'अन्तिम वस्तु' (चार पाराजिकों में एक) का दोषारोपण सङ्घ के सन्निपात में पहुँचा ॥ ३८ ॥

प्रसिद्ध धार्मिक महामात्य ने, राजा के न चाहने पर भी, उस स्थविर को धर्मानुसार सङ्घ से उत्प्रव्रजित (निष्कासित) कर दिया ॥ ३९ ॥

राजा के अन्य कार्य–राजा महासेन ने मणिहीरक विहार बनवाया । एक देवालय को विनष्ट कर तीन विहार बनवाये ॥ ४० ॥

१. गोकर्णविहार, २. एरकाविल्ल में 'मिगगामविहार' एवं ३ कलन्दब्राह्मण ग्राम में गङ्गासेनपर्वत विहार ॥ ४१ ॥

पच्छिमायं धातुसेनपब्बतं च अकारयि ।
राजा महाविहारं च कोकवातम्हि कारयि ॥ ४२ ॥

[W.G. 324] थूपारामविहारं च हुळपिट्ठिं च कारयि ।
उत्तराभयसव्हे च दुवे भिक्खुणुपस्सये ॥ ४३ ॥

कालवेलयक्खस्स ठाने थूपं च कारयि ।
दीपम्हि जिण्णकावासं बाहुं च पटिसङ्खरि ॥ ४४ ॥

सङ्घत्थेरसहस्सस्स सहस्सग्घं अदासि सो ।
सब्बेसं थेरवादीनं अनुवस्सं च चीवरं ॥ ४५ ॥

अन्नपानादिदानानं परिच्छेदो न विज्जति ।
सुभिक्खत्थाय कारेसि सो च सोळस वापियो ॥ ४६ ॥

मणिहीरं महागामं च छल्लूरं खानुनामकं ।
महामणिं कोकवातं धम्मरम्मं च वापिकं ॥ ४७ ॥

कुम्बालकं वाहनं च रत्तमालकण्डकं पि च ।
तिस्सवड्ढमानकं वापिं वेलङ्गविट्ठिकं पि च ॥ ४८ ॥

[W.G. 325] महागल्लकं चीरवापिं महादारगल्लकं पि च ।
कालपासाणवापिं च इमा सोळस वापियो ॥ ४९ ॥

गङ्गाय पब्बतन्तव्हं महामातिं च कारयि ।
एवं पुञ्ञं अपुञ्ञं च सुबहुं सो उपाचिनि । ॥ ५० ॥

* महावंसो निट्ठितो *

****

तथा पश्चिम दिशा में धातुसेन पर्वत विहार का निर्माण कराया । इसी तरह राजा ने कोकवात में एक विशाल विहार बनवाया ॥ ४२ ॥

उसने स्तूपाराम एवं हुडपिट्ठि विहार भी बनवाये । उत्तर और अभय नामक दो विहार भिक्षुणी-उपाश्रय के रूप में बनवाये ॥ ४३ ॥

कालवेलक यक्ष के स्थान पर स्तूप बनवाया । इसी के साथ, द्वीप के पुराने विहारों का भी जीर्णोद्धार कराया ॥ ४४ ॥

सङ्घ को दान–सङ्घ के एक हजार (१.०००) स्थविरों को एक-एक हजार मूल्य का दान किया ।

सभी स्थविरवादी भिक्षुओं को चीवरदान किया । भिक्षुओं को उसके द्वारा किये गये अन्नपानादि दान की तो कोई गणना ही नहीं है । ॥ ४५ ॥

सोलह (१६) वापियों का निर्माण–उसने द्वीप में निरन्तर सुभिक्ष हेतु सोलह (१६) वापियाँ बनवायीं–

१. मणिहीर, २. महागाम, ३, छल्लूर, ४. खाणु, ५. महामणि ६. कोकवात, ७. धर्मरम्यवापी, कुम्बालक, ९. वाहन, १०. रक्तमालकण्डक, ११. तिष्यवर्धमानक, १२. वेलङ्गविट्ठिक, १३, महागल्लक, १४. चीरवापी, १५. महादारगल्लक एवं १६. कालपाषाणवापी ॥ ४६-४९ ॥

नहरनिर्माण–उस महामति राजा महासेन ने गङ्गापार से 'पब्बतन्त' नामक एक बड़ी नगर भी निकाली ।

इस प्रकार उस राजा ने बहुत से अपुण्यसञ्चय के साथ बहुत सा पुण्यसञ्चय भी किया ॥ ५० ॥

* महावंश ग्रन्थ समाप्त *

परिशिष्ट

महावंस में आगत संज्ञा-शब्दों की सूची

आ

इ

उ

ए

ओ

क

ख

ग

थ

द

य

ह

संस्कृत संस्थान
ग्रंथ परि० सं० 9452
संस्कृत भवन लखनऊ